हिन्दी नाटक में नायक का स्वरूप

[आदि से सन् १९४२ तक]

(पंजाब विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध)
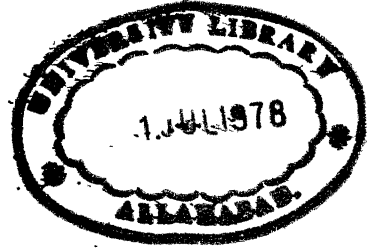
लेखक

डॉ० राजेन्द्र कृष्ण भनोत

वरिष्ठ प्राध्यापक

हिन्दी विभाग

डी. ए. वी. कालेज, चण्डीगढ़

भारतीय ग्रन्थ निकेतन

१३३, लाजपतराय मार्केट,

दिल्ली-११०००६

प्राक्कथन

प्रस्तुत प्रबन्ध मे आरम्भ से लेकर सन् १९४२ तक के हिन्दी नाटक साहित्य में नायक के स्वरूप के विकास के विवेचन का प्रयास किया गया है। विवेचन की सुविधा के लिए नाटक साहित्य की इस कालावधि को चार खण्डों में विभाजित किया गया है। पहले खण्ड में पूर्व-भारतेन्दु युग के तथाकथित नाटकों की चर्चा की गई है, दूसरे में भारतेन्दु युग के नाटकों की। इस युग का आरम्भ सन् १८६८ से किया गया है क्योंकि इस वर्ष भारतेन्दु के प्रथम नाटक 'विद्यासुन्दर' की रचना हुई थी। तीसरे खण्ड में द्विवेदी युगीन नाटकों का विवेचन है। इसका आरम्भ सन् १९०५ से किया गया है। यद्यपि द्विवेदी जी ने सन् १९०३ में [illegible] का कार्य-भार सँभाल लिया था किन्तु युग की साहित्यिक चेतना ने सन् १९०५ में घटने वाली बंग-भंग की घटना से ही विशेष बल प्राप्त किया था। सन् १९१९ में रोलट ऐक्ट और जलियावाला बाग के हत्याकाण्ड ने भी राष्ट्र की राजनैतिक चेतना को एकाएक झकझोर दिया था। अत्याचार और दमन की इस नीति के परिणामस्वरूप ही बापू के नेतृत्व में सार्वजनिक आन्दोलनों को बल मिला था। राष्ट्रीय चेतना ही इस युग के साहित्य की प्रमुख विशेषता है। इस युग का अन्त भी हमने 'भारत छोड़ो' आन्दोलन के साथ स्वीकार किया है। इस प्रकार राजनैतिक क्षेत्र की ये मुख्य घटनाएं साहित्यिक धाराओं की भी विभाजक सीमायें बन गई हैं।

'आनन्द रघुनन्दन' तथा 'नहुष' को छोड़कर पूर्व-भारतेन्दु युग के नाटक नाटक न होकर नाटकीय काव्य ही हैं, क्योंकि इनमें नाटकीय नियमों का पालन नहीं हुआ है। फिर भी उनका विवेचन इसलिए किया गया है कि एक तो कई विद्वानों ने इनमें नाटकीयता का समर्थन किया है और उनके रचयिताओं ने भी इन्हें 'नाटक' की संज्ञा से अभिहित किया है। भारतेन्दु ने अपने 'नाटक' निबन्ध में 'प्रभावती' नाटक का उल्लेख किया था। ब्रजरत्नदास, डा० गोपीनाथ तिवारी

आदि विद्वानों ने इसे गणेश कवि कृत 'प्रद्युम्न विजय' का ही दूसरा नाम माना है, परन्तु व्यापक साक्ष्य इसके विपरीत जान पड़ता है। यद्यपि अभी कोई ऐसी सामग्री उपलब्ध नहीं है जिसके आधार पर अकाट्य रूप से इसकी प्रामाणिकता सिद्ध की जा सके, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह नाटक स्यात् भानुनाथ झा कृत 'प्रभावती हरण' ही है। डा० ग्रियर्सन के अनुसार भानुनाथ झा सन् १८५० में जीवित थे।

नायक के चरित्र-विकास की दृष्टि से 'नहुष नाटक बड़ा महत्वपूर्ण है। इस नाटक के रचनाकाल के विषय में भी विद्वानों में वैमत्य है। ब्रजरत्नदास, डा० भगीरथ मिश्र, श्रीकृष्णदास, डा० बच्चनसिंह, डा० देवर्षि सनाढ्य आदि अनेक विद्वानों ने सन् १८४१ को इसका रचनाकाल माना है जब कि भारतेन्दु के अपने साक्ष्य के अनुसार इसका रचनाकाल सन् १८५७ ठहरता है।

यद्यपि भाषा की दृष्टि से 'इन्दर सभा' नाटक का स्थान उर्दू नाटक साहित्य में होना चाहिए, तो भी उसकी चर्चा प्रस्तुत प्रयास में इसलिए समाहित कर ली गई है कि एक तो हिन्दी के अनेक विद्वानों ने इसे हिन्दी का प्रथम रंगमंचीय नाटक स्वीकार किया है, और दूसरे भारतेन्दु युग के नाट्य-शिल्प को इसने अवश्य ही प्रभावित किया है। स्वयं भारतेन्दु के अपने नाटक इसके प्रमाण को स्पष्ट रूप से संजोए हुए हैं।

भारतेन्दु युगीन नाटकों में 'रणधीर और प्रेममोहिनी' के रचनाकाल के विषय में भी मतभेद है। डा० श्रीकृष्णलाल इसे १८७८ की, डा० दशरथ ओझा, डा० गोपीनाथ तिवारी, डा० श्रीपति शर्मा तथा डा० सोमनाथ गुप्त इसे १८७७ की तथा डा० दशरथ सिंह इसे १८८३ की रचना मानते हैं जब कि नाटककार के अपने अनुसार इस नाटक का अभिनय प्रथम बार ६ दिसम्बर १८७१ में हुआ था। इसी प्रकार शालिग्राम वैश्य कृत 'लावण्यवती सुदर्शन' नाटक का रचनाकाल लेखक के अनुसार १८९० है जबकि डा० सोमनाथ गुप्त, डा० वेदपाल खन्ना अदि विद्वानों ने १८९२ माना है।

नायक के विकास की दृष्टि से पूर्व-भारतेन्दु युग के नाटकों में 'नहुष' का विशेष महत्व है। इसमें पश्चिमी प्रभावों के अधीन भारतीय नाट्यशास्त्र की परम्परा के प्रति विद्रोह की भावना प्रथम बार उभरती हुई दिखाई देती है। भरत द्वारा कई एक निषिद्ध घटनाओं का मंच पर अभिनय दिखलाया गया है और नाटक का कलेवर भी प्राचीन केंचुल को उतार कर फेंकता हुआ दिखाई दे रहा है। नहुष ऐसे संदिग्धशील वाले ऋषि-द्वेषी पात्र को नायक रूप में नाटक में स्थान देना ही अपने आप में एक क्रान्तिकारी पग है। भारतेन्दु युग में नाटक और नायक का स्वरूप उत्तरोत्तर बदलता गया और प्राचीनता की शृंखलाएं उत्तरोत्तर

शिथिल होती गई। भारतेन्दु के अपने 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में नायक हरिश्चन्द्र जन्मजात ब्राह्मण अथवा वैश्य न होकर गुणों से धीरशान्त है और नाटककार ने उसमें जिस सबल मानसिक संघर्ष का चित्रण किया है, वह भी प्राचीन परम्परित नाटक-साहित्य में प्राप्त नही होता। श्रीनिवास दास के नाटक 'रणधीर और प्रेममोहिनी' में हिन्दी की पहली दुःखान्तकी के दर्शन होते हैं। शेक्सपियर के नाटकों के स्पष्ट प्रभावाधीन नाटक का नायक रणधीर रोमांटिक गुणों से सम्पन्न है। केशवराम भट्ट ने 'सज्जाद सुम्बुल' नाटक में सज्जाद जैसे साधारण ज़मींदार को नायक रूप में चित्रित कर नायक के विकास की एक और दिशा का संकेत किया है। इसके बाद तो सामाजिक नाटकों में सामान्य पात्रों के समावेश की प्रथा आम हो गई। इस प्रकार भारतेन्दु-युगीन नाटक-साहित्य में नायक के चरित्र को लौकिक एवं यथार्थ धरातल पर चित्रित करने की प्रवृत्तियां उत्तरोत्तर बल प्राप्त करती गईं।

द्विवेदी युग में सामाजिक नाटकों की अपेक्षा पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों की रचना अधिक हुई। ये सभी नाटक प्राचीन कथानक को उप-जीव्य बनाते हुए भी युगीन चेतना से पूर्णतः ओत-प्रोत हैं। उदाहरणार्थ माखनलाल चतुर्वेदी के 'कृष्णार्जुन युद्ध' में नायक नारद का प्रमुख स्वर सुधारवादी है। वह सामाजिक अन्याय एवं अत्याचारों से जूझने के लिये उद्योगशील है। इसी प्रकार सुदर्शन के नाटक 'दयानन्द' में भी नायक प्रगतिशील है। नायक की दृष्टि से इस युग के नाटकों में 'वेणु-संहार', 'चन्द्रहास', वीर अभिमन्यु' एवं 'नेत्रोन्मीलन' का विशेष महत्व है। बालकृष्ण भट्ट के 'वेणु-संहार' में एक अत्यन्त दुष्ट, नृशंस एवं स्वेच्छाचारी पात्र वेणु को नायक रूप में चित्रित किया गया है। प्राचीन नाटकों में नायक रूप में इस प्रकार के असत्पात्रों के लिए कोई स्थान नही था। मैथिलीशरण गुप्त के 'चन्द्रहास' नाटक में नायक चन्द्रहास सर्वथा अकर्मण्य एवं निष्क्रिय है। यद्यपि उसे सर्वगुण-सम्पन्न कहा गया है, परन्तु व्यावहारिक रूप में उसके इन गुणों के प्रदर्शन के लिये नाटक में कोई अवसर नहीं है। वास्तव में उसका अपना कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व ही नहीं है। वह केवल नियति के बल पर नाटक में कार्य-सिद्धि के फल को प्राप्त करता है। श्यामबिहारी मिश्र तथा शुकदेव बिहारी मिश्र द्वारा लिखित 'नेत्रोन्मीलन' भारतेन्दुयुगीन गोपालराम गहमरी कृत 'देशदशा' नाटक के सदृश भावी नायक-हीन अथवा समस्या-प्रधान नाटक के विकास की ओर संकेत कर रहा है। राधेश्याम के 'वीर अभिमन्यु' नाटक की स्थिति इसके बिल्कुल विपरीत है। इसमें अभिमन्यु और अर्जुन दोनों के नायकत्व के समर्थन में तर्क उपस्थित किये जा सकते है। निस्संदेह भारतीय नाट्य-सिद्धान्तों के अनुसार नाटक का नायक

एक ही हो सकता है, यद्यपि पाश्चात्य सिद्धान्तों के अनुसार एक ही नाटक में दो नायकों की स्थिति सम्भाव्यता की सीमा के सर्वथा बाहर नहीं है।[1] इस संक्षिप्त विवरण से स्पष्ट है कि द्विवेदी युगीन नाटक-साहित्य में नायक के स्वरूप का विविध विकास हुआ। नायक के चुनाव के क्षेत्र की सीमाएं इस युग में पहले की अपेक्षा और भी विस्तृत हुई, प्राचीनता के बन्धन और शिथिल हुए।

प्रसाद युग में नायक के उपर्युक्त-वर्गों के अतिरिक्त रोमांटिक नायक का विकास हुआ। श्रीनिवास दास के 'रणधीर और प्रेममोहिनी' नाटक में इस नायक का पूर्वरूप हमारे सामने आ चुका था। प्रसाद के नाटकों में उसके स्वरूप का प्रौढ़ विकास देखने को मिलता है। प्रसाद मूलत: स्वच्छन्दतावादी नाटककार थे। इसी आधार पर उनके नाटकों के नायकों का आकलन होना चाहिए, प्राचीन साहित्य-शास्त्र की रूढ़िगत मान्यताओं के आधार पर नहीं। डा० नगेन्द्र, डा० नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० बच्चनसिंह, डा० रामेश्वरलाल खाण्डेलवाल आदि अनेक विद्वानों का यही अभिमत है। विवेच्य युग के ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों में प्राचीनता के परिप्रेक्ष्य में युगीन राष्ट्रीयता का स्वर बोल रहा है। प्रसाद और प्रेमी के नाटक इसके स्पष्ट उदाहरण हैं। नायकों के चित्रण में यथार्थ का अनुरोध इस युग में उत्तरोत्तर तीव्र होता गया है। अवतारी नायक अलौकिकता के धरातल से उतर कर असाधारण गुण-सम्पन्न मानवी स्तर पर आ गये हैं। सेठ गोविन्ददास के 'कर्तव्य' (पूर्वार्द्ध) के राम 'कर्तव्य' (उत्तरार्द्ध) के कृष्ण अवतार न होकर आदर्शमानव हैं। जहां नायक का स्वरूप शास्त्रीय दृष्टि से चित्रित करने का प्रयास किया भी गया है वहां उसे प्राचीन शैली के अनुसार सर्वगुण-सम्पन्न न बनाकर मानव-स्वभाव-सुलभ सबलताओं एवं दुर्बलताओं से सुसज्जित किया गया है। अब नायक न तो सर्वगुण-सम्पन्न ही रहा है और न सर्वथा निर्दोष। इस युग में समस्या-प्रधान नाटक भी बहुत प्रिय हुए। इन नाटकों में नाटककार का ध्यान मूल समस्या पर ही मुख्य रूप से केन्द्रित होने के कारण नायक का प्रश्न उपेक्षित सा ही हो गया है। सभी पात्र समस्या के किसी न किसी पक्ष का समर्थन करते दिखाई देते हैं। कौन सा पात्र मुख्य है और कौन सा गौण, यह कहना कठिन हो जाता है। इस दृष्टि से लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक समस्याप्रधान होने के कारण नायकहीन ही समझे जाने चाहिएं। वैसे प्रसाद की 'ध्रुवस्वामिनी', प्रेमी के 'बन्धन', सेठ गोविन्ददास के 'प्रकाश' आदि नाटकों में जहां युगीन समस्याओं को मात्र प्रसंगवश उभारा गया है नायक का व्यक्तित्व असंदिग्ध है।

१. देखिये एलाडिस निकल, दि थ्यूरी आफ ड्रामा, पृ० १५४।

यह है संक्षेप में हिन्दी नाटक के स्वरूप की कहानी। संक्षेप में यह अलौकिक से लौकिक, विशिष्ट से सामान्य, आदर्श से यथार्थ एवं विचित्र से स्वाभाविक की ओर बढ़ने की कहानी है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में भारतेन्दु एवं द्विवेदी युगीन नाटक साहित्य के अन्तर्गत अनेक नाटकों का विवेचन अत्यधिक विस्तार से किया गया है। इस विस्तृत विवेचन के आधार में एक प्रमुख कारण यह भी है कि इन नाटकों में से अधिकांश सुगमता से सुलभ नहीं हैं और प्रस्तुत प्रयास से प्रसंगवश उनकी रक्षा में भी सहायता मिलेगी।

प्रस्तुत प्रबन्ध में सन्त-भक्तों की जीवनी पर आधारित नाटकों को पौराणिक नाटकों के अन्तर्गत ही लिया गया है। यद्यपि इनके नायकों के ऐतिहासिक व्यक्तित्व में कोई सन्देह नहीं, तो भी घटनाओं एवं चरित्रों के अंकन में अलौकिकता के समावेश के कारण इनकी गणना पौराणिक नाटकों में ही करना उचित समझा गया है। मथुरादास कृत 'नरसी मेहता का नाटक', बदरीनाथ भट्ट कृत 'गोस्वामी तुलसीदास' आदि इसी प्रकार के नाटक है।

प्रस्तुत प्रबन्ध के पहले चार अध्यायों में नायक-स्वरूप के चिन्तन का शास्त्रीय पक्ष प्रस्तुत करने का यत्न किया गया है और उसके बाद के कलेवर में हिन्दी नाटक साहित्य में उसके विकास की रूप-रेखा खोजने की कोशिश की गई है। शास्त्रीय चिन्तन में यथासम्भव प्राचीन भारतीय और पाश्चात्य मतों को आकलन करने का भरसक प्रयत्न किया गया है। इस प्रयास में यत्र-तत्र कुछ शंकाएं भी प्रस्तुत हुई जिनका समाधान मैंने अपनी तुच्छ बुद्धि के अनुसार प्रस्तुत करने का यत्न किया है। मैं नही कह सकता कि इस प्रयास से मेरी भी पूर्ण तृप्ति हुई है अथवा मैं किसी अन्तिम निर्णय पर पहुंच सका हूं। मेरी अल्पबुद्धि में इस दिशा में जितना अन्तिम सफलता का महत्व है उतना ही निश्छल प्रयास का भी। इस आशय को स्पष्ट करने के लिए केवल दो तथ्य नीचे दिये जाते है :—

१. आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में धीरोदात्त, धीरललित, धीरशान्त एवं धीरोद्धत नाम से नायक के चार भेद दिए हैं। धनजय ने अपने दशरूपक मे तथा विश्वनाथ ने अपने साहित्यदर्पण में इसी वर्गीकरण को स्वीकार किया है। परन्तु यथार्थ में औद्धत्य के साथ धीरत्व का सम्बन्ध अविच्छिन्न रूप से नायक में अवस्थित मानना कुछ संगत प्रतीत नहीं होता। औद्धत्य तो खलनायक का ही विशिष्ट गुण स्वीकार किया जाना चाहिए, जैसा कि धनंजय ने स्वय किया है। अच्युतराय ने अपने 'साहित्यसार' में इसी कारण से नायक के तीन भेद

एक ही हो सकता है, यद्यपि पाश्चात्य सिद्धान्तों के अनुसार एक ही नाटक में दो नायकों की स्थिति सम्भाव्यता की सीमा के सर्वथा बाहर नहीं है ।[1] इस संक्षिप्त विवरण से स्पष्ट है कि द्विवेदी युगीन नाटक-साहित्य में नायक के स्वरूप का विविध विकास हुआ । नायक के चुनाव के क्षेत्र की सीमाएं इस युग में पहले की अपेक्षा और भी विस्तृत हुई, प्राचीनता के बन्धन और शिथिल हुए ।

प्रसाद युग में नायक के उपर्युक्त-वर्गों के अतिरिक्त रोमांटिक नायक का विकास हुआ । श्रीनिवास दास के 'रणधीर और प्रेममोहिनी' नाटक में इस नायक का पूर्वरूप हमारे सामने आ चुका था । प्रसाद के नाटकों में उसके स्वरूप का प्रौढ़ विकास देखने को मिलता है । प्रसाद मूलतः स्वच्छन्दतावादी नाटककार थे । इसी आधार पर उनके नाटकों के नायकों का आकलन होना चाहिए, प्राचीन साहित्य-शास्त्र की रूढ़िगत मान्यताओं के आधार पर नहीं । डा० नगेन्द्र, डा० नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० बच्चनसिंह, डा० रामेश्वरलाल खाण्डेलवाल आदि अनेक विद्वानों का यही अभिमत है । विवेच्य युग के ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों में प्राचीनता के परिप्रेक्ष्य में युगीन राष्ट्रीयता का स्वर बोल रहा है । प्रसाद और प्रेमी के नाटक इसके स्पष्ट उदाहरण हैं । नायकों के चित्रण में यथार्थ का अनुरोध इस युग में उत्तरोत्तर तीव्र होता गया है । अवतारी नायक अलौकिकता के धरातल से उतर कर असाधारण गुण-सम्पन्न मानवी स्तर पर आ गये हैं । सेठ गोविन्ददास के 'कर्तव्य' (पूर्वार्द्ध) के राम 'कर्तव्य' (उत्तरार्द्ध) के कृष्ण अवतार न होकर आदर्शमानव हैं । जहां नायक का स्वरूप शास्त्रीय दृष्टि से चित्रित करने का प्रयास किया भी गया है वहां उसे प्राचीन शैली के अनुसार सर्वगुण-सम्पन्न न बनाकर मानव-स्वभाव-सुलभ सबलताओं एवं दुर्बलताओं से सुसज्जित किया गया है। अब नायक न तो सर्वगुण-सम्पन्न ही रहा है और न सर्वथा निर्दोष । इस युग में समस्या-प्रधान नाटक भी बहुत प्रिय हुए । इन नाटकों में नाटककार का ध्यान मूल समस्या पर ही मुख्य रूप से केन्द्रित होने के कारण नायक का प्रश्न उपेक्षित सा ही हो गया है । सभी पात्र समस्या के किसी न किसी पक्ष का समर्थन करते दिखाई देते हैं। कौन सा पात्र मुख्य है और कौन सा गौण, यह कहना कठिन हो जाता है । इस दृष्टि से लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक समस्याप्रधान होने के कारण नायकहीन ही समझे जाने चाहिएं । वैसे प्रसाद की 'ध्रुवस्वामिनी', प्रेमी के 'बन्धन', सेठ गोविन्ददास के 'प्रकाश' आदि नाटकों में जहां युगीन समस्याओं को मात्र प्रसंगवश उभारा गया है नायक का व्यक्तित्व असंदिग्ध है ।

१. देखिये एलार्डिस निकल, दि थ्यूरी आफ ड्रामा, पृ० १५४ ।

यह है संक्षेप में हिन्दी नाटक के स्वरूप की कहानी। संक्षेप में यह अलौकिक से लौकिक, विशिष्ट से सामान्य, आदर्श से यथार्थ एवं विचित्र से स्वाभाविक की ओर बढ़ने की कहानी है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में भारतेन्दु एवं द्विवेदी युगीन नाटक साहित्य के अन्तर्गत अनेक नाटकों का विवेचन अत्यधिक विस्तार से किया गया है। इस विस्तृत विवेचन के आधार में एक प्रमुख कारण यह भी है कि इन नाटकों में से अधिकांश सुगमता से सुलभ नहीं हैं और प्रस्तुत प्रयास से प्रसंगवश उनकी रक्षा में भी सहायता मिलेगी।

प्रस्तुत प्रबन्ध में सन्त-भक्तों की जीवनी पर आधारित नाटकों को पौराणिक नाटकों के अन्तर्गत ही लिया गया है। यद्यपि इनके नायकों के ऐतिहासिक व्यक्तित्व में कोई सन्देह नहीं, तो भी घटनाओं एवं चरित्रों के अंकन में अलौकिकता के समावेश के कारण इनकी गणना पौराणिक नाटकों में ही करना उचित समझा गया है। मथुरादास कृत 'नरसी मेहता का नाटक', बदरीनाथ भट्ट कृत 'गोस्वामी तुलसीदास' आदि इसी प्रकार के नाटक है।

प्रस्तुत प्रबन्ध के पहले चार अध्यायों में नायक-स्वरूप के चिन्तन का शास्त्रीय पक्ष प्रस्तुत करने का यत्न किया गया है और उसके बाद के कलेवर में हिन्दी नाटक साहित्य में उसके विकास की रूप-रेखा खोजने की कोशिश की गई है। शास्त्रीय चिन्तन में यथासम्भव प्राचीन भारतीय और पाश्चात्य मतों को आकलन करने का भरसक प्रयत्न किया गया है। इस प्रयास में यत्र-तत्र कुछ शंकाएं भी प्रस्तुत हुई जिनका समाधान मैंने अपनी तुच्छ बुद्धि के अनुसार प्रस्तुत करने का यत्न किया है। मैं नही कह सकता कि इस प्रयास से मेरी भी पूर्ण तृप्ति हुई है अथवा मैं किसी अन्तिम निर्णय पर पहुंच सका हूं। मेरी अल्पबुद्धि में इस दिशा में जितना अन्तिम सफलता का महत्व है उतना ही निश्छल प्रयास का भी। इस आशय को स्पष्ट करने के लिए केवल दो तथ्य नीचे दिये जाते है :—

१. आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में धीरोदात्त, धीरललित, धीरशान्त एवं धीरोद्धत नाम से नायक के चार भेद दिए हैं। धनंजय ने अपने दशरूपक में तथा विश्वनाथ ने अपने साहित्यदर्पण मे इसी वर्गीकरण को स्वीकार किया है। परन्तु यथार्थ में औद्धत्य के साथ धीरत्व का सम्बन्ध अविच्छिन्न रूप से नायक में अवस्थित मानना कुछ संगत प्रतीत नहीं होता। औद्धत्य तो खलनायक का ही विशिष्ट गुण स्वीकार किया जाना चाहिए, जैसा कि धनंजय ने स्वयं किया है। अच्युतराय ने अपने 'साहित्यसार' में इसी कारण से नायक के तीन भेद

स्वीकार किये हैं ।[१] नायक का धीरोद्धत भेद उन्होंने स्वीकार नहीं किया । डा० कीथ ने अपने ग्रन्थ 'संस्कृत ड्रामा' में भी इसी का समर्थन किया है ।[२]

२. इसी प्रकार की विचिकित्सा आचार्यों द्वारा 'नायक' शब्द के अव्यवस्थित प्रयोग के विषय मे है । आचार्यों ने विशिष्ट और सामान्य दोनों अर्थो में इसका प्रयोग किया है, जब कि इसका प्रयोग केवल पहले अर्थात् विशिष्ट अर्थो में प्रयुक्त किया गया है । फल-प्राप्ति के उद्देश्य से यह नितान्त भ्रान्तिकारक है । नाटक के नायक को निर्वहण सन्धि में ही फल-प्राप्ति होती है, जब कि पताका नायक गर्भ अथवा विमर्श सन्धि में फलाधिकारी होता है । प्रकरी नायक तो शास्त्र की दृष्टि में फलाधिकारी होता ही नही । ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण नाटक तथा पताका एवं प्रकरी—इन तीनों के प्रमुख पात्रों के लिए 'नायक' शब्द का प्रयोग असमीचीन ही प्रतीत होता है । पताका नायक तो नायक का सहायक ही होता है । अतः उसके लिए 'पीठमर्द' शब्द का प्रयोग ही समीचीन है ।

अन्त में मैं आधुनिक हिन्दी साहित्य के परम पारखी विद्वन्मूर्धन्य श्रद्धेय गुरुवर डाक्टर इन्द्रनाथ मदान, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष हिन्दी विभाग पंजाब विश्वविद्यालय चंडीगढ़ के प्रति विनम्र आभार प्रकट करना अपना परम कर्तव्य समझता हूं । गुरुवर के सवल प्रोत्साहन और भव्य नेतृत्व के फल-स्वरूप ही प्रस्तुत प्रयास पूर्ण हो सका है । कार्य के बीच में पग-पग पर पैदा होने वाली कठिनाइयों पर जिस सशक्त प्रेरणा से अधिकार करने का साहस उन्होंने प्रदान किया है उसके लिए औपचारिक रूप से आभार प्रकट कर उऋण हो सकना कठिन है ।

भारत के यशस्वी विद्वान्, अप्रतिम प्रतिभा-सम्पन्न साहित्यकार एवं शिक्षा शास्त्री, पंजाब विश्वविद्यालय के भूतपूर्व टैगोर प्रोफेसर तथा हिन्दी विभागाध्यक्ष, महामना आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शन की वात करना उपचार मात्र प्रतीत होता है । उनका वात्सल्यपूर्ण पथ-प्रदर्शन एवं शुभाशीर्वाद भी इन पंक्तियों के लेखक को प्रचुर मात्रा में प्राप्त रहा है । प्राचीन भारतीय आचार्यों के अभिमतों को हृदयंगम करने का प्रयास उनके श्रीचरणों

---

१. उदात्तो ललितः शान्तस्त्रिधा नेता प्रकीर्तितः ।
सर्वोऽपि धीर एवायं विज्ञेयो नायकत्वतः ॥११।२॥

२. "It is obvious that there is difficulty in conceiving as a chief hero one of the haughty type and the theory does not provide with one, for Parashurama is only a secondary hero."

में बैठकर सम्भव हो सका है ।

मैं पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़ के हिन्दी विभाग के भूतपूर्व रीडर तथा साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् एवं श्रद्धेय अपने पिता जी डाक्टर सरनदास भनोत जी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना अपना परम कर्तव्य समझता हूं जिनके सतत प्रेरणा एवं मार्ग-दर्शन के परिणामस्वरूप ही प्रस्तुत शोध कार्य निष्पन्न हो सका है । विशेषत: संस्कृत संदर्भो के परिशीलन और मनन के कार्य में उनकी मर्मज्ञता मेरा संबल रही है । उनके प्रति आभार की स्वीकृति भले ही औपचारिक प्रतीत हो, परन्तु ऐसा न करना मैं एक अमार्जनीय भूल समझता हूं ।

नागरी प्रचारिणी सभा के अधिकारियों के प्रति साभार कृतज्ञता प्रकट करने में मुझे बड़ी प्रसन्नता है । सन् ६३ के ग्रीष्मावकाश में भारतेन्दु और द्विवेदीयुगीन कतिपय दुष्प्राप्य नाटकों की खोज में मुझे वहां जाना पड़ा था । जिस तत्परता एवं प्रसन्नता से उन्होंने मुझे कार्य करने के लिये सभी संभव सुविधाएं प्रदान कीं, उनके लिए मैं अत्यन्त आभारी हूं ।

बाबू ब्रजरत्नदास जी का भी मैं विशेष रूप से आभारी हूं जिन्होने काशी नागरी प्रचारिणी सभा में कुछ एक अनुपलब्ध पुस्तकों को मुझे निजी पुस्तकालय में देखने की अनुमति प्रदान की । यदि इसके लिए वे मुझे अपना सहयोग न देते तो मेरा यह प्रयास अधूरा ही रह जाता ।

मैं श्री जमुनादास मेहरा का भी बड़ा कृतज्ञ हूं जिन्होंने अपनी कई एक अप्राप्य कृतियों की पाण्डुलिपि अध्ययनार्थ प्रदान कर मुझे अपने प्रयास में यथासंभव पूर्णता लाने में सहयोग दिया ।

अन्त में भारतीय ग्रंथ निकेतन के व्यवस्थापक श्री यशपाल जी के प्रति आभार स्वीकार करना भी मैं अपना प्रिय कर्तव्य समझता हूं जिन्होंने उत्तरोत्तर बढ़ती हुई कठिनाइयों के इस दौर में प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के प्रकाशन कार्य का भार संभालकर अपनी सहृदयता का प्रमाण दिया है ।

राजेन्द्र कृष्ण भनोत

अनुक्रम

चतुर्थ अध्याय

पंचम अध्याय

छठा अध्याय

सातवां अध्याय

आठवाँ अध्याय

परिशिष्ट

प्रथम अध्याय

नाटक का महत्व

साहित्य मानव समाज के सांस्कृतिक जीवन की अभिव्यंजना ही नहीं उसकी अमूल्य निधि भी है। संस्कृति का सम्बन्ध समाज के अतीत, वर्तमान और उसके भावी जीवन से है और साहित्य अतीत तथा वर्तमान के सम्बन्धों को जोड़ने की एक उत्तम कड़ी है और भविष्य की संभावनाओं को साकार करने का अनुपम साधन। किसी देश के सांस्कृतिक विकास और इतिहास को जानने के लिए हमारे लिए उस देश के सांस्कृतिक उपकरणों-कला, दर्शन, धर्म साहित्य आदि से परिचित होना अनिवार्य होगा। चूंकि सांस्कृतिक जीवन की पूर्ण एवं सुन्दरतम अभिव्यक्ति साहित्य के माध्यम से ही सम्भव है, इसलिए सामाजिक उपयोगिता के क्षेत्र में साहित्य का दायित्व और भी बढ़ जाता है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए साहित्य को समाज की प्रतिच्छाया माना गया है। समाज की स्वस्थ एवं ह्रासमूलक सभी तरह की स्थितियों का प्रभाव साहित्य पर पड़ता है। इसलिए उसमें जीवन की विविधता का रहना अनिवार्य है। जीवन की इसी अनेकरूपता एवं विविधता का चित्रण साहित्य के विकास का एक अनिवार्य अंग है और नाटक में यह विकास अपनी चरम सीमा को प्राप्त है। विश्व में ऐसा कोई ज्ञान नही, कोई शिल्प और विद्या नहीं, कला, योग और कर्म नहीं जो नाट्य में न देखा जाता हो।[1]

वैसे तो रेडियो के प्रसार से आज कल ध्वन्यात्मक अथवा श्रव्य नाटकों की विधा का पर्याप्त प्रचार हो रहा है, तो भी मुख्यतः नाटक एक अनुकरणात्मक

---

१. नाट्शास्त्र,

न तच्छ्रुतं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत्कर्म यन्नाट्येऽस्मिन्न दृश्यते ॥१-११६॥

कला ही है। रंगमंच के अभाव में नाटक की कल्पना भी नहीं हो सकती। यद्यपि सदैव की तरह आजकल भी अनेक ऐसे नाटक लिखे जा रहे है जो सफलता-पूर्वक अभिनीत नहीं किये जा सकते और इसीलिए उन्हे हम केवल पाठ्य नाटकों की श्रेणी में ही रख सकते हैं, तथापि नाटक का नाटकत्व उसकी अभिनेयता में ही है। अभिनेयता ही नाटक का प्राण है। नाटक को सफलता-पूर्ण रंगमंच पर अभिनीत करने के लिए, वस्तु, चित्र, संगीत, नृत्य आदि अन्य कलाओं, शिल्पों एवं विद्याओं (शास्त्रों) का आश्रय लेना पड़ता है। नाटक मे इतिवृत्त के अनुकूल पात्रों की वेशभूषा की देखभाल करने के लिए वेषकर की, संगीत के लिए संगीत-निर्देशक की, रूपकार की, स्थापत्य कला के विशेषज्ञों की, बढ़ई की, दर्जी की, सुनार की, वातावरण के अनुकूल दृश्यों की सजावट के लिए मूर्तियों या अन्य अलंकरण के उपादानों की आवश्यकता पड़ती है। वस्तुतः नाटक की यह रंगमचीय व्यवस्था सामूहिक सहयोग के बिना असम्भव है। अतः यह कहा जा सकता है कि नाटक एक मिश्रित कला है जिसकी पूर्णा-भिव्यक्ति और पूर्णता के लिए अन्य कलाओं के ज्ञान एवं कुशलता की आवश्यकता है।[१]

नाटक सामूहिक कला के साथ-साथ जनतांत्रिक कला भी है। नाटक से संसार में सब लोगों का विनोद होता है।[२] इसका आनन्द किसी विशिष्ट वर्ग के लोगों तक सीमित नहीं है अपितु समाज के सभी वर्गों और स्तरों के लोग इससे आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। नाट्शास्त्र के प्रथम अध्याय में नाट्योत्पत्ति का प्रसंग आता है। इन्द्र आदि देवता भगवान् ब्रह्मा के पास जाकर यह प्रार्थना करते हैं कि हे भगवन्! हम ऐसा खेल (मनोरंजन का साधन) चाहते है जो दृश्य भी हो और श्रव्य भी। चूंकि वेद-व्यवहार शूद्र जाति के द्वारा वर्जित है अतः आप इनसे भिन्न एक ऐसे पंचम वेद की रचना करें जो

---

१. Philip A. Coggin, The uses of Drama edition 1956, page 277.

' Drama is a composite art, requiring for its full expression and perfection an understanding of and proficiency in, other arts."

२. नाट्यशास्त्र;

विनोदकरणं लोके नाट्यमेतद्भविष्यति ॥१-१२०॥

सार्ववर्णिक हो।[1] ब्रह्मा ने देवताओं की इस प्रार्थना पर नाट्य नामक ऐसे पंचम वेद की इतिहास सहित रचना की जो कि धर्म, अर्थ और यश को देने वाला है, उपदेश एवं लोक सग्रह की भावना से युक्त है, भावी लोक के सब कर्मों को प्रशस्त करने वाला है, सभी शास्त्रों से सम्पन्न तथा सभी शिल्प कलाओं का प्रवर्तक है।[2] कालिदास अपने प्रसिद्ध नाटक 'मालविकाग्निमित्र' में गणदास नामक नाट्यशिक्षक के द्वारा नाटक का महत्त्व इस प्रकार बतलाते हैं—

'मुनिजन् इस (नाट्य) को देवताओं के लिए नेत्रों के द्वारा अनुभव करने योग्य कमनीय यज्ञ कहते हैं। भगवान् शंकर ने उमा से सम्मिलित अपने शरीर में इसके दो भाग (तांडव एवं लास्य) किये हैं। यहां सत्व, रजस् और तमस् इन तीनों गुणों से उत्पन्न तथा अनेक प्रकार के रसों से पूर्ण लोक-चरित (अभिनय के द्वारा) देखा जाता है। इस प्रकार नाटक भिन्न-भिन्न रुचि वाले लोगों के लिए अनेक प्रकार के अनुरंजन का एक साधन है।'[3]

हम अपने व्यावहारिक जीवन में भी इस बात को अनुभव करते है कि मन्दिर, मस्जिद आदि धर्म-संस्थानों की तरह प्रेक्षागृह भी एक ऐसी जगह है जहां लोग पारस्परिक मन-मुटाव और जातीय भेद-भाव को भूल कर समान रूप से रसानुभूति प्राप्त करने के लिए एकत्रित होते हैं। नाटक देखने से रसास्वादन करने वाले सामाजिक शिक्षित ही हों, ऐसी बात नहीं है। शिक्षित

---

१. नाट्यशास्त्र;

महेन्द्र प्रमुखैर्देवैरुक्तः किल पितामहः।
क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद्भवेत् ॥१-११॥
न वेदव्यवहारोऽयं संश्राव्यः शूद्रजातिषु।
तस्मात्सृजापरं वेदं पंचमं सार्ववर्णिकम् ॥१-१२॥

२. नाट्यशास्त्र;

धर्म्यमर्थ्यं यशस्यं च सोपदेशं ससंग्रहम्।
भविष्यतश्च लोकस्य सर्वकर्मानुदर्शकम् ॥१-१४॥
सर्वशास्त्रार्थसम्पन्नं सर्वशिल्पप्रवर्त्तकम्।
नाट्याख्यं पंचमं वेदं सेतिहासं करोम्यहम् ॥१-१५॥

३. मालविकाग्निमित्र;

देवानामिदमामनन्ति मुनयः कान्तं क्रतुं चाक्षुषं
रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वांगे विभक्तं द्विधा।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते।
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम् ॥१-४॥

अथवा अल्प-शिक्षित लोग सभी के लिए इसका आनन्द हृदयग्राह्य है। कम पढ़े-लिखे लोगों पर जो प्रभाव अमूर्त की अपेक्षा मूर्त का पड़ता है वह अधिक ग्राह्य, स्थायी एवं बुद्धिगम्य होता है। काव्य या साहित्य की अन्य विधाओं में लेखक शब्दों के द्वारा भावों को बिम्ब रूप में प्रस्तुत करता है जिनको समझने के लिए सामाजिक अथवा पाठक का थोड़ा-बहुत शिक्षित होना अनिवार्य है, परन्तु नाटक में नाटककार के अमूर्त भावों का अभिनय के द्वारा मूर्त्तीकरण हो जाता है। नाटककार की भाषा में जो थोड़ी-बहुत कमी रह भी जाती है वह कुशल अभिनेता के अभिनय द्वारा पूरी हो जाती है। वैसे भी मात्र पढ़ी हुई बात की अपेक्षा आंख से देखी हुई और कान से सुनी हुई बात का प्रभाव अधिक रहता है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि नाटक से अधिक लोगों का रसास्वादन होता है और इसीलिए इसे लोकतांत्रिक कला माना गया है।

नाटक का उद्देश्य मनोरंजन से ही पूर्ण नहीं हो जाता। लोकरंजन के साथ-साथ इसमें लोक-संग्रह अथवा लोक-कल्याण की भी क्षमता रहती है। ब्रह्मा के आदेशानुसार मुनियों के द्वारा जो देवताओं की विजय पर पहला नाटक अभिनीत किया गया था उसमें दैत्यों के कृत्यों की निन्दा की गई थी। इस पर दैत्यों ने रोष प्रकट किया था। भरत के अनुसार वे सब मिल कर विरुपाक्ष के नेतृत्व मे भगवान् ब्रह्मा के पास गये और कहने लगे कि 'हे लोक पितामह! आपके द्वारा ऐसा नहीं किया जाना चाहिए था। जिस प्रकार आप मे देवता उत्पन्न हुए वैसे ही हम (दैत्य) भी।' विरुपाक्ष के ऐसे वचन सुनकर भगवान् ब्रह्मा बोले, 'आपका यह क्रोध उचित नहीं है और आपको यह विषाद त्याग देना चाहिए, क्योंकि मैंने जिस नाट्य वेद की रचना की है वह आप और देवताओं दोनों के शुभ और अशुभ को प्रकट करने वाला है और आप दोनों के कर्म और भावों के अन्वय (अनुकरण) की अपेक्षा करने वाला है। यहां न आपका और न देवताओं का एकान्त भावन हुआ करता है, अपितु इसमें सारे त्रिलोक के भावों का अनुकरण रहता है।[1] इसमें कहीं धर्म है, कही

---

१. नाट्यशास्त्र;

तन्नैतदेवं कर्त्तव्यं त्वया लोकपितामहः।
यथा देवास्तथा दैत्यास्त्वत्तः पूर्वविनिर्गता. ॥१-१०४॥
विरुपाक्षवचः श्रुत्वा ब्रह्मा वचनमब्रवीत्।
अलं वो मन्युना दैत्या विषादस्त्यज्यतामयम् ॥१-१०५॥
भवतां देवतानां च [illegible]।
कर्मभावान्वयापेक्षी नाट्यवेदो मयाकृतः ॥१-१०६॥
नैकान्ततोऽत्रभवतां देवानां चापि भावनम्।
त्रैलोक्तस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्त्तनम् ॥१-१०७॥

क्रीड़ा; कही अर्थ है और कही श्रम, कहीं हास्य है कहीं युद्ध और कहीं काम है और कहीं वध; इस प्रकार इसमें अनेक भावों, अवस्थाओं एवं लोक-वृत्तों का अनुकरण रहता है[1] जो कि समाज में उत्तम, मध्यम और अधम मनुष्यों के कर्मो पर आश्रित है। इसीलिए नाटक हितकारक, उपदेश से युक्त, धैर्य, क्रीड़ा और सुख को देने वाला, दुःख से पीड़ित, श्रम से थकित और शोक से व्यथित बेचारे लोगों को विश्रान्ति देने वाला, धर्म, यश तथा आयु की वृद्धि करने वाला, हितकारक, बुद्धि-वर्धक तथा संसार के लिए उपदेश देने वाला होगा।[2] इसके साथ ही नाटक में सामयिक जीवन की समस्याओं का उद्घाटन भी बड़े सुन्दर ढंग से रहता है।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि भरत के अनुसार नाटक मुख्य रूप से दैवी शक्तियों की आसुरी शक्तियों पर विजय का प्रतीक है, और चूंकि इसमें त्रिलोकी के भावों का अनुकीर्तन रहता है, उस के प्रभाव की व्यापकता भी स्वत: सिद्ध है। भरत मुनि ने नाटक को पंचम वेद की संज्ञा दी है जिस मे उसके अलौकिक महत्व की प्रतिष्ठापना हो जाती है। 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' की उक्ति द्वारा विद्वानों ने इसी महत्व का अनुमोदन किया है।

नाटक और समाज

साहित्य के सभी अंगो मे से नाटक ही एक ऐसा अंग है जिसका जन-जीवन से सीधा सम्बन्ध है। काव्य, उपन्यास, कहानी आदि साहित्य की विधाओ का आस्वादन एक व्यक्ति या कुछ व्यक्ति ही एक साथ कर पाते है

---

१ नाट्यशास्त्र;

क्वचिद्धर्म: क्वचित्क्रीडा क्वचिदर्थ: क्वचिच्छ्रम: ।
क्वचिद्धास्यं क्वचिद्युद्धं क्वचित्काम: क्वचिद्वध: ॥१-१०८॥
नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम् ।
[illegible] नं नाट्यमेतन्मयाकृतम् ॥१-११२॥

२. वही:

उत्तमाधममध्याना नराणा कर्मसंश्रयम् ।
हितोपदशजननं धृतिक्रीड़ासुखादिकृत् ॥१-११३॥
दु:खार्त्तानां श्रमार्त्तानां शोकार्त्तानां तपस्विनाम् ।
विश्रांतिजननं काले नाट्यमेतन्मयाकृतम् ॥१-११४॥
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हित बुद्धिविवर्द्धनम् ।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति ॥१-११५॥

परन्तु नाटक का आनन्द एक साथ अधिक से अधिक व्यक्ति प्राप्त कर सकते है। नाना भावों की अभिव्यक्ति रहने के कारण इसमें जीवन की विविधता का चित्रण रहता है। यद्यपि इसमें इतिहास, पुराण आदि के भी इतिवृत्त रहते है तथापि रंगमंच पर उनका अभिनय सजीव और यथार्थ प्रतीत होता है। अर्थात् अतीत भी वर्तमान सा दिखाई देता है। अतः स्पष्ट है कि नाटक का मुख्य तत्व है है अभिनेयता। अभिनीत किये जा रहे नाटक से बच्चे-बूढ़े, छोटे-बड़े, सभी जाति-सम्प्रदाय के लोग बिना किसी भेद-भाव से मनोरंजन प्राप्त करते है। एक सफल नाटक में ऐसा जादू भरा रहता है जो दर्शकों को मंत्र-मुग्ध कर देता है। नाटककार की कला कुशलता वास्तव में इसी बात में है कि सामाजिकों का नाटक के मुख्य पात्र (नायक) के साथ तादात्म्य स्थापित हो जाये, जो कि नाटककार की अपनी अनुभूतियों का प्रतीक होता है। बाबू गुलाबराय के शब्दों मे 'नाटक देखने या उपन्यास पढ़ने से हमारे सामाजिक भाव की तृप्ति होती है। नाटक या उपन्यास के पात्रों से हमारा सम्बन्ध किसी कारण दूषित नहीं होता। वे हमारे प्रतिद्वन्द्वी नहीं होते। उनसे हमारा ज़मीन-जायदाद का कोई झगड़ा नहीं होता है। उनके प्रति हमको ईर्ष्या और मात्सर्य भी नहीं होता और न उनकी विभूति को देखकर हमको जूड़ी आती है क्योंकि ज़्यादातर हमको अपने पड़ोसी को मोटर में जाते देखकर ईर्ष्या होती है, दुनिया भर से नहीं। जिनका ईर्ष्या भाव इतना व्यापक हो जाता है, उनको नाटक या सिनेमा में भी आनन्द न मिलेगा। इस प्रकार नाटक, सिनेमा, उपन्यास, प्रबन्ध काव्य सभी हमारे सामाजिक भाव की तृप्ति करते हैं।"[1]

---

१. हिन्दी नाट्य विमर्श, पृ० ३४।

द्वितीय अध्याय

'नायक' शब्द से तात्पर्य

हिन्दी का नायक शब्द अंग्रेजी के 'हीरो' (Hero) शब्द का पर्याय है। शास्त्रीय अर्थों में नाटक शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग भरतमुनि ने अपने नाट्य-शास्त्र में किया था। अग्निपुराण में भी 'नायक' शब्द का प्रयोग हुआ है परन्तु दशरूपककार धनंजय और साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने 'नायक' की अपेक्षा 'नेता' शब्द का प्रयोग किया है।[1] 'विलेन' (Villain) के लिए धनंजय ने 'खलनायक' का प्रयोग किया है। स्पष्ट है कि प्राचीन साहित्य में नायक और नेता दोनों शब्द समानार्थक थे और उस युग में इन शब्दों का प्रयोग मुख्य पात्र के अतिरिक्त अन्य पात्रों के लिए भी किया जाता था। आजकल प्रमुख पात्र के अतिरिक्त अन्य पात्रों के लिए 'पात्र' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

'नायक' शब्द की व्युत्पत्ति √ नी (नय्) धातु से हुई है जिसका अर्थ है 'ले जाना'। अतः नाटक की मुख्य कथा को जो विकास की ओर ले जाने वाला है, और उस कथा के फल का उपभोक्ता है, उसे नायक कहा जाता है और इसी विशिष्ट अर्थ में नायक शब्द का प्रयोग प्रस्तुत प्रबन्ध में किया गया है।

नायक सम्बन्धी प्रचलित भिन्न-भिन्न धारणाएं

सामान्यतः एक साधारण व्यक्ति जिस अर्थ में नायक शब्द को ग्रहण करता है वह साहित्यिक शब्दावली में द्योतित अर्थ से सर्वथा भिन्न है। साधारण व्यक्ति का नायक शब्द से अभिप्राय उस व्यक्ति से है जो सामाजिक धरातल पर भिन्न-भिन्न परिस्थितियों एवं अवस्थाओं में बड़ी सावधानी, साहस, उत्साह,

---

१. नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्ष : प्रियंवदः।—दशरूपक
दक्षोऽनुरक्त लोकस्तेजो वैदग्ध्य शीलवान् नेता।—साहित्य दर्पण।

कर्मठता, दृढ़ता और तन्मयता आदि गुणो से युक्त होता है। ऐसा परिश्रमी एवं कर्मठ व्यक्ति राजनैतिक, धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्र में अपने सबल व्यक्तित्व के कारण जनहृदयों का शृंगार बनता है। इस अर्थ में नेता वही हो सकता है, जो जीवन के विशिष्ट क्षेत्र में अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व एव उदात्त चरित्र के द्वारा सामाजिको का मार्ग प्रशस्त करने की क्षमता रखता हो और जिसमें जनता का प्रतिनिधित्व करने की सामर्थ्य हो। ऐसा नेता एक कुशल राजनीतिज्ञ हो सकता है, धार्मिक और समाजसुधारक भी। सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि आन्दोलनों की गतिविधियों को निर्धारित एवं संचालित करने के लिए, परिस्थितियों के कार्य-कारण भाव का विश्लेषण कर बिखरी हुई सामयिक शक्तियों को संचित कर एक निश्चित लक्ष्य की दिशा में अग्रसर होने के लिए ऐसे ही सफल नेता की आवश्यकता होती है। स्पष्टत: जनसाधारण मे नेता अथवा नायक शब्द से यही अथवा इसी से मिलता जुलता अर्थ ग्रहण किया जाता है, परन्तु साहित्य में नायक अथवा नेता शब्द का प्रयोग इन अर्थों में नहीं किया जाता।

महाकाव्य के नायक (वीर नायक) की चर्चा करते हुए एम. डिक्सन महोदय लिखते हैं:—'उदाहरणार्थ, महाकाव्य में प्राय: एक वीर नायक का चित्रण रहता है। यह इसलिए है क्योंकि इस प्रकार के काव्य मे वैयक्तिकता की अपेक्षा राष्ट्रीय दृष्टिकोण रहता है। नायक किसी देश अथवा विशिष्ट उद्देश्य का प्रतिनिधित्व करता है जिसकी सफलता उसकी सफलता मे सन्निहित रहती है और उसकी पराजय में उसकी मानक्षति होती है।'[१] डिक्सन महोदय का नायक-सम्बन्धी यह दृष्टिकोण बहुत सीमा तक भारतीय मत के साथ सामंजस्य रखता है। भारतीय आचार्यों ने जिस नायक का उल्लेख किया है। वह काव्य अथवा नाटक के अन्त मे फल-सिद्धि को प्राप्त करता है और संघर्षों पर विजय प्राप्त करता है। शृंगारी नायक प्रेमिका को पाकर अन्त में विजयी अथवा सफल होता है। डिक्सन महोदय का उपर्युक्त कथन वीरनायक के प्रति सत्य ठहरता है क्योंकि जाति विशेष का प्रतिनिधित्व एव समाज की सामूहिक चेतना को जाग्रत करने की क्षमता तो ऐसे ही नायक या व्यक्ति

१. M. Dixon, Engliah Epic and Heroic Poetry, Page 21.
"Epic, for instance, one notices, usually depicts a victorious hero. It can not well do otherwise, for in such a poem the interest is rather rational than individual. The hero represents a country, or a cause which triumphs with his triumph, whose honour would suffer from his defeat."

विशेष में हो सकती है। ऐसे वीर नायक का आधार है शारीरिक सौष्ठव एवं पुष्टता। परन्तु आजकल वीर नायक शब्द का प्रयोग प्रचलित अर्थों में न होकर बड़े व्यापक अर्थ में होने लगा है। वीर नायक से हमारा अभिप्राय घोड़े, हाथी, रथ आदि पर सवार हो कर युद्ध भूमि में लड़कर विजय प्राप्त करने वाले योद्धा से ही नहीं रहा अपितु ऐसे व्यक्ति से भी है जो अपनी कुछ एक असाधारण विशेषताओं एवं योग्यताओं द्वारा सामाजिकों के हृदयों पर विजय पाने वाला है, जिसके प्रभावशाली व्यक्तित्व के सम्मुख जनता नतमस्तक हो जाती है, उसके संकेतों पर नाचती है, उसमें अन्धविश्वास और श्रद्धा रखती है, उसके द्वारा प्रशस्त किये गये मार्ग का अनुसरण करती है तथा समाजगत भावना के समक्ष उसकी प्रेरणा, स्फूर्ति एवं उद्‌भावनाओं को अधिक महत्व देती है। राजनैतिक शब्दावली में ऐसे ही जननायक को नेता की संज्ञा दी जाती है। परन्तु राजनैतिक नेता तथा नाटकगत नायक में पर्याप्त अन्तर है। पहला विशुद्ध रूप से राजनैतिक चेतना से आक्रान्त है और दूसरा समाजगत संवेदनशीलता, सत्प्रेरणा एवं सहानुभूति की भावना से। जब ऐसे ही किसी नेता को काव्य या नाटक का अंग बनाकर चित्रित किया जाता है तो उसके राजनैतिक व्यक्तित्व के साथ साथ उसके चरित्र के वे पहलू भी उभर आते हैं जो सहृदयों में संवेदनशक्ति को जागृत करते हैं।

नायक के सम्बन्ध में एक और धारणा भी प्रचलित है और उसका समाज के सांस्कृतिक जीवन की दृष्टि से महत्व है। उसके अनुसार नायक विजेता अथवा योद्धा ही हो, यह अनिवार्य नही है। उसमें ऐसे नैतिक गुणों का होना ही अनिवार्य है जो समाज के सांस्कृतिक तत्वों का पोषण करने के लिए पर्याप्त हों। हरिश्चन्द्र, राम, कृष्ण आदि ऐसे ही लोक नायक हैं जो हमारी संस्कृति के अधिष्ठाता थे।

परन्तु नाटक, काव्य तथा उपन्यास में नायक शब्द से हमारा अभिप्राय ऐसे व्यक्तियों से भी होता है जो वीर योद्धा नहीं होते और जिनका व्यक्तित्व नितान्त दुर्बल और प्रभावहीन होता है परन्तु वे अपनी स्वाभाविक दुर्बलताओं के कारण पाठकों अथवा दर्शकों की सहानुभूति का पात्र बन जाते हैं।

व्यक्ति और समाज का परस्पर अटूट सम्बन्ध है। व्यक्ति समाज का निर्माता है और समाज के बिना व्यक्ति का अपना कोई अस्तित्व नहीं है। चूंकि नायक भी हमारे समाज का एक अंग है, अतः उसका स्वरूप भी समाज के सामान्य व्यक्ति के रूप से भिन्न नहीं हो सकता। समाज की परिस्थितियां समय की गति के साथ परिवर्तनशील है। इसी परिवर्तनशीलता के कारण सामाजिक चेतना और उसके मानदण्डों में भी परिवर्तन आ जाता है। सभ्यता

के विकास का इतिहास व्यक्ति और समाज के इसी परिवर्तनशील और संघर्ष-शील जीवन की कहानी है। उसी के अनुरूप हर युग में नायक के स्वरूप में थोड़े-बहुत अन्तर का आ जाना स्वाभाविक है। नायक सम्बन्धी धारणा व्यक्ति के ऐसे ही संघर्षरत जीवन के इतिहास से सम्बन्ध है जो उसके लिए भिन्न-भिन्न युगों में प्रेरणा, शक्ति और अदम्य उत्साह का स्रोत बनता रहा है। सृष्टि के आदिकाल से लेकर आज तक हम यही देखते हैं कि जीवन का प्रत्येक क्षेत्र व्यक्ति के लिए संघर्ष-भूमि रहा है। आज भी राजनीति, धर्म, विज्ञान, समाज-जीवन के सभी क्षेत्रों में व्यक्ति संघर्षरत दिखाई पड़ता है। यही संघर्षशीलता व्यक्ति के जीवन का सत्य है। इसलिए आज भी हम जिस व्यक्ति को जीवन में संघर्षरत पाते हैं उसके अदम्य साहस, उत्साह और शक्ति के प्रशंसक हुए बिना नहीं रहते। समाज में व्यक्ति की यही सामान्य भूमि है। इसी सामान्य भूमि का कोई भी पात्र नाटक, काव्य तथा उपन्यास का नायक बन सकता है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि जिस प्रकार सामाजिक गतिविधियों के संचालन के लिए एक सफल नेतृत्व की आवश्यकता होती है, उसी तरह साहित्य मे जीवन की सच्ची अभिव्यंजना के लिए, घटनाओं के उचित संघर्ष से सहृदयों में रोचकता, उत्कण्ठा एवं औत्सुक्य वृत्ति को जगाने एवं रसास्वादन के लिए नायक तथा अन्य पात्रों की अनिवार्यता को अनुभूत किया जाता है। जीवन एक रंग-बिरंगा फूलों और कांटों से सजा हुआ उपवन है। अतः जीवन के विविध रंगों की यथार्थ अभिव्यंजना के लिए सामाजिक धरातल के सबल-दुर्बल अच्छे-बुरे, सुखी-दुखी, उच्च-निम्न सभी स्तर के पात्रों को साहित्य में स्थान देना अपेक्षित है। प्रकृति का नियम ही ऐसा है कि प्रत्येक व्यक्ति स्वभाव एव प्रवृत्ति से एक-दूसरे से भिन्नता रखता है। जिस प्रकार 'किन्हीं भी दो आदमियों की सूरत नहीं मिलती, उसी भांति आदमियों के चरित्र भी नही मिलते। जैसे सब आदमियों के हाथ, पांव, आंखें, कान, नाक, मुंह होते हैं, पर उतनी समानता पर भी जिस तरह उनमें विभिन्नता मौजूद रहती है, उसी भांति, सब आदमियों के चरित्र में भी बहुत कुछ समानता होते हुए कुछ विभिन्नताएं होनी है।'[1] चरित्रों की यह विभिन्नता परिस्थिति तथा घटनाओं के प्रति आकर्षण को बनाने में बाधा उपस्थित न कर वस्तु-तत्त्व के विकास एवं परिणति में सहायक सिद्ध होती है। इसी के कारण नाटक तथा उपन्यास में संघर्ष को चरमोत्कर्ष प्राप्त होता है। चरित्र-भिन्नता का आधार है

१. प्रेमचन्द : कुछ विचार; तृतीय संस्करण—पृ० ४१।

स्वभाव-भेद, जिसके कारण व्यक्ति-व्यक्ति के चिन्तन एवं दृष्टिकोण में अन्तर आ जाता है ।[1] जो संघर्ष का बीज बनता है । वैसे भी संघर्षशील परिस्थितियों में नायक तथा अन्य पात्रों के चरित्रों में निखार आ जाता है ।

नाटक तथा साहित्य की अन्य विधाओं में नायक

नाटक में नायक

भारतीय आचार्य मूलतः रसवादी हैं । उन्होंने रस को काव्य की आत्मा माना है । नाटक में रसोद्बोधन तथा सामाजिकों की नैतिक भावनाओं की व्याघात से रक्षा के द्विसूत्री कार्य में उसका प्रधान पात्र सहायक होता है जिसे नायक की संज्ञा से अभिहित किया गया है । नाटक की आधिकारिक कथा के फल का उपभोक्ता भी वही होता है । वह आदि से अन्त तक नाटक में विद्यमान रहता है । कथा की गति उसी के साथ अनुबद्ध रहती है । वह बहुत से पुरुषों का अग्रणी माना जाता है तथा विपत्ति और सम्पत्ति दोनों की स्थितियों में वह अपने चरित्र की उदात्तता को बनाये रखता है । इसीलिए उसका 'धीर' होना अनिवार्य है । उसका इतिवृत्त इतिहास प्रसिद्ध तथा लोक विश्रुत होता है । नाटक के अन्य पात्रों की अपेक्षा उसमें विशिष्ट गुण रहते हैं । उसमें अभिजात वर्ग के लोगों की सभी विशेषताएं रहती है । 'दशरूपक' के अनुसार उसे विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रियंवद, रक्तलोक (लोगों को प्रसन्न करने वाला), शुचि, वाग्मी, रूढवंश, स्थिर (मन वाला), युवा, बुद्धिमान, उत्साही, प्रखर स्मरणशक्ति से युक्त, प्रज्ञावान्, कलाविज्ञ, शूरवीर, दृढ़निश्चयी तेजस्वी, शास्त्रों का ज्ञाता, और धार्मिक होना चाहिए ।[2] इन गुणों के अतिरिक्त उसमें शोभा, विलास, माधुर्य, गाम्भीर्य, स्थैर्य, तेज, लालित्य तथा औदार्य आदि आठ सात्विक गुण भी होते हैं । नाटक में वह संस्कृत भाषा का ही प्रयोग करता है जब कि निम्न पात्र देशज भाषा का प्रयोग करते हैं । 'कहीं कहीं नाटकों या उपन्यासों में यह पता लगाना कठिन हो जाता है कि इसका नायक कौन है । नायक जानने का यही साधन है कि हम देखें कथा का फल किसके साथ लगा हुआ है । श्रोता, द्रष्टा या पाठक किसके उत्थान या पतन में अधिक रुचि रखते है । फल हमेशा मूर्त नहीं होता । प्रतिज्ञा का पूर्ण होना भी

---

१. 'भिन्नरुचिर्हि लोकः, मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना ।'
२. नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः ।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा ॥२-१॥
बुद्ध्युत्साह स्मृतिप्रज्ञाकलामान समन्वितः,
शूरो दृढ़श्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः ॥२-२॥

एक प्रकार का फल ही होता है ।'[१]

नाट्यशास्त्र में उपर्युक्त गुणों से युक्त धीरोदात्तादि चार प्रकार के नायक माने गये हैं। नायिका के प्रति दृष्टिकोण से इन चारों के चार भेद हो जाते हैं—दक्षिण, अनुकूल, शठ और धृष्ट। इस प्रकार नायकों की संख्या १६ हो जाती है। इनके आगे उत्तम, मध्यम और अधम तीन और भेद है। इस प्रकार नायकों की संख्या ४८ तक पहुंच जाती है। कुछ आचार्यों ने दिव्य अदिव्य और दिव्यादिव्य भी नायक के भेद माने है। इससे नायकों की कुल संख्या १४४ हो जाती है।

नायक सम्बन्धी ग्रीक विद्वान् अरस्तू का मत भी भारतीय आचार्यों से भिन्न नहीं है। उन्होंने त्रासदी के नायक में चार गुणों को विशेष रूप से अनिवार्य माना है। 'पहली और सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि वह भद्र हो। नैतिक उद्देश्य का द्योतन करने वाला कोई भी वक्तव्य या कार्य व्यापार चरित्र का व्यंजक होगा। यदि उद्देश्य भद्र है तो चरित्र भी भद्र होगा। यह गुण प्रत्येक वर्ग में सम्भव है। × × × दूसरी बात ध्यान रखने की है औचित्य। पुरुष में एक विशेष प्रकार का शौर्य होता है परन्तु नारी चरित्र में शौर्य या (नैतिक-विवेक-शून्य) चातुर्य का समावेश अनुचित होगा। तीसरे, चरित्र जीवन के अनुकूल होना चाहिए। यह गुण पूर्वोक्त 'भद्रता' और 'औचित्य' से भिन्न है। चौथी बात यह है कि चरित्र में एकरूपता होनी चाहिए। हो सकता है कि मूल अनुकार्य के चरित्र में अनेकरूपता हो, किन्तु फिर भी यह अनेक-रूपता ही एक रूप होनी चाहिए।'[२]

अरस्तू भारतीय आचार्यों की तरह नायक का भद्र एवं कुलीन होना तो मानते हैं परन्तु उसको सर्वथा निर्दोष नहीं मानते। अरस्तू त्रासदीय अनुकरण का व्यावर्तक धर्म करुणा एवं त्रास की उद्बुद्धि मानते हैं। पात्र सत्पात्र से अथवा खलपात्र से न तो सामाजिकों की नैतिक भावना का परितोष होता है और न ही करुणा और त्रास की उद्बुद्धि। अतः वह भद्र होने पर भी स्वभाव-जन्य किसी दुर्बलता अथवा भूल करने की प्रवृत्ति से अवश्य ही युक्त रहता है। अरस्तू के मत में 'ऐसा व्यक्ति जो अत्यन्त सच्चरित्र और न्यायपरायण तो नहीं है फिर भी जो अपने दुर्गुण या पाप के कारण नहीं वरन् किसी कमज़ोरी या भूल के कारण दुर्भाग्य का शिकार हो जाता है। वह व्यक्ति अत्यन्त

१. गुलाबराय, काव्य के रूप, संस्करण १९५८—पृ० ३७।

२. अरस्तू का काव्यशास्त्र (अनुवादक-डाक्टर नगेन्द्र), अनुवाद भाग, पृ० ३९-४०।

विख्यात एवं समृद्ध होना चाहिए जैसे ओइदिपूस, 'थ्युएस्तेस अथवा ऐसा ही कोई अन्य यशस्वी कुलीन पुरुष।'[1] अतः 'त्रासदी का आदर्श नायक वह है जो या तो स्वभावदोष से—किसी मानवोचित दुर्बलता-आवेग, त्वरा आदि के कारण, स्वभाव से लाचार होकर, या फिर निर्णय-सम्बन्धी भूल के कारण अपराध करता हुआ दुर्भाग्य का शिकार हो जाता है। इस व्यक्ति का दोष अत्यन्त साधारण होता है—कोई सहज मानव-दुर्बलता या निर्णय-सम्बन्धी भूल जो प्रेक्षक में भी यथावत् होने के कारण क्षोभ नहीं, वरन् समानुभूति ही उत्पन्न करती है। चूंकि इसकी विपत्ति इसके दोष की अपेक्षा अनुपात से कहीं अधिक होती है, इसलिए वह निश्चय ही प्रेक्षक के मन में करुणा और त्रास का सम्यक् उद्बोध तो करती है; परन्तु सर्वथा अन्याय्य न होने के कारण नैतिक भावना को विक्षुब्ध नहीं करती। इस प्रकार का नायक निश्चय ही क्षोभ आदि से मुक्त शुद्ध करुण-त्रासद प्रभाव उत्पन्न करता है, अतः यही त्रासदी का आदर्श नायक है।'[2]

नायक सम्बन्धी इस विवेचन से स्पष्ट है कि उसका चरित्र शास्त्र द्वारा पूर्व निर्धारित ढर्रे का ही पालन करता है। नाटक में उसके चरित्र-परिवर्तन तथा विकास की कोई गुंजाइश ही नहीं रहती। यही कारण है कि इसके चरित्र में कार्य-व्यापार का अभाव रहता है। नाटक के कार्य व्यापार मे नायक नये गुणों को धारण नहीं कर सकता, वह तो पूर्व निर्धारित और शास्त्रसम्मत अपने गुणों का ही उसमें उद्घाटन करता है। परन्तु आज हम देखते है कि नायक सम्बन्धी यह दृष्टिकोण मान्य नहीं है। युग-युग की परिस्थितियों के अनुकूल लोगों की विचारधारा, जीवन-दृष्टि, रुचि, प्रवृत्ति आदि में अन्तर आता रहता है और तद्नुरूप साहित्य के मानदण्ड भी परिवर्तित होते रहते है।

बीसवीं शताब्दी विज्ञान का युग है। वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण सामाजिक एवं व्यक्तिगत मूल्यों में परिवर्तन का आ जाना स्वाभाविक ही है। राजनैतिक चेतना के विकास के कारण विश्व के लगभग समस्त देशों मे जनतांत्रिक शासन प्रणाली को अपनाया जा रहा है। विश्व व्यक्तिवाद की अपेक्षा समाजवाद की ओर अग्रसर हो रहा है। ऐसी स्थिति में प्राचीन जर्जरित मान्यताओं की दुहाई देना व्यर्थ है। यह सामाजिक परिस्थितियों तथा युग की मांग के अनुकूल नहीं है। अतः नाटक साहित्य में नायक केवल विशिष्ट गुण-

---

१. अरस्तू का काव्यशास्त्र (अनुवाद—डा० नगेन्द्र), (अनुवाद भाग); पृ० ३३।

२. वही (भूमिका भाग), पृ० ११४।

सम्पन्न भद्र पुरुष ही बन सकता है, ऐसी बात नहीं है। एक गरीब मज़दूर, किसान, स्वर्णकार, चित्रकार, रूपकार, कवि, डाक्टर, दुकानदार, पागल, कैदी, हत्यारा, चोर, डाकू आदि सभी नाटकों के नायक बनने के अधिकारी हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि नाटक में जहां भद्र एवं कुलीन पुरुष नायक हो सकता है, साथ ही समाज के निम्न से निम्नतम वर्ग का व्यक्ति भी इस साहित्यिक गौरव को पाने का अधिकारी है। आज नायक की भद्रता अथवा चरित्र की उदात्तता उसके कुलीन होने में ही नहीं है, बल्कि जीवन के प्रति उसकी सादगी, ईमानदारी और सचाई में है। वह केवल गुणों का भण्डार नहीं है, अपितु सत्-असत्, ईर्ष्या-प्रेम, क्रोध-लोभ आदि मानव-सुलभ सबलताओं एवं दुर्बलताओं से युक्त साधारण मानव है। मात्र निर्दोष चरित्र देवता की तरह सामाजिकों की श्रद्धा एवं पूजा का पात्र बनता है जो एक मूर्ति के समान उनके हृदयों में स्थित हो जाता है। आज नाटककार का काम सामाजिकों के हृदय-मन्दिरों में ऐसी मूर्ति की प्रतिष्ठापना करना नहीं है अपितु ऐसे चरित्र-नायकों की अवतारणा करना है जो मानव में मानवत्व की भावना को जगा सके; जीवन की असत् वृत्तियों पर विजय प्राप्त कर ईमानदारी और सचाई का मार्ग प्रशस्त कर सके। अतः 'यह जरूरी नहीं कि हमारे चरित्र नायक ऊंची श्रेणी के ही मनुष्य हों। हर्ष और शोक, प्रेम और अनुराग, ईर्ष्या और द्वेष मनुष्य मात्र में व्यापक है। हमें केवल हृदय के उन तारों पर चोट करनी चाहिए जिनकी झंकार से पाठकों के हृदय पर भी वैसा ही प्रभाव हो।'[१] एमर्सन महोदय ने भी ऐसा ही अभिमत प्रकट किया है--'प्रत्येक व्यक्ति नायक है और दूसरे के लिए उसका कथन भगवद् वाक्य के समान है।'[२] लेसिंग भी राजा, राजकुमार, तथा भद्र नायकों की अपेक्षा साधारण व्यक्ति के चरित्रांकन को अधिक महत्व देते हैं।[३]

नायक के जीवन के सत्-असत्, उत्थान-पतन एवं सबलताओं का चरित्रांकन संघर्षशील परिस्थितियों में ही सम्भव है। अतः प्रत्येक वह व्यक्ति जो जीवन को संघर्ष मानता है नाटक का नायक हो सकता है। वैसे इस धरती पर जन्म लेने वाले प्रत्येक व्यक्ति का जीवन ही संघर्षमय है किन्तु नायक का चयन करते समय इस बात का विशेष ध्यान रखना पड़ता है कि उसका जीवन

---

१. प्रेमचन्द, कुछ विचार; पृ० ५६।

२. Webster's New International Dictionary: II edition, page 1169.

३. The Hamburg Dramaturgy: page 1767-69.

आदि से लेकर अन्त तक संघर्षरत रहा हो। उसके जीवन की संघर्षशीलता उसके चरित्र को प्रकाश में लाती है। उसमें कहां तक प्रयत्नशीलता, धैर्य और कर्मठता है, परिस्थितियों से भिड़ जाने की, उन्हें अपने अपने अनुकूल बना लेने की और कभी स्वयं को उनके अनुकूल बना लेने की उसमें कहां तक क्षमता है, उसके व्यक्तित्व मे कहां तक सबलता और कहां तक दुर्बलता छिपी है—यह सब संघर्ष से प्रकट हो जाता है। यही संघर्ष जहां उसके जीवन की क्रियाशीलता बतलाता है वहां नाटक के कार्य व्यापार की गति को भी स्पष्ट करता है। कार्य-व्यापार से नाटकीय कथा-वस्तु में क्रियाशीलता आती है। क्योंकि नायक की उपस्थिति आदि से अन्त तक रहती है, इसलिये नाटक की सभी प्रमुख एवं गौण घटनाओं का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से उसके साथ सम्बन्ध रहता है। नायक नाटक का सक्रिय पात्र होने के कारण घटनाओं का सूत्रधार बन जाता है। 'स्थिरता मरण है'—यह सिद्धान्त जहां जीवन में लागू होता है वहां नाटक का भी जनाज़ा उठा देने में समर्थ है। प्रश्न उठता है—कि संघर्ष कैसे उत्पन्न होता है। संघर्ष के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह दो व्यक्तियों का परस्पर द्वन्द्व ही हो, अपितु यह बौद्धिक भी हो सकता है और शरीरिक भी। यह सिद्धान्त सिद्धान्त का और विचार विचार का भी हो सकता है। जहा दो भिन्न सिद्धान्त सामने आये वहीं संघर्ष हो जाता है। नायक सदैव अपने सिद्धान्त के लिए लड़ता है और उसकी रक्षा करता हुआ भिन्न भिन्न परिस्थितियों में दीख पड़ता है। यही परिस्थितियां भिन्न भिन्न घटनाओं के घटन से उत्पन्न होती है और इस प्रकार ये घटनाएं कथावस्तु का निर्माण कर नाटक तथा नायक के एक आवश्यक अङ्ग की पूर्ति करती है।

नायक के संघर्षशील चरित्र की एक और विशेषता यह भी है कि खलनायक के चरित्र के समक्ष उसके चरित्र की उदात्तता का स्वतः ही उद्‌घाटन हो जाता है। नायक के चरित्र में संघर्षशीलता को लाने वाला खलनायक अथवा अन्य विरोधी पात्र होते हैं जो नायक की उद्देश्य-सिद्धि अथवा फल-प्राप्ति में बाधक बन कर आते है। नाटकीय कार्य-व्यापार के सृजन में ऐसी विरोधी संघर्षशील परिस्थितियों का बड़ा हाथ रहता है। नाटक में खलनायक तथा अन्य गौण पात्रों का महत्व भी इसलिए होता है कि उनकी पृष्ठभूमि मे नायक का चरित्र अधिक स्पष्टता को प्राप्त होता है। नायक के लिए यह भी अनिवार्य है कि वह ऐसी सघर्षशील परिस्थितयों में अपने बौद्धिक एव मानसिक संतुलन को नष्ट न होने दे। तभी वह अपने व्यक्तित्व के प्रभाव एवं आकर्षण को बनाये रख सकता है। नायक के स्वरूप को जानने के लिए लेखक की मानसिक एवं बौद्धिक पृष्ठभूमि से परिचित होना, उसके दृष्टिकोण तथा जीवन

के प्रति मूल्यों को समझना भी बहुत अनिवार्य है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय नायक और अरस्तू के नायक सम्बन्धी धारणा का स्वरूप आज बदल चुका है। आज किसी का महान् व्यक्तित्व उसके उच्च कुल पर निर्भर नहीं करता, जन्म और जाति की अपेक्षा नहीं करता और न ही उसके वैभव एवं साधन-सम्पन्नता की ओर ताकता है। उस की निर्मिति तो उस के निजी चारित्रिक गुणों पर निर्भर है और ये गुण किसी विशेष वर्ग की बपौती नहीं, उन पर मानव मात्र का अधिकार हो सकता है। अतः कोई भी व्यक्ति जिस में संघर्ष की क्षमता है, जिस के जीवन में कुछ भी विशेष और कथनीय है, अपनी समस्त दुर्बलताओं एवं सबलताओं के साथ नायक के पद पर आरूढ़ हो सकता है। सर्वथा निर्दोष अथवा दिव्य तथा सर्वथा सदोष अथवा दानव पात्रों के चित्रण की अपेक्षा न तो आज का पाठक करता है और न ही लेखक।

महाकाव्य में नायक

महाकाव्य के स्वरूप-विधायक तत्वों में से कथावस्तु तथा नायक के सम्बन्ध में प्राच्य तथा पाश्चात्य आचार्य एक मत ही रखते हैं। दोनों ही कथावस्तु की व्यापकता, उसका लोकविश्रुत होना और नायक की महानता को एक स्वर के साथ स्वीकार करते हैं। महाकाव्य में जातीय जीवन की सरस अभिव्यंजना रहती है और जातीय भावनाओं का प्रतिनिधित्व करने की क्षमता उसी व्यक्ति में होगी जिसका चरित्र महान् और उदात्तता आदि गुणों से युक्त होगा। इसी लिए महाकाव्य का नायक कुलीन, शूरबीर और लोकविश्रुत होना चाहिए। किसी अन्य पात्र का उत्कर्ष दिखाने के लिए महाकाव्य में उसका वध वर्जित है।[1] साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ सर्गबद्ध रचना को महाकाव्य मानते हैं। जिसका नायक कोई देवता अथवा धीरोदात्तादि गुणों से युक्त सद्वंशी क्षत्रिय हो।[2]

भारतीय आचार्यों की तरह अरस्तू भी नायक का भद्र, वैभवशाली, समृद्ध, यशस्वी, सद्वंशी एवं उदात्त गुणों से युक्त होना मानते हैं। काव्यशास्त्र मे

---

१. भामह, काव्यालंकार—

नायकं प्रागुपन्यस्य वंशवीर्य श्रुतादिभिः।
न तस्यैव वधं ब्रूयादन्योत्कर्षाभिधित्सया ॥ परि० १-२२॥

२ विश्वनाथ, साहित्यदर्पण—

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः।
सद्वंशः क्षत्रियोवापि धीरोदात्त गुणान्वितः ॥६-३१५-३१६॥

उन्होंने महाकाव्य के नायक के बारे में विशेष रूप से कुछ नहीं लिखा। उन्होंने त्रासदी के नायक की विशेषताओं को ही महाकाव्य के लिए अनिवार्य माना है। वे लिखते है 'महाकाव्य और त्रासदी में यह समानता है कि उसमे भी उच्चतर कोटि के पात्रो की पद्यबद्ध अनुकृति रहती है।'[1] महाकाव्य के नायक सम्बन्धी जिन विशेषताओं का ऊपर उल्लेख किया गया है वे त्रासदीय नायक के ही गुण है। अरस्तू ने त्रासदी के नायक को सर्वथा निर्दोष नहीं माना है, इसलिए महाकाव्य का नायक भी विख्यात, यशस्वी एवं कुलीन होते हुए भी नितान्त निर्दोष नहीं है। त्रासदी के विषय में अरस्तू की यह धारणा सत्य है परन्तु महाकाव्य के नायक के बारे में यह सत्य नही मानी जा सकती। वैसे अरस्तू ने इस धारणा का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है, और बहुत सम्भव है कि उन्हें ऐसा अभीष्ट भी नहीं था।

भारतीय आचार्यो तथा अरस्तू की नायक सम्बन्धी धारणाओं में यही अन्तर है कि भारतीय आचार्य नायक को सर्वथा निर्दोष बतलाते हैं जबकि अरस्तू उसका विख्यात, कुलीन और यशस्वी होना मानते हुए भी उसे बिल्कुल निर्दोष स्वीकार नही करते। वे उसमें मानवीय सबलताओं एवं दुर्बलताओं का निरुपण भी करते है। परन्तु आज युग की परिस्थितियों और जीवन के नये मूल्यों को ध्यान में रखते हुए महाकाव्य की नायक सम्बन्धी धारणा बहुत कुछ बदल चुकी है। आज उदात्त और आदर्श चरित्र के मानदण्ड भी बदल चुके हैं। आज के महाकाव्यों मे नायक का चरित्र आदर्श की अपेक्षा यथार्थता तथा अतिमानवीय रूप की अपेक्षा साधारणता और स्वाभाविकता के अधिक निकट है। उसका चरित्र साधारण व्यक्ति की सबलताओं और दुर्बलताओं से युक्त है और वह वर्तमान जीवन की संघर्षशील परिस्थितियों के साथ जूझता हुआ भी अपनी चारित्रिक उदात्तता को बनाये रखने में समर्थ हो सकता है। आज उसके चरित्र की महानता उसके सद्‌वंश तथा उसके वैभव से नहीं परखी जाती बल्कि उसके सहज मानवीय गुणों की सचाई और ईमानदारी से देखी जाने लगी है। आधुनिक महाकाव्यों के नायक में देवत्व और राजसी गुणों की अपेक्षा मानवत्व की छाया अधिक है। हिन्दी के आदि महाकाव्य चन्दकृत 'पृथ्वीराज रासो' से लेकर रघुवीरशरण मित्र के 'जननायक' तथा ठाकुर गोपालशरण सिंह के 'जगदालोक' तक के महाकाव्यों का यह विकास हमारी इन्हीं धारणाओं की पुष्टि करता है।

---

१. अरस्तू का काव्यशास्त्र, अनुवाद भाग, पृ० १८।

उपन्यास में नायक

आधुनिक युग में यों तो साहित्य की प्रत्येक विधा जीवन से निकटतम सम्बन्ध रखती है किन्तु उपन्यास में जीवन का जितना व्यापक और सर्वांगीण रूप चित्रित किया जा सकता है उतना साहित्य की किसी दूसरी विधा में सम्भव नहीं। नाटक की अपनी आकार एवं शिल्पगत विशिष्ट तथा निश्चित सीमाएं हैं। 'उपन्यास का पलड़ा इस मानी में सदा भारी रहेगा कि वह मानव का कहीं अधिक पूर्ण चित्र प्रस्तुत कर सकता है तथा उस महत्वपूर्ण आतंरिक जीवन की झांकी दिखा सकता है जो कि मानव के निरे नाटकीय क्रियाशील रूप से भिन्न होती है और जो सिनेमा की क्षमता से बाहर की चीज़ है।'[1]

उपन्यास के सम्बन्ध में फॉक्स का यह कथन सत्य है। उपन्यासकार के पास इतनी स्वतन्त्रता है कि वह स्वयं भी पात्रों के सम्बन्ध में कह सके और पात्रों के द्वारा भी कहलवा सके। उस पर नाटककार की भांति किसी प्रकार का कोई समयगत अथवा आकारगत बन्धन नहीं है। यही कारण है कि वह मानव जीवन के रहस्यों का उद्घाटन एवं उनकी व्याख्या अधिक विस्तारपूर्वक तथा गहनता के साथ कर सकता है और यही आधुनिक उपन्यासकारों को अभीष्ट है। प्रेमचन्द के शब्दों में 'मैं उपन्यास को मानव चरित्र का चित्रमात्र समझता हूं। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।'[2]

आज का प्रत्येक उपन्यासकार अपनी कृतियों में प्राचीन आदर्शों की भांति देवता या दानव की सृष्टि न करके प्रायः एक ऐसे मानव का ही सृजन करता है जो दुःख में रो सके, सुख में हंस सके, सम्पत्ति और विपत्ति मे परिस्थिति के अनुसार स्वयं को ढाल कर व्यवहार कर सके। उसके लिए जीवन न तो स्वर्गि रूप से सुन्दर ही होता है और न निपट असुन्दर। उसके समक्ष अनेक जटिल समस्याएं उपस्थित होती हैं, उनका समाधान उसे खोजना पड़ता है। इनके साथ उसे निरन्तर संघर्ष करना पड़ता है अतः उसका जीवन आदि से अन्त तक संघर्ष-रत रहता है। ऐसे ही पात्र विकासशील होते हैं। इन पात्रों के साथ पाठकों का तादात्म्य भी शीघ्र स्थापित हो जाता है। कल्पित पात्रों के साथ साधारणीकरण की समस्या खड़ी हो सकती है किन्तु यथार्थ पात्रो के सम्बन्ध में ऐसी कोई समस्या नहीं। गोदान का होरी, मृगनयनी की निन्नी (मृगनयनी) और लाखी

---

१. रैल्फ फॉक्स, उपन्यास और लोकजीवन (अनुवादक-नरोत्तम नागर), प्रथम संस्करण, पृ० २७।

२. कुछ विचार, पृ० ४१।

के साथ हमारा सहज में ही तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

उपन्यास का नायक कौन हो? इस सम्बन्ध में जो बात नाटक के नायक के विषय में कही जा सकती है, वही बात उपन्यास के नायक के बारे में भी सत्य ठहरती है। उपन्यास के नायक के पास भी सबल, महान्, पूर्ण एवं संघर्षशील व्यक्तित्व होना अनिवार्य है जो समस्त उपन्यास और पाठकों के हृदय पर छा जाये। उपन्यास की समस्त घटनाओं के साथ उसका कहीं प्रत्यक्ष और कहीं अप्रत्यक्ष रूप से सम्बन्ध हो। अतः 'पुरुष पात्रों में सर्वप्रधान पात्र जो प्रारम्भ से लेकर अन्त तक उपन्यास को और उसके साथ ही पाठकों के ध्यान को अपने लक्ष्य की ओर लिए बढ़ता है, जिसका लक्ष्य ही उपन्यास का लक्ष्य होता है, जिसको केन्द्र मानकर उपन्यास और उसके सभी तत्व घूमते हैं, सुखांत उपन्यास में जो फल का उपभोक्ता होता है और दुःखान्त उपन्यास में जिसके प्रति सबसे अधिक सहानुभूति उमड़ पड़ती है, वही उपन्यास का नायक होता है।'[1]

कथावस्तु के विकास में नायक का योग

यह बात निर्विवाद है कि नायक समस्त नाटक की धुरी है। नाटक के कथानक मे उसका चरित्र बड़ा महत्वपूर्ण होता है। आधिकारिक कथा का मुख्य पात्र होने के कारण वही सारी घटनाओं का आधार होता है। नायक की घटनाओं के बिना नाटक का कथानक विकास को नही प्राप्त हो सकता। नाटक की कथा का आरम्भ और अन्त भी उसी के साथ होता है। उसके उत्थान और पतन की कहानी ही नाटकीय कथावस्तु को बनाती है। मुख्य कथावस्तु के फल का उपभोक्ता भी नायक होता है और इस प्रकार वह नाटक के उद्देश्य को स्पष्ट करने में सहायक होता है। नायक के इतिवृत्त से नाटक में आने वाले अन्य गौण पात्रों का भी चरित्र स्पष्ट होता है। नायक ही नाटकीय कथावस्तु का ऐसा पात्र होता है जिसके जीवन के उतार-चढ़ाव संघर्षशील परिस्थितियों में पड़कर स्पष्ट होने है। उसकी सबलताओं एवं दुर्बलताओं का प्रदर्शन भी सम-विषम परिस्थितियों में पड़ कर ही होता है। इन्ही परिस्थितियों एवं घटनाओ के कारण ही कथावस्तु का विकास होता है।

नायक और नाटककार

नायक और नाटककार का परस्पर गहरा सम्बन्ध है। समस्त नाटक में

---

१. डाक्टर रणवीर रांग्रा, हिन्दी उपन्यास में चरित्र-चित्रण का विकास, प्रथम संस्करण, पृ० ५५।

नायक ही एक ऐसा पात्र कहा जा सकता है जो नाटककार के जीवन-दर्शन का प्रतिनिधित्व करता है। नाटककार की अपनी कुछ सीमाएं होती हैं उसने स्वयं जो कुछ कहना होता है वह पात्रों के मुख से कहलवाता है और इसका मुख्य प्रवक्ता नायक ही बनता है। वैसे तो अन्य गौण पात्र भी लेखक के विचारो का थोड़ा-बहुत प्रदर्शन करते ही रहते हैं परन्तु प्रतिनिधित्व करने की शक्ति नायक में ही रहती है। लेखक का ध्यान भी उसी के चरित्रांकन में अधिक रमता है। यद्यपि उपन्यास में लेखक के विचारों का प्रतिनिधित्व भी नायक ही करता है, तो भी उसमें लेखक को इतनी स्वतन्त्रता प्राप्त होती है कि वह स्वच्छन्द रूप से अपने विचारों को प्रकट कर सके।

नाटक में वर्तमान जीवन का संघर्ष रहता है, सामयिक परिस्थितियों का चित्रण रहता है और क्योंकि नाटकार की अन्तश्चेतना समाज की सामयिक शक्तियों से प्रभावित हुए बिना नहीं रहती, इसलिए नायक के स्वरूप को जानने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम जहा नायक के सामाजिक स्तर का परिचय प्राप्त करें, साथ ही लेखक की मानसिक एवं बौद्धिक पृष्ठभूमि से भी परिचित हो जाएं। 'सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने से दीख पड़ेगा कि जीवन-तत्व का जो रूप नायक के चरित्र द्वारा व्यक्त होता है वही सम्पूर्ण नाटक का जीवनदर्शन होता है—अन्य पात्र गौण होते हैं अथवा उसी जीवनतत्व की पुष्टि करते हैं।'[1]

१. डाक्टर लीलाधर गुप्त तथा श्री जयकांत मिश्र, भारतीय नाट्य साहित्य (सं० डाक्टर नगेन्द्र), लेख, पाश्चात्य नाटकों में चरित्र चित्रण, पृ० १५५।

तृतीय अध्याय

नायक के प्रकार

नायक और समाज

अन्य कलाओं की तरह नाट्य-कला का जन्म भी समाज मे होता है। समाज ही उसके लिए उपकरण प्रस्तुत करता है और समाज की प्रतिक्रियात्मक अनुभूति ही नाटक में अभिव्यक्ति प्राप्त करती है। समाज व्यक्ति-सापेक्ष जीवन की असम्बद्ध घटनाओं और वस्तु-तत्वों की परिणति है और नाटक उन सब की सम्बद्ध सार-पूर्ण और सम्पूर्ण अनुकरणात्मक अभिव्यक्ति है जो नाटक के पात्रो द्वारा मुखर होती है। नाटक में प्रायः दो तरह के पात्र रहते है—मुख्य और गौण। ये सभी पात्र जहां नाटक के इतिवृत्त-विकास मे अपना महत्वपूर्ण योग देते हैं। साथ ही जीवन की प्रतिक्रियात्मक अनुभूतियों के भी विज्ञापक है नाटक के मुख्य पात्र अथवा नायक मे, जो नाटक के कथानक की धुरी होता है, समाज की अपूर्णता, असम्बद्धता, घात-प्रतिघात, सघर्ष-द्वन्द्व, सुख-दुःख, आशा-निराशा आदि की अभिव्यंजना रहती है। वह अपने वर्ग, सम्प्रदाय और जातिगत भावनाओं का प्रतिनिधित्व तो करता ही है, नाटककार की सकल्प-शक्ति का भी उद्घोषक है। उपन्यासकार की तरह नाटककार नाटक मे अपनी वैयक्तिक अनुभूतियों को स्वतंत्र एवं स्वच्छन्द रूप मे अभिव्यक्त नही कर सकता। वह न तो समाज की अच्छाइयों-बुराइयों की आलोचना कर सकता है और न ही उसे किसी पात्र के बारे में टीका-टिप्पणी करने का अधिकार रहता है। 'नाट्य-कला के नियमों ने नाटककार की ज़ुबान पर ताला लगा रखा है। विश्व के लिए जो कुछ उसका सदेश है, अन्तर और बहिर्जगत् के अनुभवों का जो उसका संचित वैभव है, उसको अपना कहकर वह नही दे सकता, उसे अपने पात्रों के मुंह से बोलना होगा''[1] अतः नाटककार जीवन का

---

१. शिवनारायण श्रीवास्तव, हिन्दी उपन्यास—पृ० ४४१।

चित्रण अपने पात्रों द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से करता है ।

साहित्य की सभी विधाओं में से नाटक सामाजिक जीवन और संस्कृति के अधिक निकट है । नाटक न तो केवल लोक-रंजन का साधन ही है और न ही सामाजिक भाव की परितृप्ति, अपितु वह सामाजिकों के हृदय में जीवन के प्रति नैतिक-उद्भावनाओं की प्रेरक-शक्ति भी है । 'नाटककार की भाषा में जो कमी रह जाती है, वह नटों या अभिनेताओ की भाव-भंगी से पूरी हो जाती है । इसलिए नाटक की प्रभावोत्पादन शक्ति बढ़ी-चढ़ी रहती है ।'[1] नाटककार अपने इन पात्रो का चुनाव तत्कालीन समाज से करता है और इतिहास तथा पुराण से भी । ये पात्र अपने समाज की सांस्कृतिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक वृत्तियों का प्रतिनिधित्व करते है । नायक इन पात्रों में महत्वपूर्ण है । नाटक का नायक अपने समाज का अविच्छिन्न अंग है । समाज के सांस्कृतिक रंग उसके स्नायुओं मे भरे रहते है जिनसे उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है । उसकी नस-नस में समाज की विचारधारा भरी रहती है । नाटककार सामयिक प्रवृत्तियों को निजानुभूति प्रदान कर नाटक द्वारा अभिव्यंजित करता है । नाटककार उस फ़ोटोग्राफ़र की तरह है जो निजानुभूति के कैमरे से नाटक के स्टूडियो मे नायक तथा अन्य पात्रों के द्वारा समाज का इतना स्पष्ट चित्र खींचता है जो उसकी मानसिक साक्षात् कृति से भी अधिक मोहक एवं आकर्षक होता है । कई वार प्रचारवादी नाटककार नायक द्वारा किसी विशिष्ट राजनैतिक विचारधारा या अन्य वाद का प्रदर्शन करवाते हैं, इससे नाटक के नायक का व्यक्तित्व संकीर्ण और सीमित दिशाओं मे ही विकसित हो पाता है जो नाटक के व्यापक उद्देश्य की पूर्ति नही करता । नायक नाटककार के अन्तर्मन का प्रतिनिधित्व करता है । यथार्थ मे नायक तो वही है जिससे प्रेक्षकों का तादात्म्य स्थापित हो जाये, जिसके प्रति सामाजिकों की समानुभूति उमड़ सके और जो नाटककार के अन्तर्मन का प्रतिनिधित्व करता हुआ भी प्रत्यक्ष रूप मे उसके प्रचारात्मक तत्वों को अभिव्यंजित न करे ।

नायक की सामान्य भूमि तथा विशिष्ट भूमि

नायक की चारित्रिक विकास-भूमि के दो रूप मिलते है—सामान्य भूमि तथा विशिष्ट भूमि । नायक की सामान्य भूमि में नाटककार नायक के सर्व-साधारण गुणों को ही चित्रित करता है । उसके चरित्र में वर्ग अथवा जाति-विशेष की विशेषताए निहित रहती है । ऐसे नायक का अपना व्यक्तित्व मानों

---

१. गुलाबराय, हिन्दी नाट्य विमर्श, पृ० ५ ।

इन विशेषताओं के नीचे दबा सा रहता है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि उसका व्यक्ति-वैशिष्ट्य रहता ही नही। उसमें निजी व्यक्तित्व तो रहता है परन्तु प्रधानता सार्वजनीन गुणों की रहती है। उसमें अपने वर्ग के साधारण लोगों की सबलताओं-दुर्बलताओं, गुण-दोषों सभी का चित्रण रहता है जो परिस्थितियों के परिवेश में स्वतः स्पष्ट हो जाते है। नायक के सामान्य व्यक्तित्व निर्माण में संस्कारगत भावनाओं एवं वर्गगत रूढ़ियो का विशेष योग रहता है। कई बार नाटककार ऐसे नायक की सृष्टि भी करता है जिसका चरित्र सामान्य गुणों से युक्त तो रहता ही है परन्तु उसमें कुछ ऐसे विशिष्ट गुण भी रहते है जिनके कारण उसकी गणना वर्गगत पात्रों में न होकर व्यक्ति-विशिष्ट प्रधान पात्रों में की जाती है। ऐसा नायक विशिष्ट गुण-सम्पन्न रहता है। मनोवैज्ञानिक रचनाओं के नायकों में उस अनुपात से विशिष्ट गुण नही रहते जिस अनुपात में वे संस्कृत नाटकों के आदर्श नायकों में पाये जाते है फिर भी अपनी अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के कारण इनकी चारित्रिक भूमि विशिष्ट ही रहती है।

नायक का शास्त्रीय वर्गीकरण

प्राचीन नाट्याचार्यों ने नाटक के तीन तत्व स्वीकार किये है - वस्तु, नेता तथा रस। वस्तु का सम्बन्ध नाटक के बाह्य कलेवर से है जो इसे आकार देता है। संवाद इतिवृत्त के विकास में सहायक होते हैं। वे नाटक में जहा कौतूहल, सजीवता, सप्राणता तथा रोचकता को लाते है, साथ ही पात्रों के मानसिक संघर्ष तथा उसके उत्तरोत्तर चरम विकास और परिणति मे भी सहायक होते है। वस्तुतः यही नाटक का एक ऐसा तत्व है जिसके महत्व को कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। इस तत्व का विकास नाटक मे पात्रो के द्वारा होता है। अतः नाटक में पात्रों का महत्वपूर्ण स्थान है।

काव्य, नाटक अथवा कथा-साहित्य मे पात्र की संज्ञा किसे दी जा सकती है ? उन्हें साहित्य में कैसे प्रस्तुत किया जा सकता है ? पात्र मे कौन कौन सी विशेषताएं वांछनीय है ?—ये प्रश्न महत्वपूर्ण है। कथा-साहित्य मे जो व्यक्ति घटनाओं, संघर्ष एवं परिस्थितियो को जन्म देता है और जो स्वयं उनसे प्रभावित होकर अपनी चारित्रिक अच्छाइयों और बुराइयो, सबलताओं तथा दुर्बलताओं को व्यक्त करता है, उसे पात्र कहा जाता है। ससार मे किन्ही भी दो व्यक्तियों के आकृति-स्वभाव की तरह उनके चरित्र भी परस्पर नहीं मिलते। उनकी यही विभिन्नता कथा-साहित्य में जीवन की विविधता लाने में कलाकार की सहायक बनती है। इसीलिए साहित्य को जीवन का सच्चा दर्पण कहा गया है। अतः जीवन की अभिव्यजना, जीवन को जीवन देने

वाले पात्रों का चित्रण, उनकी स्थूल एवं सूक्ष्म विशेषताओं अथवा दुर्बलताओं का सक्षम एवं सशक्त चित्रण करना एक सफल कलाकार के लिए वांछनीय है ।

आचार्य सीताराम चतुर्वेदी पात्र की व्याख्या इस प्रकार देते है— [illegible] पात्राः ।[1] अर्थात् नाटककार द्वारा जो व्यक्ति अभिनय के लिए नियोजित किये जाते हैं, उन्हें पात्र कहते है । नाटक मे अभिनय तत्व की प्रधानता रहती है और इसी एक तत्व के कारण ही इसे साहित्य की अन्य विधाओ से पृथक् किया जाता है । वैसे तो हर कला का शिल्प अपना ही होता है, फिर भी कुछ एक ऐसे आधार-तत्व होते हैं जो एक-दूसरे की अन्तर-रेखा को स्पष्ट कर देते हैं । नाटक में पात्र अथवा अभिनेता उसे ही माना जा सकता है जो नाटकीय अर्थ को दर्शकों तक पहुंचाने में संपूर्ण योग देता है । नाटक में कार्य की प्रधानता रहने से पात्रों का चरित्र-चित्रण परोक्ष अथवा नाटकीय ढंग द्वारा व्यक्त किया जाता है । अतः उनका चरित्र ऐसा नही होना चाहिए जो नाटकीय कार्य-व्यापार को दबा दे । कार्य-व्यापार की सफल अभिव्यक्ति ही नाटकीय अर्थ की संप्रेष्य शक्ति है, यह तभी सम्भव है जबकि अभिनेता इतनी सरलता एवं कुशलता के साथ कार्य-व्यापारों का अभिनय करे कि दर्शकों का उनके साथ तादात्म्य स्थापित हो जाए । यही एक सफल चरित्र की कसौटी है । नाटकीय चरित्रगत भिन्नता एवं तादात्म्य की स्थिति सजीव, चुस्त एवं पात्रानुकूल संवादों द्वारा ही लायी जा सकती है । संवादों से ही पात्रो का चरित्र स्पष्ट होता है और पात्रों के वृत्त से नाटक की कथावस्तु का निर्माण होता है । अतः नाटक में पात्रों का नियोजन कला एवं शिल्प की दृष्टि से बड़ा ही महत्वपूर्ण है ।

नाटक मे पात्रो की संख्या के विषय में आचार्यो ने कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया है । नाटक के अनेक पात्रों में से प्रधान पात्र को नायक की संज्ञा दी गई है । सर्वप्रथम भरत मुनि ने प्रधान पात्र के लिए 'नायक' शब्द का प्रयोग अपने नाट्यशास्त्र में किया था । परवर्ती आचार्यो ने तो अधिकांशतः अपने काव्य-शास्त्र के ग्रन्थों मे भरत मुनि की मान्यताओं का पालन किया है । जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि धनंजय भी दशरूपक में नायक शब्द के लिए 'नेता' शब्द का प्रयोग करते है । 'नेता' शब्द का प्रयोग उन्होंने सामान्य एवं विशिष्ट दोनों अर्थो मे ही किया है । सामान्य के अन्तर्गत वे अन्य पात्रों यथा नायिका, प्रतिनायक, पीठमर्द (पताकानायक) आदि का भी समावेश करते है,

---

१. अभिनव नाट्यशास्त्र, पृ० ११३ ।

और विशिष्ट अर्थों में उनका अभिप्राय स्पष्टतः नाटक के प्रधान पात्र अथवा नायक से है। नाट्यदर्पणकार ने भी नायक के लिए 'नेता' शब्द का ही प्रयोग किया है। साहित्यदर्पणकार ने भी दशरूपक की मान्यता को ही अपना आधार बनाया है। रूप गोस्वामी नायक के लिए 'पति' शब्द का प्रयोग करते हैं। उनके ऐसा करने में जो परम्परा का निषेध हुआ है, उसका सबसे बड़ा कारण यह कहा जा सकता है कि वे वैष्णव भक्त कवि थे और अपने उपास्य इष्ट कृष्ण के अनन्य भक्त थे। भक्तिरस में उन्हें यही भाव ग्राह्य था। नायक के लिए 'पति' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम भानुदत्त ने किया है। इस तरह भिन्न-भिन्न युगों में देश-काल की युग-चेतना के आधार पर ही विभिन्न आचार्यों ने नाटक के प्रमुख पात्र के लिए नायक, नेता और पति आदि शब्दों का प्रयोग किया है। वात्स्यायन कामसूत्र में 'नागर' शब्द का प्रयोग करते हैं, जिसका कारण तत्कालीन परिस्थितियों का सीमित परिवेश कहा जा सकता है।

नाट्य शास्त्र

भरत मुनि-प्रणीत नाट्यशास्त्र का भारतीय वाङ्मय में वही स्थान है, जो भारतीय धर्मग्रन्थों में वेदों का, ईसाई धर्मग्रन्थों में बाइबिल का, इस्लामी संस्कृति में कुरान का तथा यूनानी वाङ्मय में अरस्तू के काव्यशास्त्र का। जिस प्रकार वेद ग्रन्थ हमारी सभ्यता, संस्कृति एवं जीवन-दर्शन के आदिम तथा अक्षय भण्डार हैं, उसी तरह भरत मुनि का नाट्यशास्त्र ललित एवं काव्य कलाओं का अमर कोष है। नाट्योत्पत्ति, अभिनय, संगीत, नृत्य, नाट्यगृह, अलंकार, छन्द तथा रसादि का सांगोपांग विवेचन भरत ने अपनी इस एक ही रचना में कर दिया है। भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में भरतमुनि ही सर्वप्रथम आचार्य थे जिन्होंने अलंकार और रस का विवेचन किया। नाट्यकला का भी सांगोपांग विशद एवं सूक्ष्म विवेचन करने का श्रेय इन्हें ही प्राप्त है। परवर्ती आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में अधिकांशतः नाट्य शास्त्र की मान्यताओं का ही पिष्ट-पेषण किया है।

नाट्यशास्त्र में ३६ अध्याय हैं। नाट्य-शास्त्र की उत्तर से प्राप्त प्रतियों में ३७ अध्याय मिलते है जबकि दक्षिण से प्राप्त प्रतियों में ३६वें अध्याय मे ही ३७वें अध्याय को सम्मिलित कर दिया गया है। ३४वें अध्याय में भरत ने नायक-भेद का उल्लेख किया है। इस अध्याय में उन्होंने प्रकृति-भेद से तीन प्रकार के पुरुष माने हैं—उत्तम, मध्यम तथा अधम। जो जितेन्द्रिय, ज्ञानवान् नाना प्रकार के शिल्पों में कुशल, सबको प्रसन्न करने वाले ऐश्वर्यशाली, दीन-हीन व्यक्तियों को सांत्वना देने वाले, अनेक शास्त्रों का मर्म जानने वाले गम्भीर, उदार, धैर्य, त्याग आदि गुणों से युक्त होते हैं, वे उत्तम प्रकृति के

पुरुष कहलाते है।[1] और जो लोक-व्यवहार में कुशल, शिल्प-शास्त्र के ज्ञाता विज्ञान युक्त तथा व्यवहार में मधुर होते हैं, वे मध्यम प्रकृति के पुरुष कहे जाते हैं[2] और जो रूखा बोलने वाले, दुःशील, दुष्ट, मन्दबुद्धि, क्रोधी, हिंसक, मित्रघाती, अनेक कौशलों से प्राण लेने वाले, पर निन्दा करने वाले, अभिमानी, उद्दण्ड, कृतघ्न, आलसी, मान्य का अपमान करने में प्रवीण, स्त्रियों के पीछे फिरने वाले, कलह प्रिय, दूसरों के दोष ढूंढने वाले, पाप-कर्म करने वाले, दूसरों की सम्पत्ति का अपहरण करने वाले होते है वे पुरुष अधम प्रकृति के कहलाते हैं।[3]

नाटक में कई पात्र रहते है। प्रधान पात्र को नायक कहा जाता है। नाटककार अपनी कथा का आधार इसी मुख्य पात्र को बनाता है। नाटक में नायिका, खलनायक की भी व्यवस्था की जाती है। अन्य पात्रों का सम्बन्ध इन तीनों पात्रों के साथ प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से रहता है। ये सभी पात्र नायक के इतिवृत्त के विकास में न केवल सहयोग ही देते हैं, अपितु संघर्ष एवं रोचकता को भी पैदा करते हैं।

यद्यपि भरत मुनि प्रकृति-भेद से उत्तम, मध्यम तथा अधम—तीन प्रकार के पुरुष मानते है, तो भी शील-गुण-स्वाभावादि की दृष्टि से उन्होंने चार

---

१. नाट्यशास्त्र, ३४वां अध्याय, पृ० ४५७।

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि प्रकृतीनां तु लक्षणम्।
समासतस्तु प्रकृतिस्त्रिविधा परिकीर्तिता ॥१॥
पुरुषाणामथ स्त्रीणामुत्तमाधममध्यमा।
जितेन्द्रिया ज्ञानवती नानाशिल्पविचक्षणा ॥२॥
दक्षिणाऽथ भगालक्षा दीनानां परिसान्त्विनी।
नानाशास्त्रार्थसम्पन्ना [illegible] ॥३॥
धैर्यं त्यागगुणोपेता ज्ञेया प्रकृतिरुत्तमा।

२. वही; लोकोपचारचतुरा शिल्पशास्त्रविशारदा ॥४॥
विज्ञान-माधुर्ययुता मध्यमा प्रकृतिः स्मृता।

३. वही; रूक्षा वचसि दुःशीलाः कुसत्त्वाः स्वल्पबुद्धिकाः ॥५॥
क्रोधना घातकाश्चैव मित्रघ्नाश्चित्रघातकाः।
पिशुना उद्धता वाक्यैरकृतज्ञास्तथालसाः ॥६॥
मान्यामानविशेषज्ञाः स्त्रीलोलाःकलहप्रियाः।
सूचकाः पापकर्माणः परद्रव्यापहारिणः ॥७॥
एभिर्दोषैस्तु सम्बद्धा भवन्ति ह्यधमा नराः।

प्रकार के नायक माने हैं—धीरोद्धत, धीरललित, धीरोदात्त और धीरप्रशान्त।[1] ये सभी उत्तम और मध्यम प्रकृति के गुणों से युक्त रहते हैं। देवता धीरोद्धत होते हैं, राजा लोग धीरललित, सेनापति और अमात्य धीरोदात्त तथा ब्राह्मण और वैश्य लोग धीरप्रशान्त होते हैं।[2] भरत के इस वर्गीकरण का आधार नाटकीय कथावस्तु की पात्रता कहा जा सकता है। परवर्ती आचार्यों ने भरत की इसी नायक-परम्परा का पालन किया है। किन्तु अग्निपुराण में धीरोदात्तादि नायक-भेद का आधार शृंगार का आलम्बन विभाव रहा है।[3] नाट्यदर्पणकार, दशरूपककार तथा साहित्यदर्पणकार अपने ग्रन्थों में नायक के बारे में भरत मुनि की परम्परा का पालन करते है। भरत के अनुसार नाटक के अनेक पात्रों में प्रधान पात्र को नायक की संज्ञा दी जाती है। जो व्यक्ति विपत्ति और अभ्युदय (भाग्योत्कर्ष) में भी सुख का अनुभव करता है और जो इन दोनों अवस्थाओं में अपने उत्कर्ष को बनाये रखता है और नाना प्रकार के गुणों से युक्त रहता है, वह नायक कहा जा सकता है।[4] नाट्यशास्त्र के 'बाह्योपचार'

---

१. वही, पृ० ४५८।

तत्र चत्वार एव स्युर्नायकाः परिकीर्तिताः।
मध्यमोत्तमायां प्रकृत्तौ नानालक्षणलक्षिताः॥१६॥
धीरोद्धता धीरललिता धीरोदात्तास्तथैव च।
धीरप्रशान्तकाश्चैव नायकाः परिकीर्तिता :॥१७॥

२. वही, देवा धीरोद्धता ज्ञेया ललितास्तु नृपाः स्मृताः।
सेनापतिरमात्यश्च धीरोदात्तौ प्रकीर्तितौ॥१८॥
धीरप्रशान्ता विज्ञेया ब्राह्मणा वणिजस्तथा।

३. अग्निपुराण का काव्य शास्त्रीय भाग—सं० तथा अनु० रामलाल वर्मा, पृ० ४४।

आलम्बनविभावोऽसौ नायकादिभवस्तथा।
धीरोदात्तो धीरोद्धतः स्वाद्धीरललितस्तथा॥३-३७॥
धीरप्रशान्त इत्येवं चतुर्था नायकः स्मृतः।

४. नाट्यशास्त्र, ३४ वां अध्याय, पृ० ४५८-४५९।

तथा पुरुषबाहुल्यप्रधानो नायकः स्मृतः।
तत्रानेकस्य भवतो व्यसनाभ्युदयौ पुनः॥२२॥
प्रकृष्टौ यस्य तौ स्यातां स भवेत्तत्र नायकः।
एते तु नायका ज्ञेया नानाप्रकृतिलक्षणाः॥२३॥

प्रकरण में नारी के प्रति रति भावना की दृष्टि से पांच प्रकार के पुरुषों का उल्लेख किया गया है। वे हैं—चतुर, उत्तम, मध्यम, अधम तथा सम्प्रवृद्ध ।[1] इसके अतिरिक्त उन्होंने 'सामान्याभिनय' प्रकरण में प्रेमावेगजन्य सम्बोधनों के आधार पर सात प्रकार के पुरुषों का उल्लेख किया है। वे हैं—प्रिय, कान्त, विनीत, नाथ, स्वामी, जीवित, और नन्दन ।[2] इसी प्रकरण के अन्तर्गत उन्होंने क्रोधावेशजन्य सम्बोधनों के आधार पर भी सात प्रकार के पुरुषों का वर्णन किया है। वे हैं—दुश्शलील, दुराचार, शठ, वाम, विरुपक, निलज्र्ज और निष्ठुर ।[3]

परवर्ती आचार्यों ने नायक-भेद प्रकरण का विवेचन भरत की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म एवं विशद रूप से किया है। भरत तो नाट्यशास्त्र में नायक तथा अन्य पात्रों आदि के गुणों का उल्लेख मात्र ही करते हैं, पर दूसरे आचार्यों ने नायक के स्वभाव, अवस्थादि को ध्यान में रखते हुए अनेक भेदों का उल्लेख किया है। यद्यपि आचार्यो की दृष्टि नायक-भेद पर ही अधिक केन्द्रित हुई है तो भी उसका नायक-भेद प्रकरण पर्याप्त महत्वपूर्ण है। भरत अपने नाट्यशास्त्र में नायक-भेद-प्रसंग का निरुपण नहीं कर सके, इसका प्रमुख कारण यह हो सकता है कि उनका नाट्यशास्त्र प्रमुख रूप से अभिनय सम्बन्धी ग्रन्थ है। उसमें उन्हें अभिनय सिद्धान्तों का ही सविस्तार वर्णन करना अभीष्ट था और जिसका प्रतिपाद्य विषय था रस। अभिनय सिद्धान्तों की मर्यादा को बनाये रखने के लिए उन्होंने पात्रों के रंगमंचीय दृष्टि से अभिनीत न होने वाले कार्यो तथा व्यवहार आदि को निषिद्ध माना है और इस विषय में वे बराबर चेतावनी देते रहे हैं। दूसरे, वस्तु तथा पात्र की अपेक्षा उन्होंने सहृदय

---

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय, २५ वां, पृ० २६७।

चतुरोत्तमौ मध्यमस्तथाधमः सम्प्रवृद्धश्च ।
स्त्रीणां प्रयोग विषयै विज्ञेयाः पुरुषास्त्विमै पंचः ॥५४॥

२. नाट्यशास्त्र, अध्याय २४ वां, पृ० २६०

समागमेऽथ नारीणां वाच्यानि मदनाश्रये ।
प्रियेषु वचनानीह यानि तानि निबोधत ॥२६१॥
प्रियः कान्तो विनीतश्च नाथः स्वाम्यथ जीवितः ।
नन्दनश्चेत्यभिप्रेतो वचनानि भवन्ति हि ॥२६२॥

३. नाट्यशास्त्र अध्याय २४ वां, पृ० २६०

दुःशीलोऽथ दुराचारः शठो वामो विरुपकः ।
निर्लज्जो निष्ठुरश्चेति प्रायः क्रोधेऽभिधीयते ॥२६३॥

सामाजिक में रसोद्बोधन को अधिक महत्व दिया है। काव्य की आत्मा रस ही उनके लिए साध्य था। अतः मर्यादा-सीमाओं के कारण ही वे नायक-भेद प्रसग को विस्तार नहीं दे सके। यही नहीं, नाट्यकला का आदि ग्रन्थ होने के कारण उनके विवेचन में सम्पूर्णता की आशा करना भी व्यर्थ है। धीरे धीरे जैसे ही नाट्यकला का विकास होता गया, परवर्ती आचार्यो ने आधार रूप मे भरत की मान्यताओं को स्वीकार करते हुए अपने दृष्टिकोण से चिन्तन किया; और इस प्रकार उनके विवेचन में भी विस्तार आया।

अग्निपुराण

व्यासदेवकृत अग्निपुराण में ३८३ अध्याय है और ३३९ वें अध्याय के 'शृंगारादि प्रकरण' में नायक-नायिका-भेद का चित्रण किया गया है। इसमें विविध विषयों का वर्णन रहने से कतिपय विद्वानों ने इसे 'विश्व-कोष' की सज्ञा दी है। डाक्टर विन्टर-नित्ज के अनुसार 'अग्निपुराण एक विश्वकोष है, अर्थात् भारतीय वाङ्मय मे व्याप्त विषय का समावेश इस पुराण में किया गया है।'[१] उदाहरणार्थ, अग्निपुराण में व्याकरण, सुश्रुत का औषधज्ञान, शब्दकोष, काव्य-शास्त्र, ज्योतिष आदि विषयों पर प्रचुर एवं उपादेय सामग्री संगृहीत है।'[२] इस ग्रन्थ में लेखक ने विषय-निरुपण की अपेक्षा संग्रह-प्रवृत्ति पर अधिक बल दिया है। सम्भवतः लेखक की इसी संग्रह-प्रवृत्ति को देखते हुए ही विंटर-नित्ज़, डाक्टर सुशील कुमार डे[३] आदि विद्वानों ने इसे विश्व-कोष के नाम से अभिहित किया है। इस-संग्रह-प्रवृत्ति के दो कारण कहे जा सकते है। 'एक यह कि लेखक सम-कालीन अथवा पूर्ववर्ती आचार्यो की काव्य-सामग्री का सकलन करना चाहता था, और दूसरा यह कि उस समय यह विषय विद्वानों में इतना प्रचार पा गया होगा कि ग्रन्थकार को इसका विस्तृत विवेचन तथा उदाहरण प्रस्तुत करने की आवश्यकता ही प्रतीत नही हुई।'[४]

अग्निपुराण के समय के बारे में विद्वानों में मतभेद है। डाक्टर राकेशगुप्त इसे नवमीं शती का ग्रन्थ मानते है[५]। काव्य-प्रकाशादर्श के रचयिता आचार्य

---

१. ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, प्रथम भाग, पृ० ५६६।

२. अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, सं० रामलाल वर्मा, भूमिका भाग, पृ० २।

३. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स, भाग-२, पृ० २५४।

४. अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, भूमिका भाग, पृ० १०।

५. हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ३६४।

महेश्वर तथा 'कृष्णानन्दिनी' के प्रणेता श्री विद्याभूषण इसे भरत मुनि से पूर्व का बतलाते है।[१] रामलाल वर्मा शास्त्री का मत है—'सम्भवतः इसकी रचना महाराज भोजराज के समय में अथवा इससे कुछ पूर्व हुई है। क्योंकि यह अग्निपुराण और भोजराज के ग्रन्थ एक दूसरे से प्रभावित प्रतीत होते हैं। अतः अग्निपुराण का समय १०वीं शती के अन्तिम चरण और ११वीं शती के पूर्वार्द्ध में होगा।[२] यद्यपि अग्निपुराण के काल-निर्णय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है, फिर भी अग्निपुराण के साक्ष्य के आधार पर यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इस ग्रन्थ की रचना भरत मुनि के बाद हुई। क्योंकि अग्निपुराण के 'रीति निरूपण' प्रकरण में भरत मुनि का उल्लेख मिलता है।[३]

अग्निपुराण में नायक-भेद का वर्णन श्रृंगार के आलम्बन विभाव के अनुसार हुआ है। नाट्यशास्त्र की तरह अग्निपुराण में भी धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीर ललित तथा धीर प्रशान्त चार प्रकार के नायक माने गये हैं। इन भेदों के फिर अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट—ये चार उपभेद किये गये है।[४] इसके बाद वे श्रृंगारी नायक के सहायकों का उल्लेख करते हैं। पीठमर्द, विट और विदूषक, ये नायक के श्रृंगारी सहायक हैं।[५] पीठमर्द नायक का कुशल सहायक होता है। विट उसका अन्तरंग मित्र होता है और विदूषक उसका विनोदी सहायक।[६] भरत अपने नाट्यशास्त्र में नायक भेद मात्र श्रृंगार रस के आधार

---

१. साहित्यदर्पण की भूमिका, श्री काणे।

२. अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, भूमिका भाग, पृ० १५।

३. अग्निपुराण का काव्य शास्त्रीय भाग, पृ० ४०।

वाक्प्रधाना नरप्राया स्त्रीयुक्ता प्राकृतोक्तिता।
भरतेन प्रणीतत्वाद् भारती रीतिरूच्यते ॥३-६॥

४. अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, पृ० ४०।

आलम्बनविभावोऽसौ नायकादिभवस्तथा।
धीरोदात्तो धीरोद्धतः स्याद्धीरललितस्तथा ॥३-३७॥
धीरप्रशान्त इत्येवं चतुर्धानायकः स्मृतः।
अनुकूलो दक्षिणश्च शठो धृष्टः प्रवर्तितः ॥३-३८॥

५-६. अग्निपुराण का काव्याशास्त्रीय भाग, पृ० ४०।

पीठमर्दो विटश्चैव विदूषक इति त्रयः।
श्रृंगारे नर्मसचिवा नायक स्यानुनायकाः ॥३-३९॥
पीठमर्दस्तु कुशलः श्रीमांस्तद्देशजो विटः।
विदूषको वैहसिक अ(स्त्व)ष्ट नायक नायिकाः ॥३-४०॥

पर नहीं करते, उन्होंने तो सामान्यतः नाटकीय पात्रों का विभाजन किया है, श्रृंगार के आलम्बन-विभाव का नहीं। परन्तु अग्निपुराणकार का आधार श्रृंगार का आलम्बन-विभाग ही रहा है। अग्निपुराण में पुरुष में रहने वाले आठ भावों (सात्विक गुणों) का भी उल्लेख किया गया है।[1] वे आठ भाव हैं—शोभा, विलास, माधुर्य, स्थैर्य, गम्भीरता, ललित, औदार्य तथा तेज। धनंजयादि परवर्ती आचार्यों ने नायक के सात्विक गुणों में इनका उल्लेख किया है।

दशरूपक

नाट्यशास्त्र के बाद धनंजय ने अपनी पुस्तक 'दशरूपक' के द्वितीय प्रकाश में नायक-नयिका-भेद का सविस्तार विवेचन किया है। धनंजय के नायक-सम्बन्धी वर्गीकरण का आधार नाटकीय पात्रता रहा है। इसमें उन्होंने नायक के सामान्य गुणों, सात्विक गुणों, उसके अन्तःपुर के सहायकों, प्रतिनायक आदि का भी विवेचन किया है। चूकि संस्कृत नाटकों में श्रृंगार की प्रचुरता रही है, इसलिए उन्होंने नायिका के साथ रति-सम्बन्ध की दृष्टि से भी नायक का विवेचन किया है। 'दशरूपक' की टीका उनके ही भाई धनिक ने की है, जिन्होंने सूक्ष्मातिसूक्ष्म गहन तत्वों की व्याख्या विशद रूप से कर दशरुपक के महत्व को और भी बढ़ा दिया है। धनंजय नायक के लिए 'नेता' शब्द का प्रयोग करते हैं। 'नेता' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के नी √ (नय्) धातु से हुई है, जिसका अर्थ है ले जाना। अतः 'नेता' का अभिप्राय उस व्यक्ति से है जो कथा-वस्तु को आगे बढ़ाता है, कहानी का मुख्य पात्र है और फल का भोक्ता है। धनंजय ने 'नेता' शब्द का प्रयोग बड़े ही व्यापक अर्थों में किया है। नायक से इतर नायिका पीठमर्द आदि पात्रों का भाव भी इससे लिया गया है।

नायक के सामान्य गुण

धनंजय के मत से नायक विनम्र, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रिय बोलने वाला, लोगों को प्रसन्न करने वाला, मन से पवित्र, वाणी व्यवहार में कुशल, कुलीन-वंशी, स्थिर बुद्धि वाला, युवा, बुद्धि, साहस, स्मृति, प्रज्ञा, कला तथा मान से युक्त, शूरवीर, दृढ़ प्रतिज्ञ, तेजस्वी, शास्त्र आदि में प्रवीण तथा धार्मिक होता

---

१. अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, पृ० ४५।

शोभा विलासो माधुर्य स्थैर्य गाम्भीर्यमेव च।
ललितं च तथौदार्य तेजोऽष्टाविति पौरुषाः ॥३-४७॥

है।[1]

धनंजय के मत से यह स्पष्ट हो जाता है कि नायक सर्वगुण सम्पन्न, कुलीन, कलाओं तथा शास्त्रों का ज्ञाता युवक व्यक्ति होना चाहिए। अन्य आचार्यों की तरह उन्होंने भी नायक के कुलीन होने पर अधिक बल दिया है, जो सामन्तशाही सभ्यता का प्रतीक है। संस्कृत नाटकों में शृंगार-भावना को अधिक महत्व देने के कारण ही आचार्यों के नायक-सम्बन्धी दृष्टिकोण में सुकुमार एवं ललित भावना के साथ ही उदात्तता का भी समावेश हो गया है। इसीलिए तो नायक विनम्रता आदि गुणों से युक्त होता हुआ भी तेजस्वी, शास्त्र-ज्ञान-सम्पन्न तथा शूरवीर होना चाहिए। यदि ऐसा न होता तो सामन्त समाज में वह आदर का पात्र कैसे बनता? वह समाज मे अपने स्तर को कैसे स्थिर रखता? धनंजय के अनुसार नायक न केवल सामन्त समाज का ही व्यक्ति है वरन् वह शिष्ट एवं सभ्य वर्ग का प्रतिनिधित्व भी करता है। शालीनता शिष्ट वर्ग का महत्वपूर्ण गुण है और विनम्रता, मधुरता आदि गुण शालीनता के अन्तर्गत आ जाते है। विनीतता नायक की दुर्बलता नही वरन् उसके सौजन्य का शृंगार है जो भारतीय संस्कृति का एक अनिवार्य तत्व है। लोक-व्यवहार में प्रायः विनम्र-स्वभाव का व्यक्ति हीन-भावना की ग्रन्थि का शिकार होता है, जो उसके अपने लिए हानिकर परन्तु दूसरों के लिए उपयोगी सिद्ध होती है। इसीलिए तो धनंजय ऐसी हीन-ग्रन्थि से उसकी रक्षा के लिए उसमे तेजस्विता, दृढ़ता, शूरता, आत्मसम्मान आदि गुणों का होना भी बतलाते हैं। तभी उसकी विनम्रता उसके लिए अभिशाप नहीं वरन् वरदान बनकर सिद्ध हो सकेगी। तेजस्विता से अभिप्राय उसके प्रभावशाली व्यक्तित्व से है जिसके प्रभाव स्वरूप दूसरे लोग अनायास ही उसके समक्ष झुक जाएं। दृढ़ता से तात्पर्य उसके सप्रयत्न अध्यवसाय से है जो उसके ध्येय अथवा चिन्तन में किसी भी प्रकार की बाधा नही आने देता। भारतेन्दु के 'सत्य हरिश्चन्द्र'

---

१. दशरूपक, व्याख्याकार भोलाशंकर व्यास, पृ० ७३।

नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा ॥२-१॥
बुद्ध्युत्साहस्मृति प्रज्ञाकलामानसमन्वितः।
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्र चक्षुश्च धार्मिकः ॥२-२॥

(आधुनिक नायक के लिए युवक होना कोई अनिवार्य नही है, वह किशोर, वृद्ध और युवक भी हो सकता है।)

नाटक का नायक हरिचन्द्र इसका अच्छा उदाहरण है।[१] शूरवीरता, विनम्रता आदि गुण नायक की शालीनता के द्योतक हैं। भवभूति के महावीर चरित के नायक रामचन्द्र की तरह नायक विनम्र[२] तथा मधुर[३] होना चाहिए। देखने से ही सुन्दर एवं आकर्षक लगना ही माधुर्य है। धनंजय नायक में त्याग-भावना पर भी बल देते हैं। वह तन, मन, धन का लोभी न होकर अपने सभी स्वार्थों की बलि देने वाला हो। इसीलिए तो वृत्तिकार धनिक कहते है कि वह 'सर्वस्व-दायकः' हो, यथा—

त्वचं कर्णाः शिबिर्मांसं जीवं जीमूतवाहनः ।
ददौ दधीचिरस्थीनि नास्त्यदेयं महात्मनाम् ।।[४]

नायक महावीर चरित के राम की तरह फुर्तीला[५] तथा प्रिय बोलने वाला हो अर्थात् जहां तक सम्भव हो दूसरों के परुष एवं कटु वचनों को सुनकर भी उनके प्रत्युत्तर में कटु शब्दों को न कहे। यथा महावीर चरित में परशुराम से बातचीत करते हुए रामचन्द्र अपनी प्रियभाषिता का परिचय देते हैं।[६] महावीर

---

१. चन्द टरै सूरज टरै, टरै जगत ब्यौहार ।
पै दृढव्रत हरिचन्द्र को, टरै न सत्य विचार ।।

२. दशरूपक, पृ० ७३ ।
यद्ब्रह्मवादिभिरुपासितवन्द्यपादे विद्यातपोव्रतनिधौ तपतां वरिष्ठे ।
दैवात्कृतस्त्वयि मया विनयापचारस्तत्र प्रसीद भगवन्नयमंजलिस्ते ।।

३. वही, पृ० ७४ ।
राम राम नयनाभिरामतामाशयस्य सदृशीं समुद्वहन् ।
अप्रतर्क्यगुणरामणीयकः सर्वथैव हृदयंगमोऽसि मे ।।

४. वही, सं० [illegible] व्यास पृ० ७४ ।

५. वही, पृ० ७४ ।
स्फूर्जद्वज्रसहस्रनिर्मितमिव [illegible]
रामस्य त्रिपुरान्तकृद्दिविषदां तेजोभिरिद्धं धनुः ।
शुण्डारः कलभेन यद्वदचले वत्सेन दोर्दण्डक-
स्तस्मिन्नाहित एव गर्जितगुणं कृष्टं च भग्नं च तत् ।।

६. वही, पृ० ७४ ।
उत्पत्तिर्जमदग्नितः स भगवान्देवः पिनाकी गुरु-
वीर्यं यत्तु न तद्गिरां पथि ननु व्यक्तं हि तत्कर्मभिः ।
त्यागः [illegible]
सत्यब्रह्मतपोनिधेर्भगवतः किं वा न लोकोत्तरम् ।।

चरित के राम की तरह नायक सर्वजन प्रिय हो। शुचि से नायक की मानसिक पवित्रता तथा निर्मलता का भाव है। आचार्य सीताराम चतुर्वेदी के मत मे शुचि से अभिप्राय है, 'जिसका मन पवित्र हो और कामादि विकारों से दूषित न हो।'[१] धनिक भी ऐसी ही बात कहते हैं।[२] क्योंकि भारतीय नायक सम्बन्धी दृष्टिकोण में श्रृंगार की प्रधानता रही है, अतः श्रृंगारी नायक का कामादि विकारों से रहित होना उचित नहीं है। कामशास्त्रियों के अतिरिक्त अन्य आचार्यों ने काम को एक विकार माना है, किन्तु आधुनिक मनोवैज्ञानिकों का दृष्टिकोण इससे नितान्त भिन्न है। फ्रायड आदि मनोवैज्ञानिक तो इसे मानव-जीवन का मूलाधार ही नहीं मानते वरन् वे तो जीवन का मूल्यांकन भी इसी तत्व के आधार पर करते है। आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ-साथ काम-तृप्ति आज के भौतिकशील मानव की प्राथमिक आवश्यकता है जो व्यक्ति के जीवन का सत्य है, यथार्थ है। अतः उनकी दृष्टि में 'काम' विकार नही है।

हनुमन्नाटक में धनुष यज्ञ के समय राम परशुराम को प्रत्युत्तर देते समय अपनी वाणी-कुशलता का बड़ा सुन्दर परिचय देते हैं।[३] नायक का कुलीन होना बहुत जरूरी है। निम्न कुल का कोई भी व्यक्ति नायक बनने का अधिकारी नहीं है। उसका राजकुलोत्पन्न होना, ब्राह्मण तथा वैश्य होना या सेनापति और अमात्य आदि की तरह कुलीन होना अनिवार्य है, यथा-राम, दुष्यन्त आदि। मृच्छकटिक, चारुदत्त तथा मुद्राराक्षस आदि कुछ एक नाटकों मे नाटककारों ने मुख्य पात्र सम्बन्धी इस परम्परा का पालन नही किया। इनके अतिरिक्त नायक में स्थिरता का गुण भी होना चाहिए। स्थिरता से अभिप्राय मन, वचन तथा कर्म में दृढ़ता से है। धनंजय नायक का 'युवा' होना अनिवार्य मानते हैं। श्रृंगारपरक तथा वीररस के नाटकों में नायक का युवा होना आवश्यक है अन्यथा नाटक में रोचकता और स्वाभाविकता नहीं आ पायेगी।

---

१. अभिनव नाट्यशास्त्र, पृ० १२७।

२. दशरूपक, पृ० ७५।

तत्र शौचं मनोनैर्मल्यादिना कामाद्यनभिभूतत्वम्।

३. वही, पृ० ७५।

बाह्वोर्बलं न विदितं न च कार्मुकस्य
त्रैयम्बकस्य तनिमा तत एष दोषः।
तच्चापलं परशुराम मम क्षमस्व
डिम्भस्य दुर्विलसितानि मुदे गुरुणाम्॥

सात्विक गुण

इन गुणों के अतिरिक्त धनंजय नायक में पुरुषत्व-सम्पन्न आठ सात्त्विक गुणों का होना भी अनिवार्य मानते है। वे गुण हैं--शोभा, विलास, माधुर्य, गाम्भीर्य, स्थिरता, तेज, ललित तथा औदार्य।[१] शोभा सात्त्विक भाव में शौर्य तथा दक्षता के साथ-साथ नीच व्यक्ति के प्रति घृणा और अपने से अधिक गुणों से युक्त व्यक्ति के प्रति स्पर्धा पाई जाती है।[२] महावीर चरित के नायक रामचन्द्र मे नीच व्यक्ति के प्रति घृणा का एक उदाहरण देखिए—

उत्तालताडकोत्पातदर्शनेऽप्यप्रकम्पितः।
नियुक्तस्तत्प्रमाथाय स्त्रैणेन विचिकित्सति॥[३]

आज के संघर्षशील बौद्धिक एवं मशीन युग में दशरूपककार का यह दृष्टिकोण पूर्णरूपेण मान्य नहीं है और न ही मानवतावादी धरातल पर इसे उचित कहा जा सकता है जब कि हर व्यक्ति अपने अधिकारों एवं सत्ता के प्रति सचेष्ट एवं सजग है। प्राचीन सामाजिक वर्ण-व्यवस्था में यद्यपि नीच व्यक्तियों अथवा शूद्र लोगों का धर्म अन्य तीनों वर्णों के लोगों की सेवा करना ही माना गया है, परन्तु इसके बदले में वे उन्हें घृणा दें, ऐसा उल्लेख नहीं मिलता। वैसे सामन्त समाज में निम्न वर्ग के व्यक्तियों को हेय-दृष्टि से अवश्य देखा जाता था, और समाज में उनका अपना मान निजी धन-वैभव के कारण था। चूंकि धनंजय आदि आचार्यों की दृष्टि में नाटकादि का सांगोपांग निरूपण करने में सामन्तशाही समाज ही रहा है, इसीलिए उन्होंने नीच के प्रति घृणात्मक दृष्टि रखना नायक के सात्त्विक गुणों में से एक माना है। आज जीवन के मूल्य और मान्यताएं बदल चुकी है। समाज-व्यवस्था का पुराना ढांचा भी नहीं रहा। राष्ट्रीय जागरण एवं गांधीवादी जीवन-दर्शन के प्रभाव-स्वरूप समाज आज मानवतावादी मूल्यों की ओर ही नहीं वरन् समाजवादी शासन-व्यवस्था की ओर तीव्र गति से अग्रसर हो रहा है। अतः ऐसे नवीन वातावरण में धनंजय की मान्यता को अधिक महत्व नहीं दिया जा सकता। आज समाज में व्यक्ति विशेष हमारी घृणा का पात्र नहीं हो सकता। शासन-व्यवस्था भी इसकी अनुमति नही देती। हां, उसके दोष, उसकी दुर्बलताएं

---

१. दशरूपक,
शोभा विलासो माधुर्य गाम्भीर्य स्थैर्यतेजसी।
ललितौदार्यमित्यष्टौ सात्त्विकाः पौरुषा गुणाः॥२-१०॥

२. दशरूपक,
नीचे घृणाधिके स्पर्धा शोभायां शौर्यदक्षते॥२-११॥

३. दशरूपक, पृ० ६१।

अवश्य घृण्य हैं।

नायक में जब धैर्य दृष्टि एवं गति के साथ स्मितियुक्त वाणी पाई जाये, उसे विलास नामक सात्त्विक गुण कहते है।[१] यह गुण नायक के व्यक्तित्व को प्रभावशाली बनाता है। नायक की चाल-ढाल तथा बातचीत की हंसोड़ एव मधुर प्रकृति उसके व्यक्तित्व को आकर्षक बना देती है। माधुर्य गुण मे नायक के मन में बहुत बड़े क्षोभ के होने पर भी मामूली सा विकार पैदा होता है लेकिन गाम्भीर्य में ऐसी परिस्थिति के होने पर भी मन मे विकार नहीं होता।[२] स्थैर्य गुण की विशेषता यह है कि नायक अनेक विघ्न-बाधाओं के होने पर भी अपने कार्य अथवा उद्देश्य पथ से कभी विचलित नही होता। तेज गुण नायक की अहंवृत्ति का परिचायक है। इस गुण के कारण ही वह दूसरों के अपमान-सूचक शब्दों को सहन करने में असमर्थ रहता है।[३] सहज सुकुमार शृंगारपरक चेष्टाओं का होना ही ललितगुण है। जब नायक प्रिय वचनों के द्वारा प्राण-दान करने के लिए प्रस्तुत हो और उसमें सज्जनों को अपने अनुकूल बना लेने की क्षमता हो, तो उसमें औदार्य गुण की स्थिति कही जाती है।[४]

नायक के भेद

शील तथा स्वभाव भेद की दृष्टि से धनंजय भरत की तरह नायक के चार भेद बतलाते हैं—धीर-ललित, धीर शांत, धीरोदात्त और धीरोद्धत्त।[५]

---

१. दशरूपक, पृ० ९२।

गतिः सधैर्या दृष्टिश्च विलासे सस्मितं वचः ॥२-११॥

२. वही, पृ० ९३।

श्लक्षणो विकारो माधुर्य संक्षोभे सुमहत्यापि।
गाम्भीर्य यत्प्रभावेन विकारो नोपलक्ष्यते ॥२-१२॥

३. वही, पृ० ९४।

व्यवसायादचलनं स्थैर्य विघ्नकुलादपि।
अधिक्षेपाद्यसहनं तेजः प्राणात्ययेष्वपि ॥२-१३॥

४. वही, पृ० ९४-९५।

शृंगाराकारचेष्टात्वं सहजं ललितं मृदु।
प्रियोक्त्याऽऽजीविताद्दानमौदार्य सदुपग्रहः ॥२-१४॥

५. वही, पृ० ७७।

भेदैश्चतुर्धा ललितशान्तोदात्तोद्धतैरयम्।
निश्चिन्तो धीरललितः कलासक्तः सुखी मृदुः ॥२-३॥

भरत ने नायक का वर्गीकरण नाटकीय कार्य-व्यापार तथा फल-प्राप्ति की दृष्टि से किया था । नाटक की आत्मा रस को वे सर्वथा नहीं भुला सके । रस की व्याख्या भी उन्होंने नाटक की दृष्टि से ही की है । रसोद्रेक के लिए नायक का 'धीर' होना अनिवार्य है । इसीलिए सभी नायक-भेदों के साथ उन्होंने 'धीर' विशेषण लगा दिया है । यद्यपि भरत 'धीर' शब्द का प्रयोग व्यावहारिक अर्थों में ही करते हैं, परन्तु बाद के आचार्यों ने उसे रूढ़ बना कर पारिभाषिक रूप दे दिया ।

'धीरता' शील का एक गुण है जो व्यक्ति के स्वभाव मे दृढ़ता लाता है । विनम्रता और दृढ़ता भी नायक के गुण है । अतः जो व्यक्ति दृढ़ होने के साथ-साथ अपने धैर्य को नष्ट नही होने देता, अपने आपको वश मे रख सकता है, वह नायक है । नायक के लिए 'अधीरता' गुण उचित नहीं है क्योंकि वह तो स्त्री-स्वभाव सुलभ है ।

धीरोद्धत के अतिरिक्त शेष तीनों प्रकार के नायकों में 'धीर' गुण उचित प्रतीत होता है परन्तु इस (धीरोद्धत) में धीरता का होना न तो व्यावहारिक दृष्टि से ही अनुकूल बैठता है और न ही यह उसके गुण एवं स्वभाव के अनुकूल है । क्योंकि जो पात्र दर्पी, ईर्ष्यालु, मायावी, छली-कपटी, अहकारी, चंचल एवं क्रोधी और आत्म प्रशंसा करने वाला होगा, वह स्वभाव से ही दूसरों के समक्ष आत्म-विरोध को सहन करने की सामर्थ्य नही रख सकता । बृहत् हिन्दी कोश में 'उद्धत' शब्द के अर्थ दिये गये हैं—ऊपर उठाया हुआ, अतिशय, कठोर, उजड्ड, अक्खड़, अविनीत, किसी का अदब-लिहाज न करने वाला, घमंडी, उत्तेजित, क्षुब्ध, प्रचंड, राजसी ।[१] इसके विपरीत 'धीर' शब्द के जितने भी अर्थ किये गये है—जिसका चित्त विकारजनक कारणों के रहते हुए भी विचलित न हो, जो जल्दी विचलित न हो सके, धैर्ययुक्त, स्थिरचित्त, दृढ़, गम्भीर, मन्द, सबल, उत्साही, नम्र, विनीत, मनोज्ञ, सुन्दर[२]—वे सभी के सभी 'उद्धत' के विरोधी है । 'नायक के धीरललित, धीरप्रशान्त, धीरोदात्त तथा धीरोद्धत कोटि के होने के विषय मे एक भ्रांति हो सकती है कि नायक का पूरा जीवन-चित्रण एक ही कोटि का होगा । इस तरह तो दुष्यन्तादि धीरोदात्त नायकों में जो कला प्रियता तथा रागमयता बताई गई है तथा जो धीरललित का गुण है—ठीक नहीं बैठेगी । वस्तुतः ऐसा मानना ठीक नही । इसी बात को स्पष्ट करते हुए वृत्तिकार (धनिक) बताता है कि धीरललित आदि पारिभाषिक

१. बृहत् हिन्दी कोश पृ० १६० ।
२. बृहत् हिन्दी कोश, पृ० ६५८ ।

शब्द तत्तत्प्रकरण मे वर्णित गुणो में समारोपित अवस्था के अभिधायक हैं। इस तरह एक ही नायक मे कभी ललित वाली अवस्था, कभी उदात्त वाली अवस्था, कभी शान्त वाली अवस्था और कभो उद्धत वाली अवस्था पाई जा सकती है। (यह दूसरी बात है कि 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस न्याय के आधार पर उसकी धीरललितादि संज्ञा किसी एक गुण की विशिष्टता के कारण ही की जाती है।) × × × नायक में नायकत्व जाति है, उदात्त, ललित आदि उसके गुण हैं × × × लेकिन अगर ललित आदि को जाति मान लिया जाये, तो जाति अविनाशी है, अतः जहां ललितत्व जाति का अस्तित्व है; वहां उदात्तत्व जाति कैसे पाई जायगी। (जबकि गुण अविनाशी तथा क्षणिक है अतः परस्पर विरोधी गुणों का भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में एक ही नायक में पाया जाना अनुचित तथा असंगत नही है।)[१]

यह निर्विवाद है कि एक ही नायक भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न प्रकार से आचरण करता है लेकिन उसमें जिस गुण की प्रधानता एव विशिष्टता रहती है उसी के आधार पर उसे ललित, शान्त, उद्धत आदि की सज्ञा से अभिहित किया जाता है। नायक का वर्गीकरण करते समय यही आधार धनंजय का भी रहा है। उद्धत नायक भले ही भिन्न परिस्थितियों मे किसी समय उदात्तादि की तरह आचरण कर ले परन्तु उद्धतता की प्रधानता के कारण ही उसे उद्धत नायक की संज्ञा दी गई है। धनंजय नायक-भेद करते समय प्रत्येक नायक में विशिष्ट गुणों को समारोपित करते हैं और बाद के आचार्यो ने भी इसी विशिष्ट दृष्टिकोण का पालन किया है, तो भी 'उद्धत' नायक में 'धीर' गुण का प्रधानरूपेण होना तर्क संगत नही प्रतीत होता। उद्धत नायक भी कभी धीरतापूर्ण आचरण कर सकता है, अथवा उसके स्वभाव में इस धीरता गुण की प्रधानता को स्वीकार किया जाये, यह समीचीन प्रतीत नही होता। धनंजय स्वयं भी जब प्रतिनायक अथवा खलनायक के गुणों का उल्लेख करते हैं, तो वे धीरोद्धत को प्रतिनायक का एक गुण बतलाते हैं और इस तरह वे स्वयं ही अपने इस सिद्धांत 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' का विरोध करते हुए दिखाई पड़ते है। वस्तुतः आचार्यो द्वारा इस रूढ़ परम्परा के पालन का एक मात्र कारण यही कहा जा सकता है कि नाटक सम्बन्धी उनका सम्पूर्ण विवेचन रस की दृष्टि से ही हुआ है और चूंकि रस के आस्वादन में उद्धतता का विरोध है, अतः रसास्वादन के लिए ही जो नाटक का परम साध्य है, उद्धत नायक मे धीर गुण का आरोपण किया गया है।

---

१. डाक्टर भोलाशकर व्यास, दशरूपक, पृ० ८३-८४।

अच्युतराय प्रणीत 'साहित्य सार' में तीन ही प्रकार के नायक माने गये है। उद्धत नायक को उसमें स्थान नही दिया गया है।[१] डाक्टर कीथ भी 'उद्धत' को नायक मानने के लिए तैयार नही है।[२]

धीरललित नायक निश्चिंत प्रकृति का, नृत्य, गीतादि कलाओं में रुचि रखने वाला, स्वभाव का कोमल तथा सुख से रहने वाला होता है।[३] निश्चितता से तात्पर्य योग-क्षेम की चिन्ता से सर्वथा मुक्त रहने से है। अप्राप्त की प्राप्ति योग और प्राप्त की रक्षा ही क्षेम है (अप्राप्तस्य प्राप्तिर्योग:, प्राप्तस्यपरिरक्षणं क्षेम:) ऐसा नायक शासकीय कार्यो में स्वयं रुचि न लेकर अपने मंत्रियों के द्वारा शासन की व्यवस्था करवाता है। राजकीय शासन-व्यवस्था के प्रति उसके इस उदासीन दृष्टिकोण का मुख्य कारण यह है कि वह ललित कलाओं—गीत, नृत्यादि मे अधिक रुचि रखता है, तथा भोगी और विलासी होने के कारण ही उसके स्वभाव में इतनी कोमलता आ जाती है कि वह ऐसे शासकीय कार्यों में जिनमे अधिक चिन्तन-शक्ति का प्रयोग करना पड़े, अपने आप को असमर्थ तो नहीं पर आलसी अवश्य पाता है। ऐसे नायक को हम शृंगारी भी कह सकते है क्योंकि इसमें भोग-विलासिता के गुणों का प्राधान्य रहता है। 'रत्नावली' नाटिका का नायक वत्सराज उदयन इसी कोटि का है।

धीरशान्त नायक नायकोचित सामान्य गुणों से युक्त रहता है। वह 'ब्राह्मण आदि' में से होता है।[४] वृत्तिकार धनिक दशरूपकार के 'द्विजादिक' शब्द की व्याख्या इस प्रकार देते है 'धीरशान्तो द्विजादिक इति विप्रवणिक्सचिवादीनां'[५] अर्थात् ब्राह्मण, वैश्य और मन्त्री आदि में से कोई भी धीरशांत नायक हो सकता है।

---

१. अच्युतराय, साहित्यसार।

उदात्तो ललित: शान्तस्त्रिधा नेता प्रकीर्तित:।
सर्वोऽपि धीर एवायं विज्ञेयो नायकत्वत: ॥११-२॥

२. A. B. Keith, The Sanskrit Drama, edition 1924, page 306. "It is obvious that there is difficulty in conceiving as a chief hero one of the haughty type, and the theory does not provide with one, for Parasurama is only a secondary hero."

३. दशरूपक, पृ० ७७।

निश्चिन्तो धीरललित. कलासक्त सुखी मृदु ॥२-३॥

४. वही, पृ० ७८।

[illegible] धीरशान्तो द्विजादिक: ॥२-४॥

५. वही, पृ० ७८।

धनंजय तथा धनिक द्वारा प्रयुक्त 'आदि' शब्द कुछ भ्रामक है। भारत की प्राचीन वर्ण-व्यवस्था के अनुसार समाज चार जातियों में विभक्त था— ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। निम्न जाति के लोगों को शूद्रों की संज्ञा दी गई है जिनका धर्म है शेष तीनों वर्णों के लोगों की सेवा करना। सेवा-धर्म का पालन शातता की भावना के बिना संभव नहीं। ब्राह्मण आदि जाति के नायकों में तो उन्होंने शान्तता मानी ही है परन्तु शूद्र पात्रों में भी इसकी वांछनीय अनिवार्यता के अनुरोध को कैसे टाला जा सकता है। दशरूपककार तथा वृत्तिकार दोनों द्वारा प्रयुक्त 'आदि' शब्द से यह स्पष्ट है कि वे ब्राह्मण, वैश्य, मन्त्री आदि के अतिरिक्त भी किसी और की अपेक्षा रखते हैं जो स्पष्टतः क्षत्रिय और शूद्र की ओर संकेत है। यदि धनंजय तथा धनिक का आशय केवल ब्राह्मण, वैश्य या मन्त्री से ही होता तो वे अपने अभिमत को 'आदि' शब्द के प्रयोग के बिना ही असंदिग्ध शब्दों में व्यक्त करते। 'आदि' शब्द के प्रयोग के बल पर स्वाभाविक तौर पर यह कहा जा सकता है कि धनंजय के समय में भी शूद्रों को भी नायक या मुख्य पात्र के रूप में चित्रित करने के लिए कोई विशेष प्रतिबन्ध नहीं था। ऐसा प्रतीत होता है कि धनंजय नायक-परम्परा का पालन करते हुए भी ऐसा नहीं कर पाये। उनका आत्मिक विद्रोह दबे स्वर में मुखर हो ही उठा। 'मृच्छकटिक' और 'चारुदत्त' दोनो नाटकों में नायिकाएं वेश्याएं हैं। विशाखदत्त कृत 'मुद्राराक्षस' में चाणक्य चन्द्रगुप्त को 'वृषल' कहता है जिसका अभिप्राय शूद्र से है।

वृत्तिकार धनिक कहते है— 'शान्तत्वं चानहंकृतत्वं, तच्च विप्रादेरौचित्य-प्राप्तमिति वस्तुस्थित्या विप्रादेः शान्तता न स्वपरिभाषामात्रेण।'[१] अर्थात् शान्त (नायक) वह है जिसमें अहंकार का निषेध हो और यह ब्राह्मणादि में ही उचित है। वस्तुस्थिति तो यह है कि परिभाषामात्र से ही धीरशान्तता न मान ली जाय, ब्राह्मणादि में शान्तता तो पाई ही जाती है। ब्राह्मण में अहंकार का निषेध माना गया है। यद्यपि सदा ऐसा ही हो, यह सर्वसत्य नहीं। परशुराम इसके साक्षात् प्रमाण है जो अपने क्रोध के लिए सर्वविख्यात हैं। ब्राह्मण में ही केवल 'शान्तता' का होना तथा क्षत्रियादि में न होना अनिवार्यतः सत्य नहीं माना जा सकता। अपवाद तो सब जगह होते हैं। सामान्य गुणों के अन्तर्गत विनीतता, मधुरता, शौर्य, दक्षता, उत्साह, कलावित्ता आदि गुण समाविष्ट किये गये है। शौर्य आदि गुण वीतराग अथवा शान्त प्रकृति वाले व्यक्ति में नहीं पाये जाते। ये गुण तो वीर नायक के है। ब्राह्मणों में तो

१ दशरूपक, पृ० ८०।

सात्विक वृत्ति की प्रधानता होने के कारण ही शान्तता मानी गई है। धनंजय तथा वृत्तिकार धनिक द्वारा दी गई धीरशान्त नायक की परिभाषा में शान्त नायक के विशिष्ट गुणों का उल्लेख न होने के कारण वह परिभाषा कुछ अस्पष्ट सी बन गई है। यदि धनंजय और बाद में वृत्तिकार धनिक ने इस 'आदि' शब्द का प्रयोग ही न किया होता अथवा प्रयोग की स्थिति में इस की व्याख्या अधिक स्पष्ट शब्दों में की होती तो किसी प्रकार की शंका के लिए अवसर ही न रहता।

धीरोदात्त नायक के विशिष्ट गुणों का उल्लेख करते हुए धनंजय कहते हैं कि वह महासत्व, गम्भीर, क्षमावान् आत्मश्लाघाहीन, स्थिर, निगूढ़ अहंकार वाला तथा दृढ़व्रती होता है।[1] धीरोदात्त प्रकृति का नायक सात्विक गुणों से युक्त होता है। क्रोध, शोक आदि विकारों से अनभिभूत होने के कारण ही उसे महासत्व कहा गया है। ऐसे नायक में उदात्तता विशिष्ट गुण है। उदात्तता मानव की सर्वोत्कृष्ट वृत्ति का ही नाम है[2] जो उसे अन्य व्यक्तियों से श्रेष्ठ बनाती है। ऐसे नायक में अपने पुरुषार्थ एवं चारित्रिक महिमा के बल पर निजी उत्कर्ष को प्रमाणित करने की इच्छा प्रबल रहती है और अपने शारीरिक सुख के प्रति वह प्रायः उदासीन ही रहता है। नागानंद का जीमूतवाहन तथा रामादि पात्र धीरोदात्त कोटि के ही नायक हैं।

भारतीय काव्यशास्त्र में उदात्त-भावना की परिकल्पना का अभाव नहीं है परन्तु आचार्यों की दृष्टि इसके विवेचन में काव्य के बहिरंग तत्व के रूप में रही है। इसका विवेचन समग्र रूप से न होकर खण्डशः रूप से ही यत्र-तत्र हुआ है। डाक्टर नगेन्द्र के शब्दों में 'भारतीय वाङ्मय में उदात्त की परिकल्पना का अभाव नहीं है। भारतीय दर्शन मे भगवान् के विराट रूप की कल्पना और भारतीय काव्य में वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भवभूति आदि के अनेक वर्णन उदात्त के भव्य निदर्शन हैं। वस्तुतः भारतीय शब्द 'विराट्' उदात्त की समग्र धारणा को व्यक्त करने मे अधिक समर्थ है। गीता में प्रदर्शित भगवान् के 'विराट्' रूप (११।९-४४) से अधिक प्रबल 'उदात्त' का उदाहरण दुर्लभ ही होगा। फिर भी भारतीय काव्य-शास्त्र में उदात्त का विवेचन प्रत्यक्ष एवं

---

१. दशरूपक, पृ० ७९।

[illegible] क्षमावानविकत्थनः ॥२-४॥

स्थिरो निगूढाहंकारो धीरोदात्तो दृढव्रतः।

२. वही, धनिक पृ० ७९।

औदात्त्यं हि नाम सर्वोत्कर्षेण वृत्तिः।

स्वतन्त्र रूप से नहीं किया गया। किन्तु धीरोदात्त नायक, वीर और अद्भुतरस तथा ओज गुण के विवेचन में उदात्त के भाव-विभाव पक्ष की और गौड़ीया रीति के वर्णन में उसके शैली पक्ष की अप्रत्यक्ष विवक्षा अवश्य मिलती है। × × × इस प्रकार उदात्त के समग्र रूप का विवेचन हमारे यहां नही है, इसमें संदेह नहीं। उदात्त की कल्पना तो हमारे यहां थी किन्तु विधान नहीं है। मैं इसे भारतीय काव्य शास्त्र का एक अभाव ही मानता हूं क्योंकि औदात्य काव्य कला के गौरव का मानदण्ड है।'[1]

ऐतिहासिक दृष्टि से 'उदात्त' एक बहुत ही प्राचीन अलंकार है। दण्डी, भामह, उद्भट, मम्मट, विश्वनाथ आदि ने इसका वर्णन किया है। 'मम्मट ने काव्य प्रकाश में उदात्त अलंकार की परिभाषा में बताया है कि किसी वस्तु की समृद्धि के वर्णन में अथवा किसी वर्ण्य वस्तु के प्रसंग में (उसके विशेषण रूप से) महापुरुषों के वर्णन में उदात्त अलंकार होता है।[2] उत्कर्ष रूप से किसी पदार्थ का ग्रहण करना उदात्त पद का यौगिक अर्थ है।[3]

औदात्य का गुण है सर्वोत्कृष्टता, और इसे प्रायः सभी आचार्यो ने स्वीकार किया है। प्रसिद्ध यूनानी काव्यशास्त्री लौंगिनुस ने अपने 'पेरिइप्सुस' मे 'उदात्त' तत्व का बड़े विस्तार से विवेचन किया है। उन्होंने 'उदात्त' की परिभाषा न देकर भारतीय आचार्यों की तरह ही एक तथ्य रूप मे स्वीकार कर उसके वहिरंग रूप का ही विवेचन किया है। उदात्त का सम्बन्ध काव्य के अभिव्यक्ति (विवक्षा) पक्ष से है जिसका प्रभाव पाठकों अथवा श्रोताओं पर वड़े प्रवल रूप से पड़ता है। इसीलिए तो लोंगिनुस के शब्दों में 'औदात्य अभिव्यक्ति की विशिष्टता और उत्कृष्टता का नाम है।'[4] और क्योंकि गरिमामयी वाणी की प्रभाव-क्षमता से अपने आपको बचाना कठिन ही नहीं अपितु असम्भव भी है, इसलिए 'उदात्त का प्रभाव अत्यन्त प्रबल और दुर्निवार होता है और प्रत्येक श्रोता को भावाक्रान्त कर देता है।[5] वास्तव मे महान् रचना वही है जो बार-बार कसौटी पर कसी जाने पर भी सदा खरी उतरे, जिससे प्रभावित न होना कठिन ही नहीं लगभग असम्भव हो जाये और जिसकी स्मृति इतनी प्रबल और गहरी हो कि मिटाये न मिटे। साधारणतः औदात्य के उन

---

१. काव्य में उदात्त तत्व, भूमिका, पृ० २४-२६।

२. काव्यप्रकाश, 'उदात्तं वस्तुतः सम्यत्।' महतांचोपलक्षणम् ॥१०-११५॥

३. हिन्दी साहित्य कोश, पृ० १३३ ।

४. काव्य में उदात्त तत्व, पेरिइप्सुस का हिन्दी अनुवाद, पृ० ४४।

५. वही, पृ० ४४।

उदाहरणों को ही श्रेष्ठ और सच्चा मानना चाहिए जो सब व्यक्तियों को सर्वदा आनन्द दे सकें।'[1]

लोंगिनुस उदात्त-भाषा के पांच प्रमुख उद्गम स्रोत बतलाते है जिनका सामान्य आधार वाक्-प्रतिभा है और जो हर स्थिति में अनिवार्य है। वे तत्व है—महान् धारणाओं की क्षमता, उद्दाम और प्रेरणा-प्रसूत आवेग, अलंकारों की समुचित योजना, उत्कृष्ट भाषा और गरिमामय ऊर्जित रचना-विधान। पहले दो का सम्बन्ध तो अनुभूति से है, इसीलिए ये जन्मजात अथवा अन्तरंग होते है और शेष तीन कलागत है। दरअसल 'महान् शब्द उन्हीं के मुख से निःसृत होते हैं जिनके विचार गम्भीर और गहन हों।'[2] अतः औदात्य महान् आत्मा की प्रतिध्वनि है।[3] इसीलिए तो रामादि पात्र 'धीरोदात्त' कोटि में आते है क्योंकि उनका व्यक्तित्व महान् एवं गम्भीर है। शील, शक्ति और सौन्दर्य के मर्यादा-पुरुषोत्तम राम, क्रोध, शोक आदि विकारों से अनभिभूत होने के कारण तथा अपनी उदात्त प्रकृति एवं गम्भीर व्यक्तित्व के कारण ही सब लोगों के हृदयों का शृंगार है। सच तो यह है कि औदात्य धीरोदात्त नायक के स्वभावजात (अनुभूतिपरक) एवं कलागत (अभिव्यक्तिपरक) दोनों ही गुणों का परिचायक है।

नाटक में धीरोद्धत नायक के औचित्य का विवेचन पीछे किया जा चुका है। अब धनंजय द्वारा वर्णित धीरोद्धत नायक के गुणों का उल्लेख करते है। धीरोद्धत नायक दर्प तथा मात्सर्य से युक्त, माया, कपट, अहंकार, चंचलता, क्रोध आदि से युक्त तथा आत्मश्लाघी होता है।[4] उद्धत्तता ऐसे नायक का विशेष गुण है। धीरोद्धत नायक प्रतिनायक के रूप में भी चित्रित किया जा सकता है, क्योंकि प्रतिनायक का 'धीरोद्धत' होना एक विशेष गुण है। रावण इसी कोटि का नायक है।

नायक के अन्य तीन भेद

भरत की तरह धनंजय भी नायक के तीन और भेद स्वीकार करते है—

१. काव्य में उदात्त तत्व, पेरिइप्सुस का हिन्दी अनुवाद पृ० ५३।
२. वही, पृ० ५५।
३. वही, पृ० ५५।
४. दशरूपक; पृ० ८३।
दर्पमात्सर्यभूयिष्ठो मायाच्छद्मपरायणः ॥२-५॥
धीरोद्धतस्त्वहंकारी चलश्चण्डो विकत्थनः।

ज्येष्ठ (उत्तम), मध्यम और अधम ।[१] अतः दक्षिण, शठ आदि अन्य भेदों को मिलाकर नायक के अड़तालीस भेद बन जाते है । नायक का यह वर्गीकरण गुणों की संख्या में आधिक्य अथवा कमी के आधार पर न होकर गुणो के विशिष्ट तारतम्य के आधार पर किया गया है । क्योंकि हर नायक मे गुणो का होना तो अनिवार्य ही है परन्तु उसके वैशिष्ट्य अनुपात-भेद के आधार पर ही उत्तमादि वर्गीकरण किया गया है । नायक प्रकरण में धनंजय जहा नायक का प्रसिद्ध कुल में उत्पन्न होना, राजर्षि एवं धीरोदात्त प्रकृति का होना तथा प्रतापी आदि होना बतलाते हैं, साथ ही इन सभी विशेषताओं से युक्त उसके दिव्य होने की ओर भी संकेत करते है ।[२]

नायक-व्यापार तथा वृत्तियां

धनंजय का नायक-वर्णन अन्य नाट्याचार्यो की अपेक्षा अधिक विस्तृत है । नायक के भेदों का वर्णन करते समय उन्होंने उसके सामान्य, अनिवार्य एवं सात्विक गुणों की चर्चा के अतिरिक्त नायक के शृंगारी, धर्म तथा दण्ड सहा-यकों आदि का भी विवेचन किया है । यही नही, नायक-व्यापार अथवा वृत्ति का भी उन्होंने वर्णन किया है । धनिक नायक की वृत्ति का लक्षण इस प्रकार देते हैं—'प्रवृत्तिरूपो नेतृव्यापार स्वभावो वृत्तिः ।'[३] अर्थात् वृत्ति से तात्पर्य नेता (नायक) के उस व्यापार अथवा स्वभाव से है जो उसे किसी विशेप काम मे प्रवृत्त करता है । नायक की ये वृत्तियां चार है—कैशिकी, सात्त्वती, आरभटी तथा भारती । भारती की अपेक्षा शेष सभी वृत्तियों का सम्बन्ध एक न एक रस से है । कैशिकी का शृंगार से, सात्त्वती का वीर से और आरभटी का बीभत्स एवं रौद्र रसों से है । भारती वृत्ति का प्रयोग सभी रसो में ही रहता है । जहां नायक गीत, नृत्य, विलासादि मृदु शृंगार चेष्टाओं के कारण

---

१. दशरूपक, पृ० १३० ।

ज्येष्ठमध्याधमत्वेन सर्वेषा च त्रिरूपता ।।२-५।।
तारतम्याद्यथोक्तानां गुणानां चोत्तमादिता ।

२. दशरूपक, पृ० १५८ ।

अभिगम्यगुणैर्युक्तो धीरोदात्तः प्रतापवान् ।।३-२२।।
कीर्तिकामो महोत्साहस्त्रय्यास्त्राता महीपतिः ।
प्रख्यातवंशो राजर्षिर्दिव्यो वा यत्र नायकः ।।३-२३।।
तत्प्रख्यातं विधातव्यं वृत्तमत्राधिकारिकम् ।

३. वही, पृ० १३० ।

कोमलता से आचरण करता है उसे कैशिकी वृत्ति कहते है ।[1] कैशिकी कै चार अंग होते हैं—नर्म, नर्म—स्फिञ्ज, नर्म स्फोट तथा नर्म गर्भ ।[2] जहा नायक का व्यापार शोक रहित, सत्व, शौर्य, त्याग दया तथा आर्जव आदि भावों से युक्त रहता है, वहा सात्त्वती वृत्ति कहलाती है । कैशिकी की तरह इसके भी चार अंग है—संलाप, उत्थापक, साङ्घात्य और परिवर्तक ।[3] जब नायक में माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, उद्भ्रान्तादि चेष्टाएं पाई जायें तब वह आरभटी वृत्ति कहलाती है । इसके भी चार अंग है—संक्षिप्तिका, सम्फेट, वस्तूत्थापन तथा अवपातन ।[4] वैसे अर्थवृत्तिया तीन ही है क्योंकि भारती वृत्ति तो आमुख का अंग है और शब्द वृत्ति के अन्तर्गत उसकी गणना की जाती है ।

नायक के सहायक

शृंगारी सहायक

नायक के प्रधान सहायक हैं—पीठमर्द, विट और विदूषक । पीठमर्द बुद्धि-चातुरी आदि गुणों में नायक से थोड़ा ही कम होता है और उसका इतिवृत्त नायक की फल-सिद्धि में सहायक होता है । विट गीत, नृत्य आदि विद्याओं में से एक का ज्ञाता होता है । नाटक का हंसोड़ पात्र विदूपक कहलाता है ।[5] विदूषक-परम्परा का पालन प्रायः सभी नाटककारों ने किया है । भारतीय नाटकों में विदूषक जहां पेटू और हंसोड़ प्रकृति का होता है, साथ ही वह नायक के घनिष्ट तथा अन्तरंग सखा के रूप मे भी चित्रित किया गया है ।

पीठमर्द विट आदि की तरह धनंजय कामार्त नायिका का नायक के साथ

---

१. दशरूपक पृ०, १३० ।

तद्व्यापारात्मिका वृत्तिश्चतुर्धा, तत्र कैशिकी ।
गीतनृत्यविलासाद्यैर्मृदुः शृंगारचेष्टितै. ।।२-४७।।

२. देखिए दशरूपक, पृ० १३०-१३१, ।।२-४८,४६, ५०।।

३. दशरूपक, पृ० १३५ ।

विशोका सात्त्वती सत्त्वशौर्यत्यागदयार्जवैः ।
संलापोत्थापकवस्यां साङ्घात्यः परिवर्तकः ।।२-५३।।

४ वही, पृ० १३७ ।

एभिरंगैश्चतुर्धेयं सात्त्वत्यारभटी पुनः ।
मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः ।।२-५६।।
संक्षिप्तिका [illegible] ।

५. वही, पृ० ६० ।

एकविद्यो विटश्चान्यो, हास्यकृच्च विदूषकः ।।२-६।।

समागम कराने वाले सहायक लोगों का भी उल्लेख करते है। वे हैं— दूतियां दासी, सखी, नीच जाति की स्त्रियां, धाय की बेटी, पड़ोसिन, संन्यासिनी, चित्रकार आदि की स्त्री अर्थात् शिल्पिनी और (दूती के रूप में) स्वयं नायिका ही।[१] ये सब लोग नायक के मित्र—पीठमर्द आदि के गुणों से युक्त रहते हैं।

कार्य-सहायक

शृंगारी सहायकों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी होते है जो राजा नायक अथवा धीरललित नायक के राज्यादि कार्यों मे सहायक होते है। धीरललित नायक की अपनी कलाप्रियता एव विलासी प्रकृति के कारण राज्य-कार्यभार के प्रति किसी सीमा तक उदासीन दृष्टि ही रहती है। दूसरे, उसे अपनी शृंगार, विलास एवं कला-सम्बन्धिनी गतिविधियों से ही अवकाश नही मिल पाता कि वह राज्य-कार्यो की देख-भाल समुचित प्रकार से कर सके। ऐसी स्थिति में मन्त्री के हाथों मे उसके समस्त कार्यो की सिद्धि रहती है।[२] धीरप्रशान्त के अतिरिक्त अन्य नायको की कार्य-सिद्धि मन्त्री तथा स्वयं नायक अथवा दोनों पर निर्भर रहती है।[३]

धर्म तथा दण्ड विधान के सहायक

नायक के धर्म सहायक है—ऋत्विक् (यज्ञ करने वाला), पुरोहित, तपस्वी तथा, ब्रह्मवेता।[४] प्रजा में अशान्ति, अव्यवस्था अराजकता तथा चोरी आदि करने वाले लोगो के लिए और दुष्टों का दमन करने के लिए हर एक राजा दण्ड-विधान निश्चित करता है। राजा के दण्डविधान में ये लोग सहायक होते हैं—सुहृद (मित्र), युवराज, आटविक अर्थात् वन विभाग के लोग, सामन्त तथा सैनिक।[५] राजा के अन्तःपुर के सहायक हैं—वर्षवर (नपुसक), किरात,

---

१. दशरूपक, पृ० ११६।

दूत्यो दासी सखी कारुर्धात्रेयी प्रतिवेशिका।
लिङ्गिनी शिल्पिनी स्वं च नेतृमित्रगुणान्विताः ॥२-२६॥

२-३. वही, पृ० १२८-१२६।

मन्त्री स्वं वोभयं वापि सखा तस्यार्थचिन्तने ॥२-४२॥
मन्त्रिणा ललितः, शेषा मन्त्रिस्वायत्तसिद्धयः ॥

४-५. वही, पृ० १२६।

ऋत्विक्पुरोहितौ धर्मे तपस्विब्रह्मवादिनः ॥२-४३॥
सुहृत्कुमाराटविका दण्डे सामन्तसैनिकाः ॥

गूगे, बौने, म्लेच्छ, आभीर, शकार (राजा का नीच जाति मे उत्पन्न साला) आदि ।[1] ये सभी अपने अपने कार्यो में नायक के उपयोगी है ।[2]

प्रतिनायक

नाटक के कार्य-व्यापार में जो पात्र नायक का विरोध करता है उसे प्रतिनायक कहते है । अपनी दुष्ट प्रकृति के कारण इसे खलनायक की संज्ञा भी दी जाती है। अंग्रेजी में इसे विलेन कहते है । प्रतिनायक स्वभाव से लोभी धीरोद्धत, स्तब्ध (घमण्डी), पापी, व्यसनी तथा नायक का शत्रु होता है ।[3] नाटक में नायक के बाद चरित्र-चित्रण एवं कार्य-व्यापार मे संघर्ष और रोचकता की अभिवृद्धि एवं विकास की दृष्टि से इसका महत्वपूर्ण स्थान है । इसके बिना नायक का चारित्रिक विकास समुचित रूप से स्पष्ट नही हो पाता, क्योंकि मानव के व्यक्तित्व का सही अनुमान विरोधजनक एवं विपरीत परिस्थितियो में ही सम्भव है और नाटक में ऐसी परिस्थितियो के निर्माण में प्रतिनायक का विशेष रूप से योग रहता है । प्रतिनायक का 'धीरोद्धत्य' भी एक गुण है अतः धीरोद्धत नायक प्रतिनायक भी हो सकता है । भारतीय नाटकों में नायक सत् और प्रतिनायक असत् प्रवृत्तियों के प्रतीक है । नाटकीय रस साधना और फल-सिद्धि के अनुसार जीवन में सद्वृत्तियों की विजय और असद् वृत्तियों की पराजय निश्चित है, इसीलिए प्राचीन नाटककारों को नाटक में नायक की सदा विजय और प्रतिनायक का पतन दिखलाना ही अभीष्ट था ।

---

१. दशरूपक, पृ० १२६ ।
(धनिक) शकारो राज्ञः श्यालो हीनजातिः ।

२. वही, पृ० १२६ ।
अन्त.पुरे वर्षवराः किराता मूकवामनाः ।।२-४४।।
म्लेच्छाभीरशकाराद्याः स्वस्वकार्योपयोगिनः ।

३. (क) वही,
लुब्धो धीरोद्धतः स्तब्धः पापकृद्व्यसनी रिपुः ।।२।६।।
(ख) साहित्यदर्पण,
धीरोद्धतः पापकारी व्यसनी प्रतिनायकः ।।३-१३१।।
(ग) नाट्यदर्पण,
लोभी धीरोद्धतः पापी व्यसनी प्रतिनायकः । मुख्य नायकस्य प्रतिपंथी नायकः प्रतिनायकः । यथा रामयुधिष्ठिरोयो रावण-दुर्योधनवदिति (चतुर्थ विवेक) ।

सरस्वती कण्ठाभरण (११ वीं शताब्दी)

भोज ने नायक-भेद का निरूपण 'सरस्वती कण्ठाभरण' के पांचवें एवं अन्तिम परिच्छेद मे किया है। इसी परिच्छेद में उन्होंने रस, भाव, नायक-नायिका भेद, पांच संधियों एवं चार वृत्तियों आदि का भी विवेचन किया है। इसके अतिरिक्त उन्होने श्रृंगार प्रकाश के 'रत्यालम्बनविभाव प्रकाश' नामक १५ वें परिच्छेद में भी नायक-नायिका भेद का निरूपण किया है। 'सरस्वती-कण्ठाभरण' में नायक-नायिका भेद विवेचन संक्षिप्त लक्षणों के रूप में हुआ है परन्तु 'श्रृगार प्रकाश' में अन्य आचार्यों की तरह नायक-भेदों के विषय में वे विस्तार के मोह को संवरण नही कर सके। 'सरस्वती कण्ठाभरण' में नायक-वर्णन इस प्रकार हुआ है—

१. वस्तु के आधार पर— नायक, प्रतिनायक, उपनायक, नायकाभास, उभयाभास, तिर्यगाभास।
२. गुणो के आधार पर—उत्तम, मध्यम और अधम।
३. प्रवृत्ति के आधार पर भरत सम्मत चार भेद—उद्धत, ललित, शान्त और उदात्त।
४. प्रकृति के आधार पर—सात्त्विक, राजस और तामस।
५. परिग्रह के आधार पर—साधारण (अनेकानुरक्त) और अनन्य जाति (अनन्यानुरक्त)।

'श्रृंगार-प्रकाश' के मोक्ष श्रंगार नामक इक्कीसवे प्रकाश में भी भोज ने नायक-भेद निरुपण किया है। नायक, प्रतिनायक उपनायक और अनुनायक के साथ भोज ने भरत सम्मत धीरोदात्तादि चारों नायकों का भी विवेचन किया है। इक्कीसवें प्रकाश के अन्तिम श्लोक इस प्रकार हैं—

य एते षोडश प्रोक्ता नायका नायिकाश्च याः।
तेषां ये चोत्तमत्वादिहेतुर्जात्यादयो गुणाः ॥
युक्तस्तैरुत्तमस्तेषां पदहान्यातु मध्यमः।
अर्धहान्या कनिष्ठस्स्यात् नायिकास्वप्ययं विधिः ॥
उदात्तागूढ़मान्द्वि (मानास्यात्) द्विरुता (उद्धता) मानशालिनी।
ललिता साध्यमानेह शान्ता निर्मानिमानषा ॥
मनसिशयमहास्त्रं शास्त्रसर्वस्वमेतम्,
निरूपमरमणीयं चेष्टितं नायकानाम्
कथितमथ यथावत् काम श्रृंगारसारः
पुनरपि तदवस्थावस्थितं वर्णयामः ॥

भोज नो गुणन-क्रिया से नायकों की संख्या १०४ तक पहुंचा कर भो यह

कहते हैं—

एवमन्येऽपि विज्ञेयाः भेदा संभेदतो मिथः ॥[1]

भावप्रकाश (१३वीं शताब्दी)

भाव प्रकाश के दशम अधिकार में शारदातनय ने 'नाट्यशास्त्र' के सभी प्रकार के पात्रों का बड़े विस्तार से निरूपण किया है। प्राचीन आचार्यों का नायक-सम्बन्धी विवेचन सामतन्वादी दृष्टिकोण के अनुकूल रहा है। इस दृष्टि से शारदातनय के भावप्रकाश का विशेष महत्व है। उनके कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन युग में राजाओं को संगीत आदि विशेष प्रिय थे और उनकी दृष्टि में उनका महत्व मात्र मनोरंजन तक ही सीमित था।[2] चारों वर्णो में संगीत तो राजाओं के लिए ही शोभा देता है और प्रकृति-भेद से ये राजा तीन प्रकार के हैं—उत्तम, अधम और मध्यम।[3]

साहित्य दर्पण (१४वीं शती)

दशरूपक के बाद साहित्य में अन्यतम प्रसिद्धि प्राप्त ग्रन्थ पण्डित विश्वनाथ द्वारा विरचित 'साहित्य-दर्पण' है, जिसे हम दशरूपक परम्परा में ही रख सकते है। इसमें लेखक ने काव्य, नाटक, रस तथा साहित्य सम्बन्धी विषयों का सांगोपांग वर्णन विशद रूप से किया है। विश्वनाथ की भी नायक-सम्बन्धी मान्यताएं दशरूपककार जैसी ही हैं। उनके मत में नायक वह हो सकता है जो त्यागी, महान् कार्यो का कर्ता, कुलीन, वैभव से सम्पन्न, रूपवान् युवा, उत्साही, कलाओं का ज्ञाता एवं उद्योगशील, लोक-प्रिय, तेजस्वी, वैदग्ध

---

१. शृंगार प्रकाश, पृ० ३३।

२. भाव प्रकाश,

"संगीतशास्त्र सर्वत्र राज्ञां विश्रांति सौख्यदम्।
तस्मादिदं विनोदार्थं राज्ञामेव पुरा कृतम्॥
विश्रामाय महीभारविश्रान्तानां सुखप्रदम्।
अस्य संगीतशास्त्रस्य प्रयोक्तृणां च लक्षणम्॥
स्वरूपं कर्म चैतेषां यथावत् प्रतिपाद्यते।"

३. वही,

चतुर्णामपि वर्णानां राजा संगीतमर्हति।
तस्य त्रिधा स्यात् [illegible]॥

एवं शील आदि सद्‌वृत्तियों से युक्त हो।[१] धनंजय की तरह विश्वनाथ ने नायक के इन सामान्य गुणों का विस्तार से विवेचन नहीं किया है। नायक के इन्होंने भी आठ सात्विक गुण माने हैं[२] और उनका अलग रूप से विवेचन भी किया है।

शील की दृष्टि से नायक के चार भेद है—धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त। इन चारों नायकों के गुणों का उल्लेख दशरूपक की तरह ही हुआ है। दक्षिण, धृष्ट आदि नायकों के विवेचन में भी साहित्यदर्पणकार धनंजय से प्रभावित ही नहीं वरन् उसका अनुसरण करते हुए दिखाई देते है।[३]

कथावस्तु की दृष्टि से साहित्यदर्पणकार ने आधिकारिक नायक के अतिरिक्त पताका और प्रकरी नायकों का भी विवेचन किया है।[४] प्रकरी नायक का उल्लेख दशरूपककार ने नहीं किया। यहां वे धनंजय से प्रभावित नहीं है। पताका और प्रकरी पात्रों का नाटकीय कथा-व्यापार में विशेष महत्व रहता है। दोनों ही नायक को फल-सिद्धि तक पहुंचाने के लिए अपना योग देते हैं। दोनों ही गौण प्रसंगों के पात्र हैं। पताका पात्रों का प्रसग प्रकरी की अपेक्षा नाटक में अधिक महत्वपूर्ण माना गया है। नाटक में नायक के अतिरिक्त चारित्रिक सौन्दर्य एवं वस्तु-संघर्ष की दृष्टि से प्रतिनायक का चरित्र भी महत्वपूर्ण है। नायक के शृंगारी सहायक हैं, विट, चेट और विदूषक। ये लोग स्वामिभक्त,

---

१. हिन्दी साहित्यदर्पण, डा० सत्यव्रतसिह।

त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रुपयौवनोत्साही।
दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजोवैदग्ध्य शीलवान्नेता ॥३-३०॥

२. वही,

शोभा विलासो माधुर्य गाम्भीर्य धैर्यतेजसी।
ललितौदार्यमित्यष्टौ सत्त्वजाः पौरुषा गुणाः ॥३-५० ॥

३. वही,

एषु त्वनेकमहिलासमरागो दक्षिणः कथितः ॥३-३५॥

कृतागाऽपि निःशंकस्तर्जितोऽपि न लज्जितः।
दृष्टदोषोऽपि मिथ्यावाक्कथितो धृष्टनायकः ॥३-३६॥

अनुकूल एकनिरतः, शठोऽयमेकत्र बद्धभावो यः।
दर्शितबहिरनुरागो विप्रियमन्यत्र गूढमाचरति ॥३-३७॥

४. हिन्दी साहित्य दर्पण,

व्यापि प्रासंगिकं वृत्तं पताकेत्यभीधीयते।
पताकानायकस्य स्यान्न स्वकीयं फलान्तरम् ॥६-६७॥

गर्भे सन्धौ विमर्शे वा निर्वाहस्तस्य जायते।
प्रासंगिक प्रदेशस्थं चरितं प्रकरी मता ॥६-६८॥

प्रकरीनायकस्य स्यान्न स्वकीयं फलान्तरम्।

नर्म, निपुण, क्रुद्ध एवं मानिनी नायिका के प्रसादन में निपुण तथा शुद्ध चरित्र के होते है। 'चेट' का उल्लेख दशरूपककार ने नहीं किया। विश्वनाथ ने भी इसके गुणों का उल्लेख मात्र कर 'चेटःप्रसिद्ध एव' ही कह दिया है। इन्होंने विट तथा विदूषक के गुणों का वर्णन धनंजय की अपेक्षा अधिक विस्तार से किया है। 'विट वह है जो विषयादि सुख-संभोग में धन-सम्पत्ति लुटा चुका हो, जो धूर्त हो, कुछेक कलाओं का ज्ञाता, तथा वेश्योपचार में कुशल हो, बातचीत में चतुर, स्वभाव का मधुर तथा गोष्ठी में जिसका सम्मान हो।[1] भरत ने विट को 'संभोगहीन-संपद्' नहीं माना।[2] विश्वनाथ का विट को 'सम्भोगहीन-संपद्' कहने का स्यात् यह कारण हो सकता है, कि उन्होंने इसकी गणना नायक के शृंगारी सहायक के रूप में की है। विदूषक वह है जिसका नाम कुसुम अथवा बसन्त आदि पर रखा जाता हो, जो अपने कर्म, शरीर तथा वाणी के द्वारा दूसरों को हंसाने की क्षमता रखता हो, जिसे दूसरों के साथ झगड़ने में आनन्द मिलता हो और जो अपने स्वार्थ में कुशल हो।[3]

नायक के अर्थ-चिन्तन के सहायक का उल्लेख करते समय विश्वनाथ ने दशरूपककार की आलोचना की है। उनका कथन है—

'मंत्री स्यादर्थानां चिन्तायां—

अर्थास्तन्त्रावापादयः।

यत्त्वत्र सहायकथनप्रस्तावे—'मंत्री स्वं चोभयं-वापि सखा तस्यार्थचिन्तने' इति केनचिल्लक्षणं कृतम्, तदपि [illegible] लक्षयितव्यम्, न तु सहायकथनप्रकरणे।

'नायकस्यार्थचिन्तने मन्त्री सहायः' इत्युक्तेऽपि नायकस्यार्थत एव सिद्धत्वात्। यदप्युक्तम् —'मन्त्रिणा ललितः शेषा मन्त्रिष्वायत्तसिद्धयः,' इति तदपि स्वलक्षणकथनेनैव लक्षितस्य धीरललितस्य [illegible]

---
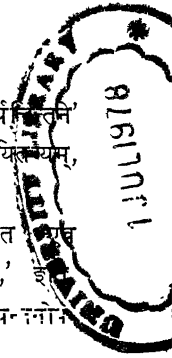
१. वही,

संभोगहीनसम्पद्विटस्तु धूर्तः कलैकदेशज्ञः।

वेशोपचारकुशलो वाग्मी मधुरोऽथ बहुमतो गोष्ठ्याम् ॥३-४१॥

२. नाट्यशास्त्र,

वेश्योपचारकुशलो मधुरो दक्षिणः कविः।

ऊहापोहक्षमो वाग्मी चतुरश्च विट भवेत् ॥३५-५५॥

३. हिन्दी साहित्यदर्पण,

कुसुमवसन्ताद्यभिधः कर्मवपुर्वेषभाषाद्यैः।

हास्यकरः कलहरतिर्विदूषकः स्यात्स्वकर्मज्ञः ॥३-४२॥

पत्तेर्गतार्थम् न चार्थाचिन्तने तस्य मन्त्री सहायः, किं तु स्वयेमव संपादकः तस्यार्थचिन्तनाद्यभावात् ।[1]

यहां साहित्यदर्पणकार ने दशरूपककार की जो आलोचना की है वह वस्तुतः युक्तियुक्त है । नाट्यशास्त्रकारों के सामने नायक रूप में राजगण ही विशेषतया आते हैं । प्राचीन राजतन्त्र की गतिविधि का अवलोकन करते हुए नाट्यशास्त्रकारों ने नायक के धर्मसहायक, [illegible], काम-सहायक आदि का लक्षण-निरूपण किया है । नाट्यशास्त्र में 'धीरललित' नायक की कल्पना राजशास्त्र में 'सचिवायत्तसिद्धि' राजगण की कल्पना पर अवलम्बित है । शृंगार रस का एक प्रकार का अभिव्यंजन 'धीरललित' नायक के चरित्र चित्रण के आधार पर किया गया है । इस नायक चरित में 'राज्यचिन्ता से निश्चिन्तता' की विशेषता स्वाभाविक है । इस दृष्टि से यहां विश्वनाथ कविराज ने जो आलोचना की है वह सर्वथा संगत है ।[2]

नायक के काम अथवा अन्तःपुर के सहायक हैं—बौने, जनखे, किरात, मलेच्छ, शकार, कुबड़े आदि । 'शकार' शराबी, मूर्ख, घमण्डी, राजा का नीच जाति में उत्पन्न साला तथा धन-वैभव से युक्त होता है ।[3] रत्नावली में जनखे, बौने, किरात आदि का बड़ा सुन्दर चित्रण दिया गया है—

नष्टं वर्षवरैर्मनुष्यगणनाभावादपास्य त्रपा—
मन्तः कंचुकिकंचुकस्य विशति त्रासदयं वामनः ।
पर्यन्ताश्रयिभिर्निजस्य सदृशं नाम्नः किरातैः कृतं
कुब्जा नीचतयैव [illegible] ॥

इसके बाद उन्होंने नायक के दण्डसहायकों[4] तथा धर्म सहायकों[5] का भी

---

१. हिन्दी साहित्य दर्पण, पृ० १४७-१४८ ।

२. वही, पृ० १४८ ।

३. वही,

वामनषण्ढकिरातम्लेच्छाभीराः शकारकुब्जाद्याः ॥३-४३॥
[illegible] दुष्कुलतैश्वर्यसंयुक्तः ।
सोऽयमनूढाभ्राता राज्ञः श्यालः शकार इत्युक्तः ॥३-४४॥

४-५. वही,

दण्डे सुहृत्कुमाराटविकाः सामन्तसैनिकाद्याश्च ।
ऋत्विक्पुरोधसः स्युर्ब्रह्मविदस्तापसास्तथा धर्मे ॥३-४५॥
उत्तमाः पीठमर्दाद्याः मध्यौ विटविदूषकौ ।
तथा शकारचेटाद्या अधमा. परिकीर्तिता. ॥३-४६॥

उल्लेख किया है । विश्वनाथ ने इन सभी नायक-सहायकों को तीन कोटियों में बांटा है—उत्तम, मध्यम और अधम । उत्तम व्यक्तियों मे पीठमर्द, मध्यम में विट और विदूषक तथा अधम में शकार, चेष्टादि को रखा है ।[1] साहित्य-दर्पणकार ने जहां नायक-सहायकों के तीन प्रकार माने है, वहां धनंजय नायक तथा उसके सहायकों के तीन-तीन भेद मानते हैं—ज्येष्ठ (उत्तम), मध्यम तथा अधम ।[2] अतः स्पष्ट है कि विश्वनाथ ने उत्तमादि पात्रों का वर्गीकरण केवल नायक सहायकों तक ही सीमित रखा है ।

धनंजय ने नायक-दूतों का उल्लेख नहीं किया किन्तु विश्वनाथ ने राज-शास्त्र में प्रतिपादित दूत-भेद का निरूपण भी नायक सहायक प्रसंग में ही कर दिया है । डाक्टर सत्यव्रत सिंह साहित्य दर्पणकार के इस दूत निरूपण प्रसंग के औचित्य का समर्थन करते हुए कहते है 'नाट्यशास्त्र में भी 'दूत' और 'दूती' का प्रसंग आता है किन्तु वहां काव्य-नाट्य में उपनिबद्ध अथवा उपनिबन्धन योग्य 'दूत' और 'दूती' का निरूपण है । यहां साहित्यदर्पणकार ने राजशास्त्र में प्रतिपादित दूत-स्वरूप का विवेचन किया है । संस्कृत के काव्य-नाट्य-साहित्य में दूत और दूती का यत्र-तत्र चित्रण किया मिलता है । इस चित्रण के आधार पर [illegible] अथवा अलंकार-शास्त्रकारों ने दूत और दूती के स्वरूप का निर्धारण किया है । काव्य-नाट्य में उपनिबद्ध दूत और दूती के कार्य राजशास्त्र में निर्दिष्ट दूत कर्म की ही भांति हैं । इसलिए साहित्यदर्पणकार का यह दूत-निरूपण संगत है न कि असंगत ।[3]

[illegible] ने नाटक प्रकरण में नायक के तीन और भेद दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य किये हैं ।[4] दिव्य से उनका अभिप्राय देवलोकवासी

---

१. हिन्दी साहित्यदर्पण, ।।३-४६।।

२. दशरूपक,

ज्येष्ठमध्याधमत्वेन सर्वेषां च त्रिरूपता ।।२-४५।।
तारतम्याद्यथोक्तानां गुणानां चोत्तमादिता ।

एवं [illegible] माधमभावेन त्रिरूपता, उत्तमादिभावश्च न गुणसंख्योपचयापचयेन कि तर्हि गुणातिशयतारतम्येन ?

३. हिन्दी साहित्य दर्पण, पृ० १५१ ।

४. हिन्दी साहित्य दर्पण,

प्रख्यातवंशो राजर्षिर्धीरोदात्तः प्रतापवान् ।
दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो वा गुणवान्नायको मतः ।।६-९।।

किसी देवता से है, अदिव्य से मर्त्यलोकवासी से और दिव्यादिव्यचरितों से उनका अभिप्राय राम जैसे व्यक्तियों से जो भगवान् के अवतार होते हुए भी पृथ्वी लोक में मानव का सा आचरण करते है ।

रसमंजरी (१३वीं शताब्दी)

नायक-नायिका भेद पर भानुदत्तकृत* रसमंजरी में जितना सूक्ष्म और व्यापक विवेचन हुआ है उतना शायद ही संस्कृत साहित्य की किसी अन्य पुस्तक में मिलता हो । ग्रन्थ के आरम्भ में भानुदत्त कहते है—

तत्रशृंगारस्याभ्यर्हितत्वेन तदालम्बनविभावत्वेन नायिका तावन्निरुप्यते ।
(पृ० ४) ।

इससे स्पष्ट है कि भानुदत्त ने नायक-नायिका-भेद का वर्णन श्रृंगार रस के आलम्बन विभाव के ही अन्तर्गत माना है । 'भानुमिश्र का नायक-नायिका-भेद प्रकरण उनके समय तक का विकसित रूप प्रस्तुत करता है । विषय के विस्तार और व्यवस्था की दृष्टि से यह प्रकरण अवेक्षणीय है । भरत और भोजराज के ग्रन्थों में विषय का विस्तार था, पर इतनी सुव्यवस्था नहीं थी, रुद्रट और विश्वनाथ के ग्रन्थों में व्यवस्था अवश्य थी, पर विषय-सामग्री संक्षिप्त और अस्वतन्त्र रूप में प्रतिपादित की गई थी । किन्तु भानुमिश्र के निरूपण में विषय का स्वतन्त्र विस्तार भी है, और उसका सुव्यवस्थापूर्ण प्रतिपादन भी ।'[१]

रसमजरी में लेखक ने श्रृंगारी नायक, उसके भेदों, सहायकों (पीठमर्द, विट, चेट और विदूषक), आठ सात्विक गुणों आदि का सांगोपांग विवेचन किया है । भानुदत्त के अनुसार नायक के तीन भेद हैं—पति, उपपति और वैशिक । पति और उपपति नायकों के नायिका के प्रति प्रेम-व्यवहार की दृष्टि से धनजय और विश्वनाथ सम्मत फिर चार भेद और किये हैं—अनुकूल, दक्षिण, धृष्ट और शठ । पति और उपपति नायकों का उल्लेख रूपगोस्वामी ने अपने 'उज्ज्वलनीलमणि' ग्रन्थ में भी किया है । शठता उपपति की नियत प्रकृति है और शठ नायक के अन्तर्गत ही भानुदत्त ने 'मानी' और 'चतुर' नायकों का उल्लेख किया है । उन्होंने इन्हें अलग भेदों के रूप में स्वीकार नहीं किया । चतुर नायक के दो भेद है—वाक् चतुर और चेष्टाचतुर । उत्तम, मध्यम और अधम वैशिक नायक के तीन भेद हैं । प्रोषण के आधार पर भी भानुदत्त ने तीन और भेद माने हैं—प्रोषित पति, प्रोषित उपपति और प्रोषित वैशिक । श्रीकृष्ण कवि ने अपने 'मन्दारमरन्द चम्पू काव्य' में दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य

---

* इन्हें भानुमिश्र नाम से भी स्मरण किया जाता है ।

१. डा० सत्यदेव चौधरी, भारतीय काव्यांग, पृ० १४६-१५० ।

नायक के तीन और भेद माने है। भानुदत्त ने इन्हें नहीं माना है, और उन्होने इसके लिए कोई कारण नहीं दिया।

उज्ज्वल नीलमणि (१६वीं शती)

रूपगोस्वामी कृत उज्ज्वल नीलमणि की जब रचना हुई उस समय देश भर में भक्ति की लहर राम और कृष्ण को उपास्यदेव मानकर प्रसरित हो रही थी। इनमें से भी उस युग में कृष्ण भक्ति का अधिक प्रचार हुआ। यह बडे खेद की बात है कि जिस राम-काव्य को तुलसी जैसे मेधावी कवि ने अपने काव्य कला-सौष्ठव से अलंकृत किया, उसका आगे समुचित प्रचार न हो पाया। इसका एकमात्र कारण हो सकता है रामचरित की गम्भीरता और मर्यादाशील नैतिकता। उस युग में रामचरित की अपेक्षा लोगों का मन कृष्ण के लोक-रंजनकारी रूप के प्रति अधिक आकृष्ट हुआ। रीतिकालीन भक्त कवियों ने कृष्ण और राधा के आध्यात्मिक अर्थ को न ग्रहण कर इन्हे साधारण नायक नायिका के रूप में ग्रहण किया। कृष्ण और राधा उस युग के शृंगारी नायक और नायिका बनें। 'जिस राधा और कृष्ण के प्रेम को इन भक्तों ने अपनी गूढ़ातिगूढ़ चरम भक्ति का व्यंजन बनाया उसको लेकर आगे के कवियों ने शृंगार की उन्मादकारिणी उक्तियों से हिन्दी काव्य को भर दिया।'[1]

यद्यपि रूपगोस्वामी की गणना रीति-काव्य परम्परा में नही की जाती तो भी उनके समय तक भक्तिकाव्य में भी शृंगारात्मक प्रवृत्तियों का प्रवेश हो चुका था यह निश्चित है। उनके अपने ग्रन्थ इस तथ्य के प्रमाण है। 'नाटक चन्द्रिका' में आठ अध्याय है और इसमें उन्होंने नाटकीय तत्वों --नायक, नादी, संधि, पताका, विदूषक, भाषा, वृत्ति और रस आदि का वर्णन किया है। 'उज्ज्वल नीलमणि' में उन्होंने वैष्णव भक्तों के इष्ट देव कृष्ण को आधार मानकर भक्तिपरक उज्ज्वल रस (मधुर रस) की स्थापना की है। वैष्णव भक्तों को इस ग्रन्थ पर बड़ा गर्व है। 'नायक-नायिका भेद जैसे शुद्ध शृंगार रस के प्रसंग को उन्होंने 'मधुर' रस के रूप मे ढाल कर नवीन पथ-प्रदर्शन तो किया है, साथ ही नायक-नायिका भेद से प्रभावित भक्त कवियों को शृगारी कवि कहाने के लांछन से मुक्त करने का प्रयास भी किया है।'[2] परवर्ती आचार्य नायक-नायिका भेद निरूपण में उज्ज्वल नीलमणि और रसमजरी से पर्याप्त प्रभावित है। उज्ज्वल नीलमणि ग्रन्थ की विशेषता यह है कि इसमें लेखक ने

---

१. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, संस्करण, १९५७, पृ० १५१।
२. डा० सत्यदेव चौधरी—भारतीय काव्यांग, पृ० १५२।

जहां भक्ति रस का सविस्तार निरूपण किया, है साथ ही अपने मत को पुष्ट करने के लिए कृष्ण को अपना माध्यम बनाया है। यही विशेषता इसे अन्य क ग्रन्थों से भिन्नता प्रदान करती है।

रूपगोस्वामी का नायक सम्बन्धी वर्गीकरण रूढ़ एवं परम्पराबद्ध होता हुआ भी मौलिक है। इन्होंने धीरोदात्तादि चार प्रकार के नायकों की परम्परा को स्वीकार तो किया है,[1] साथ ही उन चारों नायकों के पूर्ण, पूर्णतर और पूर्णतम तीन और भेदों की उद्भावना की है।[2] इस तरह नायक के बारह भेद हुए। इसके अतिरिक्त उन्होंने इनके पति और उपपति नायक के दो भेद और भी माने हैं।

---

१. उज्ज्वल नीलमणि, टीकाकार जीवगोस्वामी, निर्णय सागर प्रेस प्रति, १९३२।
गम्भीरो विनयी क्षन्ता करुणः सुदृढ़व्रतः।
अकत्थनो गूढगर्वो धीरोदात्तः सुसत्त्वभृत्॥
इत्येवंलक्षणो धीरोदात्तश्वासौ अनुकूलश्चेति सः। कुवलयेति।...पृ० ३२
विदग्धो नवतारुण्यः परिहासविशारदः।
निश्चिन्तो धीरललितः स्यात्प्रायः प्रेयसीवशः। इति [illegible]।
ममप्रकृतिक· बलेशसहनश्च विवेचकः। ...पृ० ३४
विनयादि गुणोपेतो धीरशान्त उदीर्यते॥...पृ० ३४।
मार्त्सयवानहंकारी मायावी रोषणश्चलः।
विकत्थनश्च विद्वद्‌भिधीरोद्धत्त उदाहृतः॥...पृ० ३५।

२. वही, पृ० ४०।
उदात्ताद्यैश्चतुर्भेदैस्त्रिभिः पूर्णतमादिभिः।
द्वादशात्मा चतुर्विंशत्यात्मा पत्यादिभ्रुग्मतः॥३८॥

३. वही, पृ० ९
पूर्वोक्त धीरोदात्तादि चतुर्भेदस्य तस्य तु।
पतिश्चोपपतिश्चेति प्रभेदाविह विश्रुतौ॥९॥
उक्तः पतिः स कन्याया यः पाणिग्राहको भवेत्।
यथा—रुक्मिणी युधि विजित्य रुक्मिणीं द्वारकामुपगम्य्यविक्रमी।
उत्सवोच्छलितपौरमण्डलः पुण्डरीकनयनः करेऽग्रहीत॥१०॥
× × ×
रागेणोल्लंघयन्धर्मं परकीयाबलार्थिना।
तदीय प्रेम वसतिर्बुधैरुपपतिः स्मृतः॥१५॥
अत्रैव परमोत्कर्षः शृंगारस्य प्रतिष्ठितः।

ये नायक फिर चार प्रकार के है—अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट ।[१] इस प्रकार इनके अनुसार नायक के ९६ भेद हुए ।

नायक के सहायक

रूपगोस्वामी ने पूर्ववर्ती आचार्यो की तरह नायक के सहायकों का भी विवेचन किया है । ये पांच है—चेट, विट, विदूषक, पीठमर्द और प्रियनर्म-सखा ।[२] विश्वनाथ आदि पूर्ववर्ती आचार्यों ने चेट का लक्षण नहीं दिया; किन्तु रूपगोस्वामी ने विट, विदूषकादि के साथ चेट[३] का भी लक्षण दिया है।

---

१. वही, पृ० ३०-३१ ।
श्रृंगाररससर्वस्वं शिखिपिच्छविभूषणम् ।
अंगीकृतनराकारमाश्रये भुवनाश्रयम् ।।१९।।
अनुकूलदक्षिणशठा धृष्टश्चेति द्वयोरथोच्यन्ते ।
प्रत्येकं चत्वारो भेदा युक्तिभिरमी वृत्या ।।२०।।
शाठ्यधाष्टर्थे परं नाट्यप्रोक्ते उपपतेरूभे ।
कृष्णे तु सर्व नायुक्त तत्तद्भावस्य संभवात् ।।२१।।
पृ० ३६-३७ (दक्षिण) ।
यो गौरवं भयं प्रेम दाक्षिण्यं पूर्वयोषिति ।
न मुंचत्यन्यचित्तोऽपि ज्ञेयोऽसौ खलु दक्षिणः ।।२९ ।।
नायिका स्वप्येनकासु तुल्योदक्षिण उच्यते ।
पृ० ३८ (शठ) ।
प्रियं वक्ति पुरोऽन्यत्र विप्रियं कुरुतेभृशम् ।
निगूढमपराधं च शठोऽय कथितो बुधैः ।३३।
पृ० ३९ (धृष्ट) ।
अभिव्यक्तान्यतरुणी भोगलक्ष्मापि निर्भयः।
मिथ्यावचनदक्षश्च धृष्टोऽयं खलु कथ्यते ।।३६।।

२. वही, पृ० ४१ ।
अथैतस्य सहायः स्युः पंचाधा चेटको विटः ।
विदूषकः पीठमर्द प्रियनर्मसखास्तथा ।।१।।
नर्मप्रयोगेनैपुण्यं सदा गाढ़ानुरागिता ।
देशकालज्ञता दाक्ष्यं रुष्टगोपीप्रसादनम् ।
निगूढ़मन्त्रनेत्याद्याः सहायाना गुणाः स्मृताः ।।२।।

३. वही पृ० ४१ ।
सन्धानचतुरश्चेटो गूढकर्मा प्रगलभधीः ।
स तु भंगुरभृंगारादिकः प्रोक्तोऽत्र गोकुले ।।३।।

कामशास्त्रीय नायक भेद

भारतीय काव्य-शास्त्र के इतिहास पर एक विहंगम दृष्टिपात करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इन शास्त्रीय आचार्यों ने अलंकार, रस, ध्वनि आदि काव्यांगों का जहां सांगोपांग, सूक्ष्मातिसूक्ष्म, गम्भीर एवं विशद निरूपण किया है वहां नायक-भेद-प्रकरण का वे उतने विस्तार से विवेचन नहीं कर पाये। धनंजय, विश्वनाथ आदि कुछ एक आचार्यों ने नायक-भेद के विवेचन में अभि-रूचि दिखाई तो है, परन्तु विषय का सर्वांगपूर्ण एवं अपेक्षित विस्तार उनके द्वारा हो सका हो, ऐसा नहीं माना जा सकता। इसका स्यात् कारण यही है कि नायक-नायिका-भेद-प्रकरण का सम्बन्ध मुख्य रूप से मानव की आदि यौन वृत्ति से है जो कि काव्यशास्त्र की अपेक्षा काम-शास्त्र का ही आधिकारिक विषय है। यद्यपि सैद्धान्तिक रूप से सभी आचार्यों ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के जीवन लक्ष्यों के गौरव को समान रूप से स्वीकार किया है, परन्तु व्यावहारिकता में सर्वमुख्यता आध्यात्मिक दृष्टिकोण की ही रही है और काम की चर्चा अश्लील ही समझी गई है। यद्यपि सामाजिकता एवं नैतिकता के अनुरोध ने विषय की परिसीमा के निर्माण में अवश्य योग दिया है, तो भी संस्कृत के आचार्यों ने अपने काव्यशास्त्रों में काम-शास्त्रीय नियमों का पालन न किया हो, ऐसी बात नहीं है। आधार रूप में इसके महत्व को उन्होंने सदैव स्वीकार किया है, केवल अश्लीलता के भय के कारण इसका सौन्दर्यतत्व मे अन्तर्भाव कर दिया गया है। उदाहरणार्थ, नाट्य-शास्त्र में भरत अभिनेय क्रिया-कलापों की चर्चा करते समय रंग-मंच के लिए त्याज्य दृश्यों के विषय मे स्थान-स्थान पर चेतावनी देते दिखाई देते है, तो भी नायक-नायिका-भेद के निरूपण के समय उनके समक्ष कामशास्त्रीय सिद्धान्तों का पुष्टाधार विद्यमान था, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। रुद्रट का नायक-नायिका-भेद-विवेचन भी स्पष्टतः काम-शास्त्रीय सिद्धान्तों से प्रभावित है। आचार्य भरत स्थान-स्थान पर चेतावनी देते गए हैं,[१] पर इतना तो निश्चित है कि नायक-नायिका-भेद सम्बन्धी प्रसंग के विवेचन के समय भरत के समक्ष कामशास्त्रीय सिद्धान्तो

---

१. नाट्यशास्त्र,

यदा स्वपेदर्थवशादेकाकी सहितोऽपि वा।
चुम्बनालिगनं चैव तथा गुह्यं च यद् भवेत् ॥२४।२८६॥
दन्तं नक्षक्षतं छेद्यं नीवीसंस्रनमेव च।
स्तनाधरविमर्द च रंगमध्ये न कारयेत् ॥२४।२८७॥

का पुष्टाधार विद्यमान था।[1]

संस्कृत के आचार्यों का कामशास्त्र के सिद्धान्तों से प्रभावित होना सर्वथा स्वाभाविक है कामशास्त्र की परम्परा नाट्यशास्त्र से बहुत प्राचीन है। संस्कृत में भरत प्रणीत नाट्यशास्त्र ही सर्वप्रथम ऐसा ग्रन्थ है जिसमें काव्यांगों का सांगोपांग विशद वर्णन मिलता है जब कि वात्स्यायन अपने कामसूत्र में काम-शास्त्र की पूर्ववर्ती आचार्य-परम्परा में नन्दिकेश्वर, उद्दालक के सुपुत्र श्वेतकेतु (औद्यालिक), बाभ्रव्य, दत्तक, चारायण, सुवर्णनाभ, घोटकमुख, गोनर्दीय, गणिका पुत्र और कुचुमार का उल्लेख करते है।[2] कामसूत्र के अन्त में वात्स्यायन ने बाभ्रव्य के कामशास्त्रीय सिद्धान्तों का यथाविधि निरूपण करते हुए उसके आभार को स्वीकार किया है।[3]

वात्स्यायन नायक के लिए 'नागर' शब्द का प्रयोग करते हैं और उन्होंने अपने कामसूत्र में नागर की जीवन-चर्या का बड़े विस्तार के साथ वर्णन भी किया है। 'नायक' शब्द का भी उन्होंने कामसूत्र में प्रयोग किया है परन्तु वह 'नागर' शब्द का ही पर्याय है। वर्ण-व्यवस्था में आस्था रखने के कारण वात्स्या-यन ने 'नागर' शब्द का प्रयोग संकीर्ण अर्थों में किया है। ग्राम की अपेक्षा नगर में रहने वाले व्यक्ति को उन्होने 'नागर' कहा है। उनका नागर सामन्त-शाही युग का नागर है जो भोगी और विलासी है, तथा शिष्ट एवं सभ्य व्यक्तियों की तरह आचरण करता है। धन उसे या तो उत्तराधिकार में मिलता है या वह स्वयं अर्जित करता है। समाज में उसकी कुछ ऐसी मर्यादा है जिसका पालन करना उसके लिए अनिवार्य है। सामाजिक सम्मेलनों अथवा गोष्ठियों में भाग लेना सोभापानक करना, उद्यानगमन करना या वनोत्सव मनाना, तथा जलोत्सव, झूलनोत्सव, मदनोत्सव, अशोकोत्सव, वनोत्सव आदि सामान्य उत्सवों में सम्मिलित होना—ये सभी बातें सामन्तवादी सभ्यता की प्रतीक है। सामान्य व्यक्तियों के साथ उसका उठना-बैठना, [illegible] प्रायः विवर्जित ही है। जब कभी अपनी मर्यादा के अनुकूल उसे कोई संगी न मिले तो वह अपने धन का प्रयोग कर अनुगामियों का दल बनाकर मर्यादा-भंग न

---

१. डा० सत्यदेव चौधरी, भारतीय काव्यांग, पृ० १६० ।

२. कामसूत्रम् (प्रथम भाग), लक्ष्मीवेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, सं०, संवत् १९९१, पृ० १०-१६, १।१।९-१२।

३. कामसूत्र,
बाभ्रवीयांश्च सूत्रार्थानागमय्य सुविमृश्य च।
वात्स्यायनश्चकारेदं कामसूत्रं यथाविधि ।।७।२।५६।।

होने दे ।

नागर के निवासगृह के बारे में वात्स्यायन लिखते है 'उसे किसी जलाशय के समीप अपना निवास बनाना चाहिए और उसमें कई कोठरिया बनानी चाहिएं। प्रत्येक कोठरी एक भिन्न व्यवहार के लिए नियत रहनी चाहिए। निवास के साथ एक बाग और ग्रीष्मालय भी होना चाहिए—बाहरी और भीतरी । भीतरी भाग स्त्रियों के रहने के लिए और घरेलू काम-काज के लिए होना चाहिए और बाहरी भाग में दरबार की बैठक होनी चाहिए । इस बाहरी भाग में विश्राम के लिए शैय्या भी होनी चाहिए जिस पर सुन्दर बेल-बूटे काढ़ी हुई चादर बिछी होनी चाहिए। उसके ऊपर स्वच्छ सफेद चादर बिछी होनी चाहिए। सिरहाने और पैताने की तरफ मसन्द पड़े रहने चाहिएं। इस शैय्या के पास एक छोटा सा पलंग होना चाहिए···। शैय्या के सिरहाने के ऊपर कमल के आकार का एक ताक होना चाहिए जिस पर कोई रंगीन चित्र हो या इष्ट देवता का चित्र रखा हो। इस ताक के नीचे दीवार के साथ सटा हुआ एक डेढ़ फ़ीट चौड़ा सा मेज़ रखा हो। इस मेज पर निम्नांकित सामग्रियां सजी हुई रखी रहनी चाहिएं—इत्र इत्यादि माला, मोम के रंगीन पात्र, इत्रदान, अनार के दाने और पान। पास ही फर्श पर एक पीकदान भी रहना चाहिए। एक वीणा, एक चित्र खींचने के लिए पटरी, रंगों सहित एक रंगदान और एक कूंची तथा कुछ ग्रन्थ भी शैय्या के समीप रहने चाहिएं। शैय्या के समीप गोल कुर्सी भी होनी चाहिए जिससे आरम्भ से उस पर सिर रख सके। पासे और शतरंज के तख्ते भी दीवार के सहारे रक्खे रहने चाहिएं। कोठरी के बाहर बरामदे में पालतू पक्षियों के पिंजड़े भी हाथी दांत के खूंटियों में लटकते रहने चाहिएं। बाहर किसी एकान्त स्थान पर लकड़ी काटने के औज़ार भी पड़े रहने चाहिए। ग्रीष्मालय में किसी वृक्ष की छाया में एक झूला पड़ा होना चाहिए। कुंजो में बैठने के लिए वेदियां बनी रहनी चाहिएं। जिन पर फूल गिर कर फैले हुए हों, जिससे आगन्तुक रमणी बाग की छटा देखकर मुग्ध हो जाय। इस तरह से एक नागर को विवाहगृह बनाना चाहिए।[१]

काम की पूर्ति अथवा यौनतृप्ति नर-नारी के परस्पर सम्भोग से सम्भव है। सम्भोग-सम्बन्धी सम्पूर्ण ज्ञान कराना ही कामशास्त्र का विषय है। कामसूत्र में वात्स्यायन ने जहां जननेन्द्रियों के आकार-रूप के आधार पर पुरुष और स्त्रियों के तीन-तीन भेदों का उल्लेख किया है वहां अश्लीलता आ गई है। इस

---

१. कामसूत्र, अनुवादक—आर० एन० उपाध्याय, पृ० ११-१२।

दृष्टि से उन्होंने पुरुषों को शश, वृष और अश्व इन तीन वर्गों में विभाजित किया है ।[१] इसी प्रकार मृगी, बड़वा तथा हस्तिनी नाम से स्त्रियो के भी उन्होंने तीन भेद किये है ।[२] 'अनंगरंग' में भी वात्स्यायन के समान ही पुरुष तथा स्त्रियों की जातियों का उल्लेख किया गया है । पुरुष जाति-भेद के ऐसे वर्गीकरण में जहां अश्लीलत्व आ गया है वहां भरत आदि नाट्यचार्यों का नायक सम्बन्धी वर्गीकरण ललित एव सौन्दर्ययुक्त है ।

वात्स्यायन कामोत्तेजना की दृष्टि से भी पुरुषो के तीन भेद स्वीकार करते है—मन्दवेग पुरुष, मध्यमवेग पुरुष तथा चण्डवेग पुरुष ।[३] वात्स्यायन के ऐसे वर्गीकरण का आधार यौन-भावना अथवा रति का आनन्द ही है ।

इसके अतिरिक्त वात्स्यायन गुणों की अधिकता अथवा न्यूनता के अनुसार नायक अथवा नागर के तीन भेद भी मानते है—उत्तम, मध्यम तथा अधम ।[४] नाट्यशास्त्र में नायक के इन तीनों भेदों का उल्लेख हुआ है ।[५] वस्तुतः नायक तो एक ही है और वह है पति । प्रच्छन्न नायक अथवा उपपति तो विशेष लाभ के लिए ही पर-स्त्रियों के साथ गमन करता है । वात्स्यायन प्रच्छन्न नायक को गौण महत्व ही देते है । प्रच्छन्न नायक अधिक कामुक नहीं होता परन्तु वह अपने छल-कपट के व्यवहार द्वारा पर-नारी से रति-सम्भोग का सुख लेता

१-२. कामसूत्र,

शशो वृषोऽश्व इति लिंगतो नायक विशेषाः ।
नायिका पुनर्मृगी वडवा हस्तिनी चेति ।।२।१।१।।
('रतिमंजरी' में पुरुष के चार भेदों का उल्लेख मिलता है—शश, मृग, वृष और अश्व, परन्तु कामसूत्र मे 'मृग' के अतिरिक्त शेष तीनों प्रकार के पुरुषो का वर्णन किया गया है ।)

३. कामसूत्र,

यस्य संप्रयोगकाले प्रीतिरुदासीना वीर्यमल्प क्षतानि च न सहते स मदन्वेगः ।।२।१।१३।।
तद्विपर्यये मध्यमचण्डवेगौ भवतः । तथानायिकाऽपि ।।२।१।१४-१५।।

४. कामसूत्र,

एक एव तु सार्वलौकिको नायकः । प्रच्छन्नस्तु द्वितीयः
विशेषलाभात् । उत्तमाधममध्यमता तु गुणागुणतो विद्यात् ।
तांस्तूभयोरपि गुणागुणान्वैशिके वक्ष्यामः ।।१।५।२८-३१।।

५. नाट्यशास्त्र, २५।५४ ।

है ।[१] कामसूत्र के छठे अधिकरण में वेश्यागामी वैशिक नायक का भी उल्लेख किया गया है ।[२] काव्यशास्त्र के आचार्यों ने जो पति, उपपति और वैशिक तीन प्रकार के नायकों का उल्लेख किया है,[३] उन पर कामशास्त्र का प्रभाव माना जा सकता है, क्योंकि इन तीनों नायकों के संकेत कामशास्त्रों में पहले से ही विद्यमान थे ।

स्पष्ट है कि कामसूत्र में दक्षिण, अनुकूल आदि नायकों के भी संकेत विद्यमान है जो नाट्याचार्यों के विवेचन का भी विषय रहे है । जिस 'पति' का उल्लेख वात्स्यायन ने किया है, वह 'अनुकूल' नायक ही तो है । सामाजिक धर्म एवं वर्ण-व्यवस्था में विश्वास होने के कारण अनुकूल नायक उनकी दृष्टि मे श्रेष्ठ है ।[४]

वात्स्यायन नायक में इन गुणों का होना अनिवार्य मानते हैं वह कुलीन हो, विद्याओं का ज्ञाता, सब स्थितियों का वेत्ता अर्थात् ननआनुनार परिस्थितियों को समझकर कदम उठाने वाला, कवि और आख्यान कहने में कुशल, वाणी में चतुर, प्रगल्भी, विविधि शिल्पों का ज्ञाता, बड़ों की सेवा करने वाला, उच्चाकाक्षी, उत्साही, दृढ़ भक्ति वाला, ईर्ष्यारहित, त्यागी, मैत्री-भाव बनाये रखने वाला, सभा-समाज अथवा गोष्ठियों में रुचि रखने वाला, नटों द्वारा किये गये अभिनय में रुचि रखने वाला, मिलकर खेलने वाला, स्वस्थ, सीधे शरीर वाला, शक्तिशाली, अमद्य-सेवी, पुसत्व से युक्त, स्नेहशील, स्त्रियों का प्रणेता एवं

---

१. कामसूत्र, पृ० १९५ ।
इति साहसिक्यं न केवलं रागादेव । इति परपरिग्रहगमनकारणानि ।।१।५।२१।।

२. कामसूत्र,
सर्वासां चानुरुप्येण गम्याः [illegible] पुनः सन्धानं लाभविशेगानुबन्धा अर्थानर्थानुबन्धसंशयविचाराश्चेति वैशिकम् ।।६।६।५५।।

३. भानुदत्त ने 'रसमंजरी' और रूपगोस्वामी ने 'उज्ज्वल नीलमणि' में इनका उल्लेख किया है ।

४. कामसूत्र,
रक्षन्धर्मार्थकामानां स्थितिं स्वां लोकवर्तिनीम् ।
अस्य शास्त्रस्य तत्वज्ञो भवत्येव जितेन्द्रियः ।।७।२।५८।।
तदेतत्कुशलो विद्वान्धर्मार्थाववलोकयन् ।
नातिरागात्मकः कामी प्रयुजानः प्रसिध्यति ।।७।२।५९।।

लालन-पालन करने वाला, स्वतन्त्र वृत्ति का आचरण करने वाला, सहृदय, अनिर्ष्यालु तथा निःशंक स्वभाव वाला हो।[1]

नायकोचित उपर्युक्त विशिष्ट गुणों के अतिरिक्त उन्होंने नायक तथा नायिका में कुछ एक साधारण गुणों का भी विवेचन किया है। बुद्धि, शील-स्वभाव, ऋजुता, कृतज्ञता, दूरदर्शिता, वाद-विवाद में न पड़ना, देशकाल अथवा वातावरण एवं परिस्थितियों को समझना, नागर के गुणों से युक्त होना[2] तथा दैन्य, अतिहास, परस्पर कलह, क्रोध, लोभ, अभिमान, चपलता आदि दोषों से रहित होना, पूर्वभाषित्व, कामसूत्र के ज्ञान में कुशलता तथा उसकी अंग-विद्याओं में प्रवीणता—ये नायक तथा नायिका के साधारण गुण हैं।[3] यदि नायक तथा नायिका मे इन साधारण गुणों का अभाव हो तो वे दोष हो जाते हैं।[4]

वात्स्यायन के नायकोचित विशिष्ट एवं साधारण गुणों के वर्णन से इस धारणा की और भी पुष्टि हो जाती है कि भरत, धनंजय आदि संस्कृत के

---

१. कामसूत्र, (द्वितीय भाग)।

महाकुलीनो विद्वान्सर्वसमयज्ञः कविराख्यानकुशलो
वाग्मी प्रगल्भो विविधशिल्पज्ञो वृद्धदर्शी स्थूललक्षो
महोत्साह दृढ़भक्तिरनसूयकस्त्यागी मित्रवत्सलो
घटागोष्ठीप्रेक्षणकसमाजसमस्या क्रीड़नशीलो नीरुजोऽव्यंग शरीरः
प्राणवानमद्यपो वृषो मैत्रः स्त्रीणां प्रणेता लालयिता च।
न चासां वशगः स्वतन्त्रवृत्तिरनिष्ठुरोऽनीर्ष्यालुरनवशंकी चेति नायकगुणाः ॥६।१।१२॥

२. स्पष्ट है कि 'नागर' समाज का कोई विशिष्ट गुण-सम्पन्न ही व्यक्ति होता है।

३. कामसूत्र (द्वितीय भाग), अधिकरण ६, अध्याय १, पृ० ६०१।

एतद्द्वयोरप्यसाधारणतामाह—
नायिका पुनर्बुद्धिशीलाचार आर्जवं कृतज्ञता दीर्घदूरदर्शित्व अविसंवादिता देशकालज्ञता नागरकता दैन्यातिहास पैशुन्यपरिवाद-क्रोध लोभस्तम्भचापलवर्जनं पूर्वाभिभाषिता [illegible] तदंगविद्यासु चेति [illegible] ॥१४॥

४. वही, पृ० ६०२।

गुणविपर्यये दोषाः ॥६।१।१५॥

नाट्याचार्यों का नायक-विवेचन कामशास्त्रीय नायक-वर्णन से पर्याप्त प्रभावित रहा है। वात्स्यायन के नायक-नायिका भेद के विवेचन का आधारभूत सिद्धान्त यौन-आनन्द है जिस की सिद्धि दोनों के प्रेम-भाव की अकृत्रिमता अथवा वास्तविकता पर निर्भर है। वात्स्यायन के अनुसार नायिका को चाहिए कि वह नायक के भावों, उसके प्रेम की स्वाभाविकता अथवा कृत्रिमता को जानने के हेतु अपने किसी विश्वस्त अनुचर, पादसवाहक, गायक अथवा 'विदूषक' आदि सच्चे सेवको को नियुक्त करे।[1] 'वैहासिक' शब्द का प्रयोग कामसूत्रकार ने 'विदूषक' के अर्थ में किया है। जिसे काव्याचार्यों ने रति-सम्बन्धों में नायक का अन्तरंग सखा बतलाया है। इन सेवकों के अभाव में वह पीठमर्द आदि को नियुक्त करे। इनसे वह नायक के शौच-अशौच, राग-अपराग, [illegible], दान-अदान आदि सब बातों को जान ले[2] अर्थात् नायक के मन में उसके प्रति कैसा प्रेम है? उसकी काम-प्रवृत्ति कैसी है—आदि मब बातों का ज्ञान नायिका को इन लोगों के द्वारा होता है। 'पीठमर्दादीन्' शब्द से कामसूत्रकार का भाव विट, मालाकार, गंधी और शौण्डिक आदि से भी है।[3] विदूषक, विट आदि पात्रों का भी नाट्याचार्यो ने नायक के सहायक प्रकरण मे उल्लेख किया है।

वात्स्यायन ने नायक-विवेचन प्रसंग में जहां तर्क शैली का प्रयोग किया है साथ ही उनका यह विवेचन मनोवैज्ञानिक भी है। यौन-वृत्ति का सम्बन्ध जहा मनुष्य के शरीर के बाह्यांगों से है, साथ ही उसके मानसिक तन्तुओं से भी है। सूक्ष्म दृष्टि से यदि देखा जाये, तो यौन-तृप्ति न केवल मानसिक सन्तुलन को बनाये रखने के लिए ही आवश्यक है वरन् शारीरिक स्वास्थ्य के लिए भी अनिवार्य है। आधुनिक मनोविज्ञानवेत्ता फ्रायड जिस मत के आज पोषक है, भारत में उसी का पोषण आचार्यो द्वारा आज से सहस्राधिक वर्ष पहले से ही हो चुका है, जिसका अपना इतिहास है, लम्बी परम्परा है। वात्स्यायन ने इस

---

१. कामसूत्र, (दूसरा भाग),
भावजिज्ञासार्थे परिचारकमुखान्संवाहकगायन—
वैहासिकान्गम्ये तद्भक्तान्वा प्रणिदध्यात् ॥६।१।२२॥

२. वही,
तदभावे पीठमर्दादीन् । तेभ्यो नायकस्य शौचाशौचं रागापरागो
सक्तासक्तातां दानादाने च विद्यात् ॥६।१।२३॥

३. वही (टीका भाग), पृ० ६०६ ।
पीठमर्दादिशब्दाद्विटमालाकारगन्धिक शौण्डिकादयः सहायाः ॥

ग्रन्थ में कामशास्त्रीय परम्परा एवं सिद्धान्तों तथा सृष्टि के एक शाश्वत तथ्य एवं सत्य का मनोवैज्ञानिक ढंग से उद्घाटन किया है। भले ही उनके समक्ष इस विवेचन का आधार विशिष्ट समाज ही था, तो भी इसी विवेचन-वैशिट्य में इनकी साधारणता की विशेषता निहित है जिससे समूचा काव्यशास्त्र उऋण नहीं हो सकता।

(१)

रस की दृष्टि से नायक

सर्वप्रथम भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में 'रस' का वैज्ञानिक दृष्टि से विवेचन किया। उनका कथन है 'विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद् रस-निष्पत्तिः।' अर्थात्, विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। 'संयोग' और 'निष्पत्ति' से भरत का क्या अभिप्राय था? इस विषय को लेकर बाद के आचार्यों में पर्याप्त वाद-विवाद हुआ। भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्ट तौत, भट्टनायक तथा अभिनव गुप्त आदि आचार्यों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से भरत के मत की व्याख्या की। इन सभी आचार्यों के मतों का उल्लेख करना प्रस्तुत प्रबन्ध का विषय नहीं है, फिर भी यह बात निःसंदेह है कि इन आचार्यों ने रस को ही काव्य का साध्य माना है। भरत मुनि रसवादी विचारधारा के प्रवर्तक कहे जा सकते है। 'रस' को इन आचार्यों ने नाटक का एक प्रमुख तत्व स्वीकार किया है। 'रसास्वादन' ही काव्य और नाटक का परम साध्य है। भरत मुनि ने आठ प्रकार के रस माने हैं—शृंगार, करुण, हास्य, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स तथा अद्भुत। धनंजय ने भी यही आठ रस माने हैं। 'शम' स्थायीभाव पर आधारित शान्त रस को उन्होंने नाट्यानुकूल नही माना।[१]

भरत, धनंजय आदि आचार्यों ने रस तत्व को दृष्टि में रखते हुए ही अपने ग्रन्थों में नायक भेदों का विवेचन किया है। 'उद्धत' नायक में 'नायकत्व' की प्रतिष्ठा के लिए उन्होंने 'धीरता' के गुण को समाविष्ट कर दिया है। नितान्त 'औद्धत्य' भाव सामाजिकों के रसास्वादन में बाधक है और चूंकि रस तक ले जाने वाला नायक ही होता है, इसीलिए नाटक में रस की दृष्टि से नायक के औद्धत्य में औचित्य भाव तभी मान्य होगा जब वह धीरत्व से युक्त हो।

---

१. दशरूपक, पृ० २१८,

रत्युत्साहजुगुप्साः क्रोधो हासः स्मयो भयं शोकः।
शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य ॥४-३५॥

रसों में शृंगार को 'रसराज' की संज्ञा दी गई है। इसका स्थायीभाव रति (प्रेम) है जो मानव जीवन का शाश्वत सत्य है। स्त्री-पुरुष के व्यवस्थित एवं सुखमय जीवन की समस्या सृष्टि की आदि समस्या है। पुरुष और प्रकृति का नित्य-मिलन इसी सृष्टि के श्रेयार्थ है। मानव जीवन के पुरुषार्थ-- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति स्त्री-पुरुष की पहेली सुलझा लेने से ही सम्भव है। अतः इसके रहस्यों को समझना सामाजिक जीवन को सरल बनाने के लिए अनिवार्य है। प्रकृतिगत सभी पदार्थों में राग की आकर्षण-महत्ता को स्वीकार किया गया है। मानवी सम्बन्धों में तो 'राग' का विशेष महत्व है। 'विभावानुभाव व्यभिचारी' सभी दृष्टि से शृंगार की श्रेष्ठता को आचार्यों ने माना है। दूसरे शब्दों में उन्होंने प्रेम की महत्ता को स्वीकार किया है। 'प्रेम एक दैवी विभूति है। यह संग्राहक है और संयोजक भी। मनुष्य के हृदय में जो मृदुल से मृदुल भाव उठ सकते हैं, प्रेम उन सब से बढ़कर है। उच्च से उच्च भाव प्रेम के पीछे-पीछे अनुधावन करते पाये जाते हैं। सृष्टि की रक्षा का श्रेय प्रेम को है। धर्म का बन्धन भी इसी के द्वारा परिपुष्ट है। चाहे उत्साह के बिना संसार का काम चल जाये, चाहे यह संभव हो कि संसार का कोई भी प्राणी शोक से संतप्त न हो, परन्तु प्रेम के बिना संसार-चक्र एक क्षण को भी नहीं घूम सकता। प्रणय-सूत्र में बंधकर स्त्री-पुरुष की संसार-यात्रा सृष्टि की विजय है। स्त्री-पुरुष की प्रीति में उच्छृंखलता हो सकती है। प्रीति बिगड़कर काम-वासना-परितृप्ति के रूप में एक पापाचरण हो सकती है, इसीलिए समाज में उसका नियन्त्रण किया गया है। विवाह इस नियन्त्रण का फल है। शृंगार-रस का स्थायी भाव प्रेम इसी वैवाहिक प्रेम का पोषक है।'[1] सुखमय सामाजिक व्यवस्था, एवं पुरुष के जीवन-विकास और उसके निर्माण में नारी-आकर्षण का विशेष रूप से हाथ रहा है। नारी-पुरुष का यौन सम्बन्ध इस आकर्षण का मुख्य कारण कहा जा सकता है। भारतीय साहित्य मे शृंगार-वर्णन की प्रचुरता का एक और कारण है, हमारे देश में प्रचलित काम-शास्त्र की लम्बी परम्परा, जिसका प्रभाव तत्कालीन जीवन-दृष्टि पर पड़ा। वात्स्यायन ने कामसूत्र में पूर्ववर्ती आचार्यों की दीर्घ परम्परा का उल्लेख किया है। कामसूत्र में जिस सहृदय 'नागर' का उल्लेख हुआ है वह सामन्तवादी विलासी प्रवृत्ति का ही परिचायक है। साहित्य भी इन जीवन-दृष्टियों से प्रभावित हुए बिना न रह सका। इसीलिए उस युग के आचार्यों ने रति-व्यवहार की दृष्टि

---

१. मतिराम ग्रन्थावली की भूमिका, पृ०, ३७।

से नायक-विवेचन करना वाछंनीय समझा । आचार्यों का शृंगार रस की दृष्टि से किया गया दक्षिण, शठ आदि नायकों का विवेचन भी 'विशिष्ट' की सीमा में ही गृहीत करने योग्य है । हां, कामशास्त्रीय नायक-विवेचन सर्वजन ग्राह्य माना जा सकता है ।

ललित, शान्त, उदात्तादि नायक नायिका के प्रति रति सम्बन्धों में भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न प्रकार का आचरण करते हैं । अतः रति-व्यवहार की दृष्टि से धनंजय ने नायक के चार भेद किये हैं—दक्षिण, शठ, धृष्ट और अनुकूल ।[1] विश्वनाथ[2] तथा रुद्रट[3] ने भी इन नायक भेदों का उल्लेख किया है । इस प्रकार नायक सोलह तरह के हो जाते हैं ।[4]

जब नायक पूर्व नायिका के प्रति उदासीन हो कर नयी नायिका में आसक्त हो जाता हैं, तब उनके प्रति अपने व्यवहारानुकूल आचरण से वह दक्षिण, शठ और धृष्ट प्रकृति का बन जाता है । दक्षिण नायक नवीन नायिका के प्रति आसक्त होते हुए भी पूर्व नायिका के प्रति सहृदय रहता है । किसी भी प्रकार से उसके प्रेम-व्यवहार में कमी नहीं आती । इस प्रकार दक्षिण नायक का एक से अधिक नायिका से प्रेम-सम्बन्ध रहता है । पूर्व नायिका भी दक्षिण नायक के ऐसे व्यवहार को बुरा नहीं मानती । किन्तु शठ नायक अपनी पत्नी का विश्वासपात्र बनता हुआ भी भय के कारण प्रच्छन्न रूप में अन्य नायिकाओं से प्रेम-चेष्टाएं करता है । इस तरह वह अपनी पत्नी को धोखे में रखते हुए दुष्टता का आचरण करता है, जब कि दक्षिण नायक जहां अन्य

---

१. दशरूपक, पृ० ८५-८८ ।

स दक्षिणः शठो धृष्टः पूर्वां प्रत्यन्यया हृतः ॥२-६॥
दक्षिणोऽस्यां सहृदयः गूढविप्रियकृच्छठः ।
[illegible] धृष्टोऽनुकूलस्त्वेकनायिकः ॥२-७॥

२. हिन्दी साहित्य दर्पण,

एषु त्वनेकमहिलासमरागो दक्षिणः कथितः ॥३-३५॥
कृतागा अपि निः[illegible] न लज्जितः ।
दृष्टदोषोऽपि मिथ्यावाक्कथितो धृष्टनायकः ॥३-३६॥
अनुकूल एकनिरतः शठोऽयमेकत्र बद्धभावो यः ।
दर्शितबहिरनुरागो विप्रियमन्यत्र गूढमाचरति ॥३-३७॥

३. काव्यालंकार, १२ वा अध्याय ।

४. दशरूपक, पृ० ८५ ।

नायकप्रकरणात्पूर्वां नायिकां प्रत्यन्ययाऽपूर्वनायिकयाऽपहृतचित्त-स्त्र्यवस्थो वक्ष्यमाणभेदेन स चतुरवस्थः । तदेवं पूर्वोक्तानां चतुर्णां प्रत्येकं चतुरवस्थत्वेन षोडशधा नायकः । (धनिक)

नायिकाओं के प्रति आसक्त होता हुआ भी स्व-पत्नी के साथ सहृदयपूर्ण व्यवहार करता है। वह उसके हृदय को ठेस नहीं पहुंचाना चाहता। इसके विपरीत शठ नायक बड़ी धूर्तता एवं चतुरता के साथ अन्य नायिकाओं के प्रति अपने प्रेम को प्रकट नहीं होने देता और अनुकूल बनने का प्रयत्न करता है। इस तरह वह अपनी पूर्व नायिका के साथ विश्वासघात करता है। भरत मुनि ने दक्षिण (ज्येष्ठ) नायक का लक्षण इस प्रकार दिया है—

मधुरस्त्यागी रागं न याति मदनस्य नापि वशमेति।
अवमानितश्च नार्या विरज्यते स तु भवेज्ज्येष्ठः ।।

ना० शा ।।२५।५७।।

अर्थात् ज्येष्ठ(दक्षिण)नायक मधुर, त्यागी, विषयों (राग) के प्रति अनासक्त, कामदेव के प्रभाव से अनभिभूत तथा तिरस्कृत होने पर नारी के प्रति उदासीन हो जाता है। विषयों के प्रति अनासक्त भाव से भरत का अभिप्राय दक्षिण नायक की पूर्व नायिका के प्रति ईमानदारी से है, जो इस नायक की प्रकृति के अनुकूल ही है।

जब नायक अंग-विकार के प्रकट होने पर भी पूर्व नायिका के सामने जाने में कोई संकोच नहीं करता और अपनी धृष्टता का परिचय देता है, तब वह धृष्ट नायक कहलाता है। पूर्व नायिका के साथ उसका पहले जैसा प्रेम नहीं रहता। अमरुक शतक का नायक इसी कोटि का है और अनुकूल नायक एक पत्नीव्रत धर्म का पालन करता है। ऐसा नायक स्वप्न में भी दूसरी नायिका से रति-सम्बन्ध के बारे में नहीं सोच सकता। उत्तररामचरित के राम इसी कोटि के है।[1]

(२)

संस्कृत में नाट्यशास्त्र के आचार्यो ने नायक-भेद का आधार माना था — नाटकीय कथावस्तु की पात्रता और श्रृंगार रस का आलम्बन-विभाव। कथावस्तु की पात्रता की दृष्टि से उन्होंने धीरोदात्तादि नायक भेद किये और श्रृगार रस के आलम्बन के रूप में अनुकूल, दक्षिणादि नायकों का विवेचन किया। श्रृंगारी नायकों का सर्वप्रथम विवेचन अग्निपुराण ने किया। हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में यद्यपि भक्ति की लहर जन-हृदयों को आंदोलित कर रही थी,

---

१. उत्तररामचरित,

'अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु यद्-
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिनन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमेप्येकं हि तत्प्राप्यते ।।

परन्तु फिर भी काव्य क्षेत्र में कवियों एवं आचार्यो को कृष्ण के मोहक और रंजनकारी रूप ने अधिक प्रभावित किया। 'रामभक्ति का जीवन भर प्रचार करने वाले हिन्दी-साहित्य के अमर महाकवि गो० तुलसीदास जी, यद्यपि मर्यादा मार्ग के उपासक थे, तथापि कृष्णकाव्य की श्रृंगार भक्ति से प्रभावित होकर उन्होंने भी भगवान् राम का यत्र-तत्र कुछ श्रृंगार लिखा है। इस प्रकार का वर्णन 'रामगीतावली' के उत्तरकांड में सरयू तट पर राम-सीता के विहार का कथन है। कृष्ण-काव्य की शैली में उनकी 'कृष्ण-गीतावली' तो प्रसिद्ध है ही।'[1] हिन्दी साहित्य के मध्ययुग में नायक भेद पर जो कुछ भी लिखा गया, उसमें नाटक के आधार का नितान्त अभाव था। इसका प्रमुख कारण था उस युग मे नाट्य-साहित्य एवं तत्सम्बन्धी सैद्धांतिक ग्रन्थों का अभाव। इसका कारण कुछ ही रहा हो यह एक असंदिग्ध तथ्य है कि मध्ययुग की दीर्घ अवधि में प्रायः नाटकों की रचना नहीं हुई। जो थोड़े-बहुत नाटकीय काव्य संवाद-शैली में प्राप्य है, वे नाटक-रचना के रूप में सफल नही माने जा सकते।

यह निर्विवाद है कि आचार्यो ने नायक-भेद की अपेक्षा नायिका-भेद को अधिक विस्तार दिया है। भानुदत्त ने काव्यशास्त्रीय परम्परा में पति, उपपति और वैशिक नाम से जो नायक के भेद किये थे, परवर्ती संस्कृत के आचार्यो के ग्रन्थों में वे अधिक प्रचलित न हो सके, परन्तु हिन्दी के रीति-ग्रन्थों में इन्हें यथोचित महत्व मिला। रहीम, मतिराम, पद्माकर आदि आचार्यो ने इन भेदो को स्वीकार किया है। अनुकूल, दक्षिणादि श्रृंगारी नायकों का प्रचलन हिन्दी के रीति-ग्रन्थों में अधिक रहा है। कृष्ण-भक्त कवि नन्ददास ने 'रस मंजरी' में धृष्ट, शठ (सठ) आदि चार प्रकार के नायकों का उल्लेख किया है।[2] केशव ने 'रसिक प्रिया' के द्वितीय प्रभाव में नायक के सामान्य लक्षण देकर अनुकूलादि चारों नायकों के लक्षण दिये है।[3] अग्निपुराणकार ने इन चारों भेदों का

---

१. प्रभुदयाल मीतल, ब्रजभाषा साहित्य का नायिका भेद,
द्वितीय संस्करण, पृ० २४।

२. रसमंजरी, नन्ददास ग्रन्थावली, स० ब्रजरत्नदास, पृ० १५९-१६०
नाइक बरनें चारि प्रकार। प्रमदा प्रेम बढावनहार ।।
एक धृष्ट, इक सठ, एक दच्छिन, इक अनुकूल सुनहि अब लच्छन ।।

३. रसिक प्रिया, टीकाकार विश्वनाथप्रसाद मिश्र, सस्करण २०१५
अभिमानी त्यागी तरुन, कोक कलानि प्रबीन।
भव्य छमी सुन्दर धनी, सुचि रुचि सदा कुलीन ।।२।१।।
ये गुन केसव जासु में, सोई नायक जानि।
अनुकूल दछ सठ धृष्ट पुनि, चौविधि ताहि बखानि ।।२।२।।

विवेचन धीरोदात्तादि के अन्तर्गत किया है। 'भानुदत्त ने अपनी 'रस मंजरी में पति तथा उपपति का विभाजन अनुकुल आदि में माना है और इसक अनुसरण शिंगभूपाल तथा रूपगोस्वामी ने किया है। परन्तु हिन्दी में सम्भवत केवल दास इस मत के हैं। अन्य सभी एकमत हैं कि यह चार प्रकार का अनुकूल आदि का विभाजन केवल पति के सम्बन्ध में लागू हो सकता है।'[१]

भिखारीदास ने 'शृंगार निर्णय' और 'रस सारांश' में नायक-भेद का विवेचन किया है। उनके अनुसार तरुण, सुघड़, सुन्दर, सुचित्त एवं सहृदय व्यक्ति नायक कहलाता है। इसके तीन भेद है-साधारण, पति और उपपति।[२] साधारण से उनका अभिप्राय वैशिक से है।[३] उनके अनुसार नायक सुन्दर, गुणी, ज्ञानी, धनी, धैर्यशील, योद्धा, दानी और दयालु होना चाहिए।[४] दास ने धीरोदात्तादि चार प्रकार के नायकों का उल्लेख नहीं किया। पति, उपपति नायकों के उन्होंने अनुकूल, दक्षिणादि चार-चार भेद माने है।[५] दास ने वचन-चतुर तथा क्रिया-चतुर नायकों का विवेचन दक्षिण नायक के अन्तर्गत कर दिया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने मानी और प्रोषित नायक के दो भेद और भी माने है।[६] भानुदत्त ने मानी और चतुर नायकों का उल्लेख शठ नायक के अन्तर्गत किया है। दास ने उत्तम, मध्यम और अधम नायक के तीन और भेद किये है।[७]

---

१. राजेश्वर गुरु, हिन्दी साहित्य कोश, (नायक-भेद), पृ० ३९९।

२. शृंगार-निर्णय, पृ० २,

तरुन सुघर सुन्दर सुचित नायक सुहृद बखानि।
भेद एक साधारनै पति उपपति पुनि जानि।

३. रस सारांश, प्र० ३९,

पति उपपति बैंसिक त्रिबिध नायक कहैं सुरीति।

४. रस सारांश, पृ० ३८,

छबि मैं गुन मैं ग्यान मैं धन मैं धीर धुरीन।
नायक रन मैं रसनि मैं दान दया लौ लीन।

५. शृंगार निर्णय—पृ० ४,

अनुकूल दच्छिन सठो धृष्ठिति चोरा चार।
इक नारी सो प्रेम जिहि सो अनुकूल बिचार।

६. रस सारांश—पृ० ४२,

मानी ठानै मान जो विरही प्रोषित जानि।
वचन बिदग्धा क्रय चतुर नायक चतुर बखानि।

७. वही, पृ० ४४,

उत्तम मनुहारिन करै मानै मानिनि संक।
मध्यम समयी अधम निजु अरथी निलजु निसंक।

इसके अतिरिक्त 'रससारांश' में उन्होंने नायक के सखाओं—पीठमर्द, विट, चेट और विदूषक का भी विवेचन किया है। दास के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका यह नायक-भेद विवरण भानुदत्त की 'रसमंजरी से प्रभावित है। अकबर साह 'बड़े साहब' ने शृंगार-मंजरी' में भी शृंगार के आलम्बन विभाव के अन्तर्गत तीन प्रकार के नायक माने है—पति, उपपति, तथा वैशिक और साथ ही नायक के सामान्य गुणों का भी उल्लेख किया है—इसके अतिरिक्त इन्होंने छः प्रकार के और नायक भी माने है—अनुकूल, दक्षिण, धृष्ट, शठ, मानी और चतुर। अकबर साह ने भानुदत्त की तरह मानी और चतुर नायक का विवेचन शठ नायक के अन्तर्गत स्वतन्त्र रूप से किया है। शठ नायक के दो भेद इन्होंने और माने है—प्रच्छन्न-शठ और प्रकाश शठ। इसके अतिरिक्त इन्होंने उत्तम, मध्यम और अधम नायक के तीन और भेदो का भी उल्लेख किया है। प्रोषित और अमिलित नायकों का भी विवेचन अकबरसाह ने किया है।[1]

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि आचार्यो के नायक-भेद विवेचन के मुख्यत: ये वैज्ञानिक आधार थे—

१. कथावस्तु की पात्रता की दृष्टि से नायक के चार भेद—धीरोदात्त, धीरललित, धीरशान्त तथा धीरोद्धत।
२. रति-व्यवहार की दृष्टि से—अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट। इसी वर्ग के अन्तर्गत मानी, चतुर (वाक् चतुर और क्रिया चतुर) तथा प्रोषित नायकों को रखा जा सकता है।
३. सामाजिक सम्बन्ध की दृष्टि से—पति, उपपति और वैशिक।
४. प्रकृति के आधार पर उत्तम, मध्यम, तथा अधम।

कथानक के आधार पर नायक के भेद

आधिकारिक नायक, प्रासंगिक नायक तथा पताका नायक

नाटक में अनेक पात्रो की योजना की जाती है। इनमे से अधिकांश पात्र नायक की फल-सिद्धि में सहायक होते हैं। नाटक के इतिवृत्त का महत्वपूर्ण अंश है उसकी परिणति अथवा फल (अधिकार)। नाटक के कथा-तत्व में जो फल का अधिकारी होता है, उसे मुख्य पात्र कहा जाता है। शास्त्रीय शब्दावली में

---

१. देखिए, (नायक-भेद) शृंगार मंजरी (ब्रजभाषा रूपान्तरकार—कवि चिन्तामणि, सं० डा० भागीरथ मिश्र, संस्करण, १९५६, पृ० ४४५-४७३।

इसे ही नायक कहा गया है। नाटक में सर्वत्र इसी मुख्य पात्र का कथानक ही प्रधान रहता है, अन्य पात्रों का गौण। मुख्य पात्र अथवा नायक के इतिवृत्त के विकास मे नाटककार को इन गौण पात्रों के कथा-प्रसंगों से यथोचित सहायता लेनी पड़ती है। इनके अभाव में नायक के कथानक को न तो कोई रूप-आकार ही मिल पाता है और न ही नाटककार को स्वनिर्दिष्ट उद्देश्य में सफलता ही मिल सकती है। गौण पात्रों को नाटक में स्थान देने से जहां नाटक के कार्य एवं कलेवर का विस्तार होता है वहां साथ ही उसमें जीवन की विविधता को अंकित करने में भी नाटककार समर्थ होता है। अतः नाटक में गौण पात्रों की उपस्थिति वस्तु-विकास, चरित्र-चित्रण और संघर्ष की दृष्टि से अनिवार्य है।

पात्रों की महत्ता की दृष्टि से नाटक की कथावस्तु के दो भेद हैं— आधिकारिक तथा प्रासंगिक।[1] फल पर स्वामित्व रखना अधिकार कहलाता है और उस फल का भोक्ता अधिकारी। चूंकि नायक को फल-प्राप्ति तक पहुंचाना ही नाटककार को अभीष्ट है। अतः नाटक में फल-भोक्ता अथवा नायक की फल की प्राप्ति तक का कथा-निर्वहण आधिकारिक कथा कहलाता है। यही नाटक की मुख्य अथवा मूल कथा है और इस कथा के मुख्य पात्र को नायक संज्ञा से अभिहित किया गया है। जिन कथा-प्रसंगों की योजना आधिकारिक कथानक के विकास एवं फल-निवृत्ति के लिये की जाती है, वे प्रासंगिक कहलाते हैं। चूकि नाटकीय कथा-व्यापार में इस कथा का स्वतन्त्र महत्व नहीं रहता और मुख्य कथानक के नायक की फल प्राप्ति के पूर्व ही इसका अवसान हो जाता है। इसलिए इसे गौण कथा भी कहते हैं। इसके दो भेद है—पताका तथा प्रकरी। जो कथा प्रसंग बीच में से उठकर सानुबन्ध रूप से चलती रहती है उसे पताका कथानक कहते है[2] और इस कथा के नायक को 'पताका-नायका कहा गया है। यह पात्र नायक का प्रधान सहायक होता है। यह चतुर बुद्धिमान होने के साथ साथ प्रधान नायक का अनुचर तथा भक्त होता है। इसमें नायकोचित गुण अपेक्षाकृत नायक से थोड़े ही कम रहते हैं। नायक का मुख्य सहायक होने के

---

१. दशरूपक, पृ० ७,
वस्तु नेता रसस्तेषा भेदकः वस्तु च द्विधा।
तत्राधिकारिकं मुख्यमङ्गं प्रासंगिकं विदुः ॥१-११॥

२. दशरूपक, पृ० ८,
सानुबन्धं पताकाख्य प्रकरी च प्रदेशभाक् ॥१-१३॥

कारण ही इसे 'पीठमर्द' भी कहा जाता है।[1] नाटक में पताका नायक का व्यक्तित्व भी प्रधान नायक की अपेक्षा कम महत्वपूर्व नहीं होता। अन्तर दोनों में यह है कि प्रधान नायक फल-सिद्धि का अधिकारी होता है और पताका नायक नहीं। रामायण की कथा में राम प्रधान नायक है और सुग्रीव तथा विभीषण पताका नायक। दशरूपककार के मत में प्रधाननायक तो एक ही होता है परन्तु पताकानायक एक से अधिक भी हो सकते हैं। यथा 'हनुमन्नाटक' में हनुमान सुग्रीव तथा विभीषण। जो कथा प्रसंग पानी के बुलबुले की तरह नाटक मे उठता है और अपना उभार, महत्व तथा चमत्कार दिखाकर नाटकीय पात्र की तरह रंगमंच से चला जाता है, अथवा जिसकी कथा एक ही प्रदेश तक सीमित रहती है, उसे प्रकरी कथानक कहते हैं।[2] प्रकरी कथानक का कोई नायक विशेष नहीं रहता। प्रकरी कथानक के पात्र तो सामान्य पात्रों का ही महत्व रखते हैं।

'पताका नायक' को नायकत्व की दृष्टि से कहां तक नायक माना जाये तथा पताका के साथ 'नायक' शब्द जोड़ना कहां तक उचित है, यह प्रश्न विचारणीय है। धनंजय ने प्रकरी कथानक के पात्रों को प्रकरी नायक नहीं माना। नाटक के कथा-विकास में प्रकरी प्रसंगों का अपना महत्व है। राम कथा से सम्बन्धित नाटक में जटायु आदि पात्रों का कथा-वस्तु के विकास में अपना स्थान है। पताका कथानक के पात्र प्रकरी के पात्रों की अपेक्षा महत्व-पूर्ण अवश्य हैं, और वे नायक की फल-सिद्धि में सहायक भी होते है, किन्तु उन्हें अलग से नायक की संज्ञा प्रदान करना कुछ समीचीन प्रतीत नहीं होता। ऐसा लगता है कि दशरूपककार ने नायक शब्द को विशिष्ट अर्थो में प्रयुक्त न कर सामान्य अर्थो (नायक के पात्र के रूप में) में प्रयुक्त किया है। परन्तु यह विचारणीय है, क्योंकि नायक का 'नायकत्व' उसे विशिष्ट बना ही देता है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ 'नायकादि' शब्द का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं 'आलम्बनो नायकादिस्तमालम्ब्य रसोद्गमात् ॥३।२६॥ आदि शब्दान्नायिका-प्रतिनायकादयः।' यहां विश्वनाथ आदि शब्द में नायिका, प्रतिनायक, पताका नायक आदि का अन्तर्भाव करते हैं। स्पष्ट है कि उन्होंने यह प्रयोग प्रचलित

---

१. वही, पृ० ६० ।

पताकानायकस्त्वन्यः पीठमर्दो विचक्षणः ।
तस्यैवानुचरो भक्तः किंचिदूनश्च तद्गुणैः ॥२।८॥

२. दशरूपक, पृ० ८ ।

प्रकरी च प्रदेशभाक ॥१।१३॥

अर्थों में ही किया है और यहां 'नायकादि' से उनका अभिप्राय नायक तथा उससे इतर पात्रों से भी है जिनके सहारे साधारणीकरण द्वारा सामाजिकों को रसास्वादन प्राप्त होता है। 'आदि' शब्द से अन्य पात्रों का आभास स्पष्ट है, परन्तु नायक का प्रयोग तो विशिष्ट ही रहता है। यदि उससे सामान्य पात्रों का भी बोध होने लगे तो फिर नायक के नायकत्व की रक्षा कैसे हो सकती है? नाटक में नायक एक ही रहता है अथवा कई बार रहता ही नहीं है (नायक सम्बन्धी आधुनिक दृष्टिकोण)। अतः कथावस्तु में पात्रों की महत्ता को ध्यान में रखते हुए यदि हम पताका अथवा प्रकरी नायक मान लें, तो तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता। वस्तुत. नाटक में नायक वही हो सकता है जिसका व्यक्तित्व महत्वपूर्ण एवं प्रभावशाली हो, जो स्वतः ही पाठकों एवं सामाजिकों को अपनी ओर आकर्षित करने की क्षमता रखता हो और सामाजिकों की सत्प्रेरणा एवं सहानुभूति का पात्र हो। और चूंकि प्रकरी-कथानक में ऐसा कोई भी प्रभावशाली पात्र नही होता जिसका व्यक्तित्व नायकत्व के निकटस्थ हो और जो सामाजिकों के हृदयों को आकर्षित एवं प्रभावित कर सके, अतः उसमें ऐसा कोई पात्र—जिसे हम नायक की संज्ञा दे सकें, नहीं हो सकता।

साहित्यदर्पणकार ने भी प्रकरी नायक माना है।[1] उनके अनुसार प्रकरी कथानक अल्पदेश व्यापी होता है और इसका नायक भी हुआ करता है। मुख्य नायक के फल के अतिरिक्त प्रकरी नायक का अपना और कोई फल नही होता। भरत मुनि ने भी प्रकरी-नायक का उल्लेख किया है।[2] नाट्यदर्पणकार भी प्रकरी नायक का कृत्यानुष्ठान भरत मुनि की तरह अपने लिए नहीं मुख्य नायक के हेतु मानते हैं। वह नायक का सहकारी पात्र-विशेष है।[3]

१. हिन्दी साहित्यदर्पण, पृ० ४००-४०१।

गर्भे सन्धौ विमर्शे वा निर्वाहस्तस्य जायते।
प्रासंगिकं प्रदेशस्थं चरितं प्रकरी मता ॥६।६८॥
प्रकरी नायकस्य स्यान्न स्वकीयं फलान्तरम्।

२. नाट्यशास्त्र,

फलं प्रकल्प्यते यस्याः परार्थमैव केवलम्।
[illegible] प्रकरीति विनिर्दिशेत् ॥१६।२५॥

'प्रकरी' चेत् क्वचिद् भावो चेतनोऽन्य प्रयोजनः।
क्वचिद् भावी वृत्तैकदेशव्यापी अन्यस्य मुख्यनायकस्यैव प्रयोजनं यस्य स चेतनः सहकारी प्रकर्षेण स्वार्थानपेक्षया करोतीति प्रकरी।'

नाटक में वस्तु अथवा घटना-नियोजन के आधार पर पताका-नायक तथा प्रकरी नायक की मान्यताएं कुछ अधिक तर्कसंगत प्रतीत नहीं होतीं। नाटक में कई पात्र होते हैं। उनमें से जो मुख्य पात्र होता है, जिसके चारों ओर नाटक का समूचा इतिवृत्त घूमता रहता है जो नाटककार तथा सामाजिकों के लिए मुख्याकर्षक केन्द्र होता है और जो नाटक के फल का भी अधिकारी होता है, वही नाटक में नायक कहलवाने का अधिकारी हो सकता है। नाटक में बहुत सी घटनाएं रहती हैं। यह निश्चित है कि उनमें से कुछ महत्वपूर्ण होती है और कुछ गौण, परन्तु मात्र वस्तु के इस भेद से हर प्रासंगिक कथा का पताका तथा प्रकरी की तरह एक या एक से अधिक नायक स्वीकार कर लिये जायें, तो नाटक में नायकों की सेना बन जायगी। और नाटक के वास्तविक नायक को खोजना कठिन हो जायगा। सभी पात्रों को नायक की संज्ञा दे देने से नायक-सम्बन्धी विशिष्ट सिद्धान्त का कोई महत्व ही नहीं रह जाता। पताका तथा प्रकरी के पात्रों को नाटक के महत्वपूर्ण पात्रों के रूप में अवश्य स्वीकार किया जा सकता है परन्तु उन्हें नायक की संज्ञा देना कुछ उचित प्रतीत नहीं होता।[१] यह सर्वमान्य है कि नाटक में नायक एक ही रहता है और वह गौरव आधिकारिक इतिवृत्त के प्रमुख पात्र को ही दिया जा सकता है। दूसरे, भारतीय नाट्याचार्यों के अपने दृष्टिकोण से भी यह मान्यता अपुष्ट ही रहती है। भरत, धनंजय तथा विश्वनाथ आदि आचार्यों ने नायक को फल-प्राप्ति का अधिकारी माना है। प्रकरी के नायक को फल का अधिकारी उन्होंने घोषित नहीं किया। पताका नायक को भी सफलता गर्भ अथवा विमर्श संधि में ही प्राप्त हो जाती है निर्वहण संधि में नही,[२] जबकि इन आचार्यों के अपने अनुसार नायक को फल-सिद्धि निर्वहण संधि में प्राप्त होती है। स्वयं धनंजय ने पताका-नायक का और विश्वनाथ ने पताका तथा प्रकरी नायकों का उल्लेख ललित, शांतादि की तरह स्वतन्त्र रूप से न कर नायक के सहायकों के रूप में ही किया है।

---

१. नाट्यदर्पणकार ने पताका और प्रकरी नायको का विवेचन 'गौण नायक' के रूप में किया है।

२. हिन्दी साहित्य दर्पण, पृ० ४००।४०१।

व्यापि प्रासंगिकं वृत्तं पताकेत्यमिधीयते।
पताकानायकस्य स्यान्न स्वकीयं फलान्तरम् ॥६।६७॥
गर्भे सन्धौ विमर्शे वा निर्वाहस्तस्य जायते।
प्रासंगिकं प्रदेशस्थं चरितं प्रकरी मता ॥६।६८॥
प्रकरी नायकस्य स्यान्न स्वकीय फलान्तरम्।

ऐसी स्थिति में पताका तथा प्रकरी के इन पात्रों को नायक की संज्ञा देना कहां तक उचित है ? यही नहीं प्रासंगिक इतिवृत्त को आधिकारिक कथानक का सहायक माना गया है और प्रासंगिक पात्रों को मुख्य कथानक के नायक का सहायक। अतः इस दृष्टि से भी प्रासंगिक पात्रों को जो नायक के सहकारी चरित्र हैं, नायक नाम नहीं दिया जा सकता। अतः यह स्पष्ट है कि धनंजय आदि आचार्यों ने पताका आदि के सम्बन्ध में जो नायक-शब्द का प्रयोग किया है वह विशिष्ट अर्थों में नहीं, केवल सामान्य अर्थों में ही किया है। बाद के विद्वानों ने इसे (नायक शब्द को) रूढ़ अर्थों में ग्रहण करना शुरू कर दिया। यदि ऐसी बात न होती तो धनंजय पताका नायक के लिए 'पीठमर्द' शब्द का प्रयोग न करते।

भारतीय नाटकों में नायक की आदर्श परिकल्पना

प्राचीन भारतीय नाटक साहित्य में नायक के प्रति आचार्यों का दृष्टिकोण विशिष्ट एवं आदर्शमय रहा है। इसका सब से बड़ा कारण कहा जा सकता है, उस समाज की युग-चेतना। किसी भी कलाकृति का अध्ययन तब तक अधूरा ही माना जायगा जब तक कि हम उसे समसामयिक युग-चेतना के विशिष्ट परिवेश में रखकर पर्यवेक्षण का प्रयास न करें। संस्कृत साहित्य में यद्यपि महाकाव्यों की तरह ही नाटक-साहित्य को समान महत्व दिया गया और उसे तद्युगीन समाज के आभिजात्य अथवा सामन्तवादी वर्ग में विशिष्ट लोकप्रियता भी मिली, तो भी संस्कृत नाटक सामान्य वर्ग के लोगों तक न पहुंच सका। वर्ण-व्यवस्था की जटिलता के कारण शूद्रादि[1] निम्न वर्ग के व्यक्तियों को वैदिक साहित्य पढ़ने की अनुमति हमारे समाज ने नहीं दी थी और इसीलिए स्वयं भगवान् ब्रह्मा ने इन्द्रादि देवताओं की प्रार्थना पर सार्वजनिक प्रयोग के लिये नाट्यवेद की रचना की, जिससे संसार के सभी प्राणियों का मनोरंजन हो सके।[2] सैद्धान्तिक रूप से भले ही भरत का यह आदर्श महान् था परन्तु व्यावहारिकता में निश्चित ही वह संकीर्ण बन गया। संस्कृत का नाटक साहित्य

---

१. नाट्यशास्त्र,
   न वेद व्यवहारोऽयं संश्राव्यः शूद्रजातिषु।
   तस्मात्सृजापरं वेदं पंचमं सार्ववर्णिकम् ॥१।१२॥

२. नाट्यशास्त्र,
   वेद विद्येतिहासानामाख्यानपरिकल्पनम्।
   विनोदकरणं लोके नाट्यमेतद्भविष्यति ॥१।१२०॥

इस बात का साक्षी है। यही नहीं, भरत स्वयं जब अपने नाट्यशास्त्र मे नायक के उदात्त, ललितादि भेदों की परिकल्पना करते है, तो नाट्योत्पत्ति की सार्वजनीनता एवं सार्वभौमिकता के उद्देश्य को भूल जाते है। नाटक में पात्रों की भाषा पर लगाया हुआ प्रतिबन्ध भी इसी का समर्थन करता है। इसके अनुसार नाटक के कुछ एक विशिष्ट वर्ग के पात्र बोल-चाल में संस्कृत का प्रयोग करते हैं और दूसरे प्राकृत का। इनके लिए संस्कृत का प्रयोग वर्जित है। संस्कृत नाटकों में प्राय: इसी नियम का पालन किया गया है, परन्तु इस तरह न तो सारे सामाजिकों का रसास्वादन ही हो सका; जो कि उस समय नाटक का प्रमुख उद्देश्य था और न ही नाटक सार्वजनीनता की भूमि तक पहुंच पाया। उसकी लोकप्रियता सामन्तवर्ग के लोगों तक ही सीमित रह सकी। इन्ही कारणों से नाटककारों एवं नाट्याचार्यों की कला-सम्बन्धी मान्यताएं विशिष्ट बन गई।

समाज की सामन्ती-व्यवस्था में राजा को सर्वोपरि स्थान प्राप्त था, इसी-लिए नाटकों में नायक के लिए उसे ही उपयुक्त समझा गया। यही कारण है कि नाटक में जन-सामान्य के जीवन को चित्रित करने का अवसर नहीं मिला। सामान्य व्यक्ति सर्वगुण सम्पन्न होने पर भी नाटक में नायक के गौरव को न प्राप्त कर सका।

नाटक के वस्तु-सम्बन्धी प्रतिबन्धों ने भी नायक-सम्बन्धी दृष्टिकोण को विशिष्ट बनाने में योग दिया है। नाट्याचार्यों ने संस्कृत नाटकों के कथानक के प्रख्यात, उत्पाद्य तथा मिश्र नाम से तीन भेद किये हैं और सहृदय सामाजिको में रसोद्बोधन को ही नाटक का सर्वोपरि उद्देश्य स्वीकार किया है। इसी दृष्टि से उन्होंने उदात्त पात्रों की कल्पना की और नाटककारों ने उस परम्परा का पालन किया। संस्कृत नाटक-परम्परा में प्रख्यात इतिवृत्तबद्ध नाटकों मे चरित्र सम्बन्धी उदात्त एव आदर्शोन्मुख प्रवृत्ति रही है। इस परम्परा मे कालिदास का 'शकुन्तला', भवभूति का 'उत्तररामचरित' आदि नाटक आते हैं। दूसरी प्रवृत्ति संस्कृत नाटकों में सामाजिक यथार्थ की है, जिसमें सामान्य जनता की वास्तविकता स्थिति का उद्घाटन रहता है। रूपक के दस भेदों मे से प्रकरण में इसी यथार्थोन्मुख प्रवृत्ति का स्वरूप मिलता है। प्रकरण का नायक मन्त्री, ब्राह्मण अथवा वाणिक् में से कोई भी हो सकता है, जिसका धीरशान्त होना अनिवार्य है। भरत, धनंजय, शारदातनय तथा विश्वनाथ प्रकरण का नायक धीरप्रशान्त ही मानते है, परन्तु नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र गुणचन्द्र उसका नायक धीरप्रशान्त के साथ-साथ धीरोदात्त भी मानते हैं। संस्कृत नाटक-साहित्य में शूद्रक विरचित 'मृच्छकटिक' नाटक इसी यथार्थोन्मुख परम्परा मे

आता है, जिसमें लेखक ने सामाजिकता की कठोर भूमि को अपना आधार बनाया, चरित्रगत दिव्यता को इसमें स्थान नहीं दिया गया। इसमें अवन्ती के निर्धन ब्राह्मण चारुदत्त और गणिका वसन्तसेना की प्रेम-कथा है। परन्तु अन्य नाटकों के कथानकों का स्रोत प्रायः रामायण और महाभारत रहने से उनमें उदात्त पात्रों के ही जीवन-चरित को स्थान मिला है। 'रामायण तथा महाभारत दोनों परवर्ती संस्कृत साहित्य तथा अन्य देश्य भाषा साहित्यों के प्रेरक रहे है। बाद के कवियों ने न केवल शैली की दृष्टि से ही अपितु विषय की दृष्टि से भी इन दोनों काव्यों से प्रेरणा और सामग्री प्राप्त की। संस्कृत के अनेक काव्य एवं नाटक राम कथा तथा उसमें वर्णित अनेक आख्यानोपाख्यानों ने भी बाद के कवियों को विषय-वस्तु प्रदान की है।'[१]

सामन्ती व्यवस्था में राजा के अतिरिक्त समाज के तथाकथित शिष्ट एवं भद्र पुरुष के जीवन ने भी नाट्य-कला की मान्यताओं पर पर्याप्त प्रभाव डाला। ऐसे भद्रपुरुष को समाज में 'नागर' की संज्ञा दी गई है। यह 'नागर' स्वभाव एवं व्यवहार में शिष्ट और शालीन था। उसकी रुचि परिष्कृत थी और वह सौन्दर्य एवं कलाप्रिय होता था। काव्य, संगीत, चित्रादि कलाओं का वह प्रेमी होता था। वात्स्यायन अपने कामसूत्र मे ऐसे ही 'नागर' के गुणों का उल्लेख करते हुए कहते है कि वह 'वंश का कुलीन हो, तर्कशास्त्र का पण्डित हो, भिन्न-भिन्न धर्मों के सिद्धान्तों का ज्ञाता हो, भावों तथा भावनाओं के समझने की कला मे पटु हो, कवि हो, कहानी कहने और लिखने में कुशल हो, एक अच्छा वक्ता हो, बड़ों और वयो-वृद्धों का सम्मान करता हो, उच्चाकांक्षी हो, बहुत ही उत्साही हो, श्रद्धालु हो, क्षमाशील हो, माखर्च हो, मित्रों से अटूट मैत्री भाव रखता हो, सभा-समाज का शौकीन हो, पर्वों, उत्सवों के दिन, नाटकों के अभिनय के दिन, सुरापान की गोष्ठियों के अवसर पर और लोकप्रिय मनोरंजन के अवसर पर आनन्दोत्सव मनाने वाला हो, बीमारी से बचा हो, स्वस्थ और सुगठित शरीर वाला हो, बलिष्ठ हो, शराब आदि का आदी न हो, पुरुषत्व से युक्त हो, स्नेही हो, स्त्रियों को स्वास्थ्य और सुख का मार्ग दिखाने वाला हो, उनकी रक्षा करने वाला हो, स्त्रियों से प्रेम करने वाला हो, किन्तु उनके हाथ का खिलौना न हो, अपनी जीविका स्वयं उपार्जित करता हो, ईर्ष्या से परे हो और अकारण संदेह न करने

---

१. डाक्टर भोला शंकर व्यास, हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (प्रथम भाग), द्वितीय खण्ड, प्रथम अध्याय, २०६।

वाला हो।[१]

धनंजय तथा अन्य आचार्यों ने श्रृंगार की दृष्टि से दक्षिण, शठ, अनुकूलादि जो नायक के भेद किये है, उसका एक कारण यह भी कहा जा सकता है कि वे लोग काम-शास्त्र की इस लम्बी परम्परा से प्रभावित थे। नाटक-साहित्य में यद्यपि वीर, करुण और शान्त रसों का भी वर्णन अंगी रूप में हुआ है, तो भी श्रृंगार-वर्णन की प्रचुरता से इन्कार नही किया जा सकता। श्रृंगारात्मक भावों का जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म निरूपण नाटकों में मिलता है, उसे हम परम्परागत ही कह सकते है।

भरत मुनि तथा परवर्ती सभी आचार्यो ने नाटक में वस्तु तथा नेता की अपेक्षा रस को ही महत्व दिया है। रस काव्य की आत्मा है।* सस्कृत नाटककारों ने, जो मूलतः आदर्शवादी थे, तथ्यों, घटना-प्रसंगों एवं चरित्रों की यथार्थ भूमि की अपेक्षा काव्य की तरह सामाजिकों मे रसोद्‌बोधन पर ही बल दिया है।[२] इसीलिए उनके नाटको मे काव्य का आदर्शवादी वातावरण अधिक मिलता है और उनके नाटक काव्य के अधिक निकट पहुंच गये है। रसोद्‌वोधन की इस आदर्शात्मक प्रवृत्ति से कार्य और चरित्रात्मक भावना के विकास में निश्चित रूप से ही गत्यवरोध हुआ है। 'इसी कारण हमारे यहां के नाटकों पर यह आक्षेप किया जाता है कि उनमे चरित्र के परिवर्तन के लिए गुंजायश नही। जो चरित्र स्वयं विकसित है, उसका क्या विकास हो सकता है ? पूर्ण-चन्द्र की और क्या वृद्धि होगी। यह आक्षेप किसी अंश तक ठीक है किन्तु इसका दूसरा पहलू भी है। वह यह कि हमारे यहां के नाटककार रस को अधिक महत्ता देते थे। उन रसो में भी श्रृंगार, करुण और वीर का ही बोलबाला रहा है। इन रसो के लिए धीर और उदार वृत्ति वाले नायकों की ही आवश्य-कता रहती है। फिर वे अपने दर्शको को शुरू से ही एक उदार-चरित के सम्पर्क में लाना चाहते थे। नाटक के कार्य मे नायक नये गुणों को प्राप्त नहीं करता है वरन् उसके गुणों का उद्‌घाटन होता रहता है। हमारे यहा के नाटक-कार नायक मे बुराई दिखाकर जनता के नैतिक विचारों को आघात नही

---

१ डाक्टर बी० एन० बसु, अनुवादक—आर० एन० उपाध्याय, वात्स्यायन रचित काम-सूत्र, पृ० १५५।

* 'काव्य' शब्द का प्रयोग यहां आज के रूढ़ार्थ मे नहीं हुआ, अपितु उसका अभिप्रेत दृश्य, श्रव्य आदि सभी प्रकार के काव्यो से है।

२. डाक्टर सुशील कुमार डे, हिस्ट्री ऑफ़ सस्कृत लिटरेचर, सस्करण १९४७, पृ० ५६।

पहुचाना चाहते थे ।[१]

भले ही नाटककरों का उद्देश्य जन-समाज की नैतिक भावनाओं को किसी प्रकार का व्याघात पहुंचाना नहीं था, तो भी नाटक के कार्य में चरित्रगत विकास दिखलाना अनिवार्य है। नाटक का आदर्श जीवन के आदर्श से भिन्न नही माना जा सकता। नाटक का आदर्श मानव जीवन का प्रतिबिम्ब, मानव-प्रकृति एवं अनुभूतियों का दर्पण तथा उसके शाश्वत मूल्यों का प्रदर्शन है। परिवर्तनशील युग-परिवेष्टन के अनुरोध से जीवन निरन्तर विकासशील है और मानव-चरित्र का विकास उस विकासशीलता का साधन ही नहीं, वरन् अभीष्ट साध्य भी है। परन्तु यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि प्राचीन नाटककारों को नाटक का यह उद्देश्य अभीष्ट नही था। इसीलिए वे नाटकों में मानव-जीवन के सर्वांगीण चित्रण को स्थान नहीं दे सके। इसका यह अर्थ नहीं है कि वे मानव की चारित्रिक सबलताओं एवं दुर्बलताओं को चित्रित ही नहीं कर सके, वरन् यह कि उनका इस विषय के चित्रण का प्रयास मुख्य रूप से काव्यात्मक आनन्द अथवा रसोद्‌बोधन की चिन्ता से प्रभावित है। सुख-दुखात्मक परिस्थितियों का सम-विषम चित्रण रहने पर भी नाटक के पर्यवसान में वेदनामय स्थिति न तो भरतमुनि को ही मान्य थी और न ही परवर्ती आचार्यों को। भवभूति के उत्तर-रामचरित से बढ़ कर करुण-रस का स्यात् ही कहीं चित्रण मिलता हो, परन्तु उसका भी सुखान्तक अन्त दिखाना ही नाटककार को अभीष्ट था। यह तद्युगीन जीवन-दर्शन का ही परिणाम माना जा सकता है।

नाटक में दुःखान्तकी के अभाव का प्रमुख कारण यह प्रतीत होता है कि नाटककार नाटक में प्रत्यक्ष जीवन-सघर्षो की विफलताओं की पुनरावृत्ति नहीं करना चाहते थे। ऐसा न हो कहीं यह संघर्षमय पार्थिव जीवन जिसमें सुख की अपेक्षा दुःख की पहले ही प्रचुरता है, नैराश्य से आवृत्त होकर और भी दूभर हो जाय। दुःखान्तकी के लिए आवश्यक है कि एक उदात्त, महाप्राण एवं गुण-सम्पन्न नायक अपने चारित्रिक वैशिष्ट्य की किसी अंश में अतिरेकता के परिणामस्वरूप पतन अथवा मृत्यु को प्राप्त करता है, परन्तु ऐसी स्थिति में जन-समाज मे ईश्वर के प्रति अश्रद्धा एवं ईश्वरीय विधान के प्रति घृणा के उत्पन्न होने की आशंका थी। हमारा आस्तिक नाटककार इसे कैसे सहन कर सकता था। इसीलिए यद्यपि बहुत से प्राचीन संस्कृत नाटक दुःखान्तकी के समीप तो पहुंच जाते हैं, परन्तु मृत्यु का आधार नहीं लेते। दुःखात्मक होते हुए भी दुःखात्मक नहीं होते। पश्चिम के नाटककार के साथ नियति में समान

---

१ गुलाबराय, हिन्दी नाट्य विमर्श, संस्करण १९४५, पृ० २६।

रूप से विश्वास रखते हुए भी भारतीय कलाकार प्रतिकूल अथवा विरोधी परिस्थितियों को चुनौती देता हुआ कृत्रिमता के दोषारोपण की चिन्ता न कर नैराश्य में आशा के प्रकाश की योजना करता है। शेक्सपियर के हेमलेट तथा मैकबेथ जहां उदात्त-चरित्र होते हुए भी मृत्यु का ग्रास बनते है, वहा भास के उदयन तथा भवभूति के राम अपनी इष्ट-प्राप्ति में सफल होते है। 'उत्तर-रामचरित' में तो नाटक के अन्त में राम और सीता का मिलन प्रत्यक्ष रूप से महर्षि की मूल कथा को ललकार रहा है। इसी प्रकार 'अभिज्ञानशकुन्तला' में कालिदास ने नायक के विषय में आदर्श-परम्परा का पालन करते हुए दुष्यन्त के चरित्र की रक्षा के लिए दुर्वासा के शाप-प्रसंग की योजना की है और मूल महाभारत के स्वार्थी और कामुक दुष्यन्त को प्रजावत्सल और आचारनिष्ठ नायक में परिणत कर दिया है और साथ ही शापमोचन की व्यवस्था कर एक सबल त्रासदी को झकझोर कर कामदी मे बदल दिया है। यद्यपि यथार्थ की भूमि पर ऐसे कथा-प्रसंग बौद्धिक एवं तर्क-संगत प्रतीत नही होते, परन्तु नायक की आदर्श-कल्पना मे ये पूर्णतः सम्भाव्य ही कहे जायेगे ।

'वैदिक काल में समाज के लिए जो सदाचार का आदर्श स्थापित किया गया, उसी का प्रामाण्य भारतीय समाज ने अपने आचरण मे माना तथा हमारे धर्मशास्त्रों एवं स्मृतिग्रंथों में उसी का विश्लेषण तथा परिवर्धन भिन्न भिन्न समयों में नाना रूपों मे किया गया।'[१] समाज की इस नैतिक व्यवस्था के मूल कारण थे---भारतीय दर्शन की आशावादिता, वर्ण-व्यवस्था की रूढ़िगत परम्परा एवं कर्मवाद। वर्ण-व्यवस्था के कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के सामाजिक कर्तव्य-पालन मे पृथक्-पृथक् नीति-विधान बने हुए थे। पठन-पाठन अथवा समाज के बौद्धिक तथा चिन्तन के क्षेत्र ब्राह्मणों के अधीन थे और उनके दर्शन का तत्कालीन सामाजिक चिन्तन के क्षेत्र में पर्याप्त प्रभाव पड़ा। यही नहीं काव्य और उपासना-क्षेत्र भी प्रभावित हुए बिना न रह सके। कर्मवाद में इनकी आस्था थी। 'कर्म-सिद्धान्त का यही तात्पर्य है कि विश्व में यदृच्छा के लिए कोई स्थान नहीं है और न हमे अपनी वर्तमान दशा के लिए दूसरे पर दोषारोपण करना है।'[२] इसके साथ ही 'पुनर्जन्म और जन्मचक्र का

---

१. बलदेव उपाध्याय, हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (प्रथम भाग), खण्ड तृतीय, प्रथम अध्याय, प्रथम संस्करण पृ० ४२६।

२. बलदेव उपाध्याय, हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (प्रथम भाग), खण्ड तृतीय, चतुर्थ अध्याय, पृ० ४६५।

सिद्धान्त भी ब्राह्मणों में आकर ही वैदिक धर्म का निश्चित अंग बन गया।'[1] ऐसी स्थिति में जन-समाज का पूर्वजन्म के कर्मफल पर अवलम्बित रहना अथवा दैववाद या नियतिवाद में आस्था बन जाने से जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण आशावादी बना। कर्म-फल का यह नियतिवाद ग्रीस की त्रासदियों की तरह व्यक्ति को निराशा के गर्त में नहीं धकेलता, वरन् जीवन में भावी सुख की आशा उसे पुरुषार्थवादी बनाती है। वह जीवन के संघर्ष से घबराकर, थककर बैठ नहीं जाता, बल्कि अन्तिम क्षण तक संघर्षों से जूझता हुआ विजयी बनता है। यदि नायक के प्रति यह दृष्टिकोण न होता, तो किस प्रकार वह वर्ग-विशेष का प्रतिनिधि बनने की क्षमता रख सकता था, क्योंकि वर्ग-विशेष के सम्पूर्ण आदर्शों की अभिव्यंजना उसके चरित्र के माध्यम से ही हो सकती थी। ऐसी स्थिति में नाटक के अन्त में नायक को विजयी दिखाना न केवल फल-सिद्धि के लिए ही अनिवार्य समझा गया है, वरन् सहृदय सामाजिकों के हृदयों में रसोद्बोधन के लिए एवं उसके आदर्श चित्रण करने के लिए और सुखमय पर्यवसान के लिए भी इसकी योजना की गई है। इसीलिए तो नाटक में उदात्त, ललितादि आदर्श नायकों की परिकल्पना की गई है। यद्यपि नाटक की विकासात्मक प्रवृत्ति विशिष्ट से सामान्य तथा आदर्श से यथार्थ की ओर ही रही है, तथापि सामन्तवादी-व्यवस्था के सीमित परिवेश से नायक-सम्बन्धी दृष्टिकोण का समुचित रूप से विकास नहीं हो सका।

३. आधुनिक दृष्टि से नायक का वर्गीकरण

नायक का शास्त्रीय विवेचन कर लेने के बाद अब उस पर आधुनिक दृष्टि से विचार कर लेना अभीष्ट है। आज के युग में धीरोदात्त आदि नायकों के प्रकार उस रूप में मान्य नहीं है, जिस रूप में संस्कृत के नाट्याचार्यों ने उन्हें स्वीकार किया था। ऐसा वर्गीकरण आदर्शवादी नाटकों के लिए तो मान्य है, परन्तु सामाजिक समस्या-प्रधान अथवा मनोविश्लेषण-प्रधान नाटकों के नायकों को धीरोदात्तादि के 'कैनवेस' में फिट करना कठिन ही नहीं, अपितु असंभव भी है। संस्कृत नाटकों की केवल आदर्शवादी अथवा रसवादी नाटक-परम्परा थी। उस युग में आज की तरह सामाजिक समस्याप्रधान नाटक नहीं रचे जाते थे, जिनमें आदर्श की अपेक्षा यथार्थ, व्यष्टि की अपेक्षा समष्टि तथा बाह्य की अपेक्षा आभ्यन्तरिक वृत्तियों को अधिक महत्व दिया जाता है। आज के नाटक-कार का दृष्टिकोण बहुत व्यापक है। उसका विश्वास है कि आज के समाज में

---

१ डाक्टर रामानन्द तिवारी, भारतीय दर्शन का परिचय, पृ० ७९।

मानव का, यदि वास्तव में ही वह मानव समाज की उपज है, विकास आदर्श की कुछ नपी-तुली, सीमित एवं संकीर्ण दिशाओं में न होकर देश-काल अथवा युग-चेतना की परिस्थितियों के परिपार्श्व में विभिन्नता एवं विविधता को प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति में उसमें न तो केवल गुणों और न ही मात्र दोषों की अवतारणा की जा सकती है, अपितु उसे एक सच्चे मानव के रूप में गुण-दोषों से युक्त ही चित्रित करना होगा। नाट्य-साहित्य में यथार्थवादी-चित्रण ने हिन्दी नाटककारों को ऐसे ही पात्रों को नाटकों के नायक बनाने के लिए प्रेरित किया है। अंग्रेजी साहित्य एवं सस्कृति के सम्पर्क, शेक्सपियर के नाटकों का प्रचार एवं प्रभाव, देश में नव-जागरण की लहर, समाज-सुधार की प्रवृत्ति, राष्ट्रीय आन्दोलन आदि प्रवृत्तियों के परिणामस्वरूप आज जब कि हमारी युग चेतना के स्वर एवं मानदण्ड परिवर्तित हो चुके है, उसके साथ ही साहित्यिक मूल्यों में परिवर्तन का आ जाना नितान्त स्वाभाविक है। भारतेन्दु युग में ही परिवर्तन के ये चिह्न उभरने आरम्भ हो गये थे, और इनका क्रमिक विकास आज भी होता जा रहा है भारतेन्दु ने नाटक-साहित्य में न केवल अस्वाभाविक एवं अलौकिक चित्रणों की अनावश्यकता को ही अनुभव किया, अपितु आशीः, प्रकरी, संफेट, पंचसंधि आदि के नाटक में समावेश करने को भी अनावश्यक समझा। युग-चेतना के अनुरूप नाटक-साहित्य में विषयों में विविधिता आने लगी और उसका स्वरूप जीवन के अधिक निकट आने लगा। अब नाटक को केवल राज दरबारों एवं सामन्त समाज के मनोरंजन की अपेक्षा जन-साधारण के मनोरंजन एवं उपयोगिता की दृष्टि से देखा जाने लगा। ऐसी स्थिति में नाटकों के नायकों का चुनाब भी केवल सामन्त वर्ग से न होकर जन-सामान्य से भी होने लगा। नाटककारों की नायक-सम्बन्धी धारणा में परिवर्तन आया। शेक्स-पियर, इब्सन तथा शॉ के नाटकों का प्रभाव हिन्दी नाटककारों पर पर्याप्त पड़ा और उन्होंने हिन्दी नाटकों के नायक-सम्बन्धी दृष्टिकोण को नितान्त बदल डाला। अतः युग-चेतना एवं नवीन नाटकीय प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए स्थूल रूप से नायक के निम्न प्रकार माने जा सकते हैं—

१. रोमांटिक नायक

२. व्यक्तिवादी नायक

३. प्रगतिवादी नायक

४. यथार्थवादी नायक

५. आदर्शवादी नायक

६. दुर्बल नायक

१. रोमांटिक नायक

प्रेम प्रधान रोमांटिक नाटकों के नायक को नाटककार मुख्यतः प्रेमी के रूप में ही चित्रित करता है। ऐसे नाटकों की कथा नायक-नायिका की प्रेम-कथा पर आधारित होती है जिसमें इन दोनो प्रेमियों का प्रथम मिलन में एक-दूसरे के प्रति आकर्षण, तत्पश्चात् एक-दूसरे के प्रणय-सम्बन्ध में कुछ उलझनें जटिलताएं एवं बाधाओं का उत्पन्न होना और अन्त में इनका सुलझ कर नायक-नायिका के मिलन में नाटक समाप्त हो जाता है। ऐसी रोमांटिक कामदियों का कथानक जीवन के यथार्थ धरातल का संस्पर्श करता हुआ भी कल्पना-प्रधान अधिक रहता है। कई बार नाटककार नाटक के अन्त मे नायक नायिका का मिलन न करा कर उसे त्रासदी का रूप दे देता है। श्रीनिवासदास का 'रणधीर' और प्रेम मोहिनी' इसी प्रकार का नाटक है। रोमांटिक नाटकों में केवल प्रेम की ही अभिव्यंजना रहती है, ऐसी बात नहीं है। 'अल्प से अल्प महान् से महान् विषय पर स्वच्छन्दतावादी नाटक लिखे जा सकते हैं। तब भी कुछ ऐसे विषय हैं जो स्वच्छन्दतावादी अभिव्यक्ति के लिए अधिक समीचीन होते हैं। जैसे सुदूर देश, सुदूर काल से सम्बन्धित विषय अथवा ऐसे विषय जिनमे कल्पना की क्रिया और तीव्र अनुभूतियो की अभिव्यक्ति की पर्याप्त सम्भावना हो। ऐसे ही मानव-प्रेम और प्रकृति-प्रेम आदि भी स्वच्छन्दतावादी अभिव्यक्ति के लिए उचित विषय है। इसी कारण स्वच्छन्दतावादी नाटककार प्राचीन इतिहास, पुराण-कथाओं आदि से विषय प्राप्त करते है। आग्ल साहित्य के सर्वश्रेष्ठ स्वच्छन्दतावादी नाटककार शेक्सपियर के बहुत से नाटकों की कथावस्तु इतिहास सम्बलित है और उनके कतिपय सुखान्त नाटको में मानव-प्रेम तथा प्रकृति-प्रेम को ही प्रधानता है।'[१]

हिन्दी के रोमांटिक नाटकों के नायक शेक्सपियर के नायको से प्रभावित है। ऐसे नाटको के नायक प्रायः युवा, सुन्दर, राजवंश से सम्बन्धित, प्रेमी, वीर एवं साहसी, अद्भुत योद्धा, त्यागी और सामाजिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोही भावना रखते हैं। उन पर अदृष्ट की कृपा भी बनी रहती है। कन्हैयालाल कृत 'रत्नसरोज' नाटक का सरोज इसी प्रकार का नायक है। इसके विपरीत रोमांटिक त्रासदियों के नायक शेक्सपियर के नायकों के समान अपनी चारित्रिक दुर्वलता के कारण पतन को प्राप्त करते हैं। ऐसे नाटकों के नायक कुलीन, वीर पराक्रमी एवं साहसी होते हुए भी कतिपय चारित्रिक दुर्बलताओं से युक्त होते हैं जो उनके पतन का कारण बनती हैं। 'रणधीर और प्रेममोहिनी' का रणधीर

---

१. डाक्टर दशरथ सिंह, हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी नाटक, पृ० २६।

इसी कोटि का नायक है।

जिन रोमांटिक नाटको के कथानक विशुद्ध रूप से इतिहास पर आधारित होते है उन मे नायक को राष्ट्रीय गौरव एवं देश-प्रेम के प्रतीक के रूप में चित्रित किया जाता है। ऐसे नायक के हृदय को नारी का प्रेम उसे कर्तव्य से विचलित नहीं करता अपितु उसके हृदय में दुर्बलता की अपेक्षा वीरता तथा आलस्य की अपेक्षा कर्तव्य-निष्ठा की भावना को जाग्रत करता है।

२. व्यक्तिवादी नायक

बीसवीं शताब्दी में वैज्ञानिक एवं औद्योगिक विकास के कारण व्यक्ति का जीवन के प्रति दृष्टिकोण बौद्धिक हो गया है। आज के व्यक्ति के लिए भावुकता के स्तर पर सामान्य जीवन को स्वीकार करना अभीष्ट नहीं है। वह हर वस्तु अथवा परिस्थिति को बौद्धिकता की दृष्टि से परखने की चेष्टा करता है। इसी कारण आज के युग का जीवन-दर्शन समाज-सापेक्ष की अपेक्षा व्यक्ति-सापेक्ष अधिक हो गया है। युग की इस प्रवृत्ति का प्रभाव आज के साहित्यकार पर भी पड़ा है और परिणाम-स्वरूप ऐसी रचनाए लिखी गई है जिनमें समाज की अपेक्षा व्यक्ति के अन्तर्मन की समस्याओ को अधिक महत्व दिया गया है। इनमें लेखकों का ध्यान कथा-तत्व की अपेक्षा चरित्रों पर अधिक केन्द्रित हुआ है। इस प्रकार की रचनाओ में नायक के बाह्य जीवन के चित्रण की अपेक्षा उसके आभ्यन्तरिक भाव-जगत् का उद्घाटन रहता है। ऐसी रचनाओं में नायक के चेतन तथा अवचेतन मन की भावनाओं तथा तज्जनित समस्याओं का मनोविश्लेषणात्मक ढंग से चित्रण रहने के कारण उसका चरित्र सामान्य न रहकर व्यक्ति-वैशिष्ट्य को प्राप्त होता है। लेखक अपनी मनोवैज्ञानिक रचनाओ मे नायक के अन्तर्मन का विश्लेषण उसकी अहंवृत्ति को लक्ष्य में रख कर करता है। ऐसी रचनाओ में नायक की प्रत्येक छोटी से छोटी चेष्टा भी उसकी अहंभावना से प्रभावित रहती है। वस्तुतः नायक की इस अहंवृत्ति को विकृत अहं (Perverted ego) कह सकते है, जिसके मूल मे दमित-वासना और प्रभुत्व-कामना अथवा आत्म-प्रकाशन की जिज्ञासा रहती है। इन्हीं वृत्तियों के कारण नायक मे कई बार आत्महीनता की भावना भी आ जाती है। इस प्रकार के व्यक्ति प्राय. चंचल, ईर्ष्यालु, सदेहशील, अहप्रिय, कामासक्त तथा अव्यवस्थित बुद्धि के होते है। अतः इन गुणों के कारण उनका चरित्र व्यक्ति-वैशिष्ट्य प्रधान बन जाता है। ऐसे पात्रों की गणना वर्गगत पात्रों में नहीं की जा सकती है। इस प्रकार के चरित्र हमारे साहित्य में नाटक की अपेक्षा मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासो मे ही चरितार्थ हुए हैं।

३. प्रगतिवादी नायक

कई बार नाटककार किसी विशेष जीवन-दर्शन से प्रभावित होकर नाटक रचना करता है। ऐसी रचनाओं में लेखक अपने नायक तथा अन्य पात्रों के द्वारा सिद्धान्त-विशेष का प्रतिपादन करवाने की चेष्टा करता है। बीसवीं शताब्दी में विश्व के सभी देशों का साहित्य दो महान् विचारकों एवं दार्शनिकों- फ्रॉयड तथा कार्ल मार्क्स की विचारधारा से पर्याप्त प्रभावित हुआ है। फ्रॉयड के प्रभाव स्वरूप हिन्दी में मनोविश्लेशण प्रधान रचनाएं हुई और मार्क्स के प्रभाव स्वरूप प्रगतिवादी साहित्य रचा गया। प्रगतिवादी धारा के नाटकों में नाटककार वर्ग-सघर्ष की भावना का यथार्थ के धरातल पर चित्रण करता है। यह संघर्ष पूजीपति तथा श्रमिक वर्ग में रहता है। ऐसे नाटकों में नाटककार पूंजीपति वर्ग की शोषक-वृत्ति के प्रति विद्रोह दिखलाकर वर्गहीन समाज की स्थापना करता है। समाज की जीर्ण-जर्जरित रूढ़ियों के प्रति विद्रोह और नयी आस्थाओं एवं परम्पराओं का समर्थन ही इस प्रकार के नाटकों में नाटककार को अभीष्ट है। शोषित एवं पीड़ित मानव के जीवन का संघर्ष ही उसके कथा-तत्व का उपजीव्य बनता है और नाटककार की सहानुभूति इस वर्ग के प्रति बराबर बनी रहती है। नाटककार नाटक में नायक के द्वारा अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है। समस्त नाटक में नायक ही केवल ऐसा पात्र होता है जो नाटककार के समूचे जीवन-दर्शन को सही प्रतिनिधित्व प्रदान कर सकता है। ऐसा नायक प्रायः शिक्षित तथा मध्यम वर्ग से सम्बन्धित होता है। जीर्ण एवं जर्जरित सामाजिक व्यवस्था में उसकी अनास्था रहती है और शोषक एवं पीड़क वर्ग के प्रति घृणा एवं विद्रोह की भावना। समाज में उसकी सहानभूति तो केवल दीन-हीन, निस्सहाय, पीड़ित, दलित एवं शोषित वर्ग के प्रति रहती है। इसीलिए प्रगतिवादी नायक निस्वार्थी, कर्मठ, दृढ़-निश्चयी तथा त्यागशील होता है। हरिकृष्ण प्रेमी के 'बन्धन' नाटक का नायक मोहन प्रगतिवादी नायक की विशेषताओं से युक्त है। वह अपने मध्य वर्ग को छोड़कर मज़दूरों के वर्ग में सम्मिलित होकर उनके वर्ग का नेतृत्व करता है। उनके अधिकारों के लिए लड़ता है। वह त्यागी है। उसे अपने प्रयासों में सफलता भी मिलती है।

४. यथार्थवादी नायक

हिन्दी में यथार्थ शैली के सामाजिक नाटकों का सूत्रपात भारतेन्दु युग से हुआ। भारतेन्दु से पूर्व के नाटकीय काव्यों तथा भारतेन्दु युग के अनेक पौराणिक नाटकों में अलौकिकत्व रहने के कारण चित्रण में अस्वाभाविकता आ

गई है जो न तो आज के नाटककार को और न ही पाठक एवं दर्शक को रुचिकर लगती है। विज्ञान एवं बुद्धिवाद के प्रभाव स्वरूप आज का मानव भावुक की अपेक्षा बुद्धिजीवी अधिक बन रहा है। यही कारण है कि आज उसकी रुचि ऐसे साहित्य की ओर अधिक बढ़ रही है जिसमे जीवन की यथार्थ अभिव्यंजना रहती है और जिसके चित्रण में स्वाभाविकता होती है। यथार्थ में समाज का यथातथ्य चित्रण रहता है। उसमे सत्-असत्, पाप-पुण्य, सुख-दुख, सुन्दर-असुन्दर सभी कुछ वास्तविकता की सीमा मे आबद्ध रहता है। यथार्थवादी लेखक यह नहीं सोचता कि उसके यथातथ्य कुरूप चित्रणों का समाज पर क्या प्रभाव पड़ेगा। वह तो जो वर्तमान है और नित्यप्रति उसके सामने घटता है, उसके चित्रण में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझता है। अतः ऐसे चित्रण कई बार भद्दे और कुत्सित भी हो जाते है। चूंकि कोई भी कलाकार अथवा साधारण मानव इस प्रकार के कुत्सित वातावरण में अधिक देर रहना नहीं चाहता, इसलिए वह जीवन के कठोर सत्यतापूर्ण नारकीय जगत् से ऊंचा उठकर ऐसे कल्पना लोक में जाना चाहता है, जहां भव्यता, उज्ज्वलता एवं पवित्रता के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहता। 'इसी कमी को आदर्शवाद पूरा करता है वह हमें ऐसे चरित्रों से परिचित कराता है, जिनके हृदय पवित्र होते है, जो स्वार्थ और वासना से रहित होते है, जो साधु प्रकृति के होते है। यद्यपि ऐसे चरित्र व्यवहार-कुशल नही होते, उनकी सरलता उन्हें सांसारिक विषयों में धोखा देती है; लेकिन कांइएपन से ऊबे हुए प्राणियों को ऐसे सरल, ऐसे व्यावहारिक ज्ञान-विहीन चरित्रों के दर्शन से एक विशेष आनन्द होता है।'[१]

साहित्य में जीवन के सत्-असत्, पाप-पुण्य, सुन्दर-असुन्दर की व्याख्या यथार्थवादी अथवा आदर्शवादी चरित्रों के द्वारा होती है। 'यथार्थवादी चरित्रों को पाठक के सामने उनके यथार्थ नग्न-रूप में रख देता है। उसे इससे कुछ मतलब नहीं कि सच्चरित्रता का परिणाम बुरा होता है या कुचरित्रता का परिणाम अच्छा—उसके चरित्र अपनी कमजोरिया या खूबियां दिखाते हुए अपनी जीवन लीला समाप्त करते है।'[२] अतः आज के साहित्यकार को अपनी रचनाओं में ऐसे पात्रों का चित्रण करना ही अभीष्ट है। ऐसे पात्र प्रायः वर्गगत विशेषताओं से युक्त होते है, जिनके जीवन की घटनाएं हमारी जानी-पहचानी होती है। कई बार नाटककार अपने ऐसे पात्रों के स्वतन्त्र व्यक्तित्व का विकास

---

१. प्रेमचन्द, कुछ विचार, संस्करण १९४५, पृ० ४४।

२. वही, पृ० ४२।

दिखाने के लिए परिस्थितियों के अनुरूप उनके चरित्रों में परिवर्तन दिखलाता है। ऐसे चरित्रों को नाटक के आरम्भ में जिस रूप में हम पाते हैं, अन्त तक पहुंचते उनके रूप में इतना परिवर्तन आ जाता है जो संभाव्यता अथवा स्वाभाविकता की सीमा से परे हो जाता है। अतः नाटककार को चाहिए कि वह नाटक के पात्रों के चरित्र को विकसनशील उसी सीमा तक बनाये जिससे उनमें कृत्रिमता का आभास न हो।

भारतेन्दु युग में यथार्थ शैली की नाट्य-परम्परा का आरम्भ सामयिक समस्याओं के चित्रण के रूप मे हुआ जिसके मूल में समाज सुधार की भावना थी। इन नाटकों में बाल-विवाह, विधवा-विवाह, अनमेल विवाह, स्त्री-शिक्षा आदि की समस्याओं तथा धार्मिक रूढ़ियों एवं अन्धविश्वासों के प्रति विद्रोह की भावनाओं का चित्रण किया गया है। इसके लिए नाटककारो ने प्रायः मध्यवर्ग के पात्रों को नायक के रूप में स्थान दिया है। नाटककारों ने इन यथार्थवादी नायकों की सबलताओं एवं दुर्बलताओं को परिस्थितियों के परिवेश में ही यथा-सम्भव उभारने की चेष्टा की है। यथार्थवादी नायक का चरित्र संस्कृत के नाटकों के नायकों के सदृश पहले से ही आदर्श के सांचे में नही ढाला होना चाहिए, वरन् जीवन की सम-विषम परिस्थितियों के परिवेश में उसके मानसिक घात-परिघात तथा सबलता एवं दुर्बलता का चित्रण होना चाहिए। तभी वह यथार्थता तथा स्वाभाविकता के धरातल का संस्पर्श कर सकता है। हिन्दी के कुछ ऐतिहासिक नाटकों के नायकों में भी यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है। इस दृष्टि से राधाकृष्ण दास के 'महाराणा प्रताप सिंह' नाटक के नायक महाराणा प्रताप का चरित्र-चित्रण यथार्थता तथा स्वाभाविकता के अधिक निकट है।

५. आदर्शवादी नायक

भारतीय नाट्याचार्यो का नायक के प्रति दृष्टिकोण आदर्शवादी ही रहा है। संस्कृत के प्रायः सभी नाटकों में नायक धीरोदात्त आदि गुणों से युक्त आदर्शनायक होते थे। लेकिन आज आदर्श नायक सम्बन्धी धारणा परिवर्तित हो चुकी है। अब नायक को संस्कृत नाटकों के नायक के समान नितान्त निर्दोष चरित्र के रूप में चित्रित करना कोई अनिवार्य नहीं समझा जाता। 'चरित्र को उत्कृष्ट और आदर्श बनाने के लिए यह जरूरी नही कि वह निर्दोष हो—महान् से महान् पुरुषों मे भी कुछ न कुछ कमज़ोरियां होती है— चरित्र को सजीव बनाने के लिए उसकी कमज़ोरियों का दिग्दर्शन कराने से कोई हानि नहीं होती। बल्कि यही कमज़ोरियां उस चरित्र को मनुष्य बना देती है।

निर्दोष चरित्र तो देवता हो जायगा और हम उसे समझ ही न सकेंगे। ऐसे चरित्र का हमारे ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता।'[1] प्रेमचन्द के इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि आज का लेखक देवता के रूप में निर्दोष तथा आदर्श चरित्र नहीं चाहता, वरन् ऐसे आदर्श पात्रों को अपनी रचनाओं में स्थान देना चाहता है जिससे मानव की सद्वृत्तियों एवं नैतिक मूल्यों के प्रति आस्था दृढ़ बने। आज नाटक का नायक अपने विशिष्ट जीवन-दर्शन एवं नैतिक मान्यताओं के कारण भी आदर्श एवं अनुकरणीय बनने का सामर्थ्य रखता है। उसके लिए सर्वगुण सम्पन्न होना अनिवार्य नही है। संसार में कोई भी ऐसा व्यक्ति देखने को नहीं मिलेगा जिसके उज्ज्वल चरित्र में भी थोड़े-बहुत दाग-धब्बे न लगे हों। देव-चरित्र ही सर्वथा निर्दोष हो सकता है। मानव के चरित्र में अवश्य ही गुण-दोषों का सम्मिश्रण रहेगा। भारतेन्दु के 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक के नायक हरिशचन्द्र की गणना आदर्श नायक के रूप में की जा सकती है। इसी प्रकार जिन सामाजिक नाटकों की मूल चेतना सुधारवादी है, उनके नायक भी आदर्श पात्र माने जा सकते है।

६. दुर्बल नायक

कई बार नाटककार अत्यन्त ही दुर्बल प्राण व्यक्तित्व को नाटक का नायक बना देता है। ऐसे चरित्र जीवन मे प्रायः निश्चेष्ट रहते हुए भी नियति की कृपा से जीवन के सभी प्रकार के सुखों का उपभोग करते हैं। वे प्रायः भाग्य-वादी होते है। नाटक मे कहीं भी वे स्वतन्त्रता से आचरण करते नहीं देखे जाते। संघर्ष और पुरुषार्थ को ऐसे व्यक्तियों के जीवन में कोई महत्व नहीं मिलता। मैथिलीशरण गुप्त के 'चन्द्रहास' नाटक का नायक इसी कोटि का है।

नाटक में दो नायकों का प्रश्न

प्रायः नाटकों मे एक ही पात्र ऐसा होता है जिसे प्रमुख पात्र अथवा नायक की संज्ञा दी जाती है किन्तु पश्चिमी सिद्धान्तों के अनुसार एक ही नाटक में दो समान रूप से प्रमुख पात्रों अथवा नायकों की स्थिति की सम्भावना सर्वथा असगत नही है। उदाहरणार्थ ऐलार्डिस निकल ने शेक्सपियर के 'आथेलो' नाटक

---

१. प्रेमचन्द, कुछ विचार, पृ० ४४।

में दो नायकों की स्थिति का समर्थन किया है ।[१]

हिन्दी में इस प्रकार की स्थिति का ग्राभास राधेश्याम के 'वीर ग्रभिमन्यु' नाटक में मिलता है । यद्यपि यथास्थान नाटक की चर्चा करते समय हमने ग्रनेक युक्तियों से कथित नाटक में ग्रभिमन्यु के ही नायकत्व का समर्थन करने का यत्न किया है तो भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि वहा दो नायकों की स्थिति का प्रश्न किसी न किसी रूप में बना ही रहता है । ग्रभिमन्यु ग्रथवा ग्रर्जुन दोनों में से किसी भी एक के पक्ष के समर्थन में प्रस्तुत किया हुग्रा तर्क सर्वथा ग्रकाट्य नहीं है ।

नायक विहीन नाटक

इसके विपरीत कई बार ऐसा भी होता है कि नाटक में प्राय: सभी पात्र एक जैसा महत्व प्राप्त करते हुए दिखाई देते है । किसी भी एक पात्र का व्यक्तित्व इतना महान्, विशिष्ट ग्रथवा प्रमुख नही होता कि उसे ग्रन्य पात्रों की ग्रपेक्षा सर्वोपरि महत्व दिया जा सके । ऐसे नाटकों में नाटककार की रुचि पात्रों के चरित्र-चित्रण की ग्रपेक्षा समस्याग्रों के चित्रण में ग्रधिक रमी है । गोपाल राम गहमरी का 'देशदशा नाटक,' मिश्रबन्धुग्रों का नेत्रोन्मीलन' तथा लक्ष्मीनारायण मिश्र के ग्रनेक नाटक इसी प्रकार के है । इन नाटकों में किसी भी पात्र का चरित्र मुख्य रूप से नही उभर पाया, जिसे नायक की संज्ञा से ग्रभिहित किया जा सके । हिन्दी नाटकों के नायक-विकास में नाटककारों के ऐसे प्रयास को मील का पत्थर समभना चाहिए ।

---

१. The Theory of Drama, page 154.
"In some dramas, particulry of the Elizabethan period, there is not merely one hero, but two, and the tragic emotion arises out of the clash or conflict of their personalities. Who shall we say is the hero of othello ? othello himself, untill the very last act, does absolutely nothing; it is Iago who drives the plot forward and attarcts nearly all the attention of the play. In this tragedy we seem to see indeed two chief figures : Iago by a terrible error due to inadequate knowledge to some degree morally culpable, engaged in a grim game of deceit, and othello by a different species of human frailty moving slowly onward to his destruction; this is not a mono-hero play such as is Hamlet or Lear."

चतुर्थ-अध्याय

नायक सम्बन्धी पाश्चात्य दृष्टिकोण

अरस्तू और भरत

भारतीय वाङ्मय में जो स्थान भरत मुनि के नाट्यशास्त्र का है वही स्थान योरोप में अरस्तू के काव्य-शास्त्र का है। अरस्तू योरोप के आदि नाट्याचार्य हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से इन दोनों आद्याचार्यों का महत्व समान है, तो भी विषय-वर्णन तथा वस्तु-विस्तार की दृष्टि से अरस्तू का 'काव्य-शास्त्र' भरत के 'नाट्य-शास्त्र' की अपेक्षा अधिक सीमित है। वैसे इन दोनों शास्त्र-ग्रन्थों का विशिष्ट दैशिक परिवेश में एक जैसा ही महत्व है। अरस्तू ने काव्य-शास्त्र में केवल त्रासदी का ही विस्तृत विवेचन किया है, जब कि भरत को अपने नाट्य-शास्त्र में न केवल नाटक की ही वरन् काव्य-शास्त्र के विविध अंगों की सांगोपाग विवेचना का श्रेय प्राप्त है। भरत का नाटक सम्बन्धी विवेचन भी अरस्तू की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म एवं गम्भीर है। अरस्तू ने 'काव्यशास्त्र' में मुख्य रूप से त्रासदी का ही सूक्ष्म एवं विशद विवेचन किया है। कामदी आदि अन्य काव्यरूपों तथा रस आदि काव्यांगों का विवेचन न होने के बराबर ही है। उनका काव्यशास्त्रीय समीक्षण परिभाषा की जटिलताओं से मुक्त है और समसामयिक साहित्य ही उनके इस विवेचन का आधार है।

योरोप के बहुत से विद्वानों ने अरस्तू प्रणीत काव्य-शास्त्र की अपूर्णता पर यदा-कदा अपने उद्गार प्रकट किये हैं।[१] डाक्टर राघवन भी ऐसा ही अभिमत

---

१. Scott James, The making of literature; page 57,

(i) R. A. "Having in practice limited his subject as he has done we might be temptep to wish that he had limited it even more, giving us that in its completeness--confining himself, I mean

★

प्रकट करते हैं। उनका कथन है, 'भरत प्रणीत ३६ अध्यायों में लिखित नाट्य-शास्त्र अरस्तू के काव्य-शास्त्र की अपेक्षा अधिक पूर्ण है और इसमें संस्कृत के नाटक का विशद एवं सम्पूर्ण विवेचन उपलब्ध है।'[१] अरस्तू के पूर्ववर्ती आचार्यों[२] का काव्यालोचन व्यवस्थित नहीं था और उनके पश्चात् भी बड़ी देर तक कोई ऐसा ग्रन्थ नहीं मिलता जो भरत के नाट्यशास्त्र की समता कर सके। परवर्ती आचार्य लेसिंग की 'हाम्बुर्गिश ड्रामाटर्जी' रचना को भी नाट्यशास्त्र की तुलना में नही रखा जा सकता। फिर भी पाश्चात्य आलोचकों में यह एक प्रवृत्ति रही, है कि जब कभी उन्होंने भरत के 'नाट्यशास्त्र' और अरस्तू के 'काव्य-शास्त्र की परस्पर तुलना करने का प्रयास किया है या संस्कृत नाटकों के उद्भव एवं स्रोत का उल्लेख किया है तो उन्होंने भरत के नाट्यशास्त्र को अरस्तू के काव्यशास्त्र का ऋणी माना है,[३] जब कि दोनों देशों में नाट्यकला का स्वतन्त्र रूप से विकास हुआ है। विषय-निरूपण की दृष्टि से भी 'काव्यशास्त्र' की अपेक्षा 'नाट्य-शास्त्र' का विवेचन अधिक सूक्ष्म एवं गम्भीर है। अरस्तू ने तो त्रासदी का ही सविस्तार वर्णन किया है जो नाट्यशास्त्र के नाटक-प्रकरण के विवेचन के समक्ष अधूरा सा प्रतीत होता है। साथ ही नाट्यशास्त्र में नाटक के अतिरिक्त अभिनय, संगीत, नृत्य, अलंकार, रस आदि का भी सांगोपांग विवेचन किया गया है। सैद्धान्तिक रूप से भी दोनों आचार्यो में मौलिक भेद है। अरस्तू त्रासदी की आत्मा कथानक को मानते हैं तो भरत रस को। अनुकृति को दोनों ही आचार्यो ने महत्व दिया है, परन्तु अरस्तू की दृष्टि मे त्रासदी कार्यो

★ to tragedy, but extending his treatment to include not only the drama as composed by the poet, but also as rendered by actors, chorus and muscians at Panathenaic Festival. As it is, having taken the whole field of poetry as his ostensible subject, he has examined tragedy mainly from the literary man's point of view--rather as dramatic poetry than as poetic drama."

(ii) F. L. Lucas.—Tragedy in Relation to Aristotle's Poetics, page 23.

"But in any case the poetics is incomplete.

१. Encylopedia of Literature (Part one), page 468.
'The Natya sastra, in 36 chhpter, is more complete than the work of Aristotle, and provides full view of Sanskrit dramatic poetry.'

२. प्रोतगोरस, हिप्पिअस' प्लेटो आदि।

३. ए० बी० कीथ, दि संस्कृत ड्रामा, पृ० ३५५-५६।

की अनुकृति है और भरत नाटक के भावों के अनुकरण को महत्व देते है। 'विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से भी अरस्तू के 'काव्य शास्त्र' में कोई साम्य नहीं - भरत के सर्वांग पूर्ण विवरणात्मक प्रतिपादन के सामने अरस्तू का विवेचन सर्वथा अधूरा और कटा-फटा सा लगता है।[1] एलार्डिस निकल की दृष्टि में अरस्तू की तरह भरत के समक्ष भी नाट्यशास्त्र का सर्वांगीण एवं सूक्ष्म विवेचन करने के लिए पर्याप्त सामग्री थी।'[2] जब कि यह बात निर्विवाद है कि अरस्तू के समक्ष एस्कीलस, सॉफोक्लीज़ तथा यूरोपीडीज़ के ही नाटक थे। पाश्चात्य आलोचकों ने स्वयं इस बात को स्वीकार किया है। यदि ऐसा न होता तो निस्सन्देह अरस्तू त्रासदी-सम्बन्धी अपने विवेचन में और अधिक सूक्ष्मता एवं पूर्णता भर पाते। भरत के समक्ष अनुमानतः एक लम्बी नाटक-परम्परा अवश्य रही होगी, अन्यथा वे इतना गम्भीर विवेचन करने में कैसे समर्थ होते।

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि—

१. नाट्यशास्त्र पर यूनानी प्रभावारोपण उचित एवं तर्क संगत नहीं है। दोनों देशों में नाटक का विकास स्वतन्त्र रूप में हुआ।
२. अरस्तू की अपेक्षा भरत का नाटक सम्बन्धी विवेचन अधिक पूर्ण है।
३. भरत के समय में नाट्यकला पूर्ण परिपक्वता एवं प्रौढ़ता को प्राप्त कर चुकी थी, तभी भरत अपने 'नाट्य शास्त्र' में नाट्यकला के विवेचन मे सर्वांगीणता ला सकने मे समर्थ हो अरस्तू को अपने समय में उतना प्रौढ़ नाट्य-साहित्य नहीं मिल सका, फिर भी जितना उपलब्ध था उस दृष्टि से उनका विवेचन अवश्य महत्वपूर्ण है।

अरस्तू का नायक सम्बन्धी दृष्टिकोण

(क) कामदी

'काव्यशास्त्र' के पांचवें प्रकरण में कामदी (Comedy) के पात्रों के

---

१. डा० नगेन्द्र, अरस्तू का काव्यशास्त्र (भूमिका भाग), पृ० १६३-१६४।
२. World Drama, page 629.
"Already towards the begining of our era a scholar, Bharata had in front of him a sufficient body of material to be able to Aristotle like to compose his exhaustive science of Dramaturgy."

बारे में अरस्तू लिखते हैं कि 'कामदी (या प्रहसन) में, जैसा कि हम पहले कह आये हैं, निम्नतर कोटि के पात्रों का अनुकरण रहता है। यहां 'निम्न' शब्द का अर्थ बिल्कुल वही नहीं है जो 'दुष्ट' का होता है क्योंकि अभिहस्य तो 'कुरूप' का उपभाग मात्र है—उसमें कुछ ऐसा दोष या भद्दापन रहता है जो क्लेश या अमंगलकारी नहीं होता। एक प्रत्यक्ष उदाहरण लीजिए—प्रहसन में प्रयुक्त छद्‌ममुख विरूप और भद्दा तो होता है पर क्लेश का कारण नहीं।[१] अरस्तू ने कामदी को प्रहसन के अर्थ में ही ग्रहण किया है। क्योंकि कामदी में निम्न कोटि के पात्र रहते हैं, इसीलिए इसमें मानव के हीनतर पक्ष का चित्रण रहता है। कामदी का मूलभाव हास्य है और सार्वजनिक भद्दे पन अथवा दोषों का चित्रण करना ही इसका उद्देश्य है। शारीरिक तथा चारित्रिक विकृति इसके विषयगत दोष है। अरस्तू ने कामदी-विवेचन को कोई अधिक महत्व नहीं दिया। उनके मत में 'कामदी का कोई इतिहास नही है, क्योंकि आरम्भ में किसी ने इस पर विशेष ध्यान नहीं दिया।'[२] कदाचित् 'काव्यशास्त्र' के दूसरे भाग में इसका विस्तार से विवेचन किया गया था। 'काव्यशास्त्र' के आरम्भ में, और उधर 'भाषण-शास्त्र में' कुछ ऐसे प्रमाण है जिनसे यह प्रायः निश्चित हो जाता है कि अरस्तू ने कामदी पर भी सम्यक् प्रकाश डाला था, परन्तु वह भाग उपलब्ध नहीं है, अतः कामदी के विषय में अरस्तू की धारणाओं का प्रामाणिक प्रतिपादन आज सम्भव नहीं है।[३]

(ख) त्रासदी

यद्यपि अरस्तू ने 'काव्यशास्त्र' में नाटक की कोई परिभाषा नही दी, तो भी उन्होंने नाटक में 'अभिनय तत्त्व' की अनिवार्यता को स्वीकार किया है, नाटक के सम्बन्ध में 'काव्यशास्त्र' की निम्न दो उक्तियों से हम भले ही नाटक की परिभाषा न दे सकें, किन्तु उसके स्वरूप-ज्ञान से परिचित अवश्य हो सकते हैं—

१. एक तीसरा भेद और भी है—इन विषयों की अनुकरण-रीति का। क्योंकि माध्यम एक हो और विषय भी एक हो फिर भी कवि या तो समाख्यान द्वारा अनुकरण कर सकता है—और इस स्थिति में भी वह चाहे तो होमेरस की तरह कोई अन्य व्यक्तित्व धारण कर सकता है या अपने निजी रूप में ही

१. डा० नगेन्द्र, अरस्तू का काव्य-शास्त्र, अनुवाद भाग, पृ० १७।

२. वही, पृ० १७।

३. वही, भूमिका भाग, पृ० १२४।

बोल सकता है—अथवा अपने सभी पात्रों को जीवित-जागृत और चलते-फिरते प्रस्तुत कर सकता है।[१]

२. तभी कुछ लोगों का कहना है कि इन काव्यों को नाटक इसलिए कहा जाता है कि इनमें कार्य-व्यापार का निदर्शन रहता है।[२]

उपर्युक्त उद्धरणों के आधार पर हम यह मान सकते है कि नाटक में जीवित-जागृत और चलते-फिरते पात्र प्रस्तुत किये जाते हैं और उसमें कार्य-व्यापार का निदर्शन रहता है। अरस्तू ने नाटक में कार्य-व्यापार को प्रमुख स्थान दिया है और पात्रों को गौण। कामदी और त्रासदी नाटक के ही दो भेद हैं। इन दोनों में अन्तर यह है कि 'कामदी का लक्ष्य होता है यथार्थ जीवन की अपेक्षा मानव का हीनतर चित्रण और त्रासदी का लक्ष्य होता है भव्यतर चित्रण।[३]

अरस्तू के नाट्यालोचन के सिद्धान्तों का आधार था अपने समय का नाट्य-साहित्य। एस्किलस, सॉफोक्लीज़ तथा यूरोपीडीज़ उस युग के प्रसिद्ध नाटककार थे और अरस्तू संभवतः इनके ही नाट्य-साहित्य से परिचित थे। इन्होंने अपनी साहित्यिक सूझ-बूझ एवं स्वकीयता के कारण त्रासदी का विशद, गम्भीर एवं विस्तृत विवेचन किया। इनके मत में 'त्रासदी किसी गम्भीर, स्वतःपूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है, जिसका माध्यम नाटक के भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न रूपों से प्रयुक्त सभी प्रकार के आभरणों से अलंकृत भाषा होती है, जो समाख्यान के रूप में न होकर कार्य-व्यापार रूप में होती है और जिसमें करुणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विवेचन किया जाता है।'[४] अरस्तू के त्रासदी सम्बन्धी मत की आलोचना करते हुए एफ० एल० लूकस कहते है कि 'अरस्तू ने 'पोएतिक्स' में वस्तुतः त्रासदी की अपेक्षा गम्भीर नाटक का ही विवेचन किया है।'[५] × × × और

---

१. अरस्तू का काव्यशास्त्र (अनुवाद भाग), पृ० ११।

२. वही, पृ० १२।

३. वही, पृ० ११।

४. अरस्तू का काव्यशास्त्र (अनुवाद-भाग) पृ० १६।

५. F. L. Lucas, Tragedy in Relation to Aristotle's poetics, page 26.
 'What matters is to be remember that Aristotle is really discussing, not what we call "tragedy", but what we call Serious drama."

वह अपने में पूर्ण नहीं कहा जा सकता ।[१] अरस्तू कला के अन्य अंगों की अपेक्षा त्रासदी का इसलिए विस्तृत विवेचन करते हैं, क्योंकि यह अन्य सब कलाओं से एक उत्तम प्रकार है और त्रासदी के विवेचन में ही उन्होंने मानों ललित कला के सिद्धान्तों का विवेचन दे दिया है ।[२]

अरस्तू के मत में त्रासदी के तत्व हैं—कथानक, चरित्र-चित्रण, पद रचना, विचारतत्व, दृश्य-विधान और गीत ।[३] कथानक, चरित्र-चित्रण तथा विचारतत्व ये त्रासदी के मुख्य अन्तरंग तत्व हैं और अनुकरण के विषय में शेष तीनों गौण है । 'त्रासदी' उनकी दृष्टि में 'किसी कार्य-—विशेष की अनुकृति होती है और कार्य के लिए अभिकर्त्ता व्यक्तियों का होना आवश्यक है जिसमें निश्चय ही चारित्र्य और विचार की कुछ विशेषताएं होती हैं क्योंकि इन्हीं से तो हम कार्य-व्यापार का विशेषण करते हैं ।'[४] त्रासदी में किसी एक व्यक्ति की नहीं वरन् समूचे जीवन की और सुख-दुःख की अनुकृति रहती है । जीवन कार्य-व्यापार का ही नाम है । अतः जीवन की अनुकृति कार्य-व्यापार के बिना नहीं रहनी चाहिए । त्रासदी में कार्य और जीवन की अनुकृति चारित्र्य के लिए नहीं रहती वरन् चारित्र्य का तो स्वतः ही उसमें समावेश गौण रूप में रहता है । चारित्र्य से तो उनके गुणों का निर्धारण होता है किन्तु उनका सुख-दुःख कार्यों पर ही निर्भर रहता है । अतः अरस्तू के मत में 'घटनाएं और कथानक ही त्रासदी के साध्य है और साध्य का स्थान ही सब से प्रमुख होता है । बिना कार्य-व्यापार के त्रासदी नही हो सकती, बिना चरित्र-चित्रण के हो सकती है ।'[५] अरस्तू का दृष्टिकोण वस्तुपरक एवं बहिर्मुखी है । इसलिए तो वे कथानक को त्रासदी की आत्मा मानते हैं ।[६] व्यक्ति-जीवन के अन्तरंग पक्ष का विश्लेषण घटनाओं के मूर्तरूप द्वारा सम्भव नही वरन् सूक्ष्म चारित्र्य-विश्लेषण द्वारा ही वह प्रयोजन-

---

१. F. L. Lucas, Tragedy in Relation to Aristotles poetics page 23
"But in any case the poetics is incomplete."

२. R. A. Scott James; The making of literature, edition 1958. page 60.
"Aristotle gives his main attention to tragedy because it is for him the grand type of all the arts. In giving us this theory of tragedy he had given us something very like a theory of Fine art."

३. अरस्तू का काव्यशास्त्र (अनुवाद भाग) पृ० २० ।

४. वही, पृ० २० ।

५. वही, पृ० २०-२१ ।

६. वही, पृ० २१ ।

साध्य है। बाह्य घटनाओं एवं वातावरण का प्रभाव व्यक्ति के अन्तश्चेतन पर पड़ता है और उसका अन्तर्मन इन प्रभावों से अभिभूत होता हुआ उसके कार्यो और चरित्रों का उद्घाटन करता है। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, अन्योऽन्याश्रित है और एक-दूसरे से अविच्छिन्न हैं। निस्सन्देह त्रासदी में घटनाओं का बड़ा महत्व है, क्योंकि घटनाओं अथवा वस्तु-तत्व के बिना उसका रूप आकार सम्भव नहीं। पर प्रश्न यह उठता है कि पात्रों के बिना उन घटनाओं का भी क्या महत्व रह जाता है जबकि वे स्वतः सम्भूत नहीं कही जा सकतीं। पात्र घटनाओं के निर्माता है और कथानक उनका समूह है। इन घटनाओं का पात्रों की मनोवृत्तियों के साथ गहरा सम्बन्ध रहता है। पात्रों का कार्य-व्यापार और उनके चरित्रों का प्रत्यंकन संवादों के द्वारा होता है। त्रासदी में इन्हीं घटनाओं की अनुकृति रहती है जिनका अस्तित्व पात्रों के बिना शून्य के समान है। अतः अरस्तू का यह कथन कि 'बिना कार्य-व्यापार के त्रासदी नहीं हो सकती, बिना चरित्र-चित्रण के हो सकती है'—मान्य नही ठहराया जा सकता।

अरस्तू की ऐसी स्थापना का आधार कहा जा सकता है उनका वस्तुपरक दृष्टिकोण। उनके नाट्यालोचन के सिद्धान्तों का आधार तत्कालीन उपलब्ध नाट्य-साहित्य ही रहा है,[१] जिनमें वस्तुतत्व को अधिक महत्व दिया गया है। परन्तु यह भी निर्विवाद सत्य है कि उनके नाटकों में भी चरित्र की गरिमा कम नही है।[२] दूसरे उन्होने अनुकरण सिद्धान्त को अधिक महत्व दिया है। अरस्तू अन्य कलाओं की तरह त्रासदी को भी अनुकरण का ही प्रकार बतलाते है। क्योंकि व्यक्ति की अतरंग मनोवृत्तियों की अपेक्षा कार्य-व्यापार का अनुकरण सहज होता है, इसीलिए उन्होंने चरित्र की अपेक्षा वस्तु तत्व को अधिक महत्व दिया है।

अरस्तू के वस्तु-सम्बन्धी इस दृष्टिकोण की परवर्ती आचार्यो ने कटु आलोचना की है। यद्यपि अरस्तू का काव्यशास्त्र ही योरोप के नाट्यालोचन के सिद्धान्तों का आधार रहा हैं फिर भी पाश्चात्य आचार्य उनके इस मत से सहमत नही हो सके। उनकी दृष्टि में कथानक की अपेक्षा चरित्र-चित्रण अधिक महत्वपूर्ण है। शेक्सपीयर, गेटे, इब्सन, शॉ आदि नाटककारों ने अपनी रचनाओ

---

१. एस्कीलस, साफोक्लीज़ तथा यूरोपीडीज़ की त्रासदियां।

२. C. E. Vaughan, Types of Tragic Drama, edition 1936, page 37.

"The characters of Aeschylus are drawn with a bold sweep. They stand out sharply from the stormy back ground of the situation and the action."

में वस्तु-तत्व की अपेक्षा चरित्र को अधिक महत्व दिया है। आधुनिक नाट्य-शास्त्र के आलोचकों ए० सी० ब्रैडले, ए० निकोल आदि ने भी त्रासदी में वस्तु की अपेक्षा पात्र के ही महत्व को स्वीकार किया है। अरस्तू के इस मत की आलोचना करते हुए ड्राईडन कहते हैं, 'अरस्तू ने ऐसा उल्लेख किया है, यही पर्याप्त नहीं—क्योंकि अरस्तू की त्रासदी के आदर्श थे साफ़ोक्लीज़ और यूरोपीडीज की त्रासदियां और यदि उनके समक्ष हमारी त्रासदियां होतीं तो निश्चित ही उनकी धारणा परिवर्तित हो जाती।'[१] निस्सन्देह अरस्तू के सिद्धान्त आज मान्य नहीं हो सकते इसका कारण है युग-परिस्थितियों तथा तद्नुरूप जीवन की मान्यताओं एवं मूल्यों में परिवर्तन का आ जाना। साहित्य के मानदण्ड तो युगानुरूप बदलते रहते है। नाटक क्या, समूचे साहित्य का इतिहास अधिकांशत: इन्ही परिवर्तित सामाजिक मूल्यों की कहानी है। अत: परवर्ती आलोचकों का उपर्युक्त विरोध एवं आक्षेप वर्तमान परिस्थितियों के अनुसार तो उचित है किन्तु अरस्तू के अपने युग-साहित्य के विपय में उनके सिद्धान्त निर्विवाद रूप से उचित माने जा सकते हैं।

भारतीय आचार्यो की तरह अरस्तू का नायक सम्बन्धी दृष्टिकोण भी आर्दश ही रहा है। अरस्तू 'काव्यशास्त्र' के आरम्भ में अपने उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं, 'मेरा विचार है कि सत्काव्य के लिए आवश्यक कथानक के संगठन, काव्य के अंगों की संख्या एवं स्वरूप और इसी प्रकार इस अध्ययन की परिधि में आने वाले अन्य विषयों का अनुशीलन किया जाये।'[२] इसी 'सत्काव्य' की प्रेरणा-हेतु और उसके प्रबल आग्रह के कारण अरस्तू ने त्रासदी की आत्मा कथावस्तु और उसकी भद्रता के द्योतक चरित्रों की नैतिक प्रेरक-शक्तियों का विवेचन कर जहां त्रासदी के लिए आदर्श नायक की परिकल्पना की है, साथ ही एक कलागत एव नैतिक मूल्यों का समन्वित दृष्टिकोण भी दिया है। यह सत्य है कि सामाजिक जीवन का आधारभूत तत्व नैतिकता है, परन्तु साहित्य मे उस नैतिकता की परिणति काव्यात्मक आनन्द में सम्भाव्य होनी चाहिए। इसी आनन्द की विशिष्ट उपलब्धि ही उन्हें त्रासदी में मान्य थी, नैतिकता तो उसका माध्यम था। 'त्रासदी से हम सभी प्रकार के नहीं वरन् उसके अपने विशिष्ट प्रकार के आनन्द की ही अपेक्षा कर सकते है और चूकि यह आनन्द अनुकरण

---

१ R. A. Scott James, The Making of literature, page 51.
"It is not enough that Aristotle has said so, for Aristotls drew his models of tragedy from Sophocles and Euripides. And, if he had seen ours, might have changed his mind."

२. अरस्तू का काव्य-शास्त्र (अनुवाद भाग), पृ० ६।

के माध्यम से करुणा और त्रास जगाकर निष्पन्न होता है अतः स्पष्ट कि इस गुण की स्थिति घटनाओं में ही होना चाहिए ।'[1] इसी विशिष्ट आनन्द के आस्वादन के लिए ही उनका कहना है कि त्रासदी में 'भाग्य-परिवर्तन के प्रत्यंकन में किसी सत्पात्र का सम्पत्ति से विपत्ति में पतन न दिखाया जाये—इससे न तो करुणा की उद्‌बुद्धि होगी, न त्रास की, इससे तो हमें आघात पहुंचेगा ।'[2] और साथ ही 'उसमें किसी दुष्ट पात्र के विपत्ति से सम्पत्ति में उत्कर्ष का चित्रण भी नहीं रहना चाहिए क्योंकि त्रासदी की आत्मा के इससे अधिक प्रतिकूल और कोई स्थिति नहीं हो सकती । इसमें त्रासदी का एक भी गुण विद्यमान नहीं है । इससे न तो नैतिक भावना का परितोष होता है, न करुणा और त्रास की उद्‌बुद्धि ही ।'[3]

सत्पात्र के पतन की परिस्थिति में सामाजिक पात्र के साथ तादात्म्य-भाव होना ही सम्भव नहीं है क्योंकि 'सत्पात्र' होने के नाते वह एक 'दिव्य पात्र' होता है जो मानवीय दोषों तथा दुर्बलताओं से मुक्त होने के कारण हमारी श्रद्धा का पात्र होगा ! ऐसे पात्र के पतन से त्रास और करुणा का उद्रेक नहीं होगा वरन् हमारे हृदय को ठेस पहुंचेगी और हम दुःखी होंगे । 'कारण यही नहीं कि सर्वथा निर्दोष पात्रों की दुर्गति को हम सहन नही कर सकते वरन् वे (पात्र) स्वयं ही असह्य हो जाते है । त्रासदी के सफल प्रभाव के लिए दिव्य-चरित्रों की उपयुक्तता परिसीमित है । इसके लिए हमें मानवीय पात्रों की आवश्यकता है ।'[4] दूसरे ऐसे दिव्य पात्र के साथ हमारा मानसिक सम्बन्ध संभव नहीं है । तादात्म्य-भाव वही सम्भव है जहां पात्र के साथ निकटता का मानवीय सम्बन्ध हो, जिसके गुण-शील आदि से हम भली-भांति परिचित हों, जिसके प्रति आकर्षण भाव हो, और चूंकि सत्पात्र के साथ सामाजिक का ऐसा सम्बन्ध न होकर अज्ञात व्यक्ति-सा सम्बन्ध रहता है, इसीलिए तादात्म्य सम्भव नहीं है । अतः तादात्म्य-भाव के अभाव में सत्पात्र के पतन से त्रास और करुणा का उद्रेक नही होगा । हमारे मन में उस व्यक्ति के प्रति ही करुण भाव जागृत होता है

---

१. अरस्तू का काव्य-शास्त्र (अनुवाद भाग), पृ० ३६ ।

२. वही, पृ० ३२ ।

३. वही, पृ० ३२ ।

४. F. L. Lucas, Tragedy in Relation to Aristotle's Poetics, page 130. edition 1957.
"The objection to perfect characters is not that their misfortunes are unbearable, it is rather that they tend to be unbearable themselves. Angles make poor dramatis personae. It is human beings that we need."

जो निरपराध दण्ड भोगता है।

दुष्ट पात्र के उत्कर्ष की परिस्थिति में त्रास और करुणा के उद्रेक का प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि दुष्ट पात्र के उत्कर्ष से हमारी नैतिक भावना पर चोट पहुंचेगी। परिणामतः वह विकर्षण, वितृष्णा, क्षोभ एवं घृणा का पात्र बनेगा। त्रासदी के प्रभाव और आनन्दजन्य आस्वादन के लिए यह परिस्थिति भी अनुकूल नहीं कही जा सकती।

एक तीसरी चारित्र्य-परिस्थिति और भी है जो त्रासदी के प्रभाव के लिए उपयुक्त नही कही गई है। उसका उल्लेख करते हुए अरस्तू कहते हैं---'किसी अत्यन्त खल पात्र का पतन दिखाना भी संगत नहीं है---इस प्रकार के कथानक से नैतिक भावना का परितोष तो अवश्य होगा, परन्तु करुणा या त्रास का उद्‌बोध नही हो सकेगा, क्योंकि करुणा तो किसी निर्दोष व्यक्ति की विपत्ति से ही जागृत होती है और त्रास समान पात्र की विपत्ति से। अतः ऐसी घटना से न करुणा उत्पन्न होगी, न त्रास।'[1] अत्यन्त खल पात्र के साथ सामाजिक का तादात्म्य सामान्य रूप से ही नहीं रहता। कारण, उसकी दुष्ट-प्रकृति। ऐसे पात्र के पतन से निश्चित ही सामाजिक की नैतिक भावना ही परितुष्ट होगी, त्रास और करुणा के उद्रेक का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः त्रासदी के लिए उपयुक्त पात्र वही हो सकता है 'जो अत्यन्त सच्चरित्र और न्यायपरायण तो नही है फिर भी अपने दुर्गुण या पाप के कारण नही वरन् किसी कमजोरी या भूल के कारण दुर्भाग्य का शिकार हो जाता है। यह व्यक्ति अत्यन्त विख्यात एवं समृद्ध होना चाहिए।'[2] ऐसे विख्यात एवं समृद्ध व्यक्ति के भाग्य-परिवर्तन से, जिसका पतन स्वभावगत एवं चारित्रिक कमज़ोरी अथवा भूल के कारण होगा, निश्चित ही सामाजिक की नैतिक भावना को परितुष्ट करने के साथ-साथ उसमें त्रास और करुणा के भाव को उद्‌बुद्ध करेगा। क्योंकि ऐसा पात्र 'सत्पात्र' न होने के कारण निर्दोष तो होगा ही नही और सामाजिक की मानसिक निकटता का वही चरित्र भाजन बन सकता है जो स्वभावगत अथवा चारित्रिक दुर्बलताओं का शिकार हो। क्योंकि ऐसे पात्र का भाग्य-परिवर्तन उत्कर्ष से अपकर्ष मानव-सुलभ किसी दुर्बलता या भूल के कारण ही होता है इसलिए उसके पतन से सामाजिक में त्रास के साथ-साथ करुणा का उद्रेक भी होगा। अतः स्पष्ट है कि अरस्तू के मत से नायक का भाग्य-निर्णय मानवेतर बाह्य शक्तियों एवं दोषों द्वारा होता है, और इस प्रकार की त्रासदी बाह्य शक्तियों

---

१. अरस्तू का काव्यशास्त्र (अनुवाद भाग), पृ० ३२-३३।
२. वही, पृ० ३३।

का नाटक कही जा सकती हैं।

इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि अरस्तू सर्वथा निर्दोष 'सत्पात्र' तथा दुष्ट अथवा खल पात्र को त्रासदी के नायक के उपयुक्त नही मानते। उनके मत से नायक अत्यन्त विख्यात एवं समृद्ध होना चाहिए, अर्थात् वह भद्र हो तथा उदात्त आदि गुणों से युक्त हो। उसका व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली हो कि वह अपनी आदर्शमयी भद्रता के साथ-साथ सामान्य मानवता का अंश रखता हो, जिसमें हमारी ही तरह प्रकृत भावनाएं और उद्वेग रहते हो और अपनी इन विशेषताओं के कारण हमारी अभिरुचि और सहानुभूति का पात्र बनता हो। अरस्तू के मत से ऐसा व्यक्ति कोई यशस्वी कुलीन पुरुष ही हो सकता है।[1] अर्थात् त्रासदी का नायक कोई राज-परिवार या अभिजात कुल का व्यक्ति ही हो सकता है। भारतीय आचार्यो का भी नायक के प्रति ऐसा ही दृष्टिकोण रहा है।

भद्रता के अतिरिक्त चरित्र में औचित्य, जीवन की वास्तविकता अथवा साधारण मानवता और एकरूपता के गुण अवश्य होने चाहिएं। औचित्य से अभिप्राय नायक के उन गुणों से है जो उसकी भद्रता अथवा कुलीनता के द्योतक ही नही वरन् उसके अनुकूल भी हों। दूसरे शब्दों में उसमें वर्गगत अथवा जातिगत विशेषताओं का ध्यान रखा जाये। अरस्तू इसी औचित्य-गुण को स्पष्ट करते हुए कहते है, 'पुरुष में एक विशेष प्रकार का शौर्य होता है परन्तु नारी-चरित्र में शौर्य या (नैतिक विवेक-शून्य) चातुर्य का समावेश अनुचित होगा।'[2] ऐसा पात्र वर्गगत विशेषताओं से युक्त होता हुआ भी अपने वैयक्तिक-वैशिष्ट्य को नष्ट नही होने देता। 'उसका चरित्र जीवन के अनुकूल होना चाहिए—यह गुण पूर्वोक्त 'भद्रता' और 'औचित्य' से भिन्न है।[3] जीवन की अनुकूलता से अभिप्राय यही है कि वह वास्तविक एवं यथार्थ भूमि की उपज हो, उसमे साधारण मानवता का अंश हो। उसके 'चरित्र में एकरूपता होनी चाहिए। हो सकता है कि मूल अनुकार्य के चरित्र में अनेकरूपता हो, किन्तु फिर भी यह अनेकरूपता ही एकरूप होनी चाहिए।'[4] चारित्रिक एकरूपता से उसका अभिप्राय स्थिर एवं अपरिवर्तनशील गतिविधियों से नहीं है, क्योंकि चरित्र-विकास में स्थैर्य एक दोष है। अतः उसमें अस्थिरता रहती है। यही परिवर्तनशीलता

१. अरस्तू का काव्य-शास्त्र (अनुवाद भाग), पृ० ३३।
२. वही, पृ० ४०।
३. वही, पृ० ४०।
४. वही, पृ० ४०।

उसका धर्म और उसके विकास की द्योतक है। उसमें कुछ स्वभावजन्य एवं संस्कारगत ऐसी विशेषताएं अवश्य रहनी चाहिएं जिनसे उसके अभिकार्यों में विश्रृंखलता न आये और जो सामूहिक रूप से उसके व्यक्तित्व की परिचायक हों। तभी वह अनेकरूपता एकरूप हो सकती है। एक ही चरित्र भिन्न परिस्थितियों में भिन्न प्रकार के आचरण करता है, लेकिन उसकी 'मूल प्रकृति' के कारण व्यापक रूप से विभिन्नत्व में अभिन्नत्व का होना अनिवार्य है। अरस्तू का चरित्र सम्बन्धी यह वक्तव्य कि 'चारित्र्य उसे कहते हैं जो किसी व्यक्ति की रुचि-विरुचि का प्रदर्शन करता हुआ नैतिक प्रयोजन को व्यक्त करे'[१] भी इसी मत की पुष्टि करता है।

इन गुणों के अतिरिक्त 'कथानक के संगठन की भांति चरित्र-निरूपण में भी कवि को सदैव अवश्यम्भावी या सम्भाव्य को ही अपना लक्ष्य बनाना चाहिए। जैसे आवश्यक या सम्भाव्य पूर्वापरता-क्रम से एक के बाद दूसरी घटना आती है वैसे ही आवश्यकता या सम्भाव्यता-नियम के अधीन किसी विशिष्ट चरित्र के व्यक्ति को अपने विशिष्ट ढंग से ही बोलना या काम करना चाहिए।'[२] आवश्यक एवं सम्भाव्य धर्म से यही स्पष्ट हो जाता है कि ये चरित्र निजी व्यक्ति-वैशिष्ट्य को न छोड़ें। ये चरित्र यथार्थ भूमि की उपज होते हुए भी आदर्श अवश्य हों क्योंकि त्रासदी में मानव का भव्यतर चित्रण रहता है। अतः अरस्तू कहते हैं—'चूंकि त्रासदी में ऐसे व्यक्तियों की अनुकृति रहती है जो सामान्य स्तर से ऊंचे होते हैं अतः उसमें श्रेष्ठ चित्रकारों का आदर्श सामने रखना चाहिए। ये चित्रकार मूल का स्पष्ट प्रत्यंकन करने के अतिरिक्त एक ऐसी प्रतिकृति प्रस्तुत कर देते हैं जो जीवन के अनुरूप होने के साथ ही उससे कहीं अधिक सुन्दर भी होती है।'[३]

अतः त्रासदी का नायक वही बन सकता है जो भद्र तथा औचित्य, उदात्त आदि गुणों से युक्त हो और मानवीय सहज दुर्बलता एवं स्वभावजन्य दोष अथवा निर्णय सम्बन्धी भूल के कारण जिसका भाग्य-परिवर्तन उत्कर्ष से अपकर्ष में हो। वस्तुतः नायक का पतन ही त्रासदी का आधार है, कथावस्तु ही उसकी आत्मा है और त्रास तथा करुणा ही उसकी प्रभाव शक्तियां हैं।

१. पूर्व-शेक्सपियर काल के नाटकों में नायक

अंग्रेजी नाट्य-रचना के आदिकाल के विषय में विद्वान् लोग एकमत नहीं

---

१. अरस्तू का काव्य-शास्त्र (अनुवाद भाग), पृ० २२।
२. वही, पृ० ४१।
३. वही, पृ० ४१।

हैं। इतिहासज्ञों का मत है कि इंगलैंड में रंगमंचीय खेलों का आरम्भ रोमन आक्रमणकारी जूलियस सीज़र की विजय के साथ होता है और उनके इंगलैंड छोड़ने के साथ ही इन खेलों की व्यवस्था नष्टप्राय हो जाती है। इंगलैंड में भी यूनान की तरह नाटक का उद्गम धार्मिक उत्सवों से होता है। आरम्भ में लोग भाटों, विदूषकों, गायकों, नटों आदि द्वारा ही मनोरंजन किया करते थे। ये लोग स्थान-स्थान पर जाकर गांव वालों तथा नगर वालों का मनोरंजन किया करते थे। क्योंकि ऐसे रंगमंच सब लोगों के लिए खुले थे, इसलिए जन-समाज ने इन भाटों तथा विदूषकों के अभिनय में विशेष रुचि प्रकट की। परिणामतः जनता की पादरियों के नीरस उपदेशों में अभिरुचि कम होनी शुरू हुई। इससे पादरियों ने इन भाटों तथा विदूषकों के प्रति न केवल असन्तोष ही प्रकट किया, बल्कि उन्होंने इनका विरोध भी आरम्भ किया। दूसरे भाटों और नटों ने इन खेलों के खेलने के लिए गिरजाघरों का उपयोग भी शुरू कर दिया था। इससे भी पादरी तथा धार्मिक लोगों ने इन भाटों तथा नटों का विरोध किया, यहां तक कि इनके नाटकों को उन्होंने पाप-प्रसार का साधन घोषित कर दिया। लेकिन जनता पर पादरियों के इस विरोध-भाव का कोई विशेष प्रभाव नही पड़ा और वे जनता की मनोरंजन-वृत्ति को परिवर्तित करने में सफल न हो सके। इससे एक तो भाटों और नटो को प्रोत्साहन मिला। दूसरे उनकी अभिनय कला का भी परिमार्जन हुआ। बाद में इन्हीं पादरियो ने अपने धार्मिक प्रचार के लिए इन्ही भाटों और नटों का सहयोग लिया। अब गिरजाघरों में ही नाट्य-अभिनय होने लगे। जब पादरियों को यह पता चला कि जनता की रुचि धार्मिक तत्व की अपेक्षा अभिनय में अधिक है तो उन्होंने गिरजाघरों में नाटक खेलना वर्जित कर दिया। अब इन भाटों तथा नटो ने खुले मैदानों में ही नाटक खेलने शुरू कर दिये। धीरे-धीरे ये भाट-और नट एकत्रित होने शुरू हुए और इनका एक बड़ा वर्ग बन गया। आधुनिक रंगमंच इन्हीं नाटक-मण्डलियों का परिवर्धित एवं परिष्कृत संस्करण है।

यद्यपि अंग्रेजी नाट्य साहित्य यूनान तथा रोम के साहित्य से थोड़ा-बहुत प्रभावित रहा है फिर भी अंग्रेजी नाटकों ने अपनी आत्मा को विस्मृत नही होने दिया। पूर्व शेक्सपीयर काल के नाटककारों में जॉन लिली तथा क्रिस्टोफ़र मार्लो के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। साहित्यिक कामदी का प्रथम रूप जॉन लिली (१५५४-१६०६) ने ही दिया। इन्होंने पौराणिक तथा प्राचीन गाथाओं को अपने नाटकों का कथानक बनाया और दरबारी दर्शकों के लिए ही इन्होने नाटक रचना की। दरबारी वातावरण तथा 'मोरैलिटीज़' की नैतिक भावना ही इनके नाटकों की विशेषता है। 'दि वुमन इन दि मून' ही इनका

एक ऐसा नाटक है जिसमें इन्होंने पद्य का प्रयोग किया है। शेष सभी नाटकों का माध्यम गद्य है। इनका प्रथम प्रसिद्ध नाटक है 'केम्पास्पे' (Campaspe), जिसका रचनाकाल १५८१ है। एलेक्ज़ेण्डर नाटक का मुख्य पुरुष पात्र है। उसके मन में अपने बन्दी केम्पास्पे के प्रति प्रेम-भावना के कारण गौरव-प्राप्ति की महत्वाकांक्षा और राजसी कर्तव्य में एक भीषण संघर्ष रहता है। परन्तु बाद मे ऐपेलीज़ का कैंप्पास्पे के साथ प्रेम हो जाता है जिसे एलेक्ज़ेण्डर अपनी प्रेयसी का चित्र वनाने के लिए कहता है। बाद में एलेक्ज़ेण्डर एक सम्राट की भांति अपने कर्तव्य की वेदी पर प्रेम का बलिदान कर देता है और केम्पास्पे की एपेलीज़ से शादी कर देता है। 'यह नाटक एक कृत्रिम शैली की उपज होते हुए भी अपने आप में पूर्व शेक्सपीयर युग की कृतियों में सर्वोत्तम एव दोष रहित रचना है।'[१]

'मदर बाम्बी' इतलावी ढंग पर लिखी हुई एक आधुनिक कामदी है जिसका कथानक जटिल है। लिली के अन्य नाटक है—सैफो एण्ड फ़ाओ, गैलेथिया, एनडिमियन आदि। लिली अपने नाटकों की परिहासजनक वृत्ति के कारण अधिक प्रसिद्ध हैं। नाटक के कथानक में कई एक दुर्बल क्षणों के आ जाने से प्रभावहीन जटिलता आ गई है। कई स्थलों पर लिली गम्भीर एवं कामदीय प्रभाव के मिश्रण का उचित निर्वहण नहीं कर सके। यद्यपि उनके नाटकों में सामान्य शक्ति, गाम्भीर्य और सच्चे आवेश का अभाव है, तो भी उनकी विषयगत मौलिकता तत्कालीन फैशनेबुल समाज के उपयुक्त है।

रोमाटिक मेलोड्रामा लिखने का प्रथम श्रेय थॉमस कीड (१५५८-९४) को प्राप्त है। 'स्पेनिश ट्रेजेडी' इनका पहला रोमांटिक मेलो ड्रामा है इन्होंने अपने नाटक में सेनेका के नाटकों का वातावरण ही देने का प्रयास किया है। इसलिए कीड ने भयावह कथानक को [illegible] के चरित्र-चित्रण में लेखक ने स्वकीयता का परिचय दिया है तो भी पात्रों के व्यक्तित्व को उभारने में वह पूर्ण रूप से सफल नही हुआ। समूचे नाटक में करुण-प्रभाव के कारण उसके दोष छिप गये हैं। हिरोनिमो इस नाटक का नायक है जो नाटक के अन्त में अपने पुत्र होरेशियो के एक हत्यारे के बाप की हत्या कर प्रतिशोध लेता है।

जार्ज पील (१५५८-९८) भी लिली की तरह दरबारी नाटककार थे। लिली की तरह इन्होंने भी भाषा-सौष्ठव पर विशेष ध्यान दिया है। इनमें

---

१. Louis Cazamian, A History of English Literature, edition 1934, page 403.
In itself. as an example of an artificial genre, this play is exquisite, the only perfect thing produced before Shekespeare.

प्रत्युत्पन्नमतित्व की अपेक्षा कवित्व शक्ति अधिक है। इनका प्रथम पौराणिक नाटक 'दि एरेनमेंट आफ पेरिस' १५८० में राजमहिषी तथा अन्य दरबारियों के समक्ष खेला गया। अपने नाटक 'डेविड एण्ड बेथज़्बे' में इन्होंने 'मोरैलिटी' नाटक-परम्परा का पालन किया है। इसका कथानक बाईबल से लिया गया है और इसमें लेखक ने बेथज़्बे आर एब्सोलम के दोहरे कथानक को एक ही साथ विकसित करने का असफल प्रयास किया है। कथा-प्रवाह शिथिल है और पात्रों में मौलिकता का अभाव है। 'ओल्ड वाइव्ज़ टेल' इनकी एक हास्य-व्यंग्य रचना है।

राबर्ट ग्रीन (१५६०-९२) नाटककार होने के साथ-साथ कवि तथा उपन्यासकार भी थे। इनकी प्रसिद्ध कामदियां हैं—फ्रायर बेकन एण्ड फ्रायर बंगे तथा जेम्स फ़ोर्थ। इन दोनों नाटकों में लेखक ने समाज के विविध वर्गो से पात्रों को चुना और पात्र-समन्वय की एक नवीन प्रणाली को जन्म दिया।

क्रिस्टोफर मार्लो (१५६४-९३) के प्रसिद्ध नाटक हैं—टेम्बरलेन दि ग्रेट, डाक्टर फाउस्टस तथा एडवर्ड सेकेण्ड। मार्लो से पूर्व के नाट्य साहित्य में नायक मानवी गुणों से विभूषित होता हुआ भी पाप-पुण्य के आध्यात्मिक तथा नैतिक कृत्यों का प्रतिनिधित्व करता था। नाटकों में पुण्य की विजय दिखलाई जाती थी। 'एवरी मैन' नाटक इसका प्रमाण है। ऐसे नाटकों को 'मोरेलिटीज़' की संज्ञा से अभिहित किया गया है। इन नाटकों की यथार्थवादिता एवं वास्तविकता ने ही आगे के नाटककारों का पथ-प्रदर्शन किया। जॉर्ज पील और मार्लो के नाटक इसके प्रमाण हैं। 'टेम्बर लेन दि ग्रेट' का नायक टेम्बर लेन मानवी शक्ति की अजेयता का प्रतीक है जिसने केवल मृत्यु के आगे ही सिर झुकाना सीखा है। मृत्यु के अतिरिक्त इस भौतिक संसार में और कोई ऐसी शक्ति या शत्रु नहीं है जो उसे पराजित कर सके। इसीलिए वह मनुष्यों और देवों को चुनौती देता है। वह अपूर्व योद्धा होने के साथ-साथ एक असाधारण प्रेमी भी है। ज़ेनोक्रेत से वह हृदय से प्रेम करता है लेकिन जब विधाता उसे उसके हाथों से छीन लेता है तो वह बड़े क्रोध के साथ उसकी शक्ति को चुनौती देता है। मार्लो के इस 'अजेय नायक' का स्वरूप पूर्ववर्ती नाट्य-साहित्य में नहीं मिलता। प्रभाव की दृष्टि से भले ही यह अधार्मिकता एवं नास्तिकता का प्रचार करने वाला सिद्ध हुआ है, तो भी लेखकों को मार्लो ने एक नवीन दृष्टि से प्रशस्त किया। 'एडवर्ड सेकैण्ड' एक ऐतिहासिक त्रासदी है। मानव-चरित्र-की यथार्थवादिता इसकी विशेषता है।

२. शेक्सपियर के नाटकों में नायक

संस्कृत नाटक-साहित्य में जो सम्मान और गौरव कवि-नाटककार कालिदास

को प्राप्त है, अंग्रेज़ी साहित्य में वही शेक्सपियर को। कालिदास की तरह ही शेक्सपियर के नाटक अपने देश की उपज होते हुए भी सार्वदेशिकता एवं सार्वभौमिकता के तत्वों से अनुप्राणित हैं।

अंग्रेज़ी के इस विश्व-विख्यात महान् नाटककार का जन्म सन् १५६४ मे स्ट्रेटफोर्ड-ऑन-एवन में हुआ और मृत्यु १६१६ में। अभिनेता और नाटककार शेक्सपियर बहुत शिक्षित न होने के कारण साहित्य के सिद्धान्तों से परिचित नहीं था फिर भी उसकी स्वभावजात प्रतिभा एवं रंगमंच के दैनिक अनुभवों ने उसकी नाट्यकला को परिमार्जित एवं सम्बन्धित किया। शेक्सपियर की हास्य व्यंग्यात्मक प्रतिभा लिली के नाटकों से पर्याप्त प्रभावित थी और उसने बहुत से नाटकों में लिली का अनुकरण भी किया है। शेक्सपियर ने अपनी कामदियों अथवा रोमांटिक नाटकों के वस्तु-भाव दूसरी पुस्तकों से भी लिए हैं और उनको बड़ी ही ईमानदारी और सचाई के साथ कलात्मक एवं नाटकीय ढंग से प्रस्तुत किया है। यथा 'एज़ यू लाइक इट' का मूल भाव उसने लॉज के एक उपन्यास से लिया, 'दि विंटरज़ टेल' का ग्रीन के एक उपन्यास से और 'ओथेले' सिथियों की कहानी है। 'ट्वैल्फ्थ नाइट,' 'मच एडो अबाउट नथिंग' तथा 'सिमवेलिन' के वस्तु-भाव मौलिक हैं।

शेक्सपियर ने अपने बहुत से नाटकों का कथानक इतिहास की गौरव गाथाओं से चुना लेकिन उसकी स्वकीयता और रंगमंच के ज्ञान के कारण उनमें अपूर्व कलात्मक सौन्दर्य आ गया है। शेक्सपियर का वैयक्तिक जीवन गुलाब की उन पंखुड़ियों के समान था जो चारों ओर कांटों से घिरा हुआ है और जिसे हर समय उनसे बींधे जाने का डर है। छोटी अवस्था से ही उसे व्यवसाय करना पड़ा। व्यावहारिक जीवन के कटु अनुभवों ने तथा पिता की मृत्यु ने उसके जीवन-दर्शन को बदला। ऐसे वातावरण में उसने घोर निराशावादी त्रासदियों की रचना की। ओथेलो, किंगलियर, मैकबैथ, हेमलेट आदि नाटको में लेखक का यही दृष्टिकोण रहा है। वैसे तो ये सभी के सभी शेक्सपियर की प्रौढ़तम कृतियां हैं फिर भी इनमें हेमलेट ने विश्व साहित्य में अपना विशेष स्थान बना लिया है। 'हेमलेट' में लेखक ने प्रत्युपकार, आत्महत्या, प्रेम आदि कई समस्याओं को उभारा तो है, परन्तु समाधान किसी का भी प्रस्तुत नहीं किया। हेमलेट के आत्मिक संघर्ष एवं दुःख से ही नाटककार ने सामाजिकों को परिचित करवाया है। 'हैमलेट' में नायक के बाह्य वातावरण की अपेक्षा उसका अन्तर्मन, उसकी कार्यशीलता की अपेक्षा उसका आलस्य ही नाटक का मुख्य आधार है। वस्तुतः उसका अपना चरित्र असाधारण है जिसे विशिष्ट परिस्थितियों के परिवेश में ही नाटककार ने चित्रित किया है। ऐसा नायक

नाटक का यद्यपि अत्यन्त ही दुर्बल प्राण है तो भी इस नाटक की गणना संसार की श्रेष्टतम कृतियों में की जाती है। इसका कारण है नाटककार द्वारा नायक के भीतरी अन्तर्द्वंद्व की अपूर्व निर्वहण शक्ति। शेक्सपियर के नाटकों के ऐसे दुर्बल नायक मानसिक अस्थिरता के शिकार रहते हैं और परिस्थितियां उन पर विजयी होती हैं।

शेक्सपियर ने कुल ३७ नाटक लिखे। उनकी प्रयोगावस्था की रचानाएं हैं—'लव्ज़ लेबर लास्ट,' 'दि कामेडी आफ एरर,' 'ए मिडसमर नाइट्स ड्रीम' आदि। कामदी के क्षेत्र में 'ए मिडसमर नाइट्स ड्रीम' का अपना ही स्थान है। इन रोमांटिक कामदियों में लेखक ने वस्तु तत्व को महत्व न देकर पात्रों को ही सशक्त बनाकर तथा अपनी लेखनी के कौशल, भाषा-सौष्ठव एवं व्यंग्यात्मक चोट से एक विलक्षण सौन्दर्य ला दिया है। ये नाटक लिली से प्रभावित हैं। इनका 'रिचर्ड थर्ड' नाटक मार्लो से प्रभावित है।

अरस्तू ने काव्यशास्त्र में कथानक को त्रासदी का साध्य माना और चरित्र को साधन। त्रासदी से उनका अभिप्राय 'गम्भीर नाटक' से ही था, किन्तु शेक्सपियर के समय में अरस्तू की ये दोनों ही मान्यताएं बदल गई थीं। शेक्सपियर के लिए नाटक में चरित्र चित्रण ही साध्य था और वस्तुतत्व उस साध्य की सिद्धि का एक मांध्यम। त्रासदी से उनका अभिप्राय था जिसमें कुलीन, उदात्त नायक की अपूर्व दुर्घटनाओं की परिणति उसके अन्त में हो। इसीलिए तो उन्होंने अपनी त्रासदियों में कुलीन घर के पात्रों राजाओं, राजकुमारों, सेनापतियों आदि का नाटक मे पतन दिखलाकर उनकी मृत्यु भी दिखलाई है। शेक्सपियर ने लगभग अपनी सभी त्रासदियों में नायक का अन्त दिखलाया है।

शेक्सपियर की त्रासदियों की विशेषताएं हैं—अमानवी एवं अति मानवी पात्रों का निरुपण, यथा हेमलेट, जूलियस सीज़र तथा मैकबेथ में प्रेतात्माओं तथा जादूगरनियों का चरित्र। दूसरे, भाग्य एवं दुर्घटनाओं का प्रकोप और तीसरे, पात्रों की मानसिक अस्थिरता। शेक्सपियर ने अपनी त्रासदियों में नायक के दोहरे त्रासद-व्यक्तित्व को उभारा है। परिणाम-स्वरूप उसे दो तरह की यातनाएं सहन करनी पड़ती है—भीतरी और बाह्य। भीतरी अथवा आन्तरिक त्रासदी में नायक को मानसिक संघर्ष एवं भावनाओं के पारस्परिक द्वन्द्व की यातना सहन करनी पड़ती है और उसकी बाह्य-यातना के कारण हैं—उन्माद, हत्या, संघर्ष आदि जो उसे सामाजिक, राजनैतिक अथवा पारिवारिक प्रतिक्रियाओं के परिणामस्वरूप प्राप्त होते हैं। हेमलेट को कर्त्तव्य और संशय में, ओथेलो को आवेगात्मक प्रेम और ईर्ष्या में, लियर को वात्सल्यभाव और

सन्तान-विद्रोह में तथा मैकबेथ को महत्वाकांक्षा एवं कर्तव्य परायणता में विषम द्वन्द्व का सामना करना पड़ता है। इन्हीं आन्तरिक बाह्य यातना के परिणामस्वरूप नायक मृत्यु को प्राप्त होता है। शेक्सपियर अपने चरित्रों को वातावरण और परिस्थितियों के 'कैनवेस' में इस ढंग से फिट करता है कि वे भाग्य के साथ टक्कर लेने की असफल चेष्टाएं करते हैं और परिणामतः वे मृत्यु को प्राप्त होते है। यही शेक्सपियर की त्रासदी का मूल आधार है। नायक की मृत्यु के बिना शेक्सपियर की त्रासदी अधूरी रहती है। नायक की मृत्यु या तो उसके विरोधी दल के व्यक्तियों द्वारा करवाई जाती है या अपनी भूल के परिणामस्वरूप पश्चाताप के रूप में वह स्वयं आत्महत्या कर लेता है। हेमलेट तथा कई अन्य त्रासदियों में रंगमंच शवों से परिपूर्ण हो जाता है।

नाटक के नायक के बारे में शेक्सपियर का दृष्टिकोण विशिष्ट था। उनके नाटकों के नायकों के स्वरूप-परिशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके अनुसार नायक वही पात्र हो सकता है जो असाधारण गुणों से युक्त, सशक्त, कुलीन एवं उदात्त हो। उसके कार्य-व्यापार और दुःख-संकट भी असाधारण कोटि के हों। अपनी नैसर्गिक अतिवादिता एवं असाधारण प्रकृति के बावजूद भी समाज में वह साधारण मानव से अधिक प्रतिष्ठा-प्राप्त हो। इससे यह अभिप्राय नहीं कि वह स्वभाव से सनकी हो या आदर्श चरित्र हो—अथवा दुरात्मा हो या पुण्यात्मा। सनकी वृत्ति वाले पात्रों को नाटक के इतिवृत्त मे नायक की अपेक्षा लेखक ने गौण महत्व ही दिया है, तो भी उसका त्रासद व्यक्तित्व और चरित्र इतना प्रभावशाली अवश्य हो कि वह हमारे अन्तर्मन का प्रतिनिधित्व कर सके। नायक का दुरात्मा या पुण्यात्मा होना भी इतना महत्व पूर्ण नहीं है (यद्यपि शेक्सपियर के नाटकों में अधिकांशतः उसे पुण्यात्मा ही ही चित्रित किया गया है), तो भी उसके प्रभावशाली व्यक्तित्व की गरिमा, निर्णय सम्बन्धी भूलें, अवांछनीय आलस्य अथवा कभी कभी अनपेक्षित कर्म-शीलता और परिणामतः उसका पतन मानव-प्रकृति का अनुसरण अवश्य करे। अपने मानवोचित गुणों एवं भूलों के कारण ही तो वह हमारी सहानुभूति का पात्र बन सकता है।

चारित्रिक जटिलता शेक्सपियर के नायकों की एक और विशेषता है और इसे नाटककार ने संकटकालीन, संघर्षमय परिवेश में ही नहीं वरन् विषम परिस्थितियों के विस्तार एवं उनके नवीन दिशा-प्राप्ति के स्थलों मे विभिन्न पात्रों के कथोपकथन के द्वारा भी व्यक्त किया है। शेक्सपियर के नाटकों के लगभग सभी नायक प्रतिक्रियावादी है। सभी परिस्थिति की प्रतिक्रियास्वरूप व्यवहार करते है। वे गतिशील पात्र हैं, रक्तमांस के पुतले हैं तथा जीवन से

अनुप्राणित हैं। इसीलिए तो उनके मानसिक संघर्ष में हमें अपना ही अन्तर्द्वन्द्व दिखलाई देता है। उनके सुख-दुःख को हम अपना ही सुख-दुःख समझते हैं। पात्रों के साथ तादात्म्य का यह अपूर्व भाव ही उनकी चारित्रिक क्षमता है। नायकों की प्रतिक्रियावादी प्रकृति की परिणति उनके दोषपूर्ण कार्य-व्यापार में होती है और दृष्टिकोण की अतिवादिता के कारण उनका झुकाव एक वस्तु, भाव की ओर इतना हो जाता है कि उससे मुक्त होना उनके लिए दूभर बन जाता है और अन्ततोगत्वा उन्हें विफलताओं का सामना करना पड़ता है। 'इस घातक त्रुटि के कारण ही अन्य पात्र भी जो उनके सम्पर्क में आते हैं दुःखी होते हैं और वे अपनी भी जान अन्त में खो बैठते है। परन्तु इस एकांगी दोष के कारण हम उनसे न तो घृणा करते हैं और उनको हास्यास्पद समझते हैं; वरन् इतने पर भी हम उनको श्रेष्ठ, प्रतिभाशाली तथा महान् व्यक्ति मानते हैं। उनकी विफलता और उनके पतन को देखकर हम में भय, सहानुभूति और करुणा का संचार होता है। यद्यपि उनका शरीर मृत्यु का ग्रास बन जाता है फिर भी हम उनकी आत्मिक और आध्यात्मिक शक्ति से बिना प्रभावित हुए नहीं रहते। उनकी श्रेष्ठता, उनकी प्रतिभा, उनकी आत्मा किसी तरह भी हमारे सम्मुख हीन नहीं हो पाती।'[१]

शेक्सपियर के नाटकों में जीवन के विविध वर्गों का चित्रण होने के कारण सभी तरह के पात्रों को स्थान मिला है। यद्यपि शेक्सपियर के जीवन-दर्शन में दृढ निश्चयात्मकता का अभाव है और उनकी रचनाओं की श्रेष्ठता उनकी निजी आदर्श भावनाओं से नहीं, वरन् परिस्थिति के अनुरूप पात्रों के आवेश-पूर्ण, निष्कपट, सरल एवं प्रभावशाली तर्कों के लचीलेपन से है जो उनके चरित्र के द्योतक है। विदूषक से लेकर राजा तक सभी पात्रों का जीवन के प्रति निजी दृष्टिकोण है, जिसे शेक्सपियर ने बड़े ही कलात्मक ढंग से व्यक्त किया है, वस्तुतः उनका नाटक साहित्य विविधता एवं विचित्रता का विशाल गगन है और उनके चरित्र उसके झिलमिलाते नक्षत्र। शेक्सपियर के नाटकों के ये राजनैतिक चरित्र आज के राजनीतिज्ञों के लिए भी सुन्दर आदर्श बनने की क्षमता रखते है। आज का नीति-निपुण व्यक्ति उन राजनैतिक नायकों की नीति एवं निर्णय-सम्बन्धी भूलों के परिशीलन से (जिनके कारण उनका पतन हुआ) अपने मार्ग को प्रशस्त कर सकता है।

३. उत्तर-शेक्सपियर-काल के नाटकों में नायक

अरस्तू ने अपने नाट्य-सिद्धान्तों का निर्माण अपने समय के नाटक-साहित्य

---

१. डाक्टर एस० पी० खत्री, नाटक की परख, पृ० ११८।

के आधार पर ही किया था। सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दी तक पहुंचते-पहुंचते नाटक साहित्य का अपूर्व विकास हुआ। समयानुसार उसके भीतरी रूप में भी परिवर्तन आया और साथ ही नाटक के नायक के विषय में भी नाटककारों की धारणा बदली। शेक्सपियर तथा उस युग के अधिकांश नाटककारों की कृतियां इस धारणा की पुष्टि करती हैं। अतएव यदि अरस्तू के आलोचना सिद्धान्तों पर उनके बाद के लिखे गये नाटक पूरे न उतरें तो इसमें न तो अरस्तू का ही दोष है और न ही उसके बाद के नाटककारों का। कई बार ऐसी स्थिति अवश्य आई जब कि आलोचकों ने शेक्सपियर और उसके बाद के कई नाटककारों के नाटकों को बलात् अरस्तू के सिद्धान्तों पर कसने की चेष्टा की, परन्तु १७वीं शताब्दी के प्रसिद्ध कवि एवं आलोचक ड्राईडन ने समय की मांग को अनुभूत किया और समाज तथा साहित्य के पारस्परिक अन्योन्याश्रित भाव को ध्यान में रखते हुए आलोचकों के ऐसे परम्परागत जर्जरित एवं असामयिक दृष्टिकोण की साधिकार-पूर्ण शब्दों में इस प्रकार भर्त्सना की—'केवल यही पर्याप्त नहीं है कि अरस्तू ने ऐसा कहा है, क्योंकि अरस्तू के समक्ष सॉफोक्लीज़ तथा यूरोपीडीज़ की कृतियों का ही आदर्श विद्यमान था। यदि उन्होंने हमारी कृतियों का मूल्यांकन किया होता तो निस्सन्देह उनकी धारणा बदल जाती।'[१]

निष्कर्षतः यही कहा जा सकता है कि अरस्तू के आलोचना-सिद्धान्त सीमित धरातल पर आधृत थे जिन्हें नये युग की परिस्थितियों के अनुरूप ढालना अनिवार्य बन चुका था। शेक्सपियर काल में परिवर्तन के ये चिह्न बड़े स्पष्ट हो चुके थे। यद्यपि शेक्सपियर ने बाह्य रूप से अरस्तू के सिद्धान्तों का उलंघन नहीं किया, फिर भी भीतरी रूप से उनका अनुकरण करना भी उन्होंने अनिवार्य नहीं समझा। अपने समय की मांग के अनुसार उन्होंने अपने नाटकों में नायक को नयी स्थिति में प्रस्तुत किया। शेक्सपियर के पश्चात लगभग दो शताब्दियों तक नाटक की स्थिति कोई सन्तोषजनक नहीं रही। शेक्सपियर के सशक्त व्यक्तित्व का प्रभाव सत्रहवीं शताब्दी के नाटककारों के मन और साहित्य पर पर्याप्त पड़ा। उनके नाटकों के पात्र शेक्सपियर के पात्रों की तरह ही 'भले-बुरे' की संज्ञा में विभाजित किये जा सकते हैं।

वीर त्रासदी (Heroic Tragedy) का साहित्य कोई विशेष सुरुचिपूर्ण

---

१ An essay on Dramatic Poetry; Dryden.
"It is not enough that Aristotle has said so, for Aristotle drew his models from Sophocles and Euripidies and if he had seen ours, might have changed his mind."

साहित्य नहीं है। इसमें नायक की वीरता और उसके प्रेम का अतिशयोक्ति-पूर्ण ढंग से चित्रण किया गया है जो अनेक बार हास्यास्पद की सीमा तक पहुंच गया है। ऐसे नायकों में अनुभूति एवं संवेदनशीलता की क्षमता अत्यधिक थी। इस युग के नाटककारों ने अपने नाटकों में नायक का चित्रण करने में शेक्सपियर की शैली का अनुकरण किया परन्तु उन्हें अपने इस प्रयास में विशेष सफलता नहीं मिली। रंगमंच की दृष्टि से भी ये नाटक पूर्णतः सफल नहीं हो सके। शेक्सपियर की सफलता का रहस्य तो यह था कि वे नाटककार होने के साथ-साथ एक कुशल अभिनेता भी थे, परन्तु इस युग के अधिकांश नाटककार रंग-मंचीय ज्ञान से अनभिज्ञ थे। यही कारण है कि इस युग के नाटककारों के हाथ में करुणा एवं त्रास की भावनाओं का चित्रण हास्यास्पद की स्थिति तक पहुंच गया है। नाटक की यही प्रवृत्ति उस समय जनता के मनोरंजन का विषय बनीं।

जार्ज एथिरीज़ (१६३५-६१) तथा विलियम वाइकर्ली (१६४०-१७१६) के नाटकों की विषय-वस्तु सामाजिक थी और उनमें हास-परिहास के अतिरिक्त और कुछ विशेष उपलब्ध नहीं होता। वाइकर्ली के अपने नाटकों के कथानक जॉनसन तथा फ्रांसीसी नाटककार मुलियर के नाटकों पर आधारित थे। 'दि जेंटिलमैन डांसिग मास्टर,' 'दि कन्ट्री वाइफ़' तथा 'दि प्लेन डीलर' इनके प्रसिद्ध नाटक है। 'दि कन्ट्री वाइफ़' में नायक एक ईर्ष्यालु पति के रूप में चित्रित किया गया है जो अपनी अल्प बुद्धि के कारण खूब मूर्ख बनता है और साथ ही दर्शकों के मनोरंजन तथा हंसी का विशेष कारण बनता है। वस्तुतः इनके नाटकों के नायक मोह तथा आनन्द के इन्द्रजाल में लीन होकर उपहासा-स्पद स्थिति तक पहुंच जाते हैं जो उन्हे कारुणिक और बीभत्स बना देते है।

इस युग के प्रसिद्ध नाटककार विलियम कांग्रीव के नाटकों के विषय भी सामाजिक थे जो तत्कालीन समाज का सच्चा प्रतिनिधित्व करते हैं। इनके नाटकों के नायक सामाजिक यथार्थ के अधिक निकट हैं। 'दि वे आव दि वर्ल्ड' के नायक मिले मन्ट में भी 'कांशेस' नाम का कोई अंश दिखाई नहीं देता।

कामदियों के अतिरिक्त इस काल में वीर त्रासदियों की भी रचना हुई। जॉन ड्राइडन ने इसी प्रकार के नाटकों की रचना की है। इनके नाटकों के नायक विशेषतः ऐतिहासिक है। नाटककार ने इनके वीरतापूर्ण कृत्यों का चित्रण अतिशयोक्तिपूर्ण ढंग से किया है जिसमें अस्वाभाविकता आ गई है।

वस्तुतः रेस्टोरेशन (Restoration) काल के ये नाटककार नाटक-साहित्य को कोई अमूल्य रचना नहीं प्रदान कर सके। इस युग के नाटककारो ने जिस घोर अनैतिक सामाजिक आचरणों का चित्रण किया, उसकी आलोचना

समाज के प्युरिटन (Puritan) वर्ग द्वारा खूब हुई। सत्य तो यह है कि नैतिक दृष्टिकोण से इन्होंने जिस समाज का चित्रण किया, वह बहुत ही उथला था। इसका सबसे बड़ा कारण यह था कि चार्ल्स द्वितीय के शासन की बाग-डोर हाथ में लेने से पूर्व नाट्य-शालाओं पर जो प्रतिबन्ध थे, वे उन्होंने शासक बनते ही हटा दिये। अतः चिरकाल के प्रतिबन्धों के एकाएक हटाये जाने पर नाटकीय साहित्य में एक प्रकार की उच्छृंखलता आ गई। चूंकि समाज के प्युरिटन वर्ग के प्रभावस्वरूप जनता की रुचि रंगमंच के लिए समाप्तप्राय हो चुकी थी, इसलिए नाटककारों ने मुख्यतः अभिजात वर्ग के लिए ही नाटक रचना की, जो पहले से ही पर्याप्त फैशनग्रस्त था। परिणामतः इस युग के नाटक साहित्य की एलिज़ाबेथ-कालीन नाटकों के समान जन-साधारण तक पहुंची नहीं थी।

अठारहवीं शताब्दी में भी नाटक साहित्य में कोई विशेष प्रगति नहीं हुई। कामदी का स्थान प्रहसन ने ग्रहण किया। नाटककारों की अपेक्षा अभिनेता वर्ग को अधिक महत्व दिया जाने लगा। दर्शकों तथा थियेटरों के व्यवस्थापकों का ध्यान शेक्सपियर, ब्यूमों तथा फ्लेचर की ओर अधिक आकृष्ट हुआ। उस समय फ्रांसीसी आचार-विचार, रीति-रिवाज तथा फैशन का प्रचार एवं व्यवहार जोरों पर था। जार्ज लिल्लो ने सबसे महत्वपूर्ण कार्य यह किया कि उसने (Domestic Drama) का सही अर्थों में सूत्रपात किया। अपने नाटकों में उसने साधारण जीवन के पात्रों को स्थान दिया और उनकी समस्याओं पर विचार किया। मुर्रे ने इस दिशा में लिल्लो को अपूर्व सहयोग प्रदान किया। यद्यपि गोल्डस्मिथ तथा रिचर्ड शेरिडन ने इस युग की भावुकतापूर्ण कामदियों का घोर विरोध किया, परन्तु वे स्वयं भी नाट्य साहित्य को स्थायी मूल्य की कोई कृति नहीं दे पाये।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक इंगलैंड में व्यापारी वर्ग ने खूब उन्नति कर ली थी जिसका प्रभाव जनता पर भी पड़ने लगा। सामाजिक व्यवस्था में परिवतन आ जाने के कारण जीवन की मान्यताएं बदलने लगीं। जीवन की नये ढंग से व्याख्या की जाने लगी। इस युग के महान् विचारकों-डार्विन, मार्क्स और फ्रायड के सिद्धान्तों ने साहित्य और समाज दोनों को प्रभावित किया। ज्ञान-विज्ञान के विकास से धर्म की भित्ति डगमगाने लगी। सामाजिक सम्बन्धों को तर्क की कसौटी पर कसा जाने लगा। व्यवसायी एवं मशीनी सभ्यता के विकास के परिणामस्वरूप बुद्धिवाद का आविर्भाव हुआ।

नाटकों मे बुद्धिवाद के प्रवर्तक नार्वे निवासी हेनरिक इब्सन माने जाते हैं, जिनका प्रभाव विश्व के सभी देशों के साहित्य पर पड़ा। इन्होंने समस्याप्रधान

नाटकों की नींव डाली, जिसमें कथानक और पात्र को समस्या की अपेक्षा कम महत्व दिया गया। इनके लिए नाटक में वही सत्य महत्वपूर्ण था जो उसमें पात्रों तथा परिस्थितियों की प्रेरक-शक्ति बनने की क्षमता रखता था। शेक्सपियर तथा उसके बाद के नाटकों में कथानक और पात्र को विशेष महत्व प्राप्त था, आधुनिक युग में उनका महत्व कम हो गया। उसमें मानवी भावों का यथार्थ चित्रण होने लगा। नाटक में पार्थिव जगत् की विषमतापूर्ण परिस्थितियों की यथार्थ-अभिव्यंजना रहने के कारण वह विचारप्रधान बन गया और नायक का व्यक्तित्व मात्र पृष्ठभूमि की वस्तु बन गया। वह नाटककार के प्रस्तावित सत्य का संप्रेषक तो बना परन्तु नाटक में उसका चारित्रिक विकास न हो सका। कार्य-व्यापार के अभाव में नायक के मानसिक अतन्र्द्वन्द्व को उभारने की चेष्टा की गई। ऐसे नायक को 'फ्लैट हीरो' अथवा स्थिर नायक की संज्ञा से अभिहित किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि समस्याप्रधान सामाजिक नाटकों में नाटककार का ध्यान नायक के व्यक्तित्व की अपेक्षा उसमें चित्रित समस्याओं पर अधिक केन्द्रित हुआ। यही नहीं वह नायक विशेष की अपेक्षा अपनी शक्तियों को समाज एवं विश्व में व्यक्ति के स्थान को निर्धारित करने में अधिक लगाने लगा।

इब्सन एक यथार्थवादी कलाकार हैं। उनके नाटकों का मूल आधार मनुष्य की आत्मा है। इसी आत्म-जगत् के द्वन्द्व का इन्होंने यथार्थ शैली में चित्रण किया है। 'पीयर जिन्ट' नाटक का नायक पीयर जिन्ट अवसरवादी है, जिसका आदर्श है 'स्वार्थ-साधन में सर्वस्व उत्सर्ग करो।' पीयर जिन्ट के चरित्र से नाटककार ने यही दिखलाने की चेष्टा की है कि स्वार्थपरता ही जीवन में सफलता का साधन है। 'व्यवसायी जीवन की स्वार्थपरता पर व्यंग्य करना ही लेखक का उद्देश्य है। 'मास्टर बिल्डर' में अतीत एवं वर्तमान के संघर्ष का सजीव चित्रण किया गया है। इसमें नायक हालवर्ड सोलनेस यह सोचता है कि नयी पीढ़ी के लोग, जिसका प्रतिनिधित्व उसका अपना शिष्य रेगनर ब्रोविक करता है, उसे वास्तु कला के क्षेत्र में प्राप्त गौरव एवं प्रतिष्ठा से वंचित कर देंगे और ऐसा ही होता है। रेगनर ब्रोविक अपनी प्रखर बुद्धि के कारण हालवर्ड सोलनेस से वास्तुनिर्माण कला के बारे में इतना अधिक ज्ञान प्राप्त कर लेता है कि गुरु की यश-प्रतिष्ठा उसके अपने ही शिष्य रेगनर ब्रोविक के समकक्ष मन्द पड़ जाती है। 'दि पिलर्स आव सोसायटी' में ऐसे नायक का चित्रण है जो अपने पाखण्ड के बल पर जनता का नेता बना हुआ है। वस्तुतः इब्सन ने अपने नाटकों में नायकों का चुनाव जीवन के विविध क्षेत्रों से किया है। उनके

नायक कहीं अवसरवादी है, कहीं पाखण्डी और हठधर्मी और कहीं आत्म-सिद्धि में लगे हुए स्वार्थ-साधक।

इस बात का पीछे विवेचन किया जा चुका है कि इब्सन ने जिस सामाजिक समस्याप्रधान नाटकों का प्रवर्तन किया, उसका प्रभाव उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण तथा बीसवीं शताब्दी के प्रथमार्द्ध के नाटककारों पर पर्याप्त पड़ा। जॉन गाल्सवर्दी, जार्ज बर्नाड शॉ आदि लेखकों की कृतियां इस बात की साक्षी हैं। गाल्सवर्दी (१८६७-१९३३) अपने समय के प्रसिद्ध नाटककार थे। निम्नवर्ग के लोगों के प्रति उनके हृदय में विशेष स्नेह एवं दयाभाव था। यही प्रवृत्ति उनके नाटकों में भी उभरी है। उनके 'स्ट्राइफ' (१९०९) में राबर्ट्स और एन्थोनी अपनी आवश्यकताओं तथा समस्याओं के लिए उतना नहीं उलझते जितना कि वे श्रमिक तथा धनी वर्ग के प्रतिनिधि होने के कारण झगड़ते हैं। यह द्वन्द्व व्यक्तियों के कारण नहीं, सिद्धान्तों के कारण होता है। 'जस्टिस' नाटक का नायक फाल्डर वीर की अपेक्षा दयनीय अधिक है। वह अपनी स्थिति का साहस से सामना करने में असमर्थ रहता है। वह एक अपराधी नायक के रूप में हमारे सामने आता है। वह सामाजिक कुरीतियों का शिकार है और यही कुरीतियां उसका इतना शोषण करती हैं कि वह अपने जीवन से ऊब कर आत्महत्या कर लेता है। इसमें जेलों की शासन-व्यवस्था की कटु आलोचना की गई है। इंगलैंड की जेलों में सुधार इस नाटक के कारण हुए थे। इसमें नाटककार ने न्यायालयों की हृदयहीनता की ओर भी संकेत किया है। 'सिलवर बाक्स' में धनी और निर्धन के प्रति न्यायालय के भिन्न-भिन्न न्याय-स्तरों की आलोचना की गई है। जैक और जोन्स दोनों ही माने हुए चोर हैं। जैक इसलिए चोरी के अपराध की सज़ा से बच जाता है क्योंकि उसका पिता एक धनी व्यक्ति है जो पैसे की शक्ति से न्याय को प्रभावित करने में सक्षम है।

यद्यपि गाल्सवर्दी ने अपने अधिकांश नाटकों में पात्रों की अपेक्षा समस्याओं को ही अधिक महत्व दिया है, परन्तु उनके 'दि मॉब' तथा 'दि फ्यूगिटिव' मे समस्याओं के समान पात्र भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। 'दि मॉब' का नायक स्टीफन एक आदर्शवादी व्यक्ति है जो अपने देश की पार्लियामेंट का सदस्य है। उसके देश की सरकार पड़ौसी देश पर आक्रमण कर उसे हड़पना चाहती है। वह सरकार की ऐसी नीति का घोर विरोध करता है और अपने आदर्श की रक्षा हेतु वह पार्लियामेंट की सदस्यता से त्याग-पत्र दे देता है। जनता इसके विचारों को पसन्द नहीं करती और अन्त में जनता की भीड़ में से एक लड़की के चाकू द्वारा इसकी हत्या हो जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गार्ल्सवर्दी के अधिकांश नाटकों के नायक सशक्त व्यक्तित्व के व्यक्ति नहीं हैं। वे मात्र पृष्ठभूमि का ही काम करते हैं।

आयर लैंड निवासी जॉर्ज बर्नाडशॉ (१८५६-१९५०) की गणना आधुनिक युग के महान् नाटककारों में की जाती है। बीस वर्ष की आयु में ये आयरलैंड से लन्दन में आ गये। शेष सारा जीवन उन्होंने वहीं पर बिताया। शॉ नाटककार तो थे ही, साथ ही एक महान् विचारक भी थे। शॉ ने कार्ल मार्क्स के सिद्धान्तों का खूब अध्ययन किया था। बटलर, फ्रायड, नित्शे और इब्सन के सिद्धान्तों का भी उन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। यह प्रभाव उनके नाटकों में भी परिलक्षित होता है। शॉ जीर्ण-जर्जरित सामाजिक रूढ़ियों एवं परम्पराओं के घोर विरोधी थे। यह विरोध उनके नाटकों में देखा जा सकता है। विज्ञान के नये आविष्कारों तथा साम्यवाद के प्रभाव एवं प्रचार स्वरूप समाज में नये आदर्श, नयी मान्यताएं जन्म ले रही थीं। फ्रायड के विचारों ने भी स्त्री-पुरुष के नैतिक एवं अनैतिक सम्बन्धों पर पर्याप्त प्रकाश डाला। लोगों में धर्म के प्रति आस्था डगमगाने लगी और भौतिक दृष्टिकोण से जीवन की व्याख्या की जाने लगी। शॉ ने जीवन के इन सभी परिवर्तित मूल्यों को अपने नाटकों में स्थान ही नहीं दिया वरन् उनकी वकालत भी की। यही कारण है कि शॉ के कुछ एक नाटकों में कथावस्तु की अपेक्षा विचार एवं तर्क की प्रधानता है। नाटकों के आरम्भ में दिये गये प्राक्कथनों में उन्होंने अपने विचारों एवं आदर्शों को तर्कपूर्ण शैली से पाठकों को प्रभावित करने की चेष्टा की है। इसीलिए कुछेक विद्वानों का विचार है कि उनके नाटकों के प्राक्कथन मूल नाटकों से अधिक प्रभावशाली हैं।

शॉ अपने नाटकों में किसी न किसी समस्या को लेकर ही चले हैं और उनके नायक शॉ के विचारों का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। शॉ के नायक बौद्धिक स्तर पर बहुत ही उच्चकोटि के नायक हैं। उनमें साधारण मानव की अपेक्षा अतिमानव के गुणों के दर्शन होते हैं। कहीं-कहीं उनके नायक आदर्शवादी भी बन गये हैं। शॉ के अतिमानव नायक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह सामाजिक दोषों एवं त्रुटियों को बहुत क्षणिक मानता है। वह किसी प्रकार के द्वन्द्व में विश्वास नहीं रखता। द्वन्द्व के स्थान पर शॉ ने अपने नायकों में विरोध भावना को प्रस्तुत किया। ऐसे नायक अपने आपको केवल 'जीवन-शक्ति' का प्रनिनिधित्व मानते है और जीवन को आगे बढ़ाने में तत्पर रहते हैं। उनका यह विश्वास है कि यदि मानव ने संसार में जीवित रहकर अपनी सत्ता को बनाये रखना है तो उसे प्रगति के मार्ग पर अग्रसर होना ही पड़ेगा, अन्यथा संसार की 'जीवन-शक्ति' प्राचीन युग के लोगों की तरह उन्हें

भी नष्ट कर देगी। 'मैन एण्ड सुपरमैन', 'मेजर बारबरा' तथा 'बैक टु मेथ्यूज़ीला' के नायक इसी प्रकार के है।

आॅस्कर वाइल्ड और हार्ले ग्रेनविल बार्कर की गणना भी आधुनिक युग के श्रेष्ठ नाटककारों में की जाती है। इन दोनों नाटककारो ने अपने नाटको मे वर्तमान जीवन की समस्याओं का यथार्थ शैली में चित्रण किया है। बार्कर के यथार्थवादी नाटक है—'दि ब्यायज़ी इनहेरिटेन्स', 'दि मैरीइंग आॅव ऐन लीट,' 'वेस्ट' तथा 'दि मद्रास हाऊस। 'दि ब्यायज़ी इनहेरिटेंस' में शॉ के मिसेज वार्नज़ प्रोफेशन की तरह वेश्या समस्या को चित्रित किया गया है। 'वेस्ट' मे भी सेक्स की समस्या को उभारा गया है। इसमें एक ऐसी नारी की दुखद कथा कही गई है जिसमे मातृ-भाव का अभाव है नाटक का नायक ट्रेबेल अपनी पत्नी के दोषों के कारण कष्ट उठाता है जो शेक्सपियर के त्रासदीय नायक की विशिष्टता से युक्त है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि विज्ञान के विकास, तथा इब्सन, मार्क्स, फ्रायड, आदि विचारकों के प्रभाव स्वरूप नाटक में नायक सम्बन्धी धारणा बदली। सामाजिक समस्याप्रधान नाटकों के प्रचारस्वरूप नाटक में नायक को सामाजिक शक्तियों के प्रतिनिधित्व के रूप में चित्रित किया जाने लगा और एक 'फ्लैट हीरो' (स्थिर नायक) बन गया। नाटककारो ने इसके चारित्रिक विकास की ओर न तो अपना ध्यान ही केन्द्रित किया और न ही उन्होंने ऐसा करना आवश्यक समझा। नाटक के आरम्भ से अन्त तक ये हमें एक ही विचार-धरातल पर खड़े मिलते है। आज का नाटककार नायक के व्यक्तिगत विचारों अथवा उसकी घटनाओं को इतना महत्व नही देता, जितना वह उसकी सामाजिक परिस्थिति, उसकी किसी शक्ति अथवा पक्ष का प्रतिनिधित्व करने की भावना को महत्ता प्रदान करता है।

दूसरी बात जो आधुनिक नाटको के नायक के विषय मे कही जा सकती है; वह है उसका सामान्य होना। प्राचीन तथा मध्ययुगीन नाटककारों ने केवल श्रेष्ठ एवं कुलीन वर्ग के व्यक्तियो को ही नायक का अधिकारी माना था, परन्तु आज जब कि नाटक यथार्थ जीवन के अधिक निकट पहुंच गया है, उसका विषय-क्षेत्र इतना विस्तृत हो गया है कि अब नाटक मे उन सभी पात्रों को, जो समाज द्वारा निम्नवर्ग के अथवा नरक के कीड़े समझे जाते थे, नाटक मे स्थान ही नहीं दिया गया, अपितु उन्हें प्रधान पात्र अथवा नायक के रूप में चित्रित किया जाने लगा। वह अपने वर्ग का, सामाजिक शक्तियों एवं विचारो का प्रतिनिधि पात्र है। वह वर्तमान युग की संघर्षशील परिस्थतियों के अखाडे में युद्ध करता हुआ अपने चरित्र को स्पष्ट करता है। सत्य तो यह है कि आज के

नाटक का नायक का स्वरूप विशिष्टता से सामान्य धरातल के अधिक निकट ही नहीं पहुंच गया वरन् कहीं अधिक मानवतावादी भी हो गया है।

४. हिन्दी नाटकों के नायक पर पाश्चात्य प्रभाव

(१) यद्यपि पूर्व भारतेन्दु युग के नाटकीय-काव्य शिल्प की दृष्टि से संस्कृत नाट्य-शैली एवं जननाट्य-शैली से प्रभावित थे, फिर भी उस युग में ही अंग्रेजों के आगमन के कारण पाश्चात्य प्रभाव के अंकुर प्रस्फुटित हो गये थे। उन दिनों अंग्रेज़ी भाषा का प्रभाव एवं प्रचार दिन प्रतिदिन बढ़ रहा था। महाराजा विश्वनाथ सिंह के 'आनंद रघुनन्दन' नाटक में अंग्रेज़ी शब्दों का प्रयोग इस बात का साक्षी है।[१] हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव बंगला नाटकों के माध्यम से पड़ा। १७९५ में बंगला रंगमंच का सूत्रपात्र एक विदेशी हेरासिम लेबेडाफ़ द्वारा कलकत्ता में हुआ। भारत में स्थित विदेशियों के मनोरंजनार्थ 'दि ग्रेट मुगल' नाम से एक कम्पनी खोली गई। २१ मार्च १७९६ में 'दि डिसगाइस' और 'दि लव इन दि वेस्ट डाक्टर' नाटकों को अनूदित करके अभिनीत किया गया। तदुपरान्त तो देश के कई बड़े बड़े नगरों में अंग्रेज़ी रंगमंच के आधार पर पारसी थियेटर खुल गये, जिन्होंने शेक्सपियर के नाटकों को हिन्दी में अनूदित करके उनके अभिनय किये। स्कूलों तथा पाठ्य-क्रम में अंग्रेजी शिक्षा के प्रचलन से भी शेक्सपियर के अनूदित नाटकों का खूब प्रचार हुआ। शिक्षा संस्थाओं के पारितोषिक-वितरणोत्सवों के अवसर पर इन नाटकों को अभिनीत किये जाने की एक प्रकार की परम्परा-सी चल पड़ी। १८३७ में 'मेट्रोपोलिटन एकेडमी' ने शेक्सपियर के 'जूलियस सोजर' नाटक का अभिनय किया, जिसकी अध्यक्षता डाक्टर विलसन ने की।[२] इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि भारतेन्दु से पूर्व ही हिन्दी नाटक पर पाश्चात्य नाटक साहित्य का प्रभाव पड़ना आरम्भ हो गया था। भारतेन्दु युग में यह प्रभाव अपेक्षाकृत और भी स्पष्ट हो गया।

(२) भारतेन्दु से पूर्व नाटकीय काव्यों एव जननाटकों (स्वांग, यात्रा,

---

१. आनन्द रघुनन्दन नाटक,

'ए किंग हितकारी माई डियर वेरी।
लिबरल एण्ड ब्रेव वीशटिरी ॥
गुड इस्प्रेड माइसिन टाप लार्ड।
गुड आल डैम विशुनाथ आफ गाड ॥'

२. Das Gupta, Indian Theatre, Part I, page 295.

नौटंकी आदि) की जो परम्परा मिलती है, उसका प्रभाव भारतेन्दु युग के नाटक साहित्य पर कोई विशेष नहीं पड़ा। इस युग के नाटक साहित्य का आविर्भाव प्रमुखतः संस्कृत तथा अंग्रेजी (विशेष रूप से शेक्सपियर के) नाटकों के अनुवादों की छाया में ही हुआ। हिन्दी में यह पाश्चात्य प्रभाव बंगला के माध्यम से आया। इस युग के अनेक नाटककारों ने बंगला के नाटकों के हिंदी में अनुवाद किये। भारतेन्दु का 'विद्या सुन्दर' तथा केशवराम भट्ट का 'सज्जाद सुम्बुल' इसके उदाहरण है।

पुरातन के प्रति मोह और नवीन के प्रति आग्रह एवं आकर्षण इस युग की विशेष प्रवृत्ति है। पाश्चात्य संस्कृति एवं सभ्यता के निकटतम सम्पर्क ने जहां भारतीय जनता को परम्परागत धार्मिक रूढ़ियों एवं संकीर्ण रीति-रिवाजों को त्याग कर नये रहन-सहन की ओर आकृष्ट किया, साथ ही साहित्यिक क्षेत्र में भी युग के नाटककार को संस्कृत के नाट्यशास्त्र की जटिलताओं के प्रति अपेक्षाकृत उदासीन कर शेक्सपियर की स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति की ओर उन्मुख किया। परन्तु इस युग का नाटककार न तो एकदम संस्कृत नाट्यशैली को त्यागने में सक्षम हुआ और न ही वह पूर्णरूपेण पाश्चात्य नाट्य-शिल्प को अपना सका। संस्कृति एवं सभ्यता के इस सन्धि काल में इस युग का नाटककार समन्वित दृष्टि को अपनाने के लिए विवश हुआ।

भारतेन्दु इस युग के सशक्त एवं प्रतिनिधि नाटककार हैं जिन्होंने स्वयं अपने नाटकों में इसी समन्वयात्मक प्रवृत्ति को अपनाया। उन्हें संस्कृत एवं पाश्चात्य नाटक-साहित्य का पर्याप्त ज्ञान था। उनका 'नाटक' नामक निबन्ध इस बात का प्रमाण है। इस निबन्ध में उन्होंने संस्कृत नाट्यशास्त्र और पाश्चात्य नाट्य परम्परा के अनुरूप दृश्य काव्य की परिभाषा, उसके पुराने एवं नवीन भेदों की चर्चा की है और साथ ही त्रासदी और कामदी आदि की परिभाषा भी दी है। भारतेन्दु ने इस निबन्ध में अनेक स्थलों पर ऐसे विचार व्यक्त किये हैं, जो यह सिद्ध करते हैं कि संस्कृत नाट्यशास्त्र के बहुत से नियम वर्तमान युग के अनुकूल नहीं हैं, यथा—

'नाटकादि दृश्यकाव्य प्रणयन करना हो तो प्राचीन समस्त रीति ही परित्याग करें यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि जो सब प्राचीन रीति वा पद्धति आधुनिक सामाजिक लोगों की मत पोषिका होगी वह सब अवश्य ग्रहण होगी। नाट्यकला-कौशल दिखलाने को देश, काल और पात्र गण के प्रति विशेष रूप से दृष्टि रखनी उचित है। पूर्वकाल में लोकातीत असम्भव कार्य की अवतारणा सभ्यगण को जैसी हृदयहारिणी होती थी; वर्तमान काल में नहीं होती है।

'अब नाटकादि दृश्यकाव्य में अस्वाभाविक सामग्री-परिपोषक काव्य सहृदय

सभ्य-मण्डली को नितान्त अरुचिकर है; इसलिए स्वाभाविकी रचना ही इस काल के सभ्यगण की हृदय-ग्राहिणी है, इससे अब अलौकिक विषय का आश्रय करके नाटकादि दृश्यकाव्य प्रणयन करना उचित नहीं है। अब नाटक में कहीं 'आशीः' प्रभृति नाट्यालंकार, कहीं 'प्रकरी,' कहीं 'विलोभन,' कहीं संफेट,' कही 'पंचसंधि,' वा ऐसे ही अन्य विषयों की कोई आवश्यकता ही नहीं रही संस्कृत नाटक की भांति हिन्दी नाटक में इनका अनुसंधान करना, वा किसी नाटकांग में इनको यत्नपूर्वक रखकर हिन्दी नाटक लिखना व्यर्थ है क्योंकि प्राचीन लक्षण रखकर आधुनिक नाटकादि की शोभा संपादन करने से उल्टा फल होता है और यत्न व्यर्थ हो जाता है।'[१]

भारतेन्दु ने अपने इसी निबन्ध में त्रासदी (वियोगान्त) एवं कामदी (संयोगान्त) का भी उल्लेख किया है। संस्कृत नाटक-साहित्य में दुःखान्त नाटकों का नितान्त अभाव है। परन्तु पाश्चात्य नाटक साहित्य के प्रभाव स्वरूप उन्होंने ऐसा अनुभव किया कि हिन्दी में दुःखान्त नाटकों की भी रचना होनी चाहिये। तभी तो उन्होंने अपने निबन्ध में संयोगान्त एवं वियोगान्त दोनों प्रकार के नाटकों की चर्चा को उचित समझा। इस युग की सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वप्रथम दुःखान्त रचना है लाला श्री निवासदास कृत 'रणधीर और प्रेम-मोहिनी।' नाटक की भूमिका में दिये गये वक्तव्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि लाला जी को अरस्तू के काव्य शास्त्रीय नियमों का पूर्ण परिचय था।[२] इस युग के नाटककारों को शेक्सपियर के नाटक विशेष रूप से प्रिय थे और उनका प्रभाव भी इन पर काफ़ी पड़ा। शेक्सपियर के नाटक साहित्य की इस लोक-प्रियता का प्रचुर प्रमाण पण्डित काशीनाथ के निम्न पत्र से मिल सकता है जो

---

१. सं० बाबू ब्रजरत्न दास, भारतेन्दु नाटकावली (द्वितीय भाग), पृष्ठ ३७३-३७४।

२. सं० डा० श्रीकृष्ण लाल, श्री निवास ग्रंथावली, निवेदन, पृ० ७-८।
'जिस नाटक के अन्त में सब बखेड़ा मिट कर आनन्द हो जाये उसे अंग्रेज़ी में कामेडी (Comedy) कहते है और जिसके अन्त में करुणा रस बना रहे वो ट्रेजेडी (Tragedy) कहा जाता है। 'रणधीर सिह और प्रेम-मोहिनी' का नाटक ट्रेजेडी है और अंग्रेज़ी में 'ओथेलो,' 'रोमिओ-जुलियट' बंगला में 'कृष्ण कुमारी,' 'नील-दर्पण,' गुजराती में 'जमशेद' और 'रुस्तम सोहोराब' वगैरे बहुत भाषाओं में ट्रेजेडी नाटक मिलते है। नाटक का खेल पूरा हुए पीछे ट्रेजेडी का असर बहुत देर तक देखने वालों के मन में बना रहता है।'

उन्होंने 'शेक्सपियर कवि की नाटक-रचना' शीर्षक से 'सार सुधानिधि' के सम्पादक पण्डित शम्भुनाथ मिश्र को १३ अगस्त, १८७६ में लिखा था—

'श्रीयुत 'सार सुधानिधि' सम्पादक महाशय ! निवेदनमिदम्',

शेक्सपियर कवि केवल ग्रेट ब्रिटेन देश में ही नहीं, वरन् यूरोप के सब प्रदेशों में अपनी कविता और नाटक रचना के लिए प्रसिद्ध है। इसके नाटक ऐसे सुन्दर अपूर्व रीति से लिखे गये है, उनमें कवि ने मनुष्य के हृदय के भाव, संकल्प, विकल्प, प्रीति, भय, त्रास, चिन्ता आदि का मानो साक्षात् चित्र ही चित्रित कर दिया है। उनके नाम की उन प्रदेशों में बड़ी प्रतिष्ठा है और उनके नाटकों के तमाशे नित्य प्रति उन देशों के नाट्य भवनों में हुआ करते हैं। चार्ल्स लैम्ब साहब ने साधारण पाठकों के चित्त विनोदार्थ और विद्यार्थियों के उपकार के लिए इस महाकवि के नाटकों की कहानियों को बहुत ही सरल और साधु इंगलिश भाषा में लिखा है। यह बड़े मनोहर और ललित है। इस कारण मेरा विचार है कि सब में जो रमणीय है, क्रम-क्रम हिन्दी भाषा में अनुवाद कर लूं। इनमे से 'मरचेंट आफ़ वेनिस' (वेनिस के व्यापारी), 'ए विंटर्स टेल' (शरद ऋतु की कहानी) दो नाटकों का अनुवाद हो चुका है। पहिला 'कवि वचन सुधा' में क्रम-क्रम से छप रहा है, दूसरा आज आपके पास भेज रहा हूं। कृपा करके अपने पत्र में स्थान दीजियेगा। शेष को सावकाश मैं अनुवाद करके आपके पास भेजूगा। यदि हमारे कृपालु पाठकों को इनके पढ़ने से आनन्द हो और चित्त प्रसन्न हो, और कुछ ज्ञान उपदेश हो, तो यह दास अपने परिश्रम को सुफल करके मानेगा। यदि आप अथवा कोई और गुण ग्राहक, उदार चित्त महात्मा इन नाटकों को अलग ग्रंथाकार छपवाने का प्रबन्ध कर लेवे, तो मैं बहुत शीघ्र इन सबका अनुवाद करके भेज दू। मुझे इस परिश्रम से धर्म उपार्जन करने की इच्छा नहीं है।

आपका परम मित्र

सिरसा, जिला इलाहाबाद   काशीनाथ

१३ अगस्त, १८७६

पूर्व भारतेन्दु हिन्दी नाटकीय काव्यों का क्षेत्र केवल पौराणिक था, परन्तु भारतेन्दु युग में पाश्चात्य नाटको के प्रभावस्वरूप हिन्दी नाटकों को नये विषय, नया शिल्प-विधान तथा नयी दिशा मिली। इस युग में ऐतिहासिक तथा सामाजिक यथार्थवादी नाटकों की रचना आरम्भ हुई। पाश्चात्य नाट्य-रचना शैली के दु:खान्त नाटक भी लिखे गये। सुधारवादी चेतना के परिणामस्वरूप सामाजिक विषयों को लेकर हास्य-व्यंग्य-प्रधान प्रहसनों की रचना भी इस युग मे हुई।

इस युग के कई नाटककारों ने अपने पौराणिक नाटकों में अलौकिक चित्रणों को यथासम्भव त्यागने की प्रवृत्ति दिखाई है। उन्होंने ऐसे नाटकों में नायक के चरित्र को अधिक स्वाभाविक एवं यथार्थ बनाने की चेष्टा की है। स्वयं भारतेन्दु इस बात को अनुभव करते थे कि 'अब नाटकादि दृश्य-काव्य में अस्वाभाविक सामग्री-परिपोषक काव्य सहृदय सभ्य-मण्डली को नितान्त अरुचिकर है।'[1] अतः युग की मांग को ध्यान में रखते हुए उन्होंने अपने पौराणिक एवं ऐतिहासिक नाटकों के नायकों का चरित्रांकन अधिक स्वाभाविक ढग से किया है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक के नायक के चरित्र-चित्रण में नाटककार ने पूर्णरूपेण प्राचीन नाट्यशास्त्रीय परम्परा का पालन नहीं किया। दशरूपक के अनुसार धीरशान्त नायक ब्राह्मण अथवा वैश्य होता है, परन्तु नाटक के हरिश्चन्द्र ब्राह्मण अथवा वैश्य न होकर क्षत्रिय हैं। घोर अंधेरी रात्रि के समय श्मशान में जब शैव्या मृत पुत्र रोहिताश्व को उठाये हुए विलाप करती हुई आती है, उस समय का नायक के मन में प्रेम और कर्त्तव्य का संघर्ष शेक्सपियर के हैमलेट जैसा है। इस दृश्य का वातावरण भी दुखान्त नाटकों जैसा है। वस्तुतः नाटककार ने नायक के मन में प्रेम और कर्त्तव्य में मानसिक अन्तर्द्वन्द्व दिखाकर उसके चरित्र को अधिक स्वाभाविक बना दिया है।

भारतेन्दु के 'नीलदेवी' नाटक में संघर्ष का चित्रण भी शेक्सपियर के दुःखान्त नाटकों के सदृश है। नाटक का नायक सूर्यदेव शेक्सपियर के दुःखान्त नाटकों के नायक के अनेक गुणों से युक्त है। उसकी मृत्यु दुःखान्त नाटक के नायक के समान भय और करुणामय वातावरण में होती है। 'भारत दुर्दशा' में सत् और असत् वृत्तियों का चित्रण पाश्चात्य 'मोरेलिटी' नाटकों की भांति है। संस्कृत नाट्य-शास्त्र के अनुसार नाटक के मंच पर आत्महत्या, वध, मृत्यु आदि के दृश्य दिखाना वर्जित है, परन्तु भारतेन्दु ने 'नीलदेवी' में नायक की मृत्यु के साथ नायिका का सती होना दिखलाकर संस्कृत नाट्य-शास्त्र के नियम का उल्लंघन किया है और पाश्चात्य नाट्य-शैली का पालन।

भारतेन्दु शेक्सपियर के नाटकों से इतना प्रभावित थे कि उन्होंने उसके 'दि मर्चेन्ट आफ वेनिस' का 'दुर्लभ बन्धु' नाम से अनुवाद किया। इस अनुवाद में उन्होंने पात्रों के नामों का भारतीयकरण कर भारतीयता के प्रति अपने मोह को भी साथ ही स्पष्ट कर दिया है। 'अन्धेर नगरी' आदि प्रहसनों में सामाजिक यथार्थ का चित्रण भी पाश्चात्य प्रभाव के कारण हुआ है।

ज्वाला प्रसाद मिश्र के 'सीता वनवास' नाटक में, दुर्मुख द्वारा लोकापवाद

---

१. सं० ब्रजरत्नदास, भारतेन्दु नाटकावली (द्वितीय भाग), पृ० ३७४।

की बात सुनकर राम के मन में प्रेम और कर्त्तव्य का परस्पर संघर्ष दिखाना पाश्चात्य प्रभाव के कारण है और कर्त्तव्य की विजय दिखलाना भारतीय नियमों के अनुकूल है।

देवकीनन्दन त्रिपाठी के 'सीताहरण' नाटक में राम को जाति-भेद-भाव तथा पुरुषों द्वारा बहु-विवाह के विरोधक एवं समाज में स्त्रियों को उचित सम्मान देने के समर्थक के रूप में चित्रित किया गया है। इसमें राम का चरित्र देवता की अपेक्षा मानवीय अधिक है। नाटक के अन्य पात्रों के चरित्रांकन में भी नाटककार ने लौकिकत्व को महत्व दिया है। इसमें जयन्त काग न होकर पक्षी-विशेषज्ञ और राजकुमार है। वानर, गृद्धराज आदि अन्य पात्र भी मानव रूप में ही चित्रित किये गये हैं।

'दमयन्ती स्वयंवर' में बाल कृष्ण भट्ट ने भी नायक नल के चरित्र को महाभारत के नल की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक बनाने की चेष्टा की है। महाभारत का नल देवताओं के प्रति कर्त्तव्य निभाने में शिथिलता से आचरण करता है, परन्तु नाटक में इस स्थल पर नल में प्रेम और कर्त्तव्य में मानसिक अन्तर्द्वन्द्व दिखलाकर चरित्र को अधिक स्वाभाविक बना दिया गया है।

हिन्दी में दु:खान्त नाटकों का सूत्रपात श्रीनिवास दास के 'रणधीर और प्रेममोहिनी' से होता है। नाटक की भूमिका से यह स्पष्ट हो जाता है कि नाटककार पाश्चात्य त्रासदी के नियमों से परिचित है। नाटक का नायक रणधीर साहसशीलता में शेक्सपियर के रोमियो जैसा है। प्रेममोहिनी के स्वयंवर का दृश्य शेक्सपियर के 'दि मर्चेण्ट आफ़ वेनिस' के 'कासकेट सीन' से पर्याप्त साम्य रखता है। एक-दो स्थलों पर तो रणधीर और प्रेममोहिनी के परस्पर प्रेम-सम्वाद रोमियो और जूलियट के बालकनी के दृश्य की छाया से प्रतीत होते हैं। इनके 'संयोगिता-स्वयंवर' नाटक के अन्तिम दो अंक जिनमें संयोगिता-हरण का प्रसंग वर्णित किया गया है शेक्सपियर के 'दि मर्चेट ऑफ वेनिस' के शाइलॉक की पुत्री जेसिका के अपहरण की घटना से प्रभावित है।

इस नाटक पर पाश्चात्य प्रभाव बतलाते हुए डाक्टर गोपीनाथ तिवारी लिखते हैं—

"(१) नाटक दु:खान्त है। (२) नायक का वध हो जाता है जो भारतीय नाट्यशास्त्र की दृष्टि से सर्वथा वर्जित है। (३) नाट्यशास्त्र द्वारा वर्जित दृश्य-युद्ध, मरण, शव, मंच पर दिखाये गये हैं। (४) नाटक संघर्ष को आधार मान कर लिखा गया है, एवं उसमें आन्तरिक एवं बाह्य संघर्ष भरे हैं। (५) पश्चिमी दु:खान्तकी के कई अनिवार्य कारणों (नायक की अपनी दुर्बलता, उसका अभिमान, देवता, भूतप्रेत या भाग्य से संघर्ष, बाह्य परिस्थिति या समाज से

संघर्ष, अन्त: संघर्ष के समय की दुर्बलता, नायक जानबूझ कर त्रुटि कर दे—निकल, थ्योरी आफ़ ड्रामा, पृ० १४८-१५२) में से 'नायक का अभिमान और उसकी दुर्बलता'—दुःखमय अन्त का कारण है।'[१]

केशवराम भट्ट के नाटक भी पाश्चात्य प्रभाव से वंचित नहीं है। 'सज्जाद सुम्बुल' के आरम्भ में सज्जाद एक पत्र द्वारा यह सूचित करता है कि आगामी शनिवार को अंजुमने साइंटिफिक एसोशिएशन में बाबू हेमचन्द्र चक्रवर्ती 'आदमी बंदर की औलाद है'—विषय पर लेख पढ़ेंगे। इससे स्पष्ट है कि नाटककार डार्विन के विचारों से पर्याप्त प्रभावित है।

'रणधीर और प्रेममोहिनी' से प्रेरणा प्राप्त कर शालिग्राम वैश्य (लावण्यवती सुदर्शन) आदि अन्य कई लेखकों ने जो रचनाएं लिखीं, वे भी पाश्चात्य नाट्य-शैली से प्रभावित हैं।

गोपालराम गहमरी के 'यौवन योगिनी' नाटक के नायक पृथ्वीराज का चरित्र-चित्रण भी पाश्चात्य शैली से प्रभावित है। उसका चरित्र संस्कृत नाटकों के नायकों के समान स्थिर कोटि का नहीं है, अपितु विकसनशील है। उसमें रोमांटिक नायक के गुण हैं।

नायक के चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भारतेन्दु युग की श्रेष्ठ रचना है राधाकृष्णदास का 'महाराणा प्रताप सिंह' नाटक। इसमें नायक के मानसिक घात-प्रतिघातों एवं चारित्रिक सबलताओं-दुर्बलताओं का चित्रण बड़े सुन्दर ढंग से हुआ है। कई स्थलों पर राणा प्रताप का मानसिक अन्तर्द्वन्द्व हैमलेट जैसा चित्रित हुआ है।

(३) वस्तु एवं शिल्प की दृष्टि से द्विवेदी युग के नाटककार ने भारतेन्दु युगीन नाटक-परम्परा एवं आदर्शों का ही पालन किया है। इस युग में मौलिक नाटकों की रचना की ओर नाटककारों का ध्यान बहुत ही कम गया। दूसरी भाषाओं से हिन्दी में अनुवाद करने की प्रवृत्ति ही प्रधानतया दिखाई पड़ती है। फिर भी जो थोड़े बहुत नाटक इस युग में लिखे गये उन पर पाश्चात्य प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। भारतेन्दु युग के नाटककारों के समान इस युग के नाटककारों ने भी पाश्चात्य नाट्य-रचना-शैली को संस्कृत नाट्य-रचना-शैली की अपेक्षा अधिक समयोपयुक्त समझा। बदरीनाथ भट्ट ने 'कुरुवन-दहन' की भूमिका मे इस तथ्य को स्वीकार किया है। वे लिखते हैं—'उसकी (संस्कृत के भट्ट नारायण कृत 'वेणी संहार' नाटक की) और इसकी शैली में भी बड़ा भेद है। यह अंगरेज़ी ढंग पर एक्ट (अंकों) तथा सीन (दृश्यों) में विभक्त किया गया

१. भारतेन्दु कालीन नाटक साहित्य, पृ० १७७।

है, जिसमें खेलने में भी सुगमता पड़े। अंग्रेजी नाट्य-रचना-पद्धति संस्कृत नाट्य-रचना-पद्धति से कहीं उन्नत तथा समयोपयुक्त है, इसलिए उसका ही अनुकरण करना अधिक उचित समझा गया।[१]

भट्ट जी के 'वेणुसंहार' नाटक में कई स्थानों पर देश-काल दोष मिलता है। पात्रों का अंग्रेज़ी में बातचीत करना,[२] न्यूटन की चर्चा करना,[३] होटलों में टी, वराण्डी, मटन, ह्विस्की[४] आदि का आनन्द उठाना स्पष्ट रूप से पाश्चात्य प्रभाव को प्रकट करता है। नाटक का नायक वेणु भी भारतीय नाट्य-शास्त्रीय परम्परानुसार आदर्श पात्र नहीं है। वह तो प्रजा-पीड़ित एवं अत्याचारी है।

माखन लाल चतुर्वेदी के 'कृष्णार्जुन युद्ध' नाटक की आत्मा पौराणिक है परन्तु उसका क्लेवर सामयिकता के पर्याप्त अनुकूल है। इसके वस्तु-तत्व में संघर्ष है। नाटक के नायक नारद को कर्मठ स्वयं-सेवक के रूप में चित्रित किया है जो समाज से शासकों के प्रजा के प्रति अन्याय एवं अत्याचारपूर्ण व्यवहार को दूर करने के लिए प्रयत्नशील होता है। नाटक के आरम्भ में नटी के द्वारा तार का पढ़ना, सूत्रधार द्वारा स्वयंसेवा को योरोपीय पौधा कहना (जिसको अपने देश में लाने का श्रेय अंग्रेज़ सरकार को है), चित्रसेन का विमान द्वारा यात्रा करना आदि बातें नाटक में पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव स्वरूप ही समाविष्ट हो गई हैं।

राधेश्याम कथावाचक के 'वीर अभिमन्यु' नाटक के नायक अभिमन्यु की मृत्यु जूलियस सीज़र के समान नाटक के पूर्व भाग में ही हो जाती है। शालिग्राम वैश्य के 'पुरुविक्रम' नाटक का नायक पुरुराज जूलियस सीज़र के समान साहसी एवं वीर है। बदरीनाथ भट्ट के 'चन्द्रगुप्त' में लेखक ने जार्ज पंचम के प्रति स्वामि-भक्ति प्रदर्शित की है। अंग्रेजी के डेमन और पीथियस कथानक के आधार पर नाटक में एक गौण कथा-प्रसंग को नाटक के मुख्य कथानक के साथ सम्बद्ध करने का प्रयास किया गया है। वस्तुतः इस युग का नाटककार

---

१. कुरुवन दहन नाटक, संस्करण १९१२ पृ० १।

२. भट्ट नाटकावली, पृ० ६०।
तरुणी कहती हैं—"So wise we born we call our fathers fools."

३. वही, पृ० ५८।
'कोई चिन्ता नहीं हम आकर्षण-मन्त्र जानते है। नहीं तो न्यूटन के आकर्षण की ईजाद कब काम आवेगी जो आपके होश को लाके न हाजिर करेगी।'

४. वही, पृ० ६१।

अपने पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों में भी पौराणिकता एवं ऐतिहासिकता की रक्षा करने के लिए उतना प्रयत्नशील नही दिखाई पड़ता जितना वह तद्-युगीन देशकाल की सीमाओं को अतिक्रमण कर सामयिक चित्रण में रुचि लेता हुआ प्रतीत होता है।

सामाजिक नाटकों में आनन्दप्रसाद खत्री का 'कलियुग' नाटक शेक्सपियर के 'किंग लियर' पर आधारित है। नाटक का समस्त वातावरण 'किंग लियर' जैसा है।

(४) भारतेन्दु तथा द्विवेदीयुगीन नाटक साहित्य की अपेक्षा प्रसाद तथा प्रसादोत्तर युग के नाटक साहित्य पर पाश्चात्य जीवन-दर्शन एवं नाट्य-शिल्प का प्रभाव और भी व्यापक एवं स्पष्ट रूप से पड़ा। इस युग का नाटककार शेक्सपियर के नाट्य-सिद्धान्तों से तो प्रभावित हुआ ही, साथ ही इब्सन, शॉ तथा गाल्सवर्दी की नाट्य-शैलियों एवं विपय-प्रतिपादन से भी पर्याप्त प्रभावित हुआ। यह प्रभाव इस युग के केवल सामाजिक नाटकों में ही नहीं वरन् पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों की विषय-वस्तु एवं चरित्र-चित्रण में भी पर्याप्त मात्रा में देखा जा सकता है। युग के अधिकांश नाटककारों ने पौराणिक और ऐतिहासिक कथानकों के परिवेश में भी सामयिक जीवन की समस्याओं का चित्रण किया है। यही कारण है कि इस युग के अनेक पौराणिक नाटकों में युग का स्वर अधिक मुखर हुआ है और नाटककार द्वारा पौराणिकता की रक्षा कम हो पाई है। विज्ञान के बढ़ते हुए प्रभाव ने साहित्य में बुद्धिवाद को जन्म दिया और चूकि बुद्धिवादी नाटककार को पौराणिक कथानकों की आलौकिक, चमत्कारपूर्ण एवं असम्भाव्य घटनाएं जीवन की यथार्थ भाव-भूमि पर स्वीकार नही थी, इसलिए ऐसे नाटकों की घटनाओं को नाटककारों ने यथासम्भव सम्भाव्य और अकृत्रिम बनाने का प्रयास किया। परिणाम-स्वरूप पात्रो के चरित्र-चित्रण में नाटककार का आग्रह उसे अधिक स्वाभाविक और यथार्थ बनाने की ओर विशेष रूप से रहा। अतः इस युग के पौराणिक नाटकों के राम और कृष्ण साक्षात् भगवान् अथवा अवतार न होकर असाधारण गुणों से युक्त आदर्श महापुरुष है। सेठ गोविंददास के 'कर्तव्य' (पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध) के राम और कृष्ण के चरित्र इसी रूप में चित्रित किये गये हैं।

विज्ञान के विकास ने जहां व्यक्ति के सामाजिक जीवन को अधिक सुखमय बनाने के लिए विशेष सुविधाएं प्रदान की, साथ ही उसके जीवन को अधिक संघर्षमय और विषमतापूर्ण भी बना दिया। समाज की ऐसी परिस्थितियों का प्रभाव इस युग के नाटक साहित्य पर भी पड़ा। इसी प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप युग के पौराणिक नाटकों में वर्तमान जीवन की विषमतापूर्ण कठोर परिस्थितियों

का चित्रण मिलता है। ऐसे नाटकों का उद्देश्य प्राचीन सांस्कृतिक गौरव को दिखा कर देश-प्रेम, राष्ट्रीयता एवं नैतिक भावनाओं को उभारना था। बलदेव प्रसाद खरे के 'सत्याग्रही प्रह्लाद' तथा राधेश्याम के 'परम भक्त प्रह्लाद' नाटकों का नायक प्रह्लाद अपने पिता हिरण्यकशिपु के अत्याचारों के प्रति शान्तिपूर्ण ढंग से विद्रोह करता है और लोगों में भगवद्-भक्ति, देश-सेवा एवं शुद्ध आचरण का मार्ग प्रशस्त करता है। राधेश्याम के नाटक में तो प्रह्लाद के व्यक्तित्व एवं विचारों से प्रभावित होकर समस्त दरबारी उसके साथ हिरण्यकशिपु के अत्याचारों के प्रति विद्रोह करते हुए दिखाये गये हैं। उग्र के 'महात्मा ईसा' के ईसा विचारों से प्रगतिशील हैं। नाटककार ने उन्हें राजनैतिक सुधारक के रूप में चित्रित किया है। भट्ट कृत 'विद्रोहिणी अम्बा' का भीष्म अपने अपराध की पापाग्नि के अनुताप में जलता है। अम्बा नारी की स्वाधीनता की समर्थक है और वह समाज की संकीर्ण रूढ़ियों के प्रति विद्रोह करती है 'सगर-विजय' का सगर देश-भक्त और प्रजावत्सल है। प्रजा की इच्छा और राष्ट्र का सुख ही उसके लिए सर्वोपरि है। बदरीनाथ भट्ट ने 'वेन चरित्र' में वेन तथा राधेश्याम ने 'ऊषा-अनिरुद्ध' में बाणासुर को नायक बनाकर नाट्य-शास्त्रीय परम्परा का पालन नहीं किया। गोविन्दबल्लभ पंत के 'वरमाला' का नायक अवीक्षित् रोमांटिक गुणों से युक्त है।

प्रसाद के नाटकों में भारतीय और पाश्चात्य नाट्य-विधानों का समन्वय मिलता है। विषय-वस्तु की दृष्टि से प्रसाद के नाटकों में जहां भारत के गौरव-मय अतीत के प्रति विशेष आकर्षण मिलता है, साथ ही चरित्र-चित्रण तथा नाट्य-शिल्प की दृष्टि से वे पाश्चात्य प्रभाव को आत्मसात् किये हुए हैं। उनके नाटकों में नायक भारतीय नाट्य-शास्त्रीय परम्परा की कसौटी पर पूर्णतः खरे नहीं उतरते। वे शेक्सपियर की स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों से प्रभावित हैं। नाटककार ने उनके मानसिक संघर्ष, घात-प्रतिघात तथा चारित्रिक सबलताओं एवं दुर्बलताओं का बड़े सुन्दर ढंग से चित्रण किया है। शेक्सपियर के नायकों की विशेषता है उनका चरित्रगत शील-वैचित्र्य। प्रसाद के नायक भी इस विशेषता से युक्त हैं। उन्होंने अपने नायकों का देवत्व की अपेक्षा मानव की यथार्थ भाव-भूमि पर निर्माण किया है।

प्रसाद के समान युग के अन्य ऐतिहासिक नाटककारों ने अपने नाटकों में सामयिक समस्याओं का चित्रण किया है। हरिकृष्ण प्रेमी, उदयशंकर भट्ट, सेठ गोविंददास, जगन्नाथ प्रसाद मिलिंद आदि नाटककारों ने अपने नाटकों में देश-प्रेम एवं राष्ट्रीय भावनाओं के साथ वर्तमान जीवन की अन्य समस्याओं का भी चित्रण किया है। यद्यपि इन नाटकों के अधिकांश नायक असाधारण

गुणों से युक्त आदर्श मानव हैं तथापि नाटककारों ने उनकी चारित्रिक सबलताओं एवं दुर्बलताओं का मनोवैज्ञानिक ढंग से चित्रण कर उनके चरित्र को अधिक स्वाभाविक बना दिया है। कही भी तो वे पात्र अपने जीवन से दूर नही दिखाई पड़ते। इन ऐतिहासिक नाटकों के अधिकांश नायक स्वाधीन देश की आकांक्षाओं के प्रतीक हैं। वे समाज और जाति की जहां साम्प्रदायिकता की संकीर्ण भावनाओं का प्रबल विरोध करते हैं, साथ ही देश की स्वाधीनता के लिए भी लड़ते हैं। प्रेमी तथा भट्ट के नायक इसी प्रकार के है। सेठ गोविन्ददास के 'शशिगुप्त' का शशिगुप्त (चन्द्रगुप्त), 'कुलीनता' का यदुराय तथा चतुरसेन के 'अजितसिंह' का अजित सिंह रोमांटिक नायक की विशेषताओं से युक्त है।

हिन्दी में समस्याप्रधान सामाजिक नाटकों का आविर्भाव पाश्चात्य नाटको के प्रभाव स्वरूप ही हुआ। इस युग के अधिकांश नाटककार इब्सन, शॉ आदि की नाट्य-प्रवृत्तियों से प्रभावित है। लक्ष्मीनारायण मिश्र, पृथ्वीनाथ शर्मा, हरिकृष्ण प्रेमी, सेठ गोविन्ददास आदि नाटककारों ने अपने नाटकों में व्यक्ति की सेक्स की समस्याओं तथा सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं का चित्रण किया है। चूंकि समस्या-नाटकों में नाटककार की प्रवृत्ति चरित्र-चित्रण तथा घटना-तत्व की अपेक्षा बौद्धिक तर्क-वितर्क पूर्ण ढंग से समस्या के विवेचन मे ही अधिक रहती है, इसलिए ऐसे नाटकों मे चरित्र-चित्रण की दृष्टि से कोई भी पात्र विशेष प्रमुखता को प्राप्त नहीं करता। नाटक के ये पात्र किसी विचार अथवा प्रवृत्ति-विशेष का ही प्रतिनिधित्व करते हुए परिलक्षित होते है। ऐसे नाटकों में नायकत्व का प्रश्न ही नहीं उठता।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आलोच्य युग में हिन्दी नाटक में नायक का विकास प्राचीन नाट्य-सिद्धान्तों की अपेक्षा उत्तरोत्तर पश्चिमी सिद्धान्तों के प्रकाश में ढलता रहा है। प्राचीन मान्यताओं का अंकुश उत्तरोत्तर शिथिल होता गया है और पश्चिमी नाट्य-साहित्य का प्रभाव उसी अनुपात में उत्तरोत्तर सबल होता गया है। अनेक नाटकों में तो यह प्रभाव शत प्रतिशत पश्चिमी हो गया है और इनमें प्राचीन मान्यताओं की खोज का प्रयास साहित्यिक कौतूहल से अधिक महत्व नहीं रखता। अतः निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि हिन्दी नाटक में नायक के विकास की यह प्रवृत्ति उत्तरोत्तर आदर्श से यथार्थ तथा विशिष्ट से सामान्य की ओर ही रही है।

पंचम अध्याय

पूर्व भारतेन्दु युग के नाटकों में नायक

पूर्व भारतेन्दु युग में हिन्दी नाटक साहित्य का समुचित विकास नही हो पाया। राजनैतिक, सामाजिक एवं साहित्यिक परिस्थितियां इसके अनुकूल नहीं थीं। विदेशी शासकों के निजी धार्मिक साहित्य एवं संस्कृति में नाट्य-शिल्प के विकास के लिए कोई स्थान नहीं था। अतः वे इस कला को राजकीय संरक्षण प्रदान करने में असमर्थ थे। संगीत एवं काव्य को तो उन्होंने खूब प्रोत्साहन दिया परन्तु नाट्य कला राज्याश्रय से वंचित ही रही। अपने प्रादेशिक शासकों के पास भी अपने ही पारस्परिक झगड़ों के कारण इस कला को प्रोत्साहन प्रदान करने के लिए न ही अवकाश था और न साधन-सम्पन्नता। जनता भी राजनैतिक अस्थिरता और सामाजिक दुरवस्था के कारण अवसादग्रस्त थी और नाट्य आदि कला के विकास से प्राप्त होने वाले मनोरजन के प्रति उदासीन थी। यह समूची स्थिति रंगमंच के विकास के अनुकूल नही थी। मध्ययुग में जन-नाटक परम्परा का अस्तित्व अवश्य प्रमाणित होता है परन्तु इस परम्परा को जीवित रखने वाले अभिनेता लोग प्रायः समाज के निम्न स्तर से सम्बन्ध रखते थे और उनका चरित्र सर्वथा सन्देह से शून्य नहीं होता था। इसीलिए समाज में उनका सम्मान भी कम था। समाज में अभिनेताओं के प्रति इस उपेक्षा-भाव के कारण भी नाट्य-परम्परा को आगे बढ़ने में रुकावट हुई।

प्रौढ़ गद्य के विकास के अभाव ने भी नाटक साहित्य के विकास के मार्ग में बाधा उपस्थित की। डाक्टर श्री कृष्ण लाल एवं डाक्टर सोमनाथ गुप्त आदि कई एक विद्वान् विकसित गद्य के अभाव को इस विषय में बहुत महत्व नही देते। उनका कहना है कि संस्कृत के नाटक भी तो कवितामय हैं और शेक्सपियर के नाटकों में कविता की मात्रा अत्यधिक है, परन्तु यह सब कुछ ठीक होते हुए भी इस बात से इन्कार करना कुछ कठिन है कि शकुन्तला, उत्तररामचरितादि संस्कृत नाटकों में गद्यांश अपर्याप्त महत्वहीन एवं अशक्त नही हैं और भारतीय साहित्य में इन नाटकों का गौरवपूर्ण स्थान केवल मात्र उनके पद्यांशों

पर निर्भर नहीं करता। यदि उनके गद्यालापों को बिल्कुल निकाल दिया जाये तो भी क्या वे नाटक अपनी कीर्ति को अक्षुण्ण बनाये रखने में समर्थ हो सकेंगे, यह संदिग्ध है। शेक्सपियर के नाटकों के विषय में भी यही बात कही जा सकती है।

निष्कर्षतः कारण चाहे कुछ ही हो, यह एक अकाट्य वस्तु-स्थिति है कि इस दीर्घ मध्ययुग में साहित्यिक नाटकों का अभाव-सा है। रीवां नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह के 'आनन्द रघुनन्दन' के अतिरिक्त और कोई ऐसी कृति देखने में नही आती जिसे शास्त्रीय नाटक की संज्ञा से अभिहित किया जा सके।

हा, इस युग में कुछ एक कवियों की ऐसी रचनाएं अवश्य उपलब्ध होती है जिन्हे उन्होंने स्वयं नाटक की संज्ञा दी है। परन्तु वास्तव में उनमें नाटकीय नियमों का पालन नही हुआ है और वे नाटकीय काव्य से अधिक कुछ नहीं है। प्राणचन्द कृत 'रामायण महानाटक', हृदयरामकृत 'हनुमन्नाटक', बनारसीदास जैन कृत 'समयसार नाटक', कृष्ण जीवन लछीराम कृत 'करुणाभरण नाटक', उदय कवि कृत 'राम करुणाकार नाटक' आदि इसी प्रकार की रचनाएं हैं। इनके अतिरिक्त संस्कृत के 'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक के अनेक अनुवाद भी इस काल में हुए, परन्तु मौलिक न होने के कारण इन रचनाओं का महत्व अवश्य गौण है।

यहा इस बात का उल्लेख कर देना अप्रासंगिक न होगा कि यद्यपि पूर्व भारतेन्दु युग के नाटकीय काव्यों को कई आलोचक इन्हें विशुद्ध रूप से नाटक स्वीकार करने में संकोच करते है* और नायक के चरित्र विकास की दृष्टि से भी इनका अल्प महत्व है, फिर भी इनकी यहां विवेचना इसलिए अभीष्ट एवं वांछनीय है कि एक तो इन नाटकीय काव्यों के रचयिताओं ने इनके साथ 'नाटक' शब्द का प्रयोग किया है और दूसरे, हिन्दी के कई विद्वान् इनकी गणना जन नाटको में करते है।[१]

इस युग में निम्न प्रकार के नाटक मिलते हैं—

१. पौराणिक नाटक
(क) रामचरित सम्बन्धी
(ख) कृष्ण चरित सम्बन्धी
(ग) अन्य चरित सम्बन्धी
२. नाट्य रूपक
३. अन्य नाटक

---

* भारतेन्दु, रामचन्द्र शुक्ल, श्याम सुन्दरदास, ब्रजरत्नदास, डाक्टर लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, डाक्टर एस० पी० खत्री, डाक्टर देवर्षि सनाढ्य आदि।

१. डा० दशरथ ओझा, डा० भगीरथ मिश्र, डा० श्याम परमार आदि।

१. (क) रामचरित सम्बन्धी नाटकों में नायक

रामायण महानाटक

हिन्दी नाटक के आदिकाल में रामचरित सम्बन्धी पहला पद्यमय नाटक **'रामायण महानाटक'** प्राणचन्द चौहान ने सन् १६१० में 'रामचरित मानस' की शैली पर लिखा। इसका कथा-आधार वाल्मीकि रामायण और रामचरित मानस है। इसमें लेखक ने राम के अलौकिक व्यक्तित्व को उभारने का प्रयास किया है। राम के चरित्र-चित्रण में लेखक वाल्मीकि की अपेक्षा रामचरित मानस से अधिक प्रभावित है।

हनुमन्नाटक भाषा

राम-परम्परा में अगला नाटक हृदयराम भल्ला कृत 'हनुमन्नाटक भाषा' सन् १६२३ में संस्कृत के 'हनुमन्नाटक' के आधार पर लिखा गया। यह इस नाटक का अक्षरक्षः अनुवाद नहीं है। संस्कृत में इस नाटक के दो सस्करण मिलते है। पहले संस्करण के लेखक दामोदर मिश्र माने जाते है। इस संस्करण में १४ अंक मिलते है। दूसरे संस्करण के रचयिता मधुसूदन दत्त हैं। इस संस्करण में ९ अंक है। पद्यात्मकता की बहुलता के कारण प्रोफेसर लूडर इसकी गणना छाया नाटकों की कोटि में करते हैं।[1]

डाक्टर दशरथ ओझा हृदयराम कृत 'हनुमन्नाटक' को संस्कृत के नाटक का अनुवाद नहीं मानते। इस सम्बन्ध में डाक्टर ओझा की युक्तियां अकाट्य है।[2]

---

१. ए० बी० कीथ, दि संस्कृत ड्रामा, पृ० २७०।

२. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, पृ० १५४-१५५।

(क) 'संस्कृत के हनुमन्नाटक से केवल ३८ छन्दों में भाव-साम्य मिलता है। हिन्दी हनुमन्नाटक में कुल ११८३ छन्द हैं। ११८३ छन्दों में केवल ३८ छन्दों का भाव-साम्य नगण्य ही है।

(ख) संस्कृत हनुमन्नाटक में नांदी, सूत्रधार मिलते है, किन्तु हिन्दी हनुमन्नाटक में इनका कही पता नहीं।

(ग) वस्तु-संविधान में दोनों नाटकों में अन्तर है। ××× इस प्रकार वस्तु-संविधान, संवाद-योजना आदि कई बातों में इतना अन्तर है कि हिन्दी नाटक को न संस्कृत का अनुवाद कह सकते है न रूपान्तर। हृदयराम जी ने अंकों का संविधान अवश्य संस्कृत नाटक के अनुसार किया है। इस कारण इसका भी नाम हनुमन्नाटक रख दिया है।'

इस नाटक में लेखक ने नाट्य-शास्त्रीय परम्परा का पालन नहीं किया। नाटक में सूत्रधार, नांदी-पाठ, पात्र-प्रवेश आदि की भी योजना नहीं है। इसमें विदूषक भी नहीं है। संवादात्मक ढंग से लेखक ने राम-कथा कही है जिसमें असम्बद्धता अधिक है। नाटकीयता का भी नितान्त अभाव है। अतः इसे नाटक नहीं माना जा सकता। नाटककार नाटक के आरम्भ में ही नाटक की सारी कथा का सार इस प्रकार दे देता है—

ऋषि संग जायवो धनुष चटकाइवो
धरनिजा विवाहिवो वडोई यश पाइवो।
धायवो परशुराम गैल में खिसायवो
उलट वन जायवो श्रीराम राज गायवो॥
वाट को सिधायवो जनकजा चुरायवो
समुद्र को पटायवो लंकपति घायवो।
वीर तीय संग ले पलट घर आइवो
सुऐसो रामचन्द्र गीत तुमें है सुनायवो॥[1]

इस प्रकार आरम्भ में सारी कथा कह देने से नाटक में कौतूहल नाम मात्र को भी नहीं रहता। नाटककार ने नाटक के नायक राम के चरित्र का उदात्तीकरण कर अलौकिकत्व की स्थापना की है। स्थान-स्थान पर नाटककार तुलसी के प्रभाव को ग्रहण किये हुए प्रतीत होता है। पहले अंक में धनुष-भंग के समय राम के अलौकिक वीरत्व का नाटककार ने इस प्रकार परिचय दिया है—

तेज पुंज दोऊ भाई राज ऋषि आज्ञा पाई
उठे रघुराई मन माँहि अति हरखे।
पायसो लगाय एक हाथ ही उठाय राम
राजन के बल सब तेही घरी परखे॥
सुरग पताल हिले अचल तमाल गिरे
हालचाल परी मन सब ही के धरखे।
देवता विमान ते सुरेश के दिवान ते
निशेष ब्रह्म भानु ते हरष फूल बरखे॥१।६०॥[2]

नाटक का आरम्भ ही नायक राम के अवतारी रूप के महिमोल्लेख से होता है—

---

१. हनुमन्नाटक भाषा, लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई की १८८७ ईस्वी की प्रति, प्रथम अंक, कवित्त संख्या १७, पृ० ४।

२. लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस की प्रति, पृ० ११।

तीनों लोकपति प्राणपति प्रीति ही में रति
अगिनत गती के चरण शिर नाइ हौं ।
सदा शीलपति सतपति एक नारीव्रत
शिव सनकादि पति यशहि सुनाइ हौं ।।
सुरपतिहू के पति जानकी के पति राम
नैन कोर ओर कबहूं तो पर जाइ हौं ।
फुरे वाकपति सुनो संत साधुमति तब
ऐसे रघुपति के कछुक गुण गाइ हौं ।।१।१।।[1]

ऐसे मर्यादाशील राम के चरित्र-चित्रण में नाटककार जहां परम्पराबद्ध दिखाई पड़ता है, साथ ही कई स्थलों पर उसने उसकी मर्यादा-भंग करा कर चारित्रिक नवीनताओं को भी स्थान दिया है। जनकपुरी में विश्वामित्र के साथ जब राम और लक्ष्मण पहुंचते है, तो स्वयं जनक का राजाओं की भरी सभा में यह कहना—

श्री रघुवीर कही सब सों भई वीर बिना छिति रोई पुकारी ।
देखहु हाथ लगाय सबै भट नाक चली कट नाक तुमारी ।।१।५५।।[2]

और सीता का राम को देखकर मन में ऐसा सोचना—

जानकी जान की आश तजी कि बरों इनको कि मरो विष खाई ।।१।५८।।[3]

आदि कथन राम और सीता की मर्यादाशीलता के विपरीत है। मानव-प्रकृति की स्वाभाविक दुर्बलताओं का यत्र-तत्र चित्रण कर नाटककार ने देवत्व और मानवत्व का अद्भुत समन्वय किया है। डाक्टर गोपीनाथ तिवारी हनुमान को इस नाटक का नायक मानते है। उनका मत है, 'नाटक में कथानक के साथ पात्रों पर भी विशेष ध्यान दिया जाता है। तभी तो अधिकांश नाटकों के नाम नायक या नायिकाओं पर रक्खे गए है। ब्रजभाषा नाटकों में भी हनुमन्नाटक, हनुमान नाटक, शकुन्तला, रामकरुणाकर, मालतीमाधव, नाम इसी आधार पर रक्खे गए है।'[4] सम्भवतः नाटक का नामकरण हनुमान के नाम पर रखे जाने के कारण ही तिवारी जी को ऐसी भ्रांति हुई है, जबकि नाटककार ने इस नाटक में हनुमान की कथा को रामकथा की अपेक्षा न तो उतना विस्तार ही दिया है और न महत्व ही। नाटक के आरम्भ में 'सुऐसो रामचन्द्र गीत तुमें है

---

१. लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस की प्रति, पृ० १ ।
२. वही, पृ० ११ ।
३. वही, पृ० ११ ।
४. भारतेन्दुकालीन नाटक-साहित्य, पृ० ५५।

सुनायवो' तथा नाटक के अन्त में 'रामगीते' लिखकर नाटककार ने हनुमान की अपेक्षा राम के ही नायकत्व को स्वीकार किया है। नन्दकिशोर देव शर्मा इसे 'रामगीत' नाटक की संज्ञा देना ही उचित समझते हैं। वे कहते है—'इसमें कवि का दोष क्यों नही समझा जाता है कि वह अपने ग्रन्थ की 'इतिश्री' मे 'रामगीते' लिखते है, अतएव इस ग्रन्थ का नाम यथार्थ में 'रामगीत' ही है। अब रहा यह कि इसका नाम हनुमन्नाटक क्यो पड़ा, सो इसका कारण चाहे तो अंध परम्परा समझ लीजिए, और चाहे यह समझिये कि इस ग्रन्थ के बहुतेरे कवित्त, सवैये, 'संस्कृत हनुमन्नाटक' के श्लोकों के अनुवाद मात्र है, इसलिए इसका नाम हनुमन्नाटक पड़ा हो।'[1]

हृदय राम कृत 'हनुमन्नाटक' के अतिरिक्त बलभद्र कृत 'हनुमन्नाटक'[2] (रचनाकाल सन् १५८३ के लगभग), रामकवि कृत 'हनुमान नाटक'[3] (रचना काल सन् १६७३ के लगभग) तथा मंजुकृत 'हनुमान नाटक'[4] का भी इतिहास ग्रंथों मे उल्लेख मिलता है परन्तु ये ग्रन्थ अप्राप्य हैं। उदय कवि ने भी 'हनुमान नाटक'[5] की रचना की है। भाषा, भाव तथा शैली की दृष्टि से यह ग्रन्थ 'रामचरित मानस' से प्रभावित है। इसमें सीता-खोज की कथा कही गई है। यह उन्नीसवी शताब्दी की रचना हे।

रामकरुणाकर

काशी नागरी प्रचारिणी सभा के हस्तलेखों मे 'हनुमान नाटक' के रचयिता उदय कवि का एक और नाटक 'रामकरुणाकर' नाम से मिलता है। इसमें लक्ष्मण के मूर्च्छित हो जाने पर राम के विलाप की कथा दी गई है। नाटक के नायक राम के चरित्र में नाटककार ने उदात्तता, बन्धु-प्रेम आदि गुणों को उभारने का प्रयास किया है। ऐसे स्थलों पर राम का आचरण अलौकिक न होकर मानवीय हो गया है। लक्ष्मण के अचेत हो जाने पर राम साधारण मानव की तरह विलाप करते है। लेखक ने हनुमान के चरित्र को भी नाटक में पर्याप्त विस्तार दिया है। नाटक में उसकी कथा पताका के रूप में आई है।

इन नाटकों के अतिरिक्त हरिराम कृत 'जानकी रामचरित' तथा लक्ष्मण

---

१. हनुमन्नाटक भाषा, (प्रस्तावना भाग, पृ० १)।
२. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २४६।
३. वही, पृ० ३१६।
४. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, आधुनिक साहित्य, पृ० १६६।
५. गोपीनाथ तिवारी, भारतेन्दुकालीन नाटक साहित्य, पृ० ३६।

शरण मधुकर कृत 'रामलीला बिहार' नाटक भी राम के चरित्र पर ही आधारित हैं। 'जानकी रामचरित' में सीता स्वयंवर तथा राम-मीता विवाह की कथा कही गई है। इस नाटक में यद्यपि प्रधानता पद्य की है, फिर भी खड़ीवोली गद्य का भी नाटककार ने प्रयोग किया है। 'रामलीला विहार' नाटक भी सीता स्वयंवर की कथा पर आधारित है। इन सभी में लेखकों ने राम के अलौकिक चरित्र की ही रक्षा करने का प्रयास किया है।

आनन्द रघुनन्दन

'हनुमन्नाटक भाषा' के बाद रामचरित परम्परा का प्रसिद्धतम नाटक रीवां नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह का आनन्द रघुनन्दन है। लेखक के जीवन काल के बारे में विद्वान् लोग एकमत नहीं है। आचार्य रामचन्द्रशुक्ल इनका समय १८वीं शती का पूर्वार्द्ध निश्चित करते हुए कहते है, 'आप संवत् १७७८ से लेकर १७९७ तक रीवां गद्दी पर रहे।'[1] बाबू ब्रजरत्नदास'[2] डा० दशरथ ओझा[3] तथा डा० गोपीनाथ तिवारी[4] ने इनका जन्म संवत १८४६ माना है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी इनका राज्यकाल सन् १८१३-१८५४ ई० मानते है।[5] डा० भगीरथ मिश्र इस नाटक का रचनाकाल १९वी शती का पूर्वार्द्ध मानते हैं।[6] डा० सोमनाथ गुप्त ने इनका जीवन काल सन् १६६१-१७४० माना है।[7] डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने इनका शासनकाल १८३३-१८५४ और आनन्द रघुनन्दन नाटक का प्रकाशन सन् १८७१ (बनारस से) और सन् १८८१ (लखनऊ से) दिया है।[8] परन्तु लेखक द्वारा नाटक में प्रयुक्त अंग्रेजी शब्दों से ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि इस नाटक का रचनाकाल १९वीं शताब्दी के मध्य के आस पास होगा।

'आनन्द रघुनन्दन' ब्रजभाषा का सर्वप्रथम नाटक कहा जा सकता है जिस में नाटककार ने संस्कृत नाटक पद्धति के नियमों के पालन का सबोध प्रयास

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४११।
२. हिन्दी नाट्य साहित्य, पृ० ६२।
३. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, पृ० १७४।
४. भारतेन्दुकालीन नाटक साहित्य, पृ० ३७।
५. हिन्दी साहित्य (उसका उद्भव और विकास) सं० १९५२, पृ० ३५५।
६. हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास (खंड दो) पृ० २६५।
७. पूर्वभारतेन्दु नाटक साहित्य, पृ० ७५।
८. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० ४९६।

किया है। इस दिशा में पहला प्रयास होने के कारण ही इसमें नाटकत्व सफल रूप से नही आ सका, फिर भी प्रयास अपने आप में स्तुत्य है। सात अंकों में नाटककार ने रामजन्म से लेकर राम के राज्याभिषेक तक की कथा कही है, जिसका आधार रामचरित मानस है, परन्तु घटनाओं का आधिक्य होने के कारण उनके निर्वहण मे नाटककार को सफलता नही मिली। वैसे भी कथा-वस्तु का इतना विशाल कलेवर नाटक के उपयुक्त न होकर महाकाव्य के अधिक उपयुक्त है।

नाटक के नायक राम है जो जगहितकारी तथा दीनों का दुःखमोचन करने वाले है। राम का चरित्र अवतारी होने के कारण आदर्श चरित्र है और लेखक ने उसके चित्रण मे प्राचीन परिपाटी का ही पालन किया है। नाटक के अन्त मे लेखक ने कहा है —

> जौ लौ कीरति चलै तिहारी।
> तौ लौ चलै नाथ यह नाटक सुनि सब होई सुखारी॥
> जो यह कहै लहै धन धानिहुं अन्त सुगति तोहि होवै।
> विश्वनाथ को प्रकट रहिय तन सुभग तिहारो जोवै।

इन शब्दो से स्पष्ट है कि लेखक के हृदय मे राम के प्रति श्रद्धा एवं आदर का भाव है और इसी भाव को नाटककार ने नाटक में बनाये रखने का यथा-सम्भव प्रयास किया है।

पात्रों के सम्बन्ध में लेखक ने नवीनता और विचित्रता का परिचय दिया है। राम कथा से सम्बन्धित परम्परावद्ध नामों को लेकर लेखक ने उनके नाम इस ढंग से रखे है जिनसे उनका कार्य-व्यापार एवं चरित्र स्वतः ही स्पष्ट हो जाय। यथा, दशरथ-दिग्जान, राम=हितकारी, लक्ष्मण=डीलधराधर, भरत=डहडहजगकारी, शत्रुघ्न=डिंभीकर, रावण=दिक्शिर, विभीषण=भयानक, हनुमान=त्रेतामल्ल, सीता=महिजा, जनक=शीलकेतु, विश्वामित्र=भुवन-हित, मेघनाद=घनध्वनि, शूर्पणखा=दीर्घनखी, ताड़का=घातिनी, मंथरा=कुटिला आदि। नाटक में पात्रों की बहु-संख्या होने के कारण चरित्र-चित्रण नहीं उभर सका।

इस नाटक की भाषा दोषपूर्ण है। पद्य को भाषा ब्रज है, और गद्य में लेखक ने अंग्रेज़ी, फ़ारसी, संस्कृत, मराठी, मैथिली, ब्रज आदि की खिचड़ी पकाई है, परन्तु प्रधानता ब्रजभाषा ही की है। रंग-संकेत संस्कृत में है। अंग्रेज़ी और फारसी का प्रभाव उस युग की परिस्थितियों के अनुकूल ही कहा जा सकता है परन्तु राम के आगे अंग्रेज़ी या फ़ारसी के पद गवाना केवल अशोभनीय ही नहीं, भाषा दोष एवं देशकाल दोष भी है। इसी तरह राम के राज्याभिषेक

के समय ३५ पदों में ३५ तरह की नायिकाओं का उल्लेख करवाना भी अशोभनीय प्रतीत होता है। अप्सराओं के नृत्य-दृश्य में नायिका-भेद के प्रसंग का समावेश रीतिकालीन प्रभाव ही माना जा सकता है। भाषा आदि की दृष्टि से यद्यपि लेखक ने प्राचीन और नवीन परम्पराओं को समन्वित करने का प्रयास किया है, परन्तु यह प्रयास सुरुचिपूर्ण न होकर अभद्र प्रतीत होता है।

डा० सोमनाथ गुप्त ने विश्वनाथ सिंह के एक और नाटक 'गीता रघुनन्दन' का भी उल्लेख किया है।[1] परन्तु यह पुस्तक नाटक न होकर काव्य-ग्रन्थ है। इस पुस्तक में छः सर्ग हैं—और इन सर्गों में छः ऋतुओं का वर्णन है। इसका वर्णन-क्रम इस प्रकार है—वसन्त, ग्रीष्म, पावस, शरद् हेमन्त तथा शिशिर।

(ख) कृष्णचरित्र सम्बन्धी नाटकों में नायक

करुणाभरण

कृष्णचरित सम्बन्धी नाटकों में कृष्ण जीवन लछीराम कृत पद्यबद्ध 'करुणाभरण नाटक' बहुत प्रसिद्ध है। इस नाटक की तीन हस्तलिखित प्रतियां काशी नागरी प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में सुरक्षित हैं। हस्तलेख संख्यक २८६ में छः अंक हैं। अंकों के नाम हैं— राधिका की अवस्था वर्णन, ब्रजवासिन की अवस्था वर्णन, शतिभाभा हीरपा वर्णन, राधा अवस्था वर्णन तथा राधा-कृष्ण मिलन वर्णन। छठे अंक का लेखक ने नाम नहीं दिया। नाटक की अन्तिम पंक्तियों में लेखक लिखता है—

> 'लछीराम की बुद्धि विशाल। छन्द तीन सै करे रसाल।
> दोहा अरु चौपाई आनी। करुणा नाटिकु अमृतवानी॥
> इति श्री करुणाभरण नाटकु संपूर्ण॥ शुभमस्तु॥
> श्री राधा बल्लभो जयति।'

हस्तलेख संख्यक ३७२ में सात अंक हैं। इसमें लेखक ने पहले, पांचवें और सातवें अंकों के नाम नहीं दिये। दूसरे अंक का नाम ब्रजवासी विरह वर्णन, तीसरे का श्री सतिभाभा ईर्षा वर्णन, चौथे का राधा व्यवस्था वर्णन तथा छठे का राधा-कृष्ण मिलाप वर्णन है। पुस्तक के अन्त में उसका काल संवत १८८६ फाल्गुन कृष्ण, एकादशी दिया है।

हस्तलिखित प्रति संख्यक ६१३ में सात अंक हैं। अंकों के नाम हैं—

---

१. (क) पूर्व भारतेन्दु नाटक साहित्य, पृ० ६१।
(ख) हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास, पृ० ४ (४ सं०)।

राधा-अवस्था, ब्रजवासी अवस्था जन वचन, सत्तभामा मर्षा वचन, राधा-अवस्था, श्रीराधा-मिलन, श्रीराधा कृष्ण वृन्दावन नित्य। इसमें लेखक ने सातवें अंक का नाम नहीं दिया। इसका रचनाकाल १७८७ पौष है।

इस नाटक की एक हस्तलिखित प्रति उदयपुर राज्य के सरस्वती भंडार में सुरक्षित है। नाटक के अन्त में इसका रचनाकाल सन् १७१५ दिया गया है। इस प्रति के लिपिकार भट्ट कृष्णदास है। उसके शब्दों में—

'महाराजाधिराज महाराणा श्री संग्रामसिंह जी लिखाविता॥ भट्ट कृष्णदासेन लिखिता॥ संवत् १७७२ विर्षे कार्तिकवदि कृष्ण ५ गुरुवारे॥ शिवमस्तु सर्वजगतां॥'

प्रस्तुत नाटक का विवरण इसी प्रति के अनुसार दिया गया है। इस नाटक में नायक कृष्ण के चरित्र-चित्रण में लेखक ने उसके लौकिक एवं अवतारी दोनों रूपों का चित्रण किया है। इस नाटक में सात अंक हैं। सातवें अंक की प्रामाणिकता संदिग्ध है। अंकों के नाम इस प्रकार हैं—राधा-अवस्था, ब्रजवासी-अवस्था, सत्यभामा-अवस्था, राधा-अवस्था, राधा-मिलन, नित्य-विहार तथा अद्वैत। अद्वैत अक मे लेखक ने कृष्ण के अद्वैतवादी रूप का चित्रण किया हैं परन्तु इसका नाटक की मूलकथा से कोई सम्बन्ध नही है। इस नाटक के आख्यान का आधार सूरसागर का 'दशम स्कंध' (पदसंख्या ४८६७-४९१४) है।* कई एक स्थलो पर भाव के साथ-साथ शब्द-साम्य भी स्पष्ट देखा जा सकता है। पाचवे अंक में जब रुक्मिणी और राधा का मिलन होता है, तो रुक्मिणी उस समय कहती है—

'हो करिहों मेरे मन आई, राधा प्यारी की पहुनाई ॥२९॥

और सूरसागर मे रुक्मिणी-राधा भेंट के समय कवि ने लिखा है—

'निज मन्दिर ले गई रुक्मिनी, पहुनाई बिधि ठानी ॥४९०९ ॥

भाव-साम्य तथा शब्द-साम्य होते हुए भी नाटककार ने कई प्रसंगों में स्वकीयता का परिचय दिया है। नाटक मे राधा का सरोवर में कूद पड़ने का प्रसग है, लेकिन सूरसागर मे इसका उल्लेख नही मिलता। यह नाटककार की मौलिक उद्भावना है।

सूर्य ग्रहण के अवसर पर कुरुक्षेत्र में कृष्ण गोप-गोपियों एवं राधा के मिलन प्रसंग की कथा इस नाटक में कही गई है। कृष्ण नाटक के धीरललित नायक हैं जिनकी गणना दक्षिण नायक में भी की जा सकती है। कृष्ण का

---

* श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध (उत्तरार्ध) के ८२ वें अध्याय में भी यही कथा-प्रसंग आता है।

नाटक की वियोग-विधुरा नायिका राधा के प्रति तो प्रेम है ही, परन्तु वे रुक्मिणी और सत्यभामा को भी हृदय से प्यार करते है। रुक्मिणी तो राधा से मिलकर राधामय ही हो जाती है। लेखक ने सत्यभामा का चरित्र ईर्ष्यालु स्त्री के रूप में ही चित्रित किया है। छठे अंक (नित्य विहार) में कृष्ण अधिक विलम्ब होने से राजनैतिक कार्यो की हानि होने के कारण जब ब्रज-वासियों से विदा मांगते है तो यह सुनकर वे सब लोग बड़े व्याकुल हो जाते है। राधा हठपूर्वक आत्म-हत्या के विचार से सरोवर में कूद पड़ती है। कृष्ण उससे सरोवर से बाहर निकलने को कहते हैं। तब राधा कृष्ण से इस शर्त पर बाहर आने के लिए कहती है—

तव राधा एसी कही। तो वृन्दावन जाऊं ।।
के नित संग विहरुं तहां। के ह्या सरहि सुसाऊं ।।५४।।
'एवमस्तु' हरि जू कह्यो। तब आई सर तीर ।।
श्री रुक्मनि सुख पाइके। पहिराए नव चीर ।।५५।।

नाटक के नायक कृष्ण प्रेमी ही नहीं, बलिक राजोचित कार्यो मे रुचि भी रखते हैं। वे प्रजा के सुख-दु:ख का बराबर ध्यान रखते है।

लेखक ने कृष्ण की लौकिक चरित लीला के साथ-साथ उनके अलौकिकत्व का भी चित्रण किया है जिसका कारण परम्परागत प्रभाव कहा जा सकता है। पांचवे अंक में कृष्ण जब सत्यभामा को राधा के अद्भुत रूप सौन्दर्य को दिखाने के लिए अपने हाथों से उसका घूघट उठा देते है, तो वह बड़ी आश्चर्य-चकित होती है। तब कृष्ण कहते है—

'एक टोना या है जग मांही। मुह वसि कर्‌यो जु चाहे कोही ।।
नीके राधहि सेवो सोई। ताके अटल भक्ति तब होई ।।४५।।

नाटक का अंगी रस करुण और शृंगार सहायक रूप में आया है। नाटक के आरम्भ में ही लेखक ने लिखा है—

प्रेम बढ़े मन निपट ही, अरु आवे अति रोई ।।
करुना अरु सिंगार रस, जहां बहुत करि होइ ।।

लछीराम नाटक कर्‌यो, दीनो गुननि पठाइ।
भेष रेष निर्तन निपुन, लाए नरनि सधाइ ।।

सुरद मण्डली जोर तहां, कीनो बड़ो समाजु।
जौ उनि नाच्यो सो कह्यो, कविता में सुख साजु ।।

नाटक[1] के नाम से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने करुण रस प्रधान

---

१. करुण नाटक अमृतवानी (अंक ६) काशी नागरी प्रचारिणी सभा, २८६ संख्यक।

नाटक की रचना की है। परन्तु रचनास्वरूप एवं शिल्प की दृष्टि से इसे नाटक नही, खंडकाव्य ही माना जा सकता है। मानसिक द्वन्द्व, चरित्र-चित्रण की सजीवता एवं मनोवैज्ञानिक आधार इसकी विशेषता है।

प्रद्युम्न विजय

कृष्ण चरित परम्परा का दूसरा महत्वपूर्ण एवं प्रसिद्ध नाटक गणेश कवि कृत प्रद्युम्न विजय है। यह हिन्दी का ऐसा पहला नाटक है जिसके भीतर लेखक ने एक नहीं, दो नाटकों (रामचरित्र और कौवेर रंभाभिसार) के अभिनय की योजना प्रस्तुत की है। इसका रचनाकाल सन् १८६४ ई० है।[१] इस नाटक में सात अंक है और इसमें दैत्य वज्रनाभ के वध तथा उसकी पुत्री प्रभावती के साथ प्रद्युम्न के विवाह की कथा कही गई है। भारतेन्दु जी ने अपने 'नाटक' नामक निबन्ध में श्री महाराज काशीराज की आज्ञा से रचित एक 'प्रभावती' नाटक का उल्लेख किया है।[२] बाबू ब्रजरत्नदास जी का मत है कि वह स्यात् यही नाटक है और नायिका के नाम पर लिख दिया गया है।[३] डाक्टर गोपीनाथ तिवारी ने भी इसी मत का अनुमोदन किया है।[४] उनके इस अनुमान के मुख्यतः ये आधार हैं—

१. सम्पूर्ण नाटक पद्यबद्ध है। भारतेन्दु जी ने भी इसे छन्द प्रधान ग्रन्थ माना है।[५]
२. नाटक के अन्त मे नाटककार ने लिखा है, 'श्री ईश्वरीप्रसाद नारायणसिह बहादुर कारिते गनेश कवि विरचित साहित्य सागर नामनि अलंकार प्रबन्ध चतुषष्ठ्यंग सहित प्रद्युम्नविजय नाटक निरुपन नाम द्वादशस्तरंगः।' तथा नाटक के प्रथम अंक में लेखक ने कहा है—

'भूप मौलि श्री ईश्वरी नरायण महाराज।
लषि मेरे गुन रीझि कै आयसु दयो दराज ॥
गये जीति अनगन वरष नाटक विधि व्योहार।
भये गुप्त तेहि प्रगट करि दरसावो सुष सार' ॥२०॥

इन दोनों बातों से भारतेन्दु जी की बात की ही पुष्टि होती है कि यह नाटक श्री महाराज काशीराज की आज्ञा से निर्मित हुआ है।

---

१. डा० गोपीनाथ तिवारी, भारतेन्दुकालीन नाटक साहित्य, पृ० १२७।
२. भारतेन्दु ग्रथावली (द्वितीय भाग), सं० बाबू ब्रजरत्न दास, पृ० ४१५।
३. बाबू ब्रजरत्नदास, हिन्दी नाट्य साहित्य, पृ० ६६।
४. भारतेन्दुकालीन नाटक साहित्य, पृ० १२७-१२८।
५. भारतेन्दु ग्रंथावली (द्वितीय भाग), स० बाबू ब्रजरत्नदास, पृ० ४१५

३. 'प्रद्युम्न विजय' में प्रभावती नायिका है। यह एक प्रेम नाटक है। प्रायः प्रेम नाटकों के नाम नायक नायिका के ऊपर ही रखे जाते है। उदाहरणो की न्यूनता नहीं है, मालती माधव, रत्नावली, विक्रमोर्वशीय, शकुन्तला, वासवदत्ता, प्रेम सुन्दर, विद्यासुन्दर, कर्पूरमंजरी, रणधीर प्रेममोहिनी, गंगोत्री, मनोरंजनी इत्यादि। फलतः इस नाटक का नाम प्रभावती ही होना चाहिए था। ××× इसमें शृंगार रस प्रधान है और वीर रस उसका सहायक है। विजय कृष्ण की होती है, प्रद्युम्न की नही। इन्द्र ने कृष्ण को युद्ध के लिए प्रेरित किया था। युद्ध वेश में भी कृष्ण की प्रधानता है। इस दृष्टि से इसका नाम इन्द्र-विजय या कृष्ण विजय होना चाहिए था। प्रद्युम्न ने यदि किसी को विजित किया है तो प्रभावती को। वह विजय युद्ध भूमि में नहीं मिली थी वरन् रति प्रसंग में। ××× अतः इस नाटक का नाम 'प्रभावती' अथवा 'प्रभावती प्रद्युम्न' ही अधिक तार्किक प्रतीत होता है।[1]

४. 'फिर प्रद्युम्न विजय नाम कैसे रक्खा गया? ऐसा प्रतीत होता है कि आरम्भ में इसका नाम प्रभावती था। यह नाटक स्वतन्त्र रूप मे रचा गया था (नाटक की प्रस्तावना)। बाद में जब साहित्यसागर रचा गया तो उसमें 'दशरूपक' नाम नाट्य शास्त्र भी एक अंग रूप में रक्खा गया। नाटक के लक्षण देकर उदाहरण रूप प्रभावती को प्रद्युम्न विजय नाम से उसमें रख दिया गया। यह द्रष्टव्य है कि रूपक और उपरूपक के किसी भेद में अन्य कोई भी नवीन नाटक उदाहरण रूप में नही दिया गया है। संभवतः नाम बदलने का कारण शंकरदीक्षित कृत संस्कृत नाटक प्रद्युम्न विजय (१८ वीं शताब्दी) है।'[2]

तिवारी जी के अनुमित ये सभी आधार निराधार प्रतीत होते है। जहां तक नाटक की पद्यबद्धता का प्रश्न है, उस युग में छन्दोबद्ध नाटक ही लिखने की परम्परा थी। उस समय केवल राजा लक्ष्मण सिंह कृत अनूदित शकुन्तला नाटक ही गद्य-पद्य रूप में उपलब्ध था। युग के शेष सभी नाटक पद्य-बद्ध ही है। दूसरे, नाटककार द्वारा दिये गये अन्त के कथन से भी इस बात की ही पुष्टि होती है कि नाटककार ने नाटक का नाम प्रद्युम्न विजय रखा है, प्रभावती अथवा प्रभावती प्रद्युम्न नही। तीसरे, प्रेम नाटक होने के कारण नाटक का नाम नायक नायिका के नाम पर ही रखा जाये, कोई अनिवार्य नहीं है। स्वयं

१. भारतेन्दुकालीन नाटक साहित्य, पृ० १२८।
२. वही, पृ० १२८।

तिवारी जी ने ऊपर ऐसे नाटकों का उल्लेख किया है जिनका नाम नायक-नायिका के नाम पर न होकर अकेली नायिका के नाम पर ही रखा गया है, यथा शकुन्तला, वासवदत्ता, रत्नावली, मनोरंजनी आदि। अत. इस ग्रन्थ के रचयिता ने शकुन्तला तथा वासवदत्ता नाटको की तरह इस नाटक का नाम नायिका के नाम पर न रखकर नायक के नाम पर रख दिया है। प्रद्युम्न इस नाटक का नायक है और लेखक ने उसके नाम पर ही इस नाटक का नाम प्रद्युम्न विजय रखा है। रस की दृष्टि से भी विजय वीर और शृंगार दोनो की होती है। प्रद्युम्न अपने पिता कृष्ण द्वारा इन्द्र की सहायतार्थ वज्रनाभ के साथ लड़ने के लिए भेजा जाता है। इसी बीच वह वज्रनाभ की पुत्री प्रभावती के साथ गान्धर्व विवाह कर लेता है। जब वज्रनाभ को इस बात का समाचार मिलता है, तो दोनों में युद्ध होता है। वज्रनाभ सपरिवार मारा जाता है। इस तरह प्रद्युम्न दोनों क्षेत्रों में विजयी होता है, फिर नाटक का नाम प्रभावती अथवा प्रभावती प्रद्युम्न क्यों रखा जाये ? अत. नाटक के नायक के विजयी होने पर नाटक का नाम प्रद्युम्न विजय समीचीन ही प्रतीत होता है।

बाद में नाटक का नाम बदले जाने की युक्ति भी मान्य नहीं है। यदि शंकर दीक्षित कृत संस्कृत नाटक 'प्रद्युम्न विजय' ही इसका कारण है, तो इससे भी पूर्व तेरहवी शताब्दी में रविवर्मा द्वारा 'प्रद्युम्नाभ्युदय' नाटक की संस्कृत मे रचना हो चुकी थी,[१] फिर उसके आधार पर इसका नाम 'प्रद्युम्नाभ्युदय' ही रखा जाता, 'प्रद्युम्न विजय' ही क्यों ?

अतः उपर्युक्त मतों से यह स्पष्ट हो जाता है कि गणेश कवि कृत मूल नाटक का नाम 'प्रद्युम्न विजय' ही है और भारतेन्दु जी ने जिस 'प्रभावती' नाटक का उल्लेख अपने 'नाटक' नामक निबन्ध में किया है, और जिसे बाबू ब्रजरत्नदास तथा डाक्टर गोपीनाथ तिवारी ने 'प्रद्युम्न विजय' ही माना है, वह सम्भवतः कोई दूसरा नाटक है। सम्भव है तिवारी जी ने जिस 'प्रभावती' नाटक की रचना को गणेश कवि कृत माना है उसकी रचना श्री महाराज काशीराज के आदेश पर गणेश कवि की अपेक्षा किसी अन्य कवि ने की हो। यह भी सम्भव है कि एफ़० ई० की ने जिस भानुनाथ झा कृत 'प्रभावती हरण' का उल्लेख किया है, यह वही रचना हो।[२] जार्ज ग्रियर्सन के अनुसार भानुनाथ झा

---

१. ए० बी० कीथ, दि संस्कृत ड्रामा, पृ० २४७।

२. F. F. Keay, A History of Hindi Literature, page 93. "In the earlier part of the nineteenth century Bhanu Nath Jha wrote the Prabhavati Haran."

सन् १८५० में जीवित थे।[1] एक ही भाव अथवा वस्तु-तत्व को लेकर एक से अधिक नाटको की रचना भिन्न-भिन्न युगों में होती रही हैं। कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' के हिन्दी में नेवाज, थोंकलमिश्र, राजा लक्ष्मण सिह आदि नाटककारों ने अनुवाद अथवा छायानुवाद किये ही हैं। स्यात् यह सम्भव है कि रविवर्मा के 'प्रद्युम्नभ्युदय' अथवा शंकर दीक्षित कृत 'प्रद्युम्न विजय' नाटकों मे से किसी एक का गणेश कवि कृत 'प्रद्युम्न विजय' नाटक छायानुवाद ही हो। डाक्टर देवर्षि सनाढ्य का भी ऐसा ही अभिमत है। उनका कथन है—'१३वीं शताब्दी के रविवर्मा देव ने संस्कृत में पांच अंक के नाटक 'प्रद्युम्नाभ्युदय' की रचना की थी। गणेश कवि ने 'प्रद्युम्न विजय' लिखने में उससे प्रेरणा प्राप्त की हो तो कोई आश्चर्य नही।[2]

प्रद्युम्न-बज्रनाभ की कथा हरिवंशपुराण[3] में आती है। अतः गणेश कवि की रचना के आधार या तो यह पौराणिक ग्रंथ है और या फिर संस्कृत के पूर्व कथित नाटक। वैसे तो इन नाटकों का आधार भी ये पुराण ही है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से इस नाटक की यह विशेषता है कि इसमें देवराज इन्द्र की अपेक्षा दैत्य वज्रनाभ के चरित्र का उत्कर्ष दिखाया गया है। नाटक का नायक यद्यपि प्रद्युम्न है फिर भी कृष्ण की चारित्रिक उदात्तता का निर्वहण लेखक ने सफलतापूर्वक किया है। पात्र-प्रवेश, विष्कम्भक, प्रवेशक आदि की भी व्यवस्था हैं। परन्तु गद्य के अभाव के कारण इसमें नाटकीयता नही आ सकी। पांचवें अंक में केवल एक गद्य वाक्य इस प्रकार आया है—'प्रद्युम्न चन्द्रमा को प्रनाम करि फेरि प्रभावति से वोल्यो।' अतः नाटक की अपेक्षा इसे काव्य ग्रन्थ मानना ही तर्क सम्मत है।

प्रद्युम्न विजय के अतिरिक्त डाक्टर भगीरथ मिश्र ने गणेश कवि के एक और नाटक 'कृष्ण चन्द्रिका' का भी उल्लेख किया है।[4] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस ग्रन्थ का अपने इतिहास में कोई उल्लेख नही किया है।

(ग) अन्य चरित सम्बन्धी नाटकों में नायक

शकुन्तलानाटक—नेवाज कवि ने सन् १६८० ई०[5] में शकुन्तला नाटक

---

१. हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास, (अनु० किशोरीलाल गुप्त), पृ० २७७।
२. हिन्दी के पौराणिक नाटक, पृ० १०६।
३. हरिवंश पुराण, विष्णु पर्व (अध्याय ६१-६७), हरिवंश पुराण के अतिरिक्त अन्य किसी पुराण मे वज्रनाभ का प्रसग नही आता।
४. हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास, खंड दो, पृ० २६५।
५. (क) रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३१७।
(ख) व्रजरत्न दास, हिन्दी नाट्य साहित्य, पृ० ६०।

की रचना की जो कालिदास के प्रसिद्ध एवं उत्कृष्ट नाटक 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का स्वतन्त्र अनुवाद है। डाक्टर दशरथ ओझा इस पुस्तक का रचनाकाल आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा ब्रजरत्न दास की तरह सन् १६८० न मानकर सन् १६७० मानते है।[1] इस नाटक में नाटककार ने कथात्मक शैली में संवादों की योजना की है। इसमें विदूषक की योजना नहीं की गई है। सारा नाटक पद्यबद्ध है। कही भी पात्र प्रवेश आदि के संकेत नही है। नाटक के दूसरे नियमों का पालन भी नहीं हुआ है। वास्तव में इसे नाटक न कहकर नाटकीय काव्य की संज्ञा देना ही अधिक संगत है।

इस नाटक में चार अंक हैं। इन चार अंकों में नाटककार ने मूल के सात अंकों की कथा कह दी है। प्रस्तुत नाटक में लेखक ने दुष्यन्त और शकुन्तला की प्रणय-गाथा को बड़े सुन्दर एवं आकर्षक ढंग से कहा है जिसका आधार कालिदास के शकुन्तला नाटक और महाभारत के आदि पर्व की कथा है।[2] पद्म पुराण के स्वर्ग खंड में दुष्यन्त और शकुन्तला की लगभग वही कहानी मिलती है, जो कालिदास ने अपने नाटक में दी है। परन्तु रामेन्द्र मोहन बोस का मत है कि या तो इस पुराण की रचना कालिदास के बाद हुई और या जो संस्करण हमें उपलब्ध होता है, वह कालिदास के बाद का है और उसके रचयिता के समक्ष महाभारत और कालिदास का नाटक, ये दोनों ग्रन्थ उपस्थित थे।[3] वस्तु-सत्य तो यह है कि पद्मपुराण की अपेक्षा महाभारत के आदि पर्व में वर्णित दुष्यन्त और शकुन्तला का उपाख्यान ही कालिदास के 'शाकुन्तलम्' का आधार है। कालिदास ने अपनी प्रतिभा के आधार पर महाभारत की कथा में कई महत्वपूर्ण परिवर्तन किये, जिनके कारण उनका यह नाटक विश्व-विभूति बना।

इस नाटक का नायक दुष्यन्त है। कालिदास ने इसके चरित्र को अपने ही ढंग से परिष्कृत कर उसका आदर्शीकरण किया है। महाभारत का दुष्यन्त राजोचित गुणों से युक्त होता हुआ भी आदर्श चरित्र नहीं है। वह सब बातों को स्मरण रखते हुए भी भरी सभा में लोकापवाद के भय से गर्भवती शकुन्तला को स्वपत्नी मानने से इन्कार करता हुआ कहता है—'दुष्ट तपस्विनि ! मुझे (इस गाधर्व विवाह के बारे में) कुछ भी स्मरण नहीं है। तुम किसकी स्त्री

---

१. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, पृ० १५६।

२. महाभारत, आदि पर्व, अध्याय ६८-७४।

३. Kalidasa's Abhijana-Sakuntalam, preface, page XLIII.

हो ? ×××× और तुम कुलटा जैसी बातें (क्यों) कर रही हो ।[1]

लेकिन जब आकाशवाणी द्वारा उन दोनों के सुखद भावी जीवन का निर्णय होता है और शकुन्तला के वचनों को प्रमाणित कहा जाता है तो वह शकुन्तला को अपनी पत्नी के रूप में ग्रहण कर लेता है। महाभारत का दुष्यन्त प्रेमी नहीं है। वह शकुन्तला के स्वर्गीय रूप-सौन्दर्य पर मुग्ध है, लेकिन शकुन्तला उसके प्रति आसक्त नहीं है। जब राजा उसे गान्धर्व विवाह के लिए बड़ी कठिनाई से मना लेने में सफल होता है तो उस समय भी शकुन्तला की ओर से एक यह शर्त रहती है कि उससे उत्पन्न हुआ पुत्र उसके बाद युवराज बनेगा।[2]

दुष्यन्त और शकुन्तला के इस गन्धर्व विवाह को हम प्रणय-परिणाम नहीं मान सकते, बल्कि यह सौदाबाज़ी है जिसे प्रेम का निकृष्टतम रूप ही कहा जा सकता है। दुष्यन्त की प्रेम-भावना रोमांटिक न होकर प्रकृत यथार्थ की सीमा में आती है, जिसमें शरीरीपन अधिक और आत्मिक आनन्द एवं उल्लास का अभाव है। महाभारत के इस कथानक में नीरसता और अरोचकता अधिक है। परन्तु कालिदास ने दुर्वासा शाप की कल्पना कर दुष्यन्त के चरित्र को दूषित होने से बचाया ही नहीं, बल्कि उसका आदर्शीकरण भी किया है। इसी तरह कालिदास की शकुन्तला दुष्यन्त के साथ प्रेम-परिणति के लिए सौदाबाज़ी नहीं करती। वह सच्चे हृदय से आत्म-समर्पण करती है।

कालिदास के दुष्यन्त में धीरोदात्त नायक के सभी गुण हैं। वह साहसी, गम्भीर, क्षमाशील, सयमी एवं महासत्व है। नाटककार ने उसकी चारित्रिक मर्यादाओं का विशेष ध्यान रखा है। उसमे मानवी और देवी प्रकृति का अद्भुत समन्वय हुआ है। राजा के रूप में वह अपने राजोचित कर्त्तव्यों का पालन करता है। सारी प्रजा उसका आदर करती है। ब्राह्मणों के प्रति उसके मन मे असीम श्रद्धा है। नाटककार ने सर्वत्र उसके उदात्त चरित्र की रक्षा की है। यही उस समय के नाट्यशास्त्र की परम्परा की मांग थी, जिसका

---

१. महाभारत, आदि पर्व—

सोऽथ श्रुत्वैव तद् वाक्यं तस्या राजा स्मरन्नापि ।
अब्रवीन्न स्मरामीति कस्य त्वं दुष्टतापसि ॥७४।१६॥

× × ×

मुनिकृष्टा च ते योनिः पुश्चलीव प्रभाषसे ॥७४।८०॥

२. महाभारत, आदि पर्व ।

मयि जायेत यः पुत्रः स भवेत त्वदनन्तरम् ।
युवराजो महाराज सत्यमेद् ब्रवीमि ते ॥७३।१६,१७॥

कालिदास ने पालन किया।

नेवाज़ कवि ने भी दुष्यन्त के चरित्र को इसी रूप में ही चित्रित किया है। नाटक के अन्त में नाटककार लिखता है—

जो देखा सोई लिखा मोर दोष जिनि देव।
मात्रा अक्षर दोहरा बुध विचार करि लेव॥

'जो देखा सोई लिखा' शब्द से यह स्पष्ट हो जाता है कि नाटककार ने कालिदास के शकुन्तला नाटक को जिस रूप में अभिनीत होते हुए देखा, उसी रूप में लिख दिया। लेखक ने चार अकों में ही मूल के सात अकों की घटनाओं का समावेश कर दिया है। इस नाटक के विषय में डाक्टर सोमनाथ गुप्त ने लिखा है— 'पुस्तक मे सारी कथा का क्रम और घटनाओं का वर्णन कालिदास कृत नाटक के अनुसार है।'[1] डाक्टर साहब का यह कथन पूर्ण रूप से मान्य नहीं क्योंकि घटनाओं के वर्णन में तो अवश्य साम्य है परन्तु कथा-क्रम कई स्थलों पर मूल से मेल नही खाता। कालिदास नाटक का आरम्भ दुष्यन्त की मृगया से करते है और नेवाज़ अपने नाटक का आरम्भ कौशिक मुनि की मेनका द्वारा तपस्या-भंग और परिणाम स्वरूप शकुन्तला की जन्मकथा से करते हैं। कालिदास ने इस प्रसंग को प्रथम अंक के अन्तिम भाग में दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रथम मिलन के समय अनसूया के द्वारा संक्षेप में कहलवाया है।

कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नाटक ने मध्यकाल में विशेष ख्याति प्राप्त की। यह इसके उपलब्ध अनुवादों से भली-भांति स्पष्ट हो जाता है। नेवाज कवि के अतिरिक्त धोंकल राम मिश्र ने भी अपने आश्रयदाता तेजसिंह की आज्ञा से कालिदास के इस नाटक का पद्यबद्ध अनुवाद किया।[2] इस अनुवाद का रचना काल सन् १७६६ ई० है।[3] इस अनुवाद में नाटककार ने मूल के कथा-क्रम को निभाने का प्रयास किया है। कहीं-कहीं नाटककार ने शाब्दिक अनुवाद भी कर दिया है और कहीं पर स्वतन्त्र वर्णनों का भी आश्रय लिया है। यथा, पहले अंक का 'शकुन्तला वन वर्णन' और चौथे अंक का 'शकुन्तला वर्णन'। नेवाज ने अपने स्वतन्त्र अनुवाद में विदूषक को कोई स्थान नही दिया,

---

१. पूर्व भारतेन्दु नाटक साहित्य, पृ० ७०।

२. 'इति श्रीमन्महाराजा श्रीपहोपसिंह सुततेजसिंह आज्ञा मिश्र धोंकलरामविरचिते शकुन्तलानाटके प्रथमोंक:।'

३. ठारे से छप्पन बरस संवत आश्विन मास।
सित तेरस रविवार को ग्रन्थ भयो उज्जास।
—हस्तलेख, काशी नागरी प्रचारिणी सभा।

लेकिन मिश्र जी ने नाटक में विदूषक को भी मूल की तरह ही स्थान दिया है। अतः मूल का अनुवाद होने के कारण पात्रों के चरित्र चित्रण में कोई अन्तर नही पड़ा।

अब तक शकुन्तला नाटक के जितने भी अनुवाद हुए, वे पद्यबद्ध थे। राजा लक्ष्मणसिंह ने संस्कृत के इस नाटक का हिन्दी मे पहला गद्य-पद्यबद्ध अनुवाद किया। इनका पहला अनुवाद केवल पद्य में था जो सन् १८६२ मे छपा।[१] इनका गद्य-पद्यबद्ध अनुवाद पहले संस्करण के कोई पच्चीस वर्ष बाद प्रकाशित हुआ। इस अनुवाद में पद्य की भाषा ब्रज और गद्य की भाषा खड़ी बोली है। डाक्टर देवर्षि सनाढ्य इसे हिन्दी का प्रथम वास्तविक नाटक मानते है।[२] डाक्टर श्री कृष्णलाल ने भी आधुनिक नाटकों का विकास शकुन्तला नाटक के अनुवाद से ही माना है।[३] परन्तु केवल मात्र अनुवाद होने के कारण इस दृष्टि से नाटक का महत्व स्पष्टत. अत्यन्त सीमित है।

नहुष

इस नाटक के रचयिता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पिता बाबू गोपाल चन्द्र उपनाम गिरिधर दास है। बाबू ब्रजरत्नदास,[४] डाक्टर भगीरथमिश्र[५] श्रीकृष्ण दास[६] डाक्टर बच्चन सिह,[७] डाक्टर देवर्षि सनाढ्य[८] आदि विद्वानो ने इस नाटक का रचनाकाल सन् १८४१ दिया है। जबकि स्वयं भारतेन्दु जी के कथन से नाटक का रचनाकाल सन् १८४१ न होकर १८५७ है। उनका कथन है, 'नहुष नाटक' बनने का समय मुझको स्मरण है। आज पच्चीस बरस हुए होंगे,

---

१. (क) रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५२४, ५२६।
   (ख) ब्रजरत्न दास, हिन्दी नाट्य-साहित्य, पृ० ६५।
   (डाक्टर देवर्षि सनाढ्य (हिन्दी के पौराणिक नाटक, पृ० २५१) ने इस नाटक का रचना काल सन् १८६३ दिया हैं।

२. हिन्दी के पौराणिक नाटक, पृ० १०६।

३. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास (१९००-१९२५ ई०) पृ० २०४।

४. हिन्दी नाट्य साहित्य, पृ० ६४।

५. हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास (खण्ड दो), पृ० २६५।

६. हमारी नाट्य परम्परा, पृ० ४९२।

७. हिन्दी नाटक, पृ० १९।

८. हिन्दी के पौराणिक नाटक, पृ० १०६।

जबकि मैं सात बरस का था, नहुष नाटक बनता था।'[१] भारतेन्दु जी का जन्म सन् १८५० मे हुआ। इनके जन्म के सात वर्ष बाद 'नहुष' नाटक की रचना हुई। भारतेन्दु जी के कथनानुसार इस नाटक का रचनाकाल सन् १८५७ में हुआ। यदि इस नाटक का रचनाकाल १९४१ मान लिया जाये, तो उस समय बाबू गोपालचन्द्र जी की उम्र कोई आठ वर्ष की रही होगी।[२] आठ वर्ष के बालक द्वारा नाटक का रचा जाना उचित प्रतीत नहीं होता। अतः नहुष नाटक का, रचनाकाल सन् १८५७ ही मान्य है। एफ० ई० की ने भी नहुष नाटक का रचना काल सन् १८५७ ई० ही दिया है।[३]

बाबू ब्रजरत्न दास का कथन है कि पूरी पुस्तक किसी प्रकाशक के यहां से गुम हो गई, जिसका फिर पता न चला।[४] परन्तु बाद में उनके अपने द्वारा दी गई एक सूचना के अनुसार यह पता चला है कि इस नाटक की पूरी प्रति अब प्राप्य है और जो अब प्रकाशित भी हो चुकी है। प्रस्तुत नाटक का आधार महाभारत का उद्योगपर्व (अध्याय ९ से १७) तथा श्रीमद्भागवत का छठा स्कंध है। महाभारत में आई कथा का अधिकांश नहुष के चरित से ही सम्बन्धित है। महाभारत में नहुष को बली, तेजस्वी, स्वाभिमानी, अधार्मिक, उद्दण्ड, लम्पट, क्रोधी, ब्राह्मण-द्रोही तथा उन्माद-ग्रस्त चित्रित किया गया है। नहुष नाटक के रचयिता ने नहुष में उपर्युक्त सभी चारित्रिक विशेषताओं को दिखाया है। नाटक का नायक नहुष है। प्रथम अंक से पूर्व नाटक के प्रस्तावना भाग में नाटककार ने अपने इस मन्तव्य को इस प्रकार स्पष्ट किया है—

सूत्रधार—जा विधि राजा नहुष ने कियो स्वर्ग कों राज।
सो नाटक चाहत करन हुकुम कियो महाराज॥

भारतेन्दु के अनुसार—'इसमें इन्द्र को ब्रह्म हत्या लगना और उसके अभाव

---

१. भारतेन्दु नाटकावली, (द्वितीय भाग) सं० ब्रजरत्नदास, पृ० ४१६।
२, हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ४७२।
(जन्म—पौष कृष्ण १५ सं० १८९० (१८३३ ई०)।
३. F. E. Keay, A History of Hindi Literature, Edition 1920, Page 93.
"The first real play in Hindi was the Nahush Natak, written by Gopal Chand (alias Giri Dhar Das) in 1857."
४. हिन्दी नाट्य साहित्य, पृ० ६४।
(इस नाटक का प्राप्तांश कविवचनसुधा के प्रथम वर्ष में प्रकाशित हुआ था।)

मे नहुष का इन्द्र होना, नहुष का इन्द्र पद पाकर मद, इन्द्राणी पर कामचेष्टा, इन्द्राणी का सतीत्व, इन्द्राणी के भुलावा देने से सप्तर्षि को पालकी में जोतकर नहुष का चलना, दुर्वासा का नहुष को शाप देना और फिर इन्द्र का पूर्व पद पाना, यह सब वर्णित हैं।'[1] महाभारत की कथा मे नहुष को सर्प बन जाने का शाप अगस्त्य मुनि ने दिया था, दुर्वासा ने नही।[2] मूल नाटक में भी दुर्वासा के शाप का उल्लेख नही मिलता। पता नही भारतेन्दु जी ने दुर्वासा शाप का कैसे उल्लेख कर दिया है। यद्यपि नाटक के फल की दृष्टि से इन्द्र ही नाटक का नायक प्रतीत होता है परन्तु नाटककार का उद्देश्य इन्द्र को नही नहुष को ही नायक बनाना है, ऐसा हम ऊपर स्पष्ट कर चुके है।

नहुष के चरित्र-चित्रण में नाटककार ने नायक-सम्बन्धी प्राचीन परम्परा का पालन नहीं किया। वह इन्द्रत्व प्राप्त कर लेने पर अप्सराओं के साथ विलास करता है। इन्द्राणी को जबरन अपनी पत्नी बनाना चाहता है। ऋषियों के साथ भी उसका आचरण अमानुषिक ही कहा जा सकता है। नाटककार ने उसकी कामुक प्रकृति को ही प्रधानतः उभारा है।

हिन्दी नाट्य साहित्य में 'नहुष' पहला नाटक कहा जा सकता है जिसमे नायक सम्बन्धी दृष्टिकोण परम्परा से एक दम नवीन है। नहुष के चरित्र मे नाटककार ने महाभारत के नहुष की ही चारित्रिक सबलताओं तथा दुर्बलताओं को उभारा है और महाभारत के उस चरित्र मे कोई भी ऐसी बात नही है जिससे सामाजिकों के हृदय में उसके प्रति संवेदना तथा सहानुभूति जाग्रत हो सके। ऐसे पात्र को नाटक में नायक का स्थान देकर नाटककार ने नाट्य शास्त्रीय परम्परा से विद्रोह कर मौलिकता का परिचय दिया है। यह निस्सदेह पाश्चात्य प्रभाव ही माना जा सकता है। वास्तव में 'नहुष' ही सब से पहला मौलिक नाटक है जिसमें पौर्वात्य एवं पाश्चात्य नाट्य-शिल्पों का समन्वय सर्वप्रथम

---

१. स० ब्रजरत्नदास भारतेन्दु नाटकावली (द्वितीय भाग), पृ० ४१५।

२. महाभारत, उद्योगपर्व, अध्याय १७।

यस्मात् पूर्वैः कृतं राजन् ब्रह्मर्षिभिरनुष्ठितम्।
अदुष्टं दूषयसि में यच्च मूर्ध्न्यस्पृशः पदा ॥१३॥
यच्चापि त्वमृषीन् मूढ ब्रह्मकल्पान् दुरासदान्।
वाहान् कृत्वा वाहयसि तेन स्वर्गाद्धतप्रभः ॥१४॥
ध्वंस पाप परिभ्रष्टः क्षीणपुण्यो महीतले
दशवर्ष सहस्राणि सर्परुपधरो महान्।
विचरिष्यसि पूर्णेषु पुनः स्वर्गमवाप्स्यसि ॥१५॥

देखा जा सकता है। आगे चलकर भारतेन्दु के नाटकों में समन्वय का यह भाव और अधिक स्पष्ट हो जाता है।

इस नाटक में गद्य-पद्य दोनों की भाषा ब्रज ही है। गद्य की अपेक्षा पद्य की प्रचुरता है। मंगलाचरण, सूत्रधार, प्रस्तावना, पात्र-प्रवेशादि नाटकीय नियमों का पालन इसमें हुआ है परन्तु भरत वाक्य इसमें नहीं है।

२. नाट्य रूपक

प्रबोधचन्द्रोदय नाटक

'प्रबोधचन्द्रोदय नाटक' कृष्ण मिश्र द्वारा सन् ११०० ईस्वी के लगभग संस्कृत में लिखा गया। यह एक नाट्य रूपक (Allegorical Drama) है। इससे पूर्व संस्कृत में नाट्य रूपकों की परम्परा में भास के बाल चरित[1] तथा अश्वघोष के 'सारिपुत्र प्रकरण'[2] में इसी शैली, का प्रयोग किया गया है। 'प्रबोधचन्द्रोदय नाटक' में इस शैली का प्रौढ़ एवं परिपक्व रूप मिलता है। आध्यात्मिक दृष्टि से इस नाटक का बड़ा महत्व है। लेखक ने विवेक, श्रद्धा, मोह, विद्या आदि अमूर्त मानवीय वृत्तियों को पुरुष-स्त्री पात्रों के रूप में चित्रित कर वेदान्त मत के अद्वैतवाद तथा विष्णुभक्ति का प्रतिपादन और अन्य मतों का खण्डन किया है। परवर्ती साहित्यकारों पर इस शैली का बहुत प्रभाव पड़ा। यशपालकृत 'मोहपराजय', वेकंटनाथ कृत 'संकल्प सूर्योदय,' तथा कर्णपूर कृत 'चैतन्य-चन्द्रोदय' नाटक प्रबोधचन्द्रोदय की शैली से ही प्रभावित है। मध्यकाल मे इस नाटक का बड़ा प्रचार हुआ और इसके कई अनुवाद भी हुए।[3]

---

१. कान्तिकिशोर भरतिया, संस्कृत नाटककार (संस्करण सन् १९५९) पृ० २००।

२. ए० बी० कीथ, संस्कृत ड्रामा, पृ० ८३।

३. (i) हिन्दी नाट्य-साहित्य, पृ० ५८।

(क) महाराज जसवन्तसिंह कृत अनुवाद डा० भगीरथ मिश्र के अनुसार इसका (रचनाकाल सन् १६४३ है। हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास खण्ड २, पृ० २६४)।

(ख) हिन्दी नाट्य साहित्य, पृ० ५९, अनाथदासकृत अनुवाद (रचनाकाल १६६९)

(ग) वही, पृ० ५९, जनअनन्यकृत अनुवाद (रचनाकाल अज्ञात)

(घ) वही, पृ० ५९, आनन्दकृत 'नाटकानन्द' (रचनाकाल सन् १७८३)

(ङ) वही, पृ० ५९, सुरतिमिश्रकृत अनुवाद (रचनाकाल सन् १७०३-१७४३)

कान्ति किशोर[1] भरतिया तथा चन्द्रशेखर पाण्डेय[2] का मत है कि केशवदास का 'विज्ञान गीता' ग्रन्थ भी इसी ग्रन्थ का छन्दोबद्ध अनुवाद है।

इस सब अनुवादों मे महाराज जसवन्त सिह का 'प्रवोधचन्द्रोदय नाटक' अति प्रसिद्ध हुआ। इस नाटक मे छ अंक हैं। नाटक के छायानुवाद में गद्य-पद्य का प्रयोग मिलता है परन्तु प्रधानता पद्य की है। नाटकीय नियमों का भी यत्र-तत्र पालन किया गया है। नाटक का नायक विवेक है जो नाटक के अन्त में अपने प्रतिद्वन्द्वी एव खलनायक मोह पर विजय प्राप्त करता है। विवेक, शान्ति, करुणा, श्रद्धा आदि वृत्तियों का मानवीकरण कर नाटककार ने उनके द्वारा अद्वैतवाद तथा वैष्णव भक्ति का प्रतिपादन और दिगम्बर जैन, बौद्ध-धर्म, तथा सोम-सिद्धान्त का प्रतिवाद किया है। नाटक का आधार धार्मिक साम्प्रदायिकता है। नाटक-साहित्य की अपेक्षा दार्शनिक क्षेत्र में इस नाटक का विशेप महत्व है। अन्य अनुवाद रचनाएं भी पद्यमय होने के कारण नाटक की कोटि में नही आती है।

देवमाया प्रपंच नाटक

व्यास जी के शिष्य देव ने इस नाटक की रचना सन् १५६३ ई० के आस-पास की।[3] जितेन्द्रनाथ पाठक इसका रचनाकाल सन् १५७५ ई० मानते हैं।[4] प्रवोधचन्द्रोदय नाटक की तरह यह भी नाट्य रूपकों की कोटि में आता है।

● (च) वही, पृ० ५६, ब्रजवासीदास कृत अनुवाद (रचनाकाल सन् १७६०)।

(ii) भारतेन्दुकालीन नाटकसाहित्य (डा० गोपीनाथ तिवारी), पृ० २३५।

(क) भारतेन्दु कृत 'पाखण्ड विडम्बन' (प्रबोधचन्द्रोदय के तीसरे अंक का अनुवाद, रचनाकाल सन् १८७२)।

(ख) पं० सीतलाप्रसाद कृत अनुवाद (रचनाकाल सन् १८७९)।

(ग) अयोध्याप्रसाद चौधरी कृत अनुवाद (रचनाकाल सन् १८८५)।

(घ) देवीनन्दन कृत अनुवाद (रचनाकाल सन् १८८५)।

(ङ) भवदेव दुबेकृत अनुवाद (रचनाकाल सन् १८९६)।

पृ० २३४ (डा० गोपीनाथ तिवारी का मत है कि पूर्व भारतेन्दु युग में इस नाटक के दस अनुवाद और छायानुवाद हुए तथा पांच अनुवाद भारतेन्दु युग में हुए।)

१. संस्कृत नाटककार, पृ० २०१।

२. संस्कृत साहित्य की रूपरेखा (द्वितीय संस्करण) पृ० २३६।

३. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २३९।

४. आलोचना : नाटक विशेषांक (जुलाई १९५६), पृ० १०७।

इस नाटक के कथानक के आधार संस्कृत के 'मोहपराजय' तथा 'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक है। इसमें नाटकीय तत्वों का नितान्त अभाव और काव्यपक्ष सबल है। अतः वास्तविक अर्थो मे इसे नाटक नहीं माना जा सकता। ज्ञानवार्ता होने के कारण धार्मिक दृष्टि से ही इस का विशेष महत्व है।

३. अन्य नाटक

समयसार नाटक

बनारसी दास जैन प्रणीत 'समयसार नाटक' (रचनाकाल सन् १६३६) नाटक न होकर एक धार्मिक ग्रन्थ है, जो काव्यमयी शैली में लिखा गया है, और इसका वर्ण्य-विषय कुन्दकुदाचार्य के 'समय पाहुड़' नामक ग्रन्थ पर आधारित है। इसमें लेखक ने जीव, अजीव, पाप, पुण्य, मिथ्यात्व आदि दार्शनिक तत्वों का विवेचन किया है। 'समय पाहुड़' मे नाटक के सिद्धान्तों अथवा दृश्य, पात्र आदि किसी का उल्लेख नही है। वह तो सीधा-साधा एक धार्मिक ग्रन्थ है जिसमें जीव, अजीव आदि सम्बन्धी तत्व-ज्ञान का दार्शनिक प्रणाली में विवेचन किया गया है।[१] कथा, संवाद, पात्रादि नाटकीय तत्वों के अभाव में भी इस ग्रन्थ को सम्भवतः नाटक इसलिए कहा गया क्योंकि 'समय पाहुड़' के टीका-कारों ने उसकी व्याख्या नाटक के रूप में की है। परन्तु 'समयसार' के लेखक ने टीकाकारो के 'नाटक-रूप' का अनुगमन न कर 'समय पाहुड़' की शैली का ही अनुकरण किया है।

सभासार

रघुराम नागर का छन्दोबद्ध नीति ग्रन्थ 'सभासार' सन् १७०० ई०[२] में लिखा गया। यद्यपि पुस्तक के अन्त में लेखक ने इसे 'नाटक' की संज्ञा से अभि-हित किया है, फिर भी नाटकीय तत्वों के अभाव में इसे नाटक नहीं माना जा सकता। सारे नाटक में केवल एक पात्र है, और वह है कवि। उसी के द्वारा लेखक ने समाज के भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के धर्म-कर्म की चर्चा की है। नाटक

---

१. डा० सोमनाथ गुप्त, पूर्व भारतेन्दु नाटक साहित्य, पृ० ३६।

२. बाबू ब्रजरत्नदास, हिन्दी नाट्य साहित्य, पृ० ६०, डा० भगीरथ मिश्र, हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास (खण्ड दो), पृ० २६५, डा० दशरथ ओझा, हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, पृ० १६०।
(परन्तु अनन्त जी ने इस नाटक का रचनाकाल सन् १६५० ई० दिया है—देखिए, 'नया पथ,' मई १९५६, पृ० ५४, लेख—'हिन्दी नाट्य और रंगमंच')।

के आरम्भिक पद्य-भाग में लेखक ने इस ग्रन्थ-रचना का उद्देश्य इस तरह स्पष्ट किया है—

ज्यों सब संगति जानिये, प्रभु सौ कहो पुकार।
सकल सभा वर्णन कहूं, नृपति आदि निरधार ।।६।।
सब लच्छनि पहिले सुनो, पुन्य सुसंगति पाय।
मन चंचलता जानि जग, नीच न संग सुहाय ।।७।।

इस पुस्तक का नैतिकता की दृष्टि से भले ही महत्व हो, परन्तु नाटक के क्षेत्र में इसे कोई स्थान नही दिया जा सकता।

माधव विनोद

भवभूति विरचित 'मालती माधव' नाटक का अनुवाद सोमनाथ माथुर ने माधव विनोद नाम से सन् १७५२ ई० में किया। इसमें मालती-माधव की प्रणय कथा का वर्णन है, जिसका आधार बृहत् कथा है। माधव के मित्र मकरन्द और मदयन्तिका की प्रेम-गाथा भी नायक-नायिका की कहानी के साथ चलती है। नाटक का नायक माधव है जिसकी गणना धीरशान्त कोटि के नायकों में की जा सकती है। सारा नाटक पद्यमय है। मूल के गद्य को भी इसमें पद्य का रूप ही मिल गया है। नाटक की अपेक्षा प्रबन्ध-काव्य की दृष्टि से इसका विशेष महत्व है।

इन्दर सभा

इस युग का सबसे अधिक लोकप्रिय नाटक अमानत कृत 'इन्दर सभा' (१८६३) है। इसकी लोकप्रियता इसी बात से स्पष्ट हो जाती है कि इस नाटक के हिन्दी, गुजराती, गुरुमुखी आदि भाषाओं में अनुवाद हुए। लिपजिग से जर्मन भाषा में भी इसका एक अनुवाद सन् १८९२ में छपा। इस सर्वप्रियता का कारण इसके गाने हैं जिनमें भद्दापन और अश्लीलता की भरमार है जो उस युग के लोगों की सस्ती रुचि का परिचायक है।

यह एक बड़ा विवादास्पद विषय रहा है कि इसकी गणना उर्दू नाटकों में की जाये अथवा हिन्दी नाटकों में। डाक्टर राम बाबू सक्सेना,[1] ब्रजरत्नदास,[2] शिवदान सिंह चौहान,[3] आदि विद्वान् इसे उर्दू का नाटक स्वीकार करते हैं तथा

---

१. रामबाबू सक्सेना, उर्दू साहित्य का इतिहास भाग दो, अनु० शालिग्राम श्रीवास्तव, संस्करण १९५१, पृ० १२१।
२. उर्दू साहित्य का इतिहास, द्वितीय संस्करण, पृ० १३५।
३. हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष, पृ० ११६।

डाक्टर देवर्षि सनाढ्य,[1] सौमनाथ गुप्त,[2] वेदपाल खन्ना,[3] रामेश्वर सिंह काश्यप[4] आदि कई विद्वान् इसे हिन्दी का प्रथम रंगमंचीय नाटक स्वीकार करते हैं। और चूंकि हिन्दी के प्रारम्भिक नाटकों, विशेष रूप से भारतेन्दु युग के अनेक नाटकों का नाट्य-शिल्प इससे पर्याप्त प्रभावित रहा है, इसलिए यहां इसकी चर्चा करना अप्रासंगिक नहीं है।

हिन्दी के कई विद्वान् कैसर बाग में 'इन्द्र सभा' नाटक का खेला जाना, वाजिद अलीशाह के आदेश से उसका लिखा जाना तथा नायक इन्द्र का अभिनय करने के लिए इसका सम्बन्ध वाजिद अलीशाह के व्यक्तित्व से जोड़ते हैं। इस बात को न तो स्वयं अमानत ही स्वीकार करते हैं और न ही उर्दू के विद्वान्। डाक्टर रामबाबू सक्सेना इस नाटक के बारे में लिखते हैं, 'सबसे पहला उर्दू नाटक 'इन्द्रसभा' है, जिसको नासिख के शिष्य अमानत ने लिखा था, जिनका सम्बन्ध वाजिद अलीशाह के दरबार से था और कहा जाता है कि यह बादशाहों के हुक्म से लिखा गया था। (पृ० १२१) × × × जब यह पुस्तक तैयार हुई तो इसके लिए कैसर बाग़ के महल में एक मंच सुसज्जित किया गया। कहा जाता है कि बादशाह स्वयं इसमें राजा इन्द्र बनते थे और परियों का पार्ट सुन्दर स्त्रियां भड़कीले कपड़े और जवाहरात पहन कर करती थी। (पृ० १२२) × × × × लेकिन सच तो यह है कि निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि वाज़िदअली शाह स्वयं इस तमाशे में भाग लेते थे या नहीं अथवा यह कैसर बाग़ में खेला जाता था और यह कि अमानत ने बादशाह की आज्ञानुसार इसको लिखा था। (पृ० १२३)[5]

डाक्टर सक्सेना के पृ० १२३ पर दिये गये विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने इस नाटक में नायक इन्द्र का अभिनय करने के लिए स्वयं वाज़िदअली शाह का अभिनय करना, कैसर बाग़ में इसका खेला जाना तथा नवाब के आदेशानुसार इसके लिखे जाने को संदिग्ध ही माना है। इसके

---

१. हिन्दी के पौराणिक नाटक, पृ० २२०।
२. हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास, पृ० ८।
३. हिन्दी नाटक साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन पृ० २७।
४. नई धारा : रंगमंच विशेषांक (अप्रैल-मई १९५२) लेख हिन्दी के नाटक और हिन्दी का रंगमंच।
५. उर्दू साहित्य का इतिहास, भाग दो, अनु० शालिग्राम श्रीवास्तव संस्करण, १९५१।

विपरीत डाक्टर विश्वनाथ प्रसाद,[१] डाक्टर सोमनाथ गुप्त,[२] देवर्षि सनाढ्य,[३] वेदपाल खन्ना[४] ने उपर्युक्त तीनों बातों की सत्यता स्वीकार की है। ऐसा लगता है कि इन विद्वानों ने डा० सक्सेना के ऊपर उद्धत किये हुए वक्तव्य के पहले अंश को ही अपना आधार बनाया है और उनके अन्तिम वक्तव्य की ओर ध्यान नही दिया। उर्दू के प्रसिद्ध विद्वान् एवं आलोचक मसीह उज़्ज़मा लिखते हैं, 'बादशाह ने खुद कभी इन रहसों मे अदाकार की हैसियत से हिस्सा नहीं लिया और यह मुहम्मद उमर और नूर इलाही साहबान की नावाकफ़ियत है कि इन्होंने 'नाटक सागर' में वाजिदअली शाह से अजीब अजीब रवायतें मनसूब की है। ××× 'इन्दर सभा' के मुतल्लिक यह कहना कि इसे 'अमानत' ने वाज़िद अलीशाह की फ़रमाइश से लिखा था या किसी फ्रासीसी आपेरा का वयान सुनकर बादशाह की फरमाइश पूरी की थी सरासर गलत है। अमानत को बादशाह के दरबार से कभी कोई ताल्लुक नही था। अगर 'इन्दर सभा' को बादशाह के इशारे से लिखा गया होता तो इसका तज़किरा उस दिबाचे में 'अमानत ज़रूर करते जो इसके इब्तदाई एडीशन में मौजूद है।'[५]

प्रोफेसर सैयद मसऊद हसन रिज़वी ने 'इन्दर सभा' पर जो पुस्तक लिखी है उसमे भी उन्होंने इसी बात का समर्थन किया है कि अमानत ने 'इन्दर सभा' की रचना नवाब साहब के कहने पर नहीं की और न ही नवाब साहब ने उसमें 'इन्दर' का अभिनय किया है। उन्होंने नवाब साहब के दरबार में किसी फ्रांसीसी के होने वाली बात को तथा कैसर बाग़ में इस नाटक के अभिनीत किये जाने को प्रमाणित नही माना। रही बात 'इन्दर सभा, का सम्बन्ध नवाब साहव के साथ जोड़ने की, उसके बारे में स्वयं अमानत 'सबब तालीफ़ किताब इन्दर सभा' मे लिखते है—'वज़ा के ख्याल से कही जाता था न आता था। ज़बान की वाबस्तगी से घर में बैठे बैठे जी घबराता था। एक रोज़ का ज़िक्र है कि हाजी मिरज़ा आबिद अली यगाना अज़ली रफ़ीके शफ़ीक़ मूनिसो ग़म-गुसार क़दीमी जांनिसार शागिद अव्वल मौज़ू तबियत तखल्लुस इबादत आशिक़े कलामे 'अमानत' उन्होंने अज़रोह मुहब्बत कहा कि बेकार बैठे बैठे घबराना

१. रंगमंच विशेषांक (अप्रैल-मई १९५२) हिन्दी नाटक और रंगमंच:—पाश्चात्यप्रभाव (लेख), पृ० १४।
२. हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास, पृ० ८।
३. हिन्दी के पौराणिक नाटक, पृ० २२०।
४. हिन्दी नाटक साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन, पृ० २७।
५. तावीर, तशरीह, तनकीद; पृ० १३४-१३५।

अबस है। ऐसा कोई जलसा 'रहस' के तौर पर तबाज़ाद नज़्म किया जाना चाहिए कि दो चार घड़ी दिल्लगी की सूरत होवे और खल्क़ में शोहरत होवे। अख़ीरुल मुआफ़िक उनकी फ़रमाइश के बन्दा इसके कहने पर आमादा हुआ।'

अमानत के इस कथन से यह स्पष्ट है कि उन्होने 'रहस' के ढंग पर 'इन्दर सभा' की रचना की। रहस (रास) का नवाब वाज़िद अली शाह से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। उन्होंने स्वयं भी कई रहस लिखे थे। उन दिनों रास शैली में जो नाटक लिखे जा रहे थे, उनको कुछ लोगों ने रहस कहना शुरू कर दिया था, और 'इन्दर सभा' की रहस शैली पर रचना होने के कारण ही यदि लोगों ने उसका सम्बन्ध वाज़िद अली शाह के साथ जोड़ दिया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

इस नाटक का नायक इन्द्र है जिसे नाटककार ने भोगी, विलासी और कामुक चित्रित किया है। इसे रीतिकालीन प्रभाव कहा जा सकता है। नाटक के आरम्भ मे ही इन्द्र स्वयं सामाजिकों को अपना परिचय इस प्रकार देता है—

राजा हूं मैं कौम का इन्दर मेरा नाम।
बिन परियों की दीद के नहीं मुझे आराम॥
सुन ले मेरे देव अब दिल को नहीं करार।
जल्दी मेरे वास्ते सभा करो तैयार॥
तख्त बिछाओ जगमगा जल्दी से इस आन।
मुझ को शब भर बैठना महफिल के दरमियान॥
मेरा सिंगल-दीप में मुलकों मुलकों राज।
जी मेरा है चाहता जलसा देखूं आज॥
लाओ परियों को अभी जल्दी जाकर वां।
बारी बारी आनकर मुजरा करें यहां॥

और इसके बाद एक-एक करके परियां मंच पर आकर पहले अपना परिचय देती है, और फिर नाचती-गाती हैं। शृंगारिक प्रचुरता इस नाटक की विशेषता है। वस्तु तथा चरित्र-चित्रण की दृष्टि से इस नाटक का कोई महत्व नहीं है। भारतेन्दु ने इसकी गणना 'भ्रष्ट नाटकों' में की है उनका कथन है—'भ्रष्ट अर्थात् जिनमें अब नाटकत्व नहीं शेष रहा है। यथा भांड, इन्द्रसभा, रास, यात्रा, लीला और झांकी आदि।'[1] यही नहीं भारतेन्दु को इस नाटक

१. भारतेन्दु नाटकावली, (भाग दो) सं० ब्रजरत्नदास, पृ० ३६६।

को देखकर ऐसी वितृष्णा हुई कि उन्होंने इस का मज़ाक उड़ाने और मुंह तोड उत्तर देने के लिए 'चन्द्रावली' और 'बन्दर सभा' की रचना की। रामेश्वर सिह काश्यप लिखते है—'घटना और चरित्र-चित्रण से हीन होने पर भी यह लोक-प्रिय खूब हुआ और इसी शैली पर मदारी लाल ने 'बन्दर सभा' लिखा।'[1] यहां यह कह देना नितान्त आवश्यक है कि मदारी लाल ने किसी बन्दर सभा नाटक की रचना नही की। उन्होंने तो इन्दर सभा ही लिखा था, जो चरित्र-चित्रण की दृष्टि से अमानत के नाटक से कही अच्छा था। 'बन्दर सभा' तो भारतेन्दु जी ने ही लिखा था।

उपसंहार

भारतेन्दु से पूर्व के नाटकीय काव्यों में रामचरित सम्बन्धी ही नाटक अधिक मिलते है, कृष्णचरित सम्बन्धी कम। यह इन नाटको के विवेचन से स्पष्ट हो गया है। कृष्ण चरित रासलीलाओं में अधिक प्रसिद्ध रहा और उसका क्षेत्र ब्रजभूमि था। परन्तु समस्त उत्तरी भारत के उपलब्ध नाट्य साहित्य मे रामचरित को अधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई। यद्यपि राम और कृष्ण उस युग के चरित नायक थे और नाटककारों ने राम और कृष्ण के परम्परा-स्वीकृत अवतारी रूप को ही अपने नाटकों में चित्रित किया है, फिर भी यत्र-तत्र उनके मानवी रूप की झलक भी दिखाई पड़ जाती है। 'हनुमन्नाटक भाषा' में देवत्व और मानवत्व का अद्भुत समन्वय मिलता है। 'रामकरुणाकर' में लक्ष्मण के मूर्च्छित हो जाने पर राम साधारण मनुष्य की तरह विलाप करते हैं। 'आनन्द रघुनन्दन' मे जहां लेखक ने पात्रों के नामकरण में प्रतीकात्मक शैली को आधार बनाया है, वहां साथ ही नाटक के सातवे अंक में राम को अप्सराओं के नृत्य मे रुचि लेते हुए दिखाया गया है। वहीं पर नर्तक द्वारा अंग्रेजी मिश्रित गाना भी गाया जाता है। यद्यपि राम के आगे नर्तकियों के नृत्य और नायिका-भेद का उल्लेख करना अच्छा नही लगता, तो भी नाटककार ने राम की चारित्रिक उदात्तता को यथासंभव बनाये रखने का प्रयास किया है। 'करुणाभरण' नाटकीय काव्य में नाटककार ने कृष्ण के लौकिक और अवतारी दोनों रूपो का चित्रण किया है। इसमें वे धीरललित नायक हैं। 'प्रद्युम्नविजय' के नायक कृष्ण नहीं, प्रद्युम्न है। उसकी वीरता रणभूमि तक ही सीमित नहीं, शृंगार के क्षेत्र में भी वह विजयी बनता है। उसे धीरललित नायक भी कहा

---

१. हिन्दी के नाटक और हिन्दी रंगमंच—(लेख), नई धारा—रंगमंच विशेषांक (अप्रैल-मई, १९५२)।

जा सकता है। नेवाज कृत 'शकुन्तला' में नाटककार ने दुष्यन्त के चरित्र-चित्रण करने में कालिदास का ही अनुसरण किया है और उसके धीरोदात्तादि गुणों को ही उसने उभारा है। महाभारत के दुष्यन्त का चरित्र यथार्थता के अधिक निकट है, और नेवाज ने उसकी अपेक्षा उसे आदर्श के निकट लाने का यत्न किया है। इस युग के पौराणिक चरित-सम्बन्धी नाटकों में गोपाल चन्द्र कृत 'नहुष' नाटक विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसमें लेखक ने नायक-सम्बन्धी पुरानी सभी मान्यताओं की उपेक्षा कर इन्द्र को नाटक का नायक न बनाकर नहुष जैसे व्यक्ति को नायक बनाया है जिसका चरित्र सबलताओं और दुर्बलताओं से युक्त है। देवत्व प्राप्त कर लेने पर वह इन्द्राणी के साथ दुर्व्यवहार करना चाहता है। ब्राह्मणों एवं ऋषि-मुनियों के साथ भी उसका व्यवहार अच्छा नहीं है। नहुष का चरित्र यथार्थ की सीमाओं के अधिक निकट है। भारतेन्दु से पहले के नाटकीय काव्यों में नायक की दृष्टि से नहुष का विशेष महत्व है और इसने परवर्ती नाटकों के नायक के स्वरूप को विशेष रूप से प्रभावित किया है। भारतेन्दु युग के अधिकांश नाटककारों ने प्राचीन परम्परा के आदर्श नायकों की अपेक्षा यथार्थ की कठोर भूमि पर स्थित नायकों की ओर ही अधिक रुचि का प्रदर्शन किया है।

छठा अध्याय

भारतेन्दु युग के नाटकों में नायक

भारत का नवजागरण-प्रथम चरण

धार्मिक पृष्ठभूमि

'भारत में अंग्रेज़ों के राज्य की स्थापना ही वह असाधारण प्रेरणा का स्रोत है जिससे अंग्रेज़ों के राजत्वकाल में भारतीय जीवन में सर्वागीण संक्रमण हुआ। इस संक्रमण का विस्तार और व्यास सर्वगामी था। इस स्थित्यन्तर ने सामाजिक तथा व्यक्तिगत भारतीय जीवन के सब अंगों को प्रभावित किया।'[1] अंग्रेज़ी शासन के प्रभाव स्वरूप भारतीय जीवन के आंतरिक और बाह्य दोनों ही क्षेत्रों में परिवर्तन के चिह्न प्रस्फुटित हुए जिससे देश में नयी बौद्धिक चेतना का जागरण हुआ और सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टिकोण को नयी दिशा मिली उन्नीसवीं शती से पूर्व भारतीय समाज की मूल प्रवृत्ति धर्ममूलक थी। भले ही उसमें सच्ची धार्मिकता का अभाव था और मध्यवर्गीय निराशा तथा उदासीनता के चिह्न अधिक थे, फिर भी वह धर्ममूलक समाज कुछ निश्चित रूढ़ियों परम्पराओं से आबद्ध था। उसके निश्चित विधि-विधान और मान्यताएं थीं, जिनका पालन करना उसका धार्मिक कर्तव्य था। ऐसे समाज में मानव के समूचे कृत्य धर्म की चहारदीवारी में ही सीमित थे। धार्मिक कर्म-काण्डों ,जन्म-पुनर्जन्म, कर्मफल और भाग्यवाद, जप-माला, छापा-तिलक आदि में ही उसकी आस्था थी। उसके सांस्कृतिक आदर्श थे—आध्यात्मिकता, [illegible] और

---

1. वैदिक संस्कृति का विकास, (हिन्दी अनुवाद), लक्ष्मण शास्त्री जोशी, पृ० २६०।

आदर्शवादिता । 'सच तो यह था कि उस काल के भारतीय मानव के जीवन तथा मन पर उपर्युक्त काल्पनिक स्वप्नमय तथा भ्रमनिर्मित शक्तियों का जितना निर्बाध अधिकार था उतना उस पर न तो उसके देश के राजा के शासन का था, न उसके गांव तथा जमात का । वास्तव में वह इन्द्रजालों की दुनिया में भूत-पिशाचों के विश्व में (Phantom world) रहता था ।'[१] जब अंग्रेज़ व्यापारियों का शासकीय रूप में राजनैतिक विकास हुआ तो उसका प्रभाव हमारे देश की सामूहिक चेतना पर भी पड़ा । जब भी दो देशों की संस्कृतियां एक दूसरे के निकट सम्पर्क को प्राप्त होती है, तो नयी संस्कृति के निर्माण में उस देश की संस्कृति का रंग अधिक गहरा रहता है जो दूसरी की अपेक्षा अधिक समर्थ एवं प्रभावशाली होती है। भारतीय सांस्कृतिक चेतना भी पाश्चात्य विचारधारा से प्रभावित हुई और यह प्रभाव १८ वी शती में ही शुरू हो गया था । परिणामतः देश में नयी बौद्धिक चेतना का उदय हुआ । सामाजिक और धार्मिक दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ । उन्नीसवीं शती में नये सांस्कृतिक एवं बौद्धिक जागरण की यह सीमा-रेखा और भी स्पष्ट हो गई ।

शैक्षिक पृष्ठभूमि

अग्रेजो ने बंगाल का शासन अपने हाथ में लेते ही, शिक्षा-नीति को बदलना चाहा, क्योंकि इनका विश्वास था कि शिक्षा के माध्यम से ही हम अपनी संस्कृति से भारतीयों को प्रभावित ही नहीं कर सकते अपितु उन्हें ईसाई भी बना सकने में समर्थ हो सकते है । यद्यपि ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कुछ एक अधिकारियों का कहना था कि हम अपनी मूर्खता से अमेरीका में स्कूल और कालेजों के खोलने की अनुमति देकर उसे खो बैठे है, और इसलिए भारत के बारे में हमें ऐसे मूर्खतापूर्ण कृत्य को दोहराना नहीं चाहिए ।[२] फिर भी अधिकांश सत्ताधारियों ने शिक्षा-नीति में अंग्रेज़ी ढंग के परिवर्तन का समर्थन किया ।

---

१. वैदिक संस्कृति का विकास, (हिन्दी अनुवाद), लक्ष्मण शास्त्री जोशी, पृ० २६३ ।

२. "On the occassion one of the Directors stated that we had just lost America for our folly, in having allowed the establishment of schools and colleges, and it would not do for us to repeat the same act of folly in regard to India." Evidence of J. C. Marchman before select Committee of House of Lords, quoted in Education in India under East India Company. by B. P. Basu, page 6.

उस समय संस्कृत, अरबी और फ़ारसी की ही उच्च शिक्षा की पाठशालाओं एवं मदरसों आदि में व्यवस्था थी; परन्तु इतिहास, भूगोल, राजनीति, दर्शन आदि विषयों की नहीं। अतः सर्वप्रथम वारेन हेस्टिंग ने इन विषयों के अध्ययन तथा भारतीय ज्ञान के पुनरुत्थान की ओर ध्यान दिया और सन् १७८१ में कलकत्ता में एक मदरसा खोला। इसी से प्रेरणा प्राप्त कर विलियम जोन्स ने कलकत्ता में सन् १७८४ में बंगाल की ऐशियाटिक सोसायटी की स्थापना की और जब सन् १७६२ में बनारस में जनाथन डंकन (Jonathan Duncan) ने संस्कृत कालेज खोला तो उस समय लार्ड कार्नवालिस ने कहा था कि 'इस कालेज की स्थापना के दो मुख्य लाभ दृष्टिगोचर होते है। पहला तो यह कि हिन्दू ब्रिटिश राज्य के प्रिय बन जायेंगे···और दूसरा यह कि इससे हिन्दू विधान की रक्षा और उसका पोषण हो सकेगा तथा जजों के सहायक मिलते रहेंगे।'[1] लार्ड कार्नवालिस के इस कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि अंग्रेज़ भारतीयों को ईसाइयत की ओर ले जाना चाहते थे। भारतीयों को इस दिशा की ओर अग्रसर करने के लिए सर्वप्रथम कम्पनी के एक अधिकारी चार्ल्स ग्रांट ने यह सुझाव दिया था कि जब तक हम स्कूलों में अंग्रेज़ी शिक्षा को अनिवार्य नहीं बनायेंगे, तब तक भारतीय जन-समाज से सामाजिक कुरीतियों और अनैतिक आचरणों को नहीं खदेड़ा जा सकता। इसके अतिरिक्त अंग्रेज़ी शिक्षा द्वारा पाश्चात्य ज्ञान, विचार, दर्शन, विज्ञान भारतीयों तक पहुंचाये जा सकते हैं परन्तु यह काम इतनी सावधानी से होना चाहिए कि जिससे हिन्दू लोग उत्तेजित न हों और इस तरह वे धीरे-धीरे पाश्चात्य रंग में रंग जायेंगे।[2]

आज हम अनुभव करते है कि चार्ल्स ग्रांट के इस कथन में कितनी दूर-दर्शिता और सत्यता थी। अंग्रेज़ी भाषा के शिक्षा का माध्यम बन जाने से योरोप के उदार एवं स्वतन्त्र विचारों का भारत में प्रचार होना शुरू हुआ। योरोप के औद्योगिक एवं वैज्ञानिक विकास ने मानव को भावनात्मक धरातल से बाहर निकाल कर जीवन की कठोर यथार्थता की ओर प्रेरित किया। अतः भारत के इस नये बौद्धिक जागरण से समाज में नये के प्रति प्रेरणा और मोह की भावना ही नहीं जगी, अपितु तर्क और विचार की नयी शक्ति के मिल

---

१. भारतीय शिक्षा का इतिहास, रमणीकान्त सूर तथा श्यामाचरण दुबे, संस्करण १६५७, पृ० ४१ से उद्धृत (देखिए Selections from Educational Records, Vol I, page 10-11.)

२. विस्तृत विवरण के लिए देखिए—Selections from Educational Records, Vol I, page 80-85.

जाने से पुराने अन्धविश्वासों के प्रति अश्रद्धा और अनास्था पैदा हुई। प्राचीन धार्मिक ग्रन्थों एवं शास्त्रों की नयी दृष्टि से आलोचना हुई। पुरातन रूढ़ियों और विश्वासों को वैज्ञानिक तथ्यों के प्रकाश में एक नयी परीक्षा में से गुजरना पड़ा। परिणामतः सामाजिक जड़ता (Immobility) का स्थान प्रगतिशीलता ने लिया। नैतिकता एवं धर्माचरण के सिद्धान्तों का पुनर्निर्माण हुआ।

सुधारवादी चेतना

यद्यपि कम्पनी-सरकार की आरम्भ में यह नीति रही थी कि भारतीयों के सामाजिक एवं धार्मिक रीति-रिवाजों में वह हस्तक्षेप न करे तो भी उसे मानवतावाद की भावना से अनुप्राणित होकर भारतीय समाज सुधारकों के साथ अपना सहयोग देना ही पड़ा। तत्कालीन समाज में कुछ एक ऐसे नृशंसतापूर्ण अमानवी कृत्य घर कर चुके थे जिनको मानवता के नाते रोकना अनिवार्य था। तद्युगीन हिन्दू समाज के एक वर्ग में अपनी धार्मिक निष्ठा पूर्ति के हेतु बच्चे को गंगा में बहा देने की प्रथा थी। मध्य तथा पश्चिमी भारत के राजपूतों, जाटों और मेवातों में इस प्रथा का रूप कुछ भिन्न था। वे अपनी लड़कियों का शादी की उचित व्यवस्था न होने के कारण पैदा होते ही गला घोट देते थे या मा के स्तनों पर विष लगाकर उसे मार देते थे।[१] अतः सरकार को ऐसे अमानवी कृत्यों को रोकने के लिए सन् १७९५ और १८०२ में कानून बनाने पड़े।

सती प्रथा का भी उन दिनों काफ़ी ज़ोर था। विधवा स्त्रियों को दूसरी शादी की अनुमति समाज की ओर से नहीं थी। पति के मरने के बाद विधवा स्त्री को पति की चिता पर जीवित जला देने का विधान तत्कालीन समाज में था। कई बार विधवाओं को पति के शव के साथ चिता पर जलाने से पहले कुछ एक ऐसे नशीले पदार्थ खिला दिये जाते थे, जिनके कारण वह अचेत हो जाये और वह मृत्यु के कष्ट को न जान सके। 'इतिहास में इन बातों का कथन आता है कि औरत आग की प्रथम चिन्गारी से भयभीत होकर चिता से भागने की कोशिश करती थी तो उसे बलात् फिर जलती चिता पर लिटा दिया जाता था।[२] श्मशान में ऐसी घटनाओं को रोकने के लिए कई बार वर

१. R. C. Majumdar, An Advanced History of India, page 821-822.

२. R. C. Majumar, An Advanced History of India, page 823. "Cases are on record when the women fleeing from the first touch of fire was forcibly placed upon the funeral pyre."

पक्ष के सम्बन्धी भारी भरकम लकड़ी के टुकड़ों को विधवा स्त्री पर रख दिया करते थे, ताकि वह चिता पर से उठ न सके। चिता को आग लगाने के बाद वे जोर-ज़ोर से ढोल पीटा करते थे, ताकि उसके हृदय विदारक चीत्कार को लोग सुन न सकें। सन् १८१२, १८१५ और १८१७ में इस प्रथा को रोकने के लिए सरकार ने कानून बनाये। समाज के कुछ लोगों ने इसका विरोध किया, परन्तु राजा राममोहन राय ऐसे समाज सुधारकों ने इस प्रथा के उन्मूलन में सरकार को अपना सहयोग दिया। राजा राधाकान्त देव ने राममोहन राय का विरोध किया। जनता ने भी राजा राधाकान्त का ही साथ दिया। लोग तो राममोहन राय के इतने विरुद्ध हो गये थे कि वे इनके प्राण लेने पर उतारू हो गए थे। राममोहन राय ने इन सब विरोधों का डटकर सामना किया। अन्त में लार्ड विलियम बैंटिक ने चार दिसम्बर सन १८२९ को एक कानून द्वारा सती प्रथा को अवैध घोषित किया। इस कानून द्वारा वे लोग भी अपराधी घोषित किये गये जो विधवा स्त्री को सती हो जाने की प्रेरणा देंगे अथवा ऐसे कुकर्म से येन केन प्रकारेण सम्बन्धित होंगे। इस तरह सरकार ने सती प्रथा की रोकथाम की। इसके साथ ही सन् १८४३ के एक कानून द्वारा सरकार ने दास प्रथा का भी अन्त कर दिया और साथ ही ठगों का भी दमन किया।

भारत का नवजागरण : द्वितीय चरण (१८५०-१९०५)

धार्मिक एवं सामाजिक युग चेतना

इस युग की परिवर्तनशील सांस्कृतिक चेतना का सुन्दर प्रतिनिधित्व राजा राममोहन राय के जीवन और व्यक्तित्व में देखा जा सकता है। राममोहन राय अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रबल समर्थक एवं अग्रणी तो थे ही, एक समाज सुधारक भी थे। जात-पात, समाज में स्त्रियों की हीनावस्था, सतीप्रथा, पुरुषों के बहु-विवाह आदि सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध उन्होंने समाज में आवाज़ उठाई। वे विधवा-विवाह के पक्ष में थे। राजनैतिक क्षेत्र में भी वैधानिक रूप से आन्दोलनों को चलाने का प्रयोग सर्वप्रथम इन्होंने ही किया। इन्हीं प्रयत्नों के परिणामस्वरूप कोई पचास वर्ष बाद इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना हुई थी।

ब्राह्म समाज तथा प्रार्थना समाज

राजा राममोहन राय का विश्वास था कि जब तक समाज में धर्म-दृष्टि को परिवर्तित नहीं किया जाता, समाज सुधार सम्भव नहीं है। धार्मिक

कूपमण्डूकता के कारण जन समाज कुप्रथाओं और कुरीतियों का घर बना हुआ था। एक ओर तो ऐसा धार्मिक कट्टरपंथी जनवर्ग था तो दूसरी ओर कुछ लोग अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रभाव स्वरूप पश्चिमी रंग मे अपने आपको बदला हुआ देखना चाहते थे। यद्यपि राममोहन राय इसी दूसरे वर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे, फिर भी उन्होंने भारतीय संस्कृति के प्राणवान् तत्वों को अपनी नयी जीवन दृष्टि का आधार बनाया। उन्होंने न केवल अपने ही धार्मिक ग्रन्थों का बड़े अध्यवसाय से परिशीलन किया, अपितु सभी धर्मो के सारतत्वों का चिन्तन किया और अन्त में वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि ईश्वर की सत्ता इस सृष्टि का एकमात्र सत्य है और उसके अमूर्त रूप की उपासना ही मानव का धर्म है। इसी एकेश्वरवाद के प्रचारार्थ उन्होंने २० अगस्त १८२८ को 'ब्राह्म समाज' की स्थापना की, जहां सभी धर्मो के तत्वों को बराबर स्थान दिया गया। आरम्भ मे इसका नाम 'ब्राह्म-सभा' था, परन्तु बाद में इसको 'ब्राह्म समाज' की संज्ञा से अभिहित किया गया। 'ब्राह्म समाज' की बैठकों के लिए इन्होंने एक भवन की स्थापना की, जिसे इन्होंने ट्रस्टियों को सौंप दिया। ८ जनवरी, १८३० को इन्होंने इस संस्था के विधान पत्र (ट्रस्ट-डीड) में इस बात की घोषणा की कि यह भवन बिना किसी धार्मिक भेद-भाव और जात-पात का विचार किये सभी वर्णो के द्वारा उस परम प्रभु भगवान् की आराधना के लिए प्रयोग में लाया जाये। इस भवन में न तो मूर्ति पूजन किया जाये और न ही किसी प्राणी की हिंसा वगैरह की जाये। दूसरे शब्दों में उन्होंने इस धार्मिक संस्था को सार्वजनीन रूप देने का प्रयास किया।

'ब्राह्म समाज' ने भारतीय समाज को व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की चेतना का अभूतपूर्व तत्व दिया। पुरातन जीर्ण-शीर्ण, परम्पराओं से मुक्त होने का नया दृष्टिकोण दिया। समाज में जिस नारी का अस्तित्व केवल मात्र पुरुष के लिए ही समझा जाता था, उसके उद्धार के लिए समाज के विरुद्ध आवाज़ उठाई। बाल-विवाह, बहु-विवाह, सती प्रथा, जात-पात, आदि का विरोध किया और विधवा विवाह अन्तर्जातीय विवाह, स्त्री शिक्षा आदि का समर्थन किया। वस्तुतः मानव के ऐहिक जीवन के नैतिक आचरण को शुद्ध बनाना ही इस संस्था का उद्देश्य था। पारलौकिक जीवन की सुन्दर एवं सुखद परिकल्पनाओं को ब्राह्म समाज ने निस्सार सिद्ध किया। वस्तुतः इसने देश भर में बाद में होने वाले धार्मिक, सामाजिक एवं राजनैतिक आन्दोलनों के लिए भूमि तैयार की।

सन् १८३३ में राजा राममोहन राय की मृत्यु हो गई। इनके देहान्त के बाद कुछ देर तक यह संस्था निष्प्राण रही, परन्तु बाद में देवेन्द्रनाथ ठाकुर और केशवचन्द्र सेन आदि के सहयोग से इस संस्था को पुनर्जीवन मिला। कुछ देर

तक ये दोनों नेता एक साथ मिल कर राजा साहब के आदर्शों और सुधारवादी विचारों का प्रचार करते रहे, परन्तु बाद में दोनों में आधारभूत वैचारिक मत-भेद उत्पन्न हो गया। परिणामतः सन् १८६७ में ब्राह्म समाज के दो भेद हो गये—उदारवादी तथा उग्रवादी। पहले दल के नेता थे देवेन्द्र नाथ ठाकुर, जो प्राचीन सास्कृतिक धर्म परम्परा के आराधक और नरम नीति धर्मी सुधारक थे। दूसरे दल का प्रतिनिधित्व केशवचन्द्र सेन ने किया, जो समाज के ढाचे को क्रांतिकारी ढंग से बदलने में विश्वास रखते थे। केशवचन्द्र सेन ने देवेन्द्रनाथ के 'आदि ब्राह्म समाज' से स्वच्छन्द होकर देश के कई नगरो में नवीन समाज की शाखाएं खोली। इन्ही के प्रयत्नों से सरकार ने सन् १८७२ मे एक्ट-३ के अनुसार बहु-विवाह तथा बाल-विवाह को अवैध घोषित किया और साथ ही अन्तर्जातीय विवाह करने की अनुमति प्रदान की। सन् १८७८ में इन के अपने 'समाज' के कुछ एक लोगों ने पारस्परिक सामंजस्य न रहने के कारण अपना अलग दल बना लिया, जिसको उन्होंने 'साधारण ब्राह्म समाज' की संज्ञा दी।

केशवचन्द्र सेन के प्रयत्नों से बंगाल से बाहर जो नयी सस्थाएं बनी, उन सब में महत्वपूर्ण थी 'प्रार्थना समाज,' जिसका प्रभाव महाराष्ट्र में अधिक रहा। महादेव गोविद रानाडे, डाक्टर भाण्डारकर आदि नेताओं ने इस संस्था के सुधारात्मक आन्दोलनों को बड़े ज़ोर से चलाया।

आर्य समाज

ब्राह्म समाज की तरह ही इस युग की दूसरी महत्वपूर्ण संस्था आर्य समाज थी। इसकी स्थापना १० अप्रैल, १८७५ में बम्बई में स्वामी दयानन्द द्वारा हुई। यद्यपि ब्राह्म समाज की तरह इस संस्था का उद्देश्य भी धर्म और समाज के क्षेत्र में सुधार करना ही था, तथापि व्यावहारिक रूप में इस ने शैक्षिक और राजनैतिक चेतना के जागरण में महत्वपूर्ण योग दिया। राममोहन राय की तरह स्वामी जी भी एकेश्वरवादी थे। मूर्तिपूजा, जात-पात, बाल-विवाह, छूआ-छूत, पर्दा प्रथा, अशिक्षा आदि का इन्होंने भी घोर विरोध किया। स्त्री-शिक्षा, अन्तर्जातीय विवाह तथा विधवा विवाह के ये प्रबल समर्थक थे। वेदों मे इनकी अटूट आस्था थी। अन्य धार्मिक मतों का इन्होंने तार्किक ढंग से खण्डन किया। असत्य का भण्डाफोड़ करना ही ये अपने जीवन का उद्देश्य मानते थे। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'सत्यार्थ प्रकाश' में वे लिखते हैं—'मेरा कोई नवीन कल्पना वा मत-मतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है किन्तु जो सत्य है उसको मानना मनवाना और जो असत्य है उसको छोड़ना और छुड़वाना मुझ को

अभीष्ट है ।'[1] यद्यपि स्वामी जी पाश्चात्य शिक्षा एवं सांस्कृतिक विचारधारा के विरोधी थे, फिर भी जीवन के प्रति इनका दृष्टिकोण व्यापक और उदार था । इन्होंने अहिन्दू लोगों को हिन्दू धर्म में दीक्षित करने का नया आन्दोलन चलाया, जिसे 'शुद्धि आन्दोलन' नाम से पुकारा गया है और जो देश की एक राष्ट्रीयता, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक चेतना का प्रतीक है । इन्होंने अपने विचारों को केवल उच्च शिक्षित समाज तक ही सीमित नहीं रखा, अपितु जन साधारण में उसका प्रचार किया। स्वामी जी के विचारों का पंजाब और उत्तर प्रदेश में खूब प्रचार हुआ। स्थान-स्थान पर आर्य समाज की शाखाएं खोली गई । इनके प्रसिद्ध अनुयायी थे—पण्डित गुरुदत्त, महात्मा हंसराज, लाला लाजपत राय तथा स्वामी श्रद्धानन्द । स्वामी जी के बाद इन अनुयायियों ने देश भर में आर्य समाज के विचारों का प्रचार किया ।

स्वामी जी ने समकालीन ब्राह्म-समाज के नेता केशवचन्द्र सेन की पाश्चात्यीकरण की नीति का घोर विरोध किया । यद्यपि अतीत की गौरवमयी सांस्कृतिक भित्ति पर वर्तमान और भविष्य के सुन्दर एवं सुखद सामाजिक भव्य भवन की निर्मिति ही इन्हे अभीष्ट थी, फिर भी बाद में इनके अपने ही कुछ एक अनुयायी अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रति आकर्षित हुए बिना न रह सके । आर्य समाज की वैदिक धर्म की शिक्षण नीति का जनता पर यह प्रभाव पड़ा कि उनके मन में स्वदेशभक्ति और राष्ट्रीयता की भावना जगी । स्वामी जी जीवन और समाज में स्वादेशिकता के समर्थक थे । स्वदेशी शासन के बारे में वे लिखते है, 'कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है । अथवा मत-मतान्तर के आग्रहरहित, अपने और पराये का पक्षपात-शून्य प्रजा पर माता-पिता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है ।'[2] स्पष्ट है कि इस युग में देश को स्वतन्त्र कराने के प्रयत्न आरम्भ हो चुके थे । अतः हम देखते हैं कि आर्य समाज का धर्म और समाज के साथ साथ राजनैतिक क्षेत्र में भी अप्रतिम प्रभाव पड़ा ।

थियोसॉफिकल सोसायटी

आर्य समाज की तरह थियोसॉफिकल सोसायटी ने भी अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे समाज में भारतीय संस्कृति के अक्षुण्ण महत्व के प्रति आकर्षण पैदा किया ।

---

१. सत्यार्थ प्रकाश (चतुर्दशसमुल्लासः) संस्करण सं० २०१८, पृ० ४२३ ।
२. सत्यार्थ प्रकाश (अष्टम समुल्लासः) पृ० १५४ ।

इस संस्था की स्थापना अमरीका में सन् १८७५ में मेडम एच. पी. ब्लेवत्स्की और कर्नल एच. एस. आल्कोट के द्वारा हुई। १८७६ में वे दोनों भारत आये और मद्रास के निकटवर्ती स्थान आदयार (Adyar) में सन् १८८६ में वे स्थापित हो गये। १८८६ में श्रीमती एनी बेसेंट इस संस्था में सम्मिलित हुई। उनका विश्वास था कि जब तक देश में प्राचीन सांस्कृतिक आदर्शों का पुनरुत्थान नहीं होता, तब तक तत्कालीन समस्याओं को सुलझाना सरल नहीं है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही उन्होंने बनारस में सैन्ट्रल हिन्दू स्कूल की स्थापना की जो बाद में पहले सैन्ट्रल कालेज और फिर सन् १९१५ में हिन्दू विश्वविद्यालय के रूप में परिणत हो गया।

दक्षिण भारत में इस संस्था का अधिक प्रचार रहा है। शिक्षात्मक एवं सामाजिक सुधार कार्यों को भी इस संस्था ने चलाया। गोपाल कृष्ण गोखले ने जो इस संस्था के आजीवन सदस्य थे, इस दिशा में बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया है।

रामकृष्ण मिशन

१९ वीं शताब्दी में एक और ऐसे विचारक, दार्शनिक, भक्त एवं युग-प्रवर्तक महान् व्यक्ति ने जन्म लिया जिसने मानव समाज को भौतिकवाद के पार्थिव धरातल से उपर उठने की प्रेरणा और शक्ति प्रदान की। यह युग-पुरुष था स्वामी रामकृष्ण परमहंस। इनका जन्म १८ फरवरी सन् १८३६ में और मृत्यु १५ अगस्त सन् १८८६ में हुई। आध्यात्मिक क्षेत्र में ये उदार थे। इनके मत में निर्गुण-सगुण, अथवा निराकार-साकार उपासना सभी एक ही ईश्वरी शक्ति तक पहुंचने के उपाय हैं। विश्व में प्रचलित भिन्न भिन्न सम्प्रदायों की धर्म-साधना यद्यपि नाम-भेद से एक-दूसरे से पृथक् है, परन्तु उन सब की मंज़िल एक ही है। ये सभी धर्म-सम्प्रदाय एक ही ईश्वर की प्राप्ति की भिन्न भिन्न पगडंडियां हैं। इनके मत में आदि शक्ति राम, कृष्ण, शिव, अल्लाह, ईसा आदि सभी उसी ईश्वर के भिन्न भिन्न नाम हैं। इनके आध्यात्मिक विचारों का प्रचार इनके ही मेधावी शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने भारत और योरोप के विभिन्न देशों में किया। स्वामी विवेकानन्द ने सन् १८९३ में शिकागो में हुए विश्वधर्म महा सम्मेलन के अधिवेशन में भाग लिया और वहां अपने सुन्दर एवं आकर्षक भाषणों से धर्म के क्षेत्र में समन्वय तथा भारतीय वेदान्त दर्शन की महत्ता को विश्व के धर्म-प्रतिनिधियों के समक्ष स्पष्ट किया। इनके प्रवचनों का अमेरीका के जनवासियों पर बहुत प्रभाव पड़ा। ये अमरीका में कोई ढ़ाई वर्ष रहे।

भारत में भी इन दोनों महात्माओं के विचारों का प्रचुर प्रचार हुआ। स्थान-स्थान पर राम कृष्ण आश्रमों की स्थापना हुई। मानव समाज के आध्यात्मिक एव धार्मिक जीवन को उन्नत करना तथा समाज सेवा ही इस संस्था का मुख्य उद्देश्य था। इसी उद्देश्य पूर्ति के लिए इस ने अनेक स्कूलों और अस्पतालों की स्थापना की। आज भी यह संस्था उसी प्रकार समाज-कल्याण की विविध सेवाओं का प्रशस्त कार्य कर रही है।

इण्डियन नेशनल कांग्रेस

इन्हीं दिनों सन् १८८५ में ऐलन ऑक्टेवियन ह्यूम के प्रयत्नों से इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना हुई। इसके उद्घोषित उद्देश्य इस प्रकार थे :—

"(क) साम्राज्य के भिन्न भिन्न भागों में देश-हित के लिए लगन से काम करने वालों की आपस में घनिष्ठता और मित्रता बढ़ाना।

(ख) समस्त देश-प्रेमियों के अन्दर मैत्री-व्यवहार के द्वारा वंश, धर्म और प्रान्त सम्बन्धी तमाम पूर्व-दूषित संस्कारों को मिटाना और राष्ट्रीय ऐक्य की उन तमाम भावनाओं का, जो लार्ड रिपन के चिर-स्मरणीय शासन काल से उद्भूत हुई, पोषण और परिवर्धन करना।

(ग) महत्वपूर्ण और आवश्यक सामाजिक प्रश्नों पर भारत के शिक्षित लोगों में अच्छी तरह चर्चा होने के बाद जो परिपक्व सम्मतियां प्राप्त हों उनका प्रामाणिक संग्रह करना।

(घ) उन तरीकों और दिशाओं का निर्णय करना जिनके द्वारा भारत के राजनीतिज्ञ देश-हित का कार्य करें।"[1]

स्पष्टतः उस युग में ह्यूम तथा उसके सहयोगियों का उद्देश्य भारत को विदेशी शासन से युक्त करना नहीं था। वे जनता के लिए धन-जीवन की सुरक्षा एवं न्याय-प्राप्ति की मांग करने में ही इति-कर्तव्यता समझते थे। आगे चलकर इस संस्था का स्वरूप उत्तरोत्तर राजनैतिक होता गया। महात्मा गांधी के नेतृत्व में इसने पूर्ण-स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए अनेक विकट आन्दोलन किये और अन्त में असंख्य बलिदानों के परिणाम-स्वरूप १५ अगस्त सन् १९४७ को इसे अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त हुई।

साहित्य पर प्रभाव एवं प्रतिक्रिया

सांस्कृतिक पुनरुत्थान के सर्वप्रथम चिह्न बंगाल में प्रकट हुए। वहीं पर

---

१. पट्टाभि सीता रमैया, कांग्रेस का इतिहास, पृ० १५।

पश्चिमी संस्कृति एवं सभ्यता की प्रथम प्रतिक्रिया हुई। परिणामतः आधुनिक काल का उदय सर्वप्रथम बंगाल में हुआ। उन दिनों कलकता न केवल हिन्दुओं के समस्त राजनैतिक एवं सामाजिक आन्दोलनों का केन्द्र था अपितु अंग्रेजों की सांस्कृतिक गतिविधियों का भी आकर्षण बिन्दु था। इन सब परिस्थितियों का भी प्रभाव तत्कालीन बंगला साहित्य पर पड़ा। इस युग के मूल स्वर थे—जातीय गौरव, राष्ट्रीय चेतना तथा समाज-सुधार की भावना। माइकेल मधुसूदन दत्त तथा बंकिमचन्द्र का साहित्य इस बात का प्रमाण है। इस बात का पहले विवेचन किया जा चुका है कि बंगाल के सांस्कृतिक पुनरुत्थान के नेताओं—राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द आदि की विचारधारा से न केवल बंगाल ही प्रभावित हुआ, अपितु समस्त भारत पर उसका प्रभाव पड़ा। अतएव इस युग में बंगला साहित्य की आत्मा के जो मूल स्वर थे, वही हिन्दी प्रदेश के साहित्य का आधार बने। भारतेन्दु तथा भारतेन्दु-मण्डली के लेखकों का साहित्य इस बात का साक्षी है। स्वयं भारतेन्दु ने बंगला के 'विद्या-सुन्दर' नाटक का हिन्दी में छायानुवाद किया।

बंगला रंगमंच का सूत्रपात १७९५ में एक एक रूसी युवक हेरासिम लेबेडाफ द्वारा कलकत्ता में हुआ। इसके बाद सन् १८३१ में प्रसन्नकुमार टैगोर तथा उनके मित्रों द्वारा 'हिन्दू थियेटर' की स्थापना हुई। आरम्भ में इन रंग-मंचों पर प्रायः अंग्रेज़ी अथवा संस्कृत के अनूदित नाटकों को ही अभिनीत किया जाता था। आधुनिक बंगला नाटकों के उदय का श्रेय उस प्रदेश की इसी रंग-मंचीय-परम्परा को ही दिया जा सकता है। रामनारायण तर्करत्न ने सर्वप्रथम बंगला में संस्कृत के नाटकों के अनुवाद-कार्य का सूत्रपात किया। इन्होंने अपने अधिकांश नाटकों की कथावस्तु का आधार संस्कृत नाटकों तथा पौराणिक कथाओं को बनाया। बंगला का सर्वप्रथम मौलिक नाटक ताराचरण शिकदार द्वारा प्रणीत 'भद्रार्जुन' (१८५२ ई०) है। इस नाटक का नाट्य-विधान एवं शिल्प पश्चिमी नाट्य-शैली का-सा है। नान्दी तथा विदूषक की अवतारणा इसमें नहीं की गई थी। यद्यपि इस युग का कलाकार पश्चिमी नाट्य शैली के प्रति आकृष्ट था, तथापि वह अपने आपको प्राचीन आदर्शों से एकदम पृथक नहीं कर सका। बंगला नाटक के ठीक यही आदर्श इस युग के हिन्दी नाटकों में विद्यमान थे। इस युग में अंग्रेजी, बंगला तथा संस्कृत नाटकों के अनुवाद हिन्दी में हुए। भारतेन्दु ने शेक्सपियर के 'दि मर्चेंट आफ़ वेनिस' का 'दुर्लभ बन्धु' नाम से अनुवाद किया। केशवराम भट्ट ने बंगला के शरत् सरोजिनी का

'सज्जाद-सुबुल' नाम से अनुवाद किया। इनका 'शमशाद सौसन' भी बंगला के एक नाटक का अनुवाद है।

पूर्व भारतेन्दु युग के नाटकीय काव्यों के आधार प्रायः पौराणिक चरित थे और उनमें भी राम तथा कृष्ण के चरितों को लेकर ही अधिकांश नाटकों की रचना हुई। शकुन्तला आदि के महाभारत के उपाख्यानों को भी आधार बनाया गया। नायक के स्वरूप की दृष्टि से इस युग के नाटकों में 'नहुष' नाटक का विशेष महत्व है जिसमें नायक नहुष आदर्श की अपेक्षा यथार्थ की सीमाओं के अधिक निकट है।

पौराणिक नाटकों में नायक

भारतेन्दु युग के पौराणिक नाटकों में राम और कृष्ण के चरितों को लेकर नाटक रचना बहुत ही कम हुई है। जो थोड़े-बहुत नाटक उपलब्ध हैं, साहित्यिक दृष्टि से उनका कोई विशेष महत्व नहीं है। फिर भी हिन्दी नाटक-साहित्य के इतिहास में उनका अपना स्थान है। इस युग के पौराणिक नाटकों को निम्न धाराओं में बांटा जा सकता है :—

(क) रामचरित सम्बन्धी नाटक
(ख) कृष्णचरित सम्बन्धी नाटक
(ग) अन्यचरित सम्बन्धी नाटक

(क) रामचरित सम्बन्धी नाटकों में नायक

आलोच्य काल में रामचरित नाटकों की संख्या कम ही है। इस धारा के अधिकांश नाटक 'वाल्मीकि रामायण' तथा 'रामचरित मानस' के आधार पर लिखे गये है। साहित्यिक दृष्टि से इन नाटकों का विशेष महत्व नहीं है, इन पर रामलीलाओं तथा पारसी रंगमंच का प्रभाव अधिक गहरा है। पण्डित दामोदर शास्त्री कृत रामलीला नाटक (सात काण्डों पर सात नाटक), देवकी नन्दन त्रिपाठी का रामलीला नाटक आदि ऐसी ही रचनाएं हैं।

पण्डित दामोदर शास्त्री द्वारा प्रणीत **'रामलीला नाटक'** की कथा 'वाल्मीकि रामायण' पर आधारित है। कहीं-कहीं पर तुलसी के 'मानस' का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। बीच-बीच में नाटककार ने कवित्त और सवैयों का भी प्रयोग किया है। नायक राम अलौकिक पात्र है। वे परब्रह्म हैं। परशुराम भी उन्हें भगवान् ही मानते हैं। देश-काल दोष भी कई स्थानों पर मिलता है। मारीच के दरबार में विदूषक द्वारा डाकखाने या तार आफ़िस द्वारा सूचना भिजवाना आदि के प्रसंगों पर पारसी नाटकों का प्रभाव माना

पश्चिमी संस्कृति एवं सभ्यता की प्रथम प्रतिक्रिया हुई। परिणामतः आधुनिक काल का उदय सर्वप्रथम बंगाल में हुआ। उन दिनों कलकता न केवल हिन्दुओं के समस्त राजनैतिक एव सामाजिक आन्दोलनों का केन्द्र था अपितु अंग्रेज़ों की सास्कृतिक गतिविधियों का भी आकर्षण विन्दु था। इन सब परिस्थितियों का भी प्रभाव तत्कालीन बंगला साहित्य पर पड़ा। इस युग के मूल स्वर थे—जातीय गौरव, राष्ट्रीय चेतना तथा समाज-सुधार की भावना। माइकेल मधुसूदन दत्त तथा बंकिमचन्द्र का साहित्य इस बात का प्रमाण है। इस बात का पहले विवेचन किया जा चुका है कि बंगाल के सांस्कृतिक पुनरुत्थान के नेताओं—राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द आदि की विचारधारा से न केवल बंगाल ही प्रभावित हुआ, अपितु समस्त भारत पर उसका प्रभाव पड़ा। अतएव इस युग में बंगला साहित्य की आत्मा के जो मूल स्वर थे, वही हिन्दी प्रदेश के साहित्य का आधार बने। भारतेन्दु तथा भारतेन्दु-मण्डली के लेखकों का साहित्य इस बात का साक्षी है। स्वयं भारतेन्दु ने बंगला के विद्या-सुन्दर' नाटक का हिन्दी में छायानुवाद किया।

बंगला रगमंच का सूत्रपात १७९५ में एक एक रूसी युवक हेरासिम लेवेडाफ द्वारा कलकत्ता में हुआ। इसके बाद सन् १८३१ में प्रसन्नकुमार टैगोर तथा उनके मित्रों द्वारा 'हिन्दू थियेटर' की स्थापना हुई। आरम्भ में इन रंग-मंचों पर प्रायः अंग्रेज़ी अथवा संस्कृत के अनूदित नाटकों को ही अभिनीत किया जाता था। आधुनिक बंगला नाटकों के उदय का श्रेय उस प्रदेश की इसी रंग-मंचीय-परम्परा को ही दिया जा सकता है। रामनारायण तर्करत्न ने सर्वप्रथम बंगला में संस्कृत के नाटकों के अनुवाद-कार्य का सूत्रपात किया। इन्होंने अपने अधिकांश नाटकों की कथावस्तु का आधार संस्कृत नाटकों तथा पौराणिक कथाओं को बनाया। बंगला का सर्वप्रथम मौलिक नाटक ताराचरण शिकदार द्वारा प्रणीत 'भद्रार्जुन' (१८५२ ई०) है। इस नाटक का नाटय-विधान एवं शिल्प पश्चिमी नाट्य-शैली का-सा है। नान्दी तथा विदूषक की अवतारणा इसमें नहीं की गई थी। यद्यपि इस युग का कलाकार पश्चिमी नाट्य शैली के प्रति आकृष्ट था, तथापि वह अपने आपको प्राचीन आदर्शों से एकदम पृथक नहीं कर सका। बंगला नाटक के ठीक यही आदर्श इस युग के हिन्दी नाटकों में विद्यमान थे। इस युग में अंग्रेज़ी, बंगला तथा संस्कृत नाटकों के अनुवाद हिन्दी में हुए। भारतेन्दु ने शेक्सपियर के 'दि मर्चेंट आफ़ वेनिस' का 'दुर्लभ बन्धु' नाम से अनुवाद किया। केशवराम भट्ट ने बंगला के शरत् सरोजिनी का

'सज्जाद-सुंबुल' नाम से अनुवाद किया। इनका 'शमशाद सौसन' भी बंगला के एक नाटक का अनुवाद है।

पूर्व भारतेन्दु युग के नाटकीय काव्यों के आधार प्रायः पौराणिक चरित थे और उनमें भी राम तथा कृष्ण के चरितों को लेकर ही अधिकांश नाटकों की रचना हुई। शकुन्तला आदि के महाभारत के उपाख्यानों को भी आधार बनाया गया। नायक के स्वरूप की दृष्टि से इस युग के नाटकों में 'नहुष' नाटक का विशेष महत्व है जिसमें नायक नहुष आदर्श की अपेक्षा यथार्थ की सीमाओं के अधिक निकट है।

पौराणिक नाटकों में नायक

भारतेन्दु युग के पौराणिक नाटकों में राम और कृष्ण के चरितों को लेकर नाटक रचना बहुत ही कम हुई है। जो थोड़े-बहुत नाटक उपलब्ध हैं, साहित्यिक दृष्टि से उनका कोई विशेष महत्व नहीं है। फिर भी हिन्दी नाटक-साहित्य के इतिहास में उनका अपना स्थान है। इस युग के पौराणिक नाटकों को निम्न धाराओं में बांटा जा सकता है:—

(क) रामचरित सम्बन्धी नाटक
(ख) कृष्णचरित सम्बन्धी नाटक
(ग) अन्यचरित सम्बन्धी नाटक

(क) रामचरित सम्बन्धी नाटकों में नायक

आलोच्य काल में रामचरित नाटकों की संख्या कम ही है। इस धारा के अधिकांश नाटक 'वाल्मीकि रामायण' तथा 'रामचरित मानस' के आधार पर लिखे गये हैं। साहित्यिक दृष्टि से इन नाटकों का विशेष महत्व नहीं है, इन पर रामलीलाओं तथा पारसी रंगमंच का प्रभाव अधिक गहरा है। पण्डित दामोदर शास्त्री कृत रामलीला नाटक (सात काण्डों पर सात नाटक), देवकी नन्दन त्रिपाठी का रामलीला नाटक आदि ऐसी ही रचनाएं हैं।

पण्डित दामोदर शास्त्री द्वारा प्रणीत **'रामलीला नाटक'** की कथा 'वाल्मीकि रामायण' पर आधारित है। कही-कही पर तुलसी के 'मानस' का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। बीच-बीच में नाटककार ने कवित्त और सवैयों का भी प्रयोग किया है। नायक राम अलौकिक पात्र है। वे परब्रह्म हैं। परशुराम भी उन्हें भगवान् ही मानते है। देश-काल दोष भी कई स्थानों पर मिलता है। मारीच के दरबार मे विदूषक द्वारा डाकखाने या तार आफ़िस द्वारा सूचना भिजवाना आदि के प्रसंगों पर पारसी नाटकों का प्रभाव माना

जा सकता है।

पण्डित शीतलाप्रसाद त्रिपाठी का **'जानकी मंगल नाटक'** (१८६८) गद्य-पद्यमय है जिसका आधार वाल्मीकि रामायण का बालकाण्ड (६६-७६ सर्ग) है। कुछ विद्वानों का विचार है कि इस पर तुलसीदास कृत 'जानकी मंगल' का प्रभाव है।[1] इनके एक और नाटक 'रामचरितावली' का उल्लेख 'मिश्रबन्धु विनोद' में मिलता है, परन्तु वह अभी तक अप्राप्त है।

राम गोपाल विद्यांत का **रामाभिषेक नाटक** (१८७७) बंगला के मनमोहन वसु के **'रामाभिषेक'** नाटक का अनुवाद है, ऐसा लेखक ने नाटक की भूमिका में ही स्वीकार किया है। डाक्टर देवर्षि सनाढ्य ने इस नाटक का आधार संस्कृत का 'हनुमन्नाटक' माना है।[2] इस नाटक में राम के राज्याभिषेक तक की कथा का वर्णन है।

देवकीनन्दन त्रिपाठी ने रामकथा पर आधारित **'सीता-हरण'** (१८७६) और **'रामलीला'** (१८७६) नाटक लिखे। इन दोनों नाटकों में रामलीला के ढंग पर ही नायक राम का चरित्र चित्रित किया गया है। 'सीताहरण' नाटक में पांच अंक हैं और इसमें पद्य की अपेक्षा गद्य की प्रधानता है। नाटक की कथा पौराणिक होती हुई भी युग-चेतना की विशेषताओं से युक्त है। देश-प्रेम की भावना, स्त्री जाति को पुरुषों के समान ही महत्व देना, पुरुषों द्वारा बहु-विवाह आदि की निन्दा करना आदि ऐसी ही बातों का तत्कालीन युग-धर्म के अनुकूल ही चित्रण हुआ है। भरत वाक्य में लक्ष्मण भारत के कल्याण तथा देशवासियो के राजनीति में कुशल बनने की प्रार्थना करते हैं। 'सबरी' का निमन्त्रण स्वीकार करते हुए नाटक के नायक राम युगानुकूल भावना की अभि-व्यक्ति करते हुए कहते है—

'तुम जाति से ही नीच हो, कर्म और गुणों से नहीं। नीच जन्मा पुरुष भी गुण एवं कर्मो के बल पर ऊंचा उठ जाता है। निमन्त्रण स्वीकार करने की ही बात नहीं, तुम अपने हाथ से ही खिलाना। हां, वनवासी के योग्य भोजन हो।'[3]

एक और स्थान पर जब राम सीता से कहते हैं—'स्त्रियों का सन्मान तो संसार कर रहा है' तो इस पर सीता उन्हें उत्तर देती है—'सन्मान हम उसे

---

१. डाक्टर देवर्षि सनाढ्य, हिन्दी के पौराणिक नाटक, पृ० १२१।
२. हिन्दी के पौराणिक नाटक, पृ० १२२।
३. सीताहरण, (५-२)।

कहते हैं कि अपने समान स्त्री को भी जाने और सदा सर्वदा अपने संग राखै और यह न हो कि आप सब वस्तु का अधिकारी बन बैठे, स्त्रियों को रंग के पिजड़े की चिड़िया बनाय ले।'

राम जैसे उदात्त चरित्र के लिए ऐसे ही वचन उपयुक्त हैं। त्रिपुर सुन्दरी सूर्पणखा जब राम के रूप-सौन्दर्य पर मोहित होकर उससे प्रणय-भिक्षा मांगती है तो राम उसे अपने विवाहित होने की बात कहते हैं। इस पर वह तपाक से कहती है—'तो क्या भय है। एक और सही।' इस पर राम पुरुषों द्वारा बहु-विवाह पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं—

'हम ऐसे मूर्ख राजा नहीं हैं कि छाग मेष के समान स्त्रियों को पालें। वे छै महीने में पुरुष का मुख तो देख ही नहीं पाती। पड़ी माल चवाती हैं और चोरी लूका भृत्यों से मदन विलास करवाती हैं।' (२-१)

इस प्रकार नाटककार ने नायक राम के चरित्र को अधिक मानवीय और युगानुकूल बनाने की चेष्टा की है।

इस नाटक की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि नाटककार ने पौराणिक कथानक एवं उसके अलौकिक पात्रों को अपने युग के अधिक निकट ला दिया है। इन्द्र का पुत्र जयन्त काक नहीं—राजकुमार है। वह एक पक्षी-विशेषज्ञ है। इसी प्रकार नाटक के अन्य पात्र राक्षस, वानर और गृद्धराज भी मानव है। नाटककार द्वारा उस युग में अलौकिकता की केंचुल उतार फेंकना, उसकी साहसशीलता का परिचायक है। ऐसा करने से नाटक के पात्रों का चरित्र-चित्रण स्वाभाविकता के अधिक निकट आ गया है।

त्रिपाठी जी द्वारा लिखित '**रामलीला नाटक**' तुलसी के रामचरित मानस के आधार पर लिखा गया है जिसमें पद्य और गीतों की प्रधानता है। लेखक ने नायक राम के उदात्त चरित्र को रामलीला के ढंग से ही वर्णित किया है।

बन्दीदीन दीक्षित के दोनों नाटक '**सीता स्वयंवर**' (१८९९) तथा '**सीता हरण** (१८९५) रामलीला-शैली से प्रभावित हैं। तुलसी के रामचरित मानस का भी पर्याप्त प्रभाव परिलक्षित होता है। सीता स्वयंवर नाटक के द्वितीय अंक के आठवें दृश्य में नाच-गान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जब विश्वामित्र यज्ञ-रक्षा के लिए राम और लक्ष्मण को लेने के लिए राजा दशरथ के पास आते हैं तो वे राम और लक्ष्मण को उनके साथ न भेजकर भरत और शत्रुघ्न को भेज देते हैं। इस तरह नाटककार ने दशरथ के व्यवहार में मोह-छल दिखाकर न केवल पौराणिक सत्य की ही अवहेलना की है अपितु दशरथ के चरित्र को भी दुर्बल बना दिया है। लेखक ने नायक राम के परम्परागत चरित्र का ही चित्रण किया है।

ज्वालाप्रसाद मिश्र के '**सीता वनवास नाटक**' (१८९५) की कथा आंशिक रूप से भवभूति के 'उत्तर रामचरित' और अधिकांश में 'वाल्मीकि रामायण' पर आधृत है। नाटककार नाटक के पहले दो अंकों के कथानक के लिए 'उत्तर रामचरित' का ऋणी है। भवभूति ने अपने नाटक में राम और सीता का पुनर्मिलन दिखाकर कथा को सुखान्त बना दिया है और इस प्रकार उन्होंने नाट्य-शास्त्र सम्बन्धी रस सिद्धान्त का पालन किया है। 'सीता-वनवास नाटक' के लेखक ने नाटक को सुखान्त रूप नहीं दिया। उसने तो वाल्मीकि रामायण की तरह सीता की 'शुद्धि-परीक्षा' की मांग करवा कर उसके धरती में समा जाने के प्रसंग का उल्लेख किया है।

प्रस्तुत नाटक में कुल पांच अंक है। पहले अंक मे राम के राज्याभिषेक का दृश्य है। ऋषि अष्टावक्र इस अवसर पर राम को प्रजा के प्रति उसके कर्तव्य की बात कहते हैं। इस पर राम उन्हें इस बात का आश्वासन दिलाते हैं कि वे प्रजा के कर्तव्य-पालन के हेतु अपनी प्राण-वल्लभा सीता का भी त्याग कर सकते है। लक्ष्मण सीता के मन-बहलाने के हेतु उन्हे ताड़का-वध, धनुर्भंग, विवाह, वन-प्रस्थान आदि के पुराने चित्र दिखलाते है। जब सीता रावण के यती-वेश के चित्र को देखती है तो वह भय से 'हा। मुझे बचाओ नाथ' ऐसा कहती हुई एकदम मूर्च्छित हो जाती हैं। राम उसे अपनी भुजा का तकिया देते है। सचेत होने पर राम उसे आश्वासन देते हैं कि जिस वियोग के भय से तुम चित्र देखकर भयभीत हुई थी, वह अब कदापि नहीं होगा।

दूसरे अंक में राम दुर्मुख को प्रजा का यह भेद लेने के लिए भेजते हैं कि लोगों में अपने राजा के प्रति कैसी भावना है। लोगों की पारस्परिक बातचीत से दुर्मुख यह जान लेते है कि राम के राज्य में प्रजा बड़ी सुखी है,* क्योंकि उनके राज्य में 'मेघ इच्छा करते ही जल बरसाते हैं, [क] वृक्ष मनमाने फल देते हैं, पृथ्वी में अन्न बहुत होता है, [ख] अकाल मृत्यु किसी की नहीं होती [ग] ××× चोरी का कहीं नाम नही, पाप का ध्यान नहीं, मन में विकार नहीं होता ××× पराई स्त्री को कोई बुरी निगाह से नहीं देखता।'[1] [घ]

---

* इस स्थल पर नाटककार 'मानस' के उत्तरकाण्ड के 'रामराज्य' प्रसंग से प्रभावित है।

१. सीता वनवास नाटक, संस्करण १९०५, पृ० १५ भाव-साम्य के लिए 'मानस' के उत्तरकाण्ड के 'रामराज्य' प्रसंग से निम्न पंक्तियां उद्धृत की जाती हैं :—●

तदनन्तर धोबी धोबिन का प्रसंग आता है।[1] धोबी धोबिन को इस बात पर मारता है कि वह रात अपने घर नहीं रही। वह कहती है कि अकेली भय के कारण मैं मायके चली गई थी। परन्तु धोबी उसके कथन पर विश्वास नहीं करता और उसे अपने घर से निकल जाने के लिए इस प्रकार कहता है—

'मैं नहि राजा राम हूं जो काम करूं यह नीच।
रावण के घर रही जानकी फिर रखली घर बीच।'[2]

दुर्मुख यह समाचार राम से कहते है। राम यह सुनकर अत्यन्त दुखी होते है परन्तु लोकापवाद के भय से सीता को त्याग देने का निश्चय कर लेते है। अगले दिन राम के आदेशानुसार लक्ष्मण सीता को वाल्मीकि के आश्रम में छोड़ आते है।[3] वन-प्रस्थान के समय सीता की दाहिनी आंख फड़कती है। लक्ष्मण सारी बात बतलाते है। इस पर सीता मूर्च्छित हो जाती है। सचेत होने पर सीता लक्ष्मण के हाथ राम को निम्न संदेश भेजती है—

कहना रघुनाथ जी से सुनाकर, जो हुई थी शरण पहले आकर।
होते अब आपके उन पै जाकर, कैसे हूंगी शरण सुखदाई ॥७॥
राजा को पालनी सब प्रजा है, यह धरम श्री मनू ने कहा है।
योग वनवास के जो सिया है, तौ भी पालो तपस्वी की नाई ॥८॥
मेरे सन्तान हो जायगी जब, मै तपस्या करूगी कठिन तब।

● (क) मागे बारिद देहिं जल रामचन्द्र के राज।
(ख) लता बिटप मांगे मधु चवहीं। मनभावतो धेनु पय स्रवहीं॥
ससि सम्पन्न सदा रह धरनी। त्रेता भइ कृतजुग कै करनी॥
(ग) अल्प मृत्यु नहिं कवनिउ पीरा।
(घ) एक नारि व्रत रत सब झारी। ते मन बच क्रम पति हितकारी॥

१. 'उत्तर रामचरित' में धोबी-धोबिन का प्रसंग नहीं आता। वहां तो दुर्मुख राम के कान में उनके बारे में प्रचलित जन-अपवाद की बात करता है जो राम के स्व-कथन से इस प्रकार स्पष्ट होता है—
हा हा धिक ! परगृह वासदूषणं यद् वैदेह्याः प्रशमितमद्भुतैरुपायैः
एतत्तत्पुनरपि दैवदुर्विपाकादालर्कं विषमिव सर्वतः प्रसक्तम् ॥१।४०॥

२. सीता वनवास नाटक, पृ० १७।

३. वाल्मीकि रामायण के उत्तरकाण्ड के 'सीतासमुत्सर्गादिश' (१६-१८) में राम लक्ष्मण को ऐसा ही आदेश देते हैं परन्तु उत्तर रामचरित में सीता स्वयं वन-विहार और गंगा-स्नान की इच्छा प्रकट करती है जिससे उसके वनवास की समस्या सरल हो जाती है।

मेरे जन्मान्तर में भी जो अब, राम ही पति मिलै हो सहाई ।।६।।
मुझको जब जन्म विधि ने दिया था, भाग में दुःख ही लिख दिया था।
आगे आया वो जो कुछ किया था, मिश्र किस्मत से कुछ न वसाइ ।।१०।।[1]

ऐसे अवसर पर सीता की विरह-दशा देखी नहीं जा सकती। सीता द्वारा 'राजा के पालनी सब प्रजा है'—ऐसा कहलवा कर लेखक ने उसकी चारित्रिक उदात्तता की रक्षा की है। तत्पश्चात् सीता के चीत्कार को सुनकर वाल्मीकि और भरद्वाज वहां आते हैं। वाल्मीकि राम की ऐसी चेष्टा को अच्छा नहीं वतलाते। वे सीता को अपने आश्रम में ले आते है।

तीसरे अंक में वाल्मीकि आश्रम में सीता से लव-कुश का जन्म होता है। इधर विश्वामित्र, गौतम ऋषि आदि के अनुरोध पर राम अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान करने के लिए तत्पर होते हैं।[2] विश्वामित्र राम से कहते हैं कि यज्ञ-विधान पूर्णता के लिए पत्नी का होना अनिवार्य है और क्योंकि तुमने अपनी पत्नी का परित्याग कर दिया है, इसलिए तुम्हें दूसरा विवाह करना चाहिए।[3] परन्तु राम इस बात को अस्वीकार कर देते हैं। तब विश्वामित्र उन्हें सीता की स्वर्ण-मूर्ति बनाकर यज्ञ-पूर्ति का विधान बताते है। राम सभी राजाओं, ऋषियों मुनियों को यज्ञ मे सम्मिलित होने के लिए आमन्त्रित करते हैं। लव-कुश भी अपनी माता सीता से वहां जाने के लिए अनुमति मांगने का अनुरोध करते है, क्योंकि वे उस राम के दर्शन करना चाहते हैं जिसकी गाथा उन्होंने कंठस्थ की हुई है। माता सीता का हृदय अपने बच्चों के दूर होने की आशंका से दुखी हो जाता है। वाल्मीकि की आज्ञा से ये दोनों कुमार अयोध्यापुरी जाते हैं। प्रजाजन इन दोनों वालकों के रूप-सौन्दर्य को देखकर मोहित हो जाते हैं।

चौथे अंक में लव-कुश अपने को वाल्मीकि का शिष्य बतलाकर राम की

---

१. सीता वनवास नाटक, पृ० २७।
२. वाल्मीकि रामायण में राम स्वयं अश्वमेध यज्ञ करने की इच्छा प्रकट करते हैं। उत्तर रामचरित में भी यह प्रसंग नहीं है।
३. सीता वनवास नाटक, पृ० ३६।
'नहीं यज्ञ होता है नारी के बिन, करो ब्याह तुम दूसरा आज दिन।
वो यज्ञान्त स्नान होता है तब, जो हो वाम बैठी तिया अपने जब।
करो अपना दूसरा तुम विवाह, जो देखैं ये हम दूसरा भी उछाह ।।
(नाटक का यह प्रसंग वाल्मीकि रामायण, उत्तर रामचरित तथा कुन्द-माला के अनुसार नहीं है।)

आज्ञा से वाल्मीकीय रामायण की रामकथा को गाकर सुनाते है। जब वे इस प्रसंग पर पहुंचते है—

'जो राम की प्राण समान प्रिया अति प्यारी,
जेहि के विन क्षण नही रहै कृपालु खरारी ।।
सो बिन अपराध उर लोक से राम निकारी,
है यही महाआश्चर्य ऋपिन को भारी ।।
ऐसे गुणखान की ऐसी होय कहानी,
जिनकी महिमा नहि कोई सके बखानी ।। २३ ।।'[१]

इस प्रसग को सुनकर राम अचेत हो जाते हैं। सचेत होने पर राम उस कथा को वही बन्द करवाकर उन्हे एक सहस्र स्वर्ण मुद्राएं देते हैं[२] परन्तु वे लेने से इन्कार कर देते है। राम उनसे उनके माता-पिता का नाम पूछते हैं, परन्तु वे कहते है कि हमें ज्ञात नहीं है। वे अपने को वाल्मीकि के शिष्य वतलाते है। वाल्मीकि का नाम सुनते ही उन्हें सीता का स्मरण हो आता है। सीता द्वारा दो पुत्रों को जन्म देने की बात को स्मरण कर वे अपने मन में यह सोचने लगते है कि कहीं ये ही वे दोनों बालक न हों। इतने में वाल्मीकि वहां आ जाते है और वे राम की इस मानसिक जिज्ञासा को शान्त करते हैं। वाल्मीकि राम से सीता के निष्पाप एवं निर्दोप चरित्र की बात कहते हैं, क्योंकि वह तुम्हारे बिना अत्यन्त दुःखी है इसलिए तुम्हें उसे स्वीकार कर लेना चाहिए राम वाल्मीकि से लोकापवाद की बात करते हैं और साथ में यह भी कहते हैं कि यदि लोगों को कोई आपत्ति न हो तो मैं उन्हें घर पर रख लूगा या वे अपनी सत्यता की परीक्षा उसी तरह दें जैसी कि उन्होंने लंका में दी थी। वाल्मीकि श्रुत शर्मा को सीता को अपने आश्रम से यहां लाने के लिए भेजते हैं।

पांचवें अंक में सीता राम की महासभा में वल्कल वेश में प्रवेश करती है। वाल्मीकि सभी लोगों के समक्ष सीता के निष्पाप अकलुषित, अनिंद्य एवं सर्वथा निर्दोष चरित्र के विषय में साक्षी देते है, परन्तु दो व्यक्ति इस बात पर आरोप लगाते है और सीता की 'शुद्धि-परीक्षा' की मांग करते है। तब वाल्मीकि सीता से कहते है—'पुत्री ! सुन लिया मनुष्यों के चित्त की वृत्ति पृथक्-पृथक् होती है। महापवित्र में भी सन्देह होता है। इस कारण अब तुम ही परीक्षा देकर लोगों का सन्देह दूर करो, पवित्र जल से आचमन करो।' लेकिन सीता उत्तर

---

१. सीता वनवास नाटक, पृ० ५१।
२. वाल्मीकि रामायण में राम भरत को इन बालकों को अठारह-अठारह हज़ार मुद्राएं देने के लिए कहते हैं।

देती है—'जो सन्देह ही है तो अब जीवन से क्या ?'[1]

तदनन्तर सीता धरती माता से प्रार्थना करती है कि यदि मैं मन, वचन और कर्म से पतिव्रता हूं तो मुझे तुम अपनी शरण दो। सीता की ऐसी पुकार सुनकर धरती फट जाती है और सीता उसमें समा जाती है। राम सीता के वियोग में दुखी होते हैं। सीता को लौटाने के लिए वे धनुष-बाण से धरती को खण्ड-खण्ड करना ही चाहते है कि ब्रह्मादि देवता आकर राम को क्रोध त्यागने के लिए कहते हैं और साथ ही 'सतलोक' में मिलन की बात भी कहते है। ब्रह्मा की अनुमति से कुश को राज्य-सिंहासन पर बिठा दिया जाता है और मंगल-ध्वनि से नाटक समाप्त हो जाता है।

मिश्र जी का यह नाटक एक दुखान्त रचना है जिसके नायक राम भगवान् न होकर असाधारण आदर्श व्यक्ति हैं, जो लोकाराधक और कर्तव्य-परायण तो है ही परन्तु उनमें अधीरत्व साधारण मानवों की तरह विद्यमान है। राम के लिए सीता उनका बल है। उसको एक पल देखे बिना इनका हृदय अधीर हो उठता है—

'जानकी बिन मुझे यह जान भाती है नहीं, राजभंडार से क्या।
जा नहीं सक्ता इन्हें छोड़ के एक बार कहीं, होता है कष्ट बड़ा।
सीता बिन शीत कहां लोक में अंधियारी है, है यही मेरा तो बल ।।३।।
हाय वह कैसे है परदेश में जो रहते है, छोड़कर घर में तिया।
हम तो एक छिन भी बिना देखे दुख सहते है, जाता घबरात जिया।
मिश्र इन्ही के भरोसो पै धराधारी है जीते सब शत्रु के दल ।।४।।'[2]

अपने हृदय में प्राण-वल्लभा सीता के प्रति इतना प्रेम रखते हुए भी वे प्रजा के प्रति अपनी कर्तव्य-भावना को भली-भांति जानते है। दुर्मुख के मुंह से लोकापवाद की बात सुनकर उनका मन अत्यन्त दुःखी होता है। वे जानते हैं कि सीता पवित्र है परन्तु वे जनता को कैसे समझायें ? अपनी असह्य विरह-वेदना में वे साधारण मानव की तरह अधीर हो उठते हैं—

'मुझको संसार ये उल्टा सा नज़र आता है,
आज जीने की कथा दूर बस हमारी है।
आज जंगल की तरह हो गई बस्ती मेरी,
हाय मैं जाऊं कहां जी मैं बिथा भारी है।'[3]

---

१. सीता वनवास नाटक, पृ० ६८।

२. वही, पृ० १८।

३. वही, पृ० २२-२३।

प्रेम और कर्तव्य में संघर्ष होता है। विजय कर्तव्य की होती है।

शैली की दृष्टि से मिश्र जी का यह नाटक पारसी नाट्य-शैली से प्रभावित है। यद्यपि नाटक के अन्तिम अंक में नाटककार ने राम को पूर्ण ब्रह्म रूप माना है,[1] फिर भी चरित्र-चित्रण की दृष्टि से राम एक असाधारण आदर्श मानव की तरह ही आचरण करते हैं।

मुंशी तोताराम के **'सीता-स्वयंवर'** नाटक की कथा तुलसीदास के राम-चरित मानस पर आधारित है। इसमें विश्वामित्र के अवधपुरी के आगमन से लेकर सीता के स्वयंवर तक की कथा है। नाटक का आरम्भ ईश्वर-स्तुति से होता है। विश्वामित्र राजा दशरथ से राक्षसों द्वारा अपने जप-तप में विघ्न-बाधाओं की बात कहते है और अपने यज्ञ की रक्षा के लिए राम-लक्ष्मण को साथ भेजने की प्रार्थना करते हैं। राजा दशरथ गुरु वशिष्ठ के कहने पर विश्वामित्र के साथ राम तथा लक्ष्मण को भेज देते हैं। राम और लक्ष्मण वन में मारीच, ताड़का आदि राक्षसों का संहार करते हैं। वहां से वे दोनों भाई विश्वामित्र के साथ जनकपुरी जाते हैं। मार्ग में राम की कृपा से गौतम पत्नी अहिल्या का उद्धार होता है। राम उसे स्वामी-सेवा का आशीर्वाद तथा अटल-भक्ति का वरदान देते है। जनकपुरी में धनुष-यज्ञ से पूर्व जब सीता राम को उपवन में देखती है तो वह उसके रूप-सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट हो जाती है। वह अपनी सखी चम्पा के समक्ष उसके शौर्य की स्तुति करती है। चम्पा सीता को बतलाती है कि राम विष्णु के अवतार हैं। धनुष-यज्ञ में एकत्रित सभी छोटे-बड़े राजा धनुष को न उठा सकने के कारण पराजय स्वीकार कर बैठ जाते हैं। दम्भी रावण भी उसे उठा नहीं पाता। तब जनक क्षत्रियों के शौर्य पर व्यंग्य कसते हैं। लक्ष्मण को इस बात पर क्रोध आता है, परन्तु राम के संकेत से वह शान्त हो जाता है। तब विश्वामित्र के आदेश से राम शिव-धनुष को तोड़ते हैं। इतने में ही परशुराम क्रोधपूर्ण वचनों से धनुष तोड़ने वाले को ललकारते है। लक्ष्मण अपनी असहनशीलता का परिचय देते हैं। वे भी क्रुद्ध हो जाते है परन्तु राम उसे बालक कह कर परशुराम के क्रोध को इन शब्दों से शान्त करने की चेष्टा करते हैं—

> 'करिय कृपा शिशु सेवक जानी।
> तुम सम शील धीर मुनिज्ञानी।
> जो लरिका कछु अनुचित करहीं।
> गुरु पितु मात मोद मन भरहीं।'[2]

---

१. सीता वनवास नाटक, पृ० ६०।

२. सीता स्वयंवर नाटक, (संस्करण सन् १९०३), पृ० २७।

तदनन्तर परशुराम राम को अपना धनुष चढ़ाने के लिए देते हैं। इस परीक्षा में भी राम सफल होते हैं और परशुराम राम का स्तुति-गान करते है। इसके पश्चात् सीता राम के गले में जयमाला पहनाती है और सखियों के मंगलाचार द्वारा नाटक का इतिवृत समाप्त हो जाता है।

समस्त नाटक में लेखक ने नायक राम के मर्यादाशील एवं उदात्त चरित्र की रक्षा करने का सफल प्रयास किया है। नाटककार ने शील, शक्ति एवं सौन्दर्य का समन्वित रूप उनके व्यक्तित्व में दिखाने की चेष्टा की है। वे उदार तथा सहिष्णु हैं, भक्तों का उद्धार करने वाले हैं और विष्णु के अवतार भी हैं।

रामचरित सम्बन्धी पौराणिक नाटकों में अन्तिम उल्लेखनीय नाटक बदरी-नारायण चौधरी 'प्रेमघन' कृत **'प्रयागरामागमन'** है, जिसका रचनाकाल १९०४ ई० है। यह ३८ पृष्ठो का एक छोटा सा रूपक है जो वाल्मीकि की रामायण से प्रभावित है।[1] नाटक की भूमिका में लेखक ने इस प्रभाव को स्वीकार किया है और वर्ण्य विषय को भी स्पष्ट किया है।[2]

इस नाटक के नायक राम मर्यादापुरुषोत्तम है। मुनि भारद्वाज की दृष्टि में वे सर्वगुण सम्पन्न, धर्म-परायण तथा दुर्लभ आदर्श पुत्र हैं।[3] वे विष्णु के तुल्य पराक्रमी है,[4] वीर, निर्भयी तथा निस्पृह है। शील आचरण, सौम्य-प्रकृति अलौकिक रूप-राशि सब मिलकर उनके व्यक्तित्व को असाधारण बना देते है। अपने भाई भरत के लिए वे राज्य को तिनके की नाईं त्याग देते है और पिता की आज्ञा को सहर्ष शिरोधार्य करते हैं। वस्तुतः राम में धीरोदात्त नायक के सभी गुण विद्यमान हैं।

---

१. वाल्मीकि रामायण, अयोध्या काण्ड, सर्ग ५३-५४।

२. प्रयागरामागमन, संस्करण सन् १९११, भूमिका।
'सारांश श्री महाराज रामचन्द्र जी का वन यात्रा में प्रयाग आना और मुनिराज भारद्वाज का अतिथि होना, जो वहां की सर्व-प्रधान घटना थी, उसके रूपक रचना के अन्त में मुझ से अनुरोध किया गया, वह भी केवल दस दिन के भीतर। × × × अस्तु अब यह छोटा ग्रन्थ जिसकी कथा का आधार काव्यकला के सृष्टिकर्ता भगवान वाल्मीकि जी की महारामायण है—जैसा लिखा गया, प्रिय पाठकों की सेवा में प्रस्तुत किया जाता है। आशा है कि उनके मनोरंजन के अतिरिक्त यह भक्ति भाजन भी होगा, क्योंकि रामकथा है।'

३. प्रयागरामागमन, पृ० २३।

४. वही, पृ० २६।

(ख) कृष्णचरित सम्बन्धी नाटकों में नायक

भारतीय सांस्कृतिक जीवन एवं साहित्यिक परम्परा में मर्यादापुरुषोत्तम राम के समान कृष्ण का जीवन भी बहुत ही लोकप्रिय रहा है। राम की लोकप्रियता का कारण यदि उनका शील, शक्ति एवं सौन्दर्य से समन्वित मर्यादा पुरुषोत्तम रूप है, तो कृष्ण जीवन की अनेक विविधताओं के कारण सामाजिकों के हृदयों का शृंगार बने हुए हैं। वे रसिक शिरोमणि हैं। असंख्य गोपियों के हृदयों के शृंगार हैं। इस प्रकार उनका दक्षिण नायक का रूप स्पष्ट होता है। दूसरी ओर वे वीर हैं, गोवर्द्धन पर्वतधारी हैं, भक्तों का उद्धार करने वाले और शरणागत की रक्षा करने वाले भी हैं। वे गीता का उपदेश देकर धर्म का मार्ग भी प्रशस्त करते हैं। वे एक महान् कूटनीतिज्ञ भी हैं। काव्य तथा नाटक के क्षेत्र में कृष्ण के जीवन की इन्हीं विविधताओं का चित्रण हुआ है।

'**श्री चन्द्रावली नाटिका**' (सन् १८७६) भारतेन्दु की प्रसिद्ध एवं श्रेष्ठ रचनाओं में से एक है। इसकी रचना नाट्य शास्त्र के नियमानुसार हुई है। प्रस्तुत नाटिका में प्रस्तावना, विष्कम्भक तथा चार अंक है। इसमें पुरुष पात्रों का नितान्त अभाव है। कथा भी कवि-कल्पित है। नाटिका के आरम्भ में ही नाटककार ने भगवद्भक्ति के उद्देश्य को स्पष्ट कर दिया है।[1] पहले अंक में नाटककार ने चन्द्रावली के कृष्ण के प्रति अनन्य प्रेम को अभिव्यक्त किया है। द्वितीय अंक में चन्द्रावली वियोगिनी वेश मे उपवन में प्रलाप करती हुई दिखाई गई है। इसी अंक के अन्तर्गत अंकावतार में उसके द्वारा लिखित कृष्ण के नाम एक पाती का उल्लेख किया गया है[2] जो उसकी गुप्त प्रीति के रहस्य को प्रकट

---

१. ब्रजरत्नदास, भारतेन्दु नाटकावली (प्रथम भाग) द्वितीय संस्करण, पृ० १५२।

'काव्य, सुरस सिगार के दोऊ दल, कविता नेम।
जग-जन सों कै ईस सों कहियत जेहि पर प्रेम॥
हरि-उपासना, भक्ति, वैराग, रसिकता, ज्ञान।
सोधै जग-जन मानि या चन्द्रावलिहि प्रमान॥'

२. वही, पृ० १८९।

"प्यारे!

क्या लिखूं। तुम बड़े दुष्ट हो, चलौ, भला सब अपनी वीरता हमीं पर दिखानी थी। हां! भला मैंने तो लोक-वेद, अपना-बिराना सब छोड़ कर तुम्हें पाया, तुमने हमें छोड़ के क्या पाया? और जो धर्म उपदेश*

कर देता है। तृतीय अंक में कृष्ण के वियोग में विकल चन्द्रावली अपनी सखियों काम मंजरी, विलासिनी, माधवी, कामिनी आदि से अपने अनन्य प्रेम का संकेत करती है। काम मजरी तथा माधवी से चन्द्रावली अपने प्राणों को त्याग देने की बात कहती है। इससे उसकी अनन्य सखियों को बड़ा मानसिक क्लेश होता है। माधवी उसे यह सुझाव देती है—'सखी, मेरे जी में तौ एक बात आवै। हम तीनि हैं सो तीनि काम बांटि लें। प्यारी जू के मनाइब को मेरो जिम्मा। यही काम सबमें कठिन है और तुम दोउन मैं सों एक याके घरकेन सों याकी सफाई करावै और एक लालजू सौं मिलिबे की कहै।'[१]

राधा जी को मनाने का कठिन काम तो माधवी अपने ऊपर लेती है और उसे अपने इस प्रयास में सफलता भी मिलती है। चतुर्थ अंक में जोगिनी के वेश में श्रीकृष्ण आते हैं। वे इसकी प्रेम-परीक्षा लेने के पश्चात् अपने रूप को प्रकट कर उसे गले लगाते हुए कहते है—'तौ प्यारी, मै तोहि छोड़ि कै कहां जऊंगो, तू तो मेरी स्वरूप ही है। यह सब प्रेम को शिक्षा करिबे को तेरी लीला है।'[२] चन्द्रावली उसे निठुर होने का उपालम्भ देती है। कृष्ण कहते है—'प्यारी। मैं निठुर नहीं हूं। मैं तौ अपने प्रेमिन को बिना मोल को दास हूं। परन्तु मोहि निहचै है कै हमारे प्रेमिन को हम सों हूं हमारो विरह प्यारो है। ताही सों मैं हूं बचाय जाऊं हूं। या निठुरता मैं जे प्रेमी है विन को तो प्रेम और बढ़ै और जो कच्चे है विनकी बात खुल जाय। सो प्यारी, यह बात हू दूसरेन की है। तुमारो का, तुम और हम तो एक ही हैं। न तुम हमसौ जुदी हो न प्यारी जू सौं। हमने तो पहिले ही कही कै यह सब लीला है। (हाथ जोड़ कर) प्यारी, छिमा करियौ, हम तौ तुम्हारे सबन के जनम जनम के रिनियां हैं। तुम से हम कभू उरिन होइवेई के नहीं। (आंखों में आंसू भर आते है)'[३]

---

* करो, तो धर्म से फल होता है, फल से धर्म नही होता। निर्लज्ज, लाज भी नहीं आती, मुंह ढको फिर भी बोलने विना डूबे जाते हो। चलो वाह! अच्छी प्रीति निबाही। जो हो, तुम जानते ही हौ, हाय कभी न करूगी योंही सही, अंत मरना है, मैंने अपनी ओर खबर दे दी, अब मेरा दोष नहीं, बस।

केवल तुम्हारी"

१. वही, पृ० २०१।

२. ब्रजरत्नदास, भारतेन्दु नाटकावली (प्रथमभाग) पृ० २१८।

३. वही, पृ० २१८।

इस तरह चन्द्रावली और कृष्ण के मिलन के साथ ही नाटक समाप्त हो जाता है।

भारतेन्दु जी का यह नाटक नायिका प्रधान है। नाटक का नामकरण भी नायिका चन्द्रावली के नाम पर किया गया है जो राजा चन्द्रभानु की बेटी और भगवान श्री कृष्ण की अनन्य प्रेमिका है। यद्यपि नाटक में कृष्ण चतुर्थ अंक में ही आते है तथापि चन्द्रावली के विरहोद्गारों एवं प्रलापों से नायक कृष्ण का चरित्र भी स्पष्ट हो जाता है। चन्द्रावली को कृष्ण से शिकायत है कि वे बड़े निठुर हैं परन्तु साथ ही अपने नेत्रों को भी दोष देती है जो कृष्ण की आंखों से मिलकर पराये बन चुके हैं।[१] यही नहीं कृष्ण की दयालु चितवन, कमल-दल की तरह विशाल-नेत्र, उसकी छबीली-हंसी, उसका मधुर आलाप, उसकी मुरली की धुन, उसकी पीली वेश-भूषा आदि को ये आंखें भुला नही पाती।[२]

कृष्ण निष्ठुर होने के साथ साथ चन्द्रावली को निर्मोही भी प्रतीत होते हैं—'प्यारे। इतना तो वे नहीं सताते जो पहले सुख देते है, तो तुम किस नाते इतना सताते हो ?'[३] पर साथ ही दूसरे क्षण उसे कृष्ण के ऐसे स्वभाव पर विश्वास नहीं हो पाता। वह कहती है—'हा ! क्या तुम्हें लाज भी नही आती, लोग तो सात पैर संग चलते है उसका जन्म भर निबाह करते है और तुमको नित्य की प्रीति का निबाह नहीं है। नही···नहीं, तुम्हारा तो ऐसा सुभाव नहीं था, यह नई बात है, यह बात नई है या तुम आप नये हो गए हो, भला कुछ तो लाज करो।'[४]

दूसरे अंक में विरह-कातर चन्द्रावली ध्यानावस्थित दिखाई पड़ती है। वह अपनी आंखें इसलिए नहीं खोलती कि कहीं वह माखन-चोर, चीरन-चोर और साथ ही उसके अपने चित्त को चुराने वाला कृष्ण भाग न जाये।

कृष्ण परब्रह्म और सर्वगुण सम्पन्न होते हुए भी धीरललित नायक है। वे स्वभाव से कोमल और चन्द्रावली के प्रति आसक्त हैं, योगी और विलासी है। शास्त्रीय दृष्टिकोण से धीरललित के सभी गुण उनमे विद्यमान है।[५] शृंगार

---

१. सं० ब्रजरत्नदास, भारतेन्दु नाटकावली (प्रथम भाग), पृ० १६८।
   'सखी ये नैना बहुत बुरे।
   तब सो भए पराये, हरि सों जब सों जाइ जुरे।'
२. वही, पृ० १६६।
३. वही, पृ० १७४।
४. वही, पृ० १७४।
५. दशरूपक—निश्चिन्तो धीरललित. कलासक्तः सुखी मृदुः ॥२।३॥

की दृष्टि से वे दक्षिण नायक भी है। दक्षिण नायक किसी नवीन नायिका के प्रति सहृदयपूर्ण ही बना रहता है।[1] कृष्ण का प्यारी-जू अर्थात् राधा के प्रति भी व्यवहार पूर्ववत् बना रहता है। कृष्ण के लिए तो चन्द्रावली कृष्णमय है और राधामय भी है।[2]

'चन्द्रावली' नाटिका की शैली पर अम्बिका दत्त व्यास ने 'ललिता नाटिका' (१८७८ ई०) की रचना की।[3] चन्द्रावली के समान ललिता भी कृष्ण की प्रधान गोपियों में से एक है। अन्तर केवल यही है कि भारतेन्दु जी की चन्द्रावली कुमारी कन्या है और व्यास जी की ललिता विवाहिता है। समूचा नाटक ऐन्द्रियता एवं घोर [illegible] के वातावरण से युक्त है। विवाहिता ललिता के साथ कृष्ण का प्रणय-विहार दिखाया गया है। नाटककार ने नायक कृष्ण का रसिक रूप ही उभारने की चेष्टा की है। कृष्ण-चरित्र का अभिनय पारसी नाट्य-शैली से प्रभावित है। कृष्ण धीरललित नायक हैं।

राधा कृष्ण के लीला-विहार पर आधारित द्विज कृष्णदत्त ने '**युगल विहार नाटक**' (१८९२ ई०) लिखा। नाटक की भाषा साधारण है और शैली पारसी नाटकों से प्रभावित है। 'ललिता' नाटिका के समान इस नाटक में भी घोर अश्लीलता आ गई है। कृष्ण के महान् व्यक्तित्व के साथ इस प्रकार की खिलवाड़ सर्वथा अनुचित है। स्वरूप की दृष्टि से नाटक का नायक धीरललित ही कहा जायगा।

ब्रजजीवन दास कृत '**प्रेम बेल नाटक**' (१८९७) में राधा-कृष्ण के प्रेम का चरित्रांकन किया गया है। यह नाटक भारतेन्दु की चन्द्रावली नाटिका से प्रभावित है। इसमें भी नायक कृष्ण के धीरललित रूप का ही चित्रण हुआ है।

राधाचरण गोस्वामी कृत '**श्रीदामा नाटक**' (१९०४) की कथा का आधार श्रीमद्भागवत है।[4] पांच दृश्यों के इस छोटे से नाटक में श्रीदामा के दारिद्र्य-मोचन के लोकविश्रुत कथानक को नाटकीय रूप दिया गया है। निर्धन श्रीदामा द्वारिका में श्रीकृष्ण के यहां इस विचार से जाते हैं कि सम्भवतः उनके सखा

---

१. दशरूपक—'दक्षिणोऽस्यां सहृदयः' ।।२।७।।

२. सं० ब्रजरत्नदास, भा० ना० (प्रथम भाग), पृ० २१८।

३. अम्बिका दत्त व्यास, ललिता नाटिका—

'उनइस सौ पैंतीस के संवत सावन मास।
विरची ललिता नाटिका करि हिय परम हुलास ।।'

४. श्रीमद्भागवत, दशमस्कन्ध उत्तरार्ध, अध्याय ८०-८१।

कृष्ण उनके दारिद्र्य दुख को दूर कर दें। कृष्ण अपने बचपन के सखा का बहुत आदर-सत्कार करते हैं। उसे अपने अंक में भर लेते हैं। उससे अपनी भाभी द्वारा भेजी गई कुछ भेंट मांगते हैं और उसकी बगल में छिपी चावलों की पोटली को छीन लेते हैं। कुछ दिन वहां रहकर वे खाली ही बड़े खिन्न मन से द्वारिका से अपने गांव वापस आ जाते है। श्रीदामा को इस बात का क्या पता कि कृष्ण ने उसे प्रत्यक्ष में कुछ न देकर मन ही मन बहुत कुछ दे दिया है। घर पहुंचने पर सारा रहस्य खुल जाता है और वे गद्‌गद् हो जाते है। पत्नी उनकी आरती उतारती है और नाटक समाप्त हो जाता है।

'श्रीदामा नाटक' के नायक कृष्ण न होकर श्रीदामा स्वयं है। श्रीदामा तथा कृष्ण का चरित्रांकन परम्पराबद्ध है। उसमें लेखक ने कोई परिवर्तन नहीं किया।

रुक्मिणी-कृष्ण की प्रणय-कथा ने भी इस युग के नाटककारों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है, इस प्रेम-प्रसंग पर प्रणीत दो नाटक अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। प्रथम देवकी नन्दन त्रिपाठी द्वारा रचित '**रुक्मणी हरण**' है जिसका रचनाकाल १८७६ ई० है। रचना-शैली की दृष्टि से इसमें पौर्वात्य और पाश्चात्य नाट्य-प्रणाली का समन्वय मिलता है।

इसी कथा-प्रसंग पर अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध ने भी '**रुक्मणी-परिणय**' नाटक सन् १८९४ में लिखा। 'रुक्मणी-हरण' और 'रुक्मणी-परिणय' इन दोनों नाटकों के नायक श्रीकृष्ण हैं। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से इन दोनों नाटकों में सब से बड़ा अन्तर यह है कि त्रिपाठी जी ने श्रीकृष्ण का मानवी रूप में चित्रण किया है और हरिऔध जी ने उनके परम्परागत अलौकिक रूप का, जो उनकी कृष्ण के प्रति श्रद्धा एवं निष्ठा का परिचायक है।[1] इन दोनों नाटकों का आधार श्रीमद्‌भागवत का दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध) है।[2]

'रुक्मणी-परिणय' नाटक संस्कृत-नाट्य-प्रणाली पर लिखा गया है। नाटक

---

१. अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध, रुक्मणी परिणय, नांदी पाठ।

'बानी गननायक सदा रहत जासु बल सौंह।
निसि-दिन ताकी चहत हौं सूधी कुटिल सुभौंह ॥
सूधी कुटिल सुभौंह चहत हौं निसि-दिन ताकी।
रचन चहत हरिऔध ग्रन्थ अनुकम्पा जाकी ॥
रहित सुबास प्रसून सुगन्धित करन प्रमानी।
जासु कृपा आधार देहि सो बर बुधि बानी ॥'

२. अध्याय ५२-५४।

के आरम्भ में नान्दी, प्रस्तावना है। नाटक में नौ अंक तथा एक अतिरिक्त अंक है। अतिरिक्त अंक में कृष्ण और रुक्मणी के परिहास, प्रेम-लीला आदि का वर्णन है। कुंडलपुर के राजा भीष्मक की कन्या रुक्मणी कृष्ण के प्रति आकृष्ट है, परन्तु उसका भाई रुक्म उसके विवाह का टीका श्रीकृष्ण को न भिजवा कर राजा शिशुपाल को भिजवा देता है। रुक्मणी ब्राह्मण के हाथ कृष्ण के प्रति अपना संदेश भेजती है।[1] जब तक श्रीकृष्ण की ओर से कोई समाचार नहीं आता, वह अपने विचारों के गर्त में डूबती-उतराती है। यदि किसी कारण-वश कृष्ण न भी आ सके तो वह उस स्थिति में अपने कर्तव्य को इस प्रकार निश्चित कर लेती है—'यदि न आए तो क्या मैं अम्बालिका की भांति एक की होकर दूसरे की बनूंगी और अपने को कलंकिनी बनाने में बाध्य हूंगी, कदापि नहीं। मैं अपने प्राण को शरीर से निकाल दूंगी जैसे पक्षी पिंजरे से निकल जाता है, और उसका उसको कुछ स्नेह नहीं होता।'[2] और जब ब्राह्मण के द्वारा उसे सन्तोषजनक समाचार मिलता है तो उसका मन अतीत उल्लास एवं हर्ष से भर जाता है। वह पुनः ब्राह्मण के हाथ श्रीकृष्ण के प्रति यह संदेश भेजती है कि वे नगर के पश्चिम में जो देवी का मन्दिर है वहीं मेरे प्रण की लाज रखें। कृष्ण प्रण के अनुसार संकेत-स्थल पर पहुंच जाते हैं। उनके आगमन की सूचना पाकर शिशुपाल आदि सभी राजागण कार्य में विघ्न की आशका से आशंकित हो पहले से ही युद्ध के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं। रुक्म भी शिशुपाल का ही साथ देता है। कृष्ण क्रोधित होकर जब रुक्म के प्राण-हरण के लिए उद्यत होते हैं तो रुक्मणी भ्रातृ-स्नेह से प्रेरित हो उसके जीवन-दान की याचना करती है। रुक्म को जीवन दान मिल जाता है किन्तु शिशुपाल बलराम के मूसल के प्रहार से रुधिर-वमन करता हुआ धराशायी हो जाता है और उसकी सेना पलायन कर जाती है। कृष्ण रुक्मणी को लेकर सकुशल द्वारका पहुंच जाते हैं।

---

१. रुक्मणी परिणय, पृ० ४७।

रहे ब्याह में तीन दिवस श्री गिरधारी।
एकलव्य लौं राखि लेहु मम प्रन बनवारी॥
टरै चन्द्र अरु सूर टरै जग नियम अपारा।
ध्रुवहुं क्यों न टरि जाय टरै किन कनक पहारा॥
पै न टरैगो नाथ प्रेमपन कौनहु भांति।
नसे आस प्रभु प्राण तोहि गे चरन संघाती।

२. वही, पृ० ५२।

नाटक के नायक श्रीकृष्ण द्वारकाधीश हैं जो अनन्त रूप-सौन्दर्य-सम्पन्न, वीर, पराक्रमी, साहसी और एक सच्चे प्रेमी है। लेखक ने अपने नाटक को ऐसे ही लोकोत्तर चरित को श्रद्धावश समर्पित भी कर दिया है।[१] नाटक की भूमिका में भी लेखक ने इसी बात को स्पष्ट किया है।[२] कृष्ण के ऐसे लोकोत्तर व्यक्तित्व के बारे में रुक्म का यह कथन अत्यन्त महत्वपूर्ण है—'सूर्य अपने गुणों से आप ही प्रकाशित है, मृगाक अपने सौन्दर्य से आप ही जगत् प्रिय है, ऐसे ही महात्मा श्रीकृष्ण भी अपने सच्चरित्रों और अद्भुत कर्मो से आप ही लोक विख्यात और प्रिय है, उनके परिचय के लिए मुझको किसी वस्तु विशेष का निर्देश अयुचित जान पड़ती है—।'[३]

कृष्ण के लीलामय रूप के अतिरिक्त उनके सत् एव लोकोत्तर रूप का वर्णन भी नाटककार ने किया है। संदेशवाहक ब्राह्मण द्वारकाधीश कृष्ण के साक्षात् दर्शन कर कृत-कृत्य हो जाता है। उसके शब्दों मे 'महात्मा श्रीकृष्ण का दर्शन करके आज मेरे नेत्र ही सफल नही हुए मेरा रोम रोम पवित्र हो गया, क्योंकि मैं इस काल उस पुरुष का दर्शन कर रहा हूं जो अनादि नित्य, निर्विकार और जन्म जरादि रहित है।'[४]

कृष्ण ब्राह्मण-भक्त तथा अतिथि-सेवी भी है। वे स्वयं संदेशवाहक ब्राह्मण का पाद-प्रक्षालन करते है और अत्यन्त विनम्रता से पूछते है—'द्विजदेव ! यद्यपि आपका इस लघुगृह को पावन करके मुझे कृतार्थ करना स्वाभाविक धर्म है, क्योंकि रवि, चन्द, अथवा पयोद की भांति महज्जनों की नैसर्गिक प्रकृति है कि वह बिना इच्छा प्रकट किए ससार का उपकार करके उसको कृत-कृत्य करते हैं, तथापि मैं पूछने का साहस करता हूं कि किसी कार्य विशेष तो आपने अपने इस कमल जैसे कोमल चरणों को कष्ट नहीं दिया है।'[५]

---

१. अयोध्यासिह उपाध्याय हरिऔध; रुक्मणी परिणय, (समर्पण)

'पर क्या करूं जब जी कुछ लिखने पढ़ने को चाहता है तो क्या लिखू ? तुमसे लोकोत्तर चरित्र किसका है जो पहले पहल ग्रन्थ लिखने के लिए लेखनी ग्रहण करके उसको लिखू···।'

२. वही, पृ० २।

'किन्तु हर्ष का स्थान है कि हमने एक लोकोत्तर व्यक्ति की गाथा-गुफन मे अपने समय को व्यय किया है, किसी ऐसे पुरुष का रोमाचकर चरित्र नहीं लिखा है, जिसके नाम-श्रवण से ही आप कान पर हाथ रखें।'

३. वही, पृ० २४।

४. वही, पृ० ४२।

५. वही, पृ० ४२।

कृष्ण में लोकोत्तर नायक के गुणों के साथ-साथ धीरललित नायक के भी गुण विद्यमान है। अपनी प्रेयसी रुक्मणी की दशा के विषय में जानकर वे अत्यन्त उद्विग्न हो जाते है और ब्राह्मण से कहते हैं—'द्विज देव ! प्राणप्यारी रुक्मणी जिसका यह प्रण है (टरै चन्द्र इत्यादि पढ़ते है) और जिसकी मेरे लिए इतनी उत्कण्ठा है (मृग के वियोग इत्यादि पढ़ते है) क्या मेरे विरह के दुख से दुखी होकर अपने प्राण को त्याग सकती है। हाय !! क्या मेरे जीते प्रियतमा की यह दशा हो सकती है !!! कदापि नहीं ! चन्द्रमा के प्रकाशित रहते भगवती भगीरथी को कब वियोग हुआ है ?'[1] उनका मन रुक्मणी के अलौकिक रूप-सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाता है। वस्तुतः उनमें एक प्रेमी का सरस हृदय है।

कृष्ण रसिक प्रेमी ही नहीं, अत्यन्त पराक्रमी तथा वीर भी है। शिशुपाल और जरासंध को युद्ध में परास्त करते हैं। रुक्म को भी पराजित करते है और रुक्मणी के अनुरोध पर ही उसे जीवन दान देते हैं। शाल्व के द्वारा पूछे जाने पर शत्रुपक्ष के जरासंध भी कृष्ण के अत्यन्त पराक्रमी होने की प्रशसा करते हैं।[2]

राधाचरण गोस्वामी के 'श्रीदामा' नाटक के समान बलदेवप्रसाद मिश्र के **प्रभास मिलन**' नाटक* (१६०३) के नायक भी श्रीकृष्ण नहीं हैं। यद्यपि कृष्ण को नाटककार ने एक महत्वपूर्ण पात्र के रूप में चित्रित किया है फिर भी इसमें नायक कृष्ण न होकर नारद मुनि है। देवर्षि नारद ब्रह्मा के समक्ष राधा कृष्ण को मिलाने की प्रतिज्ञा-पूर्ति के हेतु ब्रज में राधिका को मिलने के लिए जाते है और वहां जाकर कृष्ण जैसी वंशी बजाते हैं। वे राधिका, नन्द और यशोदा से मिलते हैं और देखते है कि सभी ब्रजवासी कृष्ण की विरहाग्नि में सन्तप्त है। वहां से नारद द्वारिकापुरी में कृष्ण के पास जाते हैं और उन्हें राधिका, नन्द, यशोदा तथा अन्य ब्रजवासियों की वियोग-दशा बतलाते हैं। कृष्ण ब्रज-वासियों के कृत्यों की निन्दा करते हैं और वे वहां न जाने के अपने संकल्प को

---

१. अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध, रुक्मणी परिणय, पृ० ४६।

२. वही, पृ० ६१।

'उन लोगों ने बाल्यावस्था में बड़े-बड़े दानवों को खेल में मार लिया, दुर्धर्ष अथच परमबलिष्ट कंस को देखते-देखते मार गिराया। मेरे त्रयोविंशति अक्षौहिणी को सत्तरह बार ऐसे काट डाला जैसे कृषक क्षेत्र को बिना प्रयास काट डालता है।'

* श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध (उत्तरार्ध) में इस कथा का उल्लेख मिलता है।

प्रकट करते हैं। अब नारद जी इन दोनों के मिलाने की नयी युक्ति सोचते हैं। वे वसुदेव से सूर्यग्रहण के दिन एक महान् दानयज्ञ करवाते हैं जिसमें त्रिभुवन के लोगों को निमन्त्रित किया जाता है, परन्तु कृष्ण नारद जी को इस यज्ञ मे ब्रजवासियों को निमन्त्रण देने के लिए रोक देते है। कृष्ण द्वारा रोके जाने पर भी वे बड़े कौशल से देववाणी के द्वारा ब्रजवासियों को कृष्ण के प्रभास क्षेत्र जाने की सूचना दे देते हैं और साथ ही उन्हे वहां पहुंचने के लिए कहते है।[१]

इधर रुक्मणी कृष्ण से राधा के प्रति उसके अनुराग की बात करती हैं, परन्तु कृष्ण उसे उसके प्रति अपने प्रेम का विश्वास दिलाते हैं। इधर नन्द, यशोदा, राधिका, श्रीदामा आदि ब्रजवासी कृष्ण से मिलन-हेतु प्रभास तीर्थ की ओर चल पड़ते है। यहीं पर इन सब की श्रीकृष्ण से भेंट होती है और नारद अपनी प्रतिज्ञा पूर्ति में सफल होते हैं और वे भगवान् कृष्ण की भक्त-वत्सलता की यथार्थता को जान लेते हैं।

चरित्र-चित्रण एवं वस्तु-गठन की दृष्टि से यह नायक अत्यन्त ही शिथिल है। नाटक के नायक देवर्षि नारद धीरशान्त हैं। वे बड़े यत्न एवं कौशल के साथ अपनी प्रतिज्ञा-पूर्ति में सफल होते हैं। इस एक पक्ष के अतिरिक्त उनके चरित्र का और कोई भी पहलू नाटककार नही उभार सका। कृष्ण को राजा, भगवान् और भक्त-वत्सल के ही रूप में चित्रित किया है। पश्चिमी प्रभाव के अधीन नाटक में एक स्थान पर तो काल दोष भी मिलता है। दूसरे अंक में मदन, विजय आदि बालक विदेशी खेल क्रिकेट के खेलने की इच्छा प्रकट करते है। पौराणिकता की रक्षा हेतु निस्संदेह ऐसा प्रयास अवांछनीय ही कहा जा सकता है।

मिश्र जी के 'प्रभास मिलन' नाटक के अतिरिक्त दुर्गाप्रसाद मिश्र द्वारा लिखित भी एक '**प्रभास मिलन**' नाटक (१८९९) मिलता है, परन्तु यह बंगला के मधुसूदन लाल के 'प्रभास यज्ञ' का हिन्दी रूपान्तर है।

(ग) अन्य चरित सम्बन्धी नाटकों में नायक

राम और कृष्ण के पौराणिक कथानकों के अतिरिक्त आलोच्य काल के नाटककारों का ध्यान अन्य लोकविश्रुत पौराणिक कथानकों की ओर भी आकृष्ट हुआ। इनमें से कुछ नाटकों के कथानक श्रीमद्‌भागवत तथा महाभारत से लिए गये है और कुछ अन्य पुराणों से। भक्त प्रह्लाद, सत्य हरिश्चन्द्र, नल-दमयन्ती एवं सावित्री-सत्यवान के कथा-प्रसंगों ने इस युग के नाटककारो को

---

१. प्रभास मिलन नाटक, संस्करण १९०३, पृ० ७०।

विशेष रूप से आकृष्ट किया। कुछ एक नाटककारों ने संस्कृत के पौराणिक नाटकों का अनुवाद भी हिन्दी में किया। भारतेन्दु का 'धनंजय-विजय' संस्कृत के कांचनकवि कृत 'धनंजय विजय' व्यायोग का अनुवाद है।

भारतेन्दु कृत 'धनजय विजय' का रचनाकाल सन् १८७३ है। व्यायोग का इतिवृत्त प्रख्यात होता है और कथानक किसी उद्धत व्यक्ति पर आश्रित होता है।[१] इसमें एक ही दिन की घटनाएं रहती है, एक अंक होता है और पुरुष पात्रों की संख्या अधिक होती है।[२] नाट्यशास्त्र के अनुसार इसका नायक कोई प्रख्यात राजा अथवा देवता होना चाहिए। क्योंकि इसमें विविध प्रकार का युद्ध अनिवार्य रहता है इसलिए इसका नायक धीरोद्धत होना आवश्यक है। बाबू श्यामसुन्दर दास के अनुसार 'व्यायोग की भी कथावस्तु पुराण या इतिहास प्रसिद्ध होती है, पर उसका नायक धीरोद्धत राजर्षि अथवा दिव्य पुरुष होता हैं। उसमें पात्रों की बहुलता होती है, पर सब पात्र नर होते है, स्त्री एक भी नही होती। इसमें युद्ध होता हैं, पर वह स्त्री के कारण नहीं होता।'[३] परन्तु भारतेन्दु के दृष्टिकोण में थोड़ा अन्तर है। उन्होंने अपने 'नाटक' नामक निबन्ध मे व्यायोग का लक्षण देते हुए नायक में वीरता के गुण को तो माना हैं परन्तु वह धीरोद्धत ही हो, ऐसा उन्होंने स्वीकार नहीं किया।[४] नायक सम्बन्धी उनके दृष्टिकोण मे यह परिवर्तन युग के प्रभाव के कारण ही माना जा सकता सकता है। भारतेन्दु द्वारा वर्णित व्यायोग के समस्त लक्षणों के अनुसार 'धनंजय विजय' एक सफल रचना है। इसका कथानक महाभारत के विराट पर्व पर आधारित है।[५] वीर एवं पराक्रमी अर्जुन नाटक के नायक है। द्रौपदी सहित

---

१. दशरूपक,

ख्यातेतिवृत्तो व्यायोगः ख्यातोद्धतनराश्रयः ॥३।६०॥

२. वही,

एकाहाचरितैकाङ्को व्यायोगो बहुभिर्नरैः ॥३।६२॥

३. रूपक रहस्य, संस्करण सं० २००६, पृ० १६१।

४. सं० ब्रजरत्नदास, भारतेन्दु नाटकावली (द्वितीय भाग) 'नाटक' निबन्ध पृ० ३६८।

व्यायोग में 'युद्ध का निदर्शन, स्त्री-पात्र-रहित और एक ही दिन की कथा का होता है। नायक कोई अवतार या वीर होना चाहिए। ग्रन्थ नाटक की अपेक्षा छोटा। उदाहरण 'धनंजय विजय'।'

५. महाभारत, विराट पर्व, अध्याय ५३-७२।

भारतेन्दु ने इस कथानक को बड़े ही संक्षिप्त रूप में ग्रहण किया है।

पाण्डवगण बारह वर्ष वनवास के बाद एक वर्ष के अज्ञातवास के लिए राजा विराट के यहां गुप्त रूप से रहने लगते है। अज्ञातवास के अन्तिम दिनों में कौरव राजा विराट की साठ सहस्र गौओं को चुरा ले जाते है। अर्जुन विराट के पुत्र उत्तर कुमार को सारथी बनाकर अकेले ही कौरव सेना को परास्त कर गौ-धन को छुड़ा लाते है। अर्जुन के इस वीरतापूर्ण कृत्य से प्रसन्न होकर विराट अपनी पुत्री उत्तरा का विवाह अभिमन्यु से करने की इच्छा प्रकट करते है। अर्जुन इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लेते है और नाटक समाप्त हो जाता है।

अर्जुन इस नाटक का प्रधान पात्र है। नाटककार ने इसके चरित्र को बड़े ही सुन्दर ढंग से चित्रित किया है। सूत्रधार उसके तेज का वर्णन इस प्रकार करता है :—

'सत्य प्रतिज्ञा करन कों छिप्यो निसा अज्ञात।
तेजपुंज अरजुन सोइ रवि सों कढ़त लखात॥'[1]

कौरवों की सेना देखकर अर्जुन के मन में अतीव उत्साह और उल्लास पैदा होता है। आज उसकी भुजा फड़क रही है जो उसके हृदय में विजय की आशा एवं उल्लास का संचार करती है।[2] अर्जुन को वीर वेश में देखकर दुर्योधन उसके प्रति सक्रोध अभिमानपूर्वक वचन कहता है।[3] इस पर अर्जुन हंसकर इस प्रकार उत्तर देता है :—

कालकेय बधि कै, निवात-कवचन कहँ मार्‍यो।
इकले खांडव दाहि, उमापति जुद्ध प्रचार्‍यौ॥
इकले हो बल कृष्ण लखत, भगिनी हरि छीनी।
अर्जुन की रन नाहि नई इकली गति लीनी॥[4]

---

१. भारतेन्दु नाटकावली (प्रथम भाग), पृ० ७।

२. स० ब्रजरत्नदास, भारतेन्दु नाटकावली (प्रथम भाग), पृ० १०।
'वन-बन धावत सदा धूर धूसर जो सोही।
पंचाली-गल-मिलन-हेतु अब लौ ललचौहीं॥
जो जुवती-जन-बाहु बलय मिलि नाहिं लजाहीं।
रिपुगन! ठाढ़े रहौ सोई मम भुज फरकाहीं॥'

३. वही, पृ० १४।
'बहु दुख सहि बनवास करि, जीवन सों अकुलाय।
मरन-हेतु आयो इतै इकलो गरब बढ़ाय॥'

४. वही, पृ० १४।

जब युद्ध में दुर्योधन के मुकुट के गिर जाने पर कौरव क्रुद्ध होकर अर्जुन को घेर लेते हैं, उस समय भी वह धैर्य को नहीं छोड़ता। प्रस्वापनास्त्र चला कर वह सारी कुरु सेना को अचेत कर देता है और साथ ही उन्हें वस्त्रहीन कर द्रोपदी के अपमान का बदला चुकाता है। उस समय अर्जुन कहता है—

करी बसन बिनु द्रौपदी इन सब सभा बुलाय।
सो हम इनको वस्त्र हरि बदलो लीन्ह चुकाय॥[1]

इस प्रकार हम देखते है कि लेखक ने सारे नाटक में नायक अर्जुन की वीरता, धैर्यशीलता एवं उत्साहशीलता का बड़े ही सुन्दर एवं आकर्षक ढंग से चित्रण किया है। उसमें अहं का अभाव है। वीर होने के साथ-साथ वह अपने गुरुजनों एवं बन्धुजनों के प्रति अत्यन्त विनम्र है।

भारतेन्दु युग के श्रेष्ठ नाटकों में बालकृष्ण भट्ट कृत **'दमयन्ती-स्वयंवर'** (१८९२) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसमें दस अंक हैं। नाटक की कथा नल-दमयन्ती के प्रसिद्ध पौराणिक आख्यान से सम्बन्धित है, जिसका सर्वप्रथम उल्लेख महाभारत के वनपर्व में आता है।[2] बारहवीं शताब्दी के संस्कृत कवि श्री हर्ष ने महाभारत के इस आख्यान के आधार पर २२ सर्गों का 'नैषध' महाकाव्य लिखा, परन्तु कवि ने उसका बहुत ही थोड़ा अंश लिया है। उसमें उन्होंने नल-दमयन्ती के विवाह तथा नल की राजधानी में कलि-प्रवेश तक की कथा का उल्लेख किया है। महाभारत में इतनी कथा कुछ ही पृष्ठों में दी गई है। 'दमयन्ती-स्वयंवर' नाटक के सम्पादक धनंजय भट्ट 'सरल' ने नाटक के आरम्भ में अपने 'वक्तव्य' में इसे नैषध महाकाव्य पर आधारित माना है।[3] परन्तु दोनों की तुलना करने पर हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि प्रस्तुत नाटक की रचना में नाटककार, छठे अंक के प्रथम गर्भांक तक की कथा के लिए तो 'नैषध' महाकाव्य का ऋणी है और शेष के लिए महाभारत के वन पर्व का। डा० देवर्षि सनाढ्य ने धनंजय भट्ट के वक्तव्य का

---

१. सं० ब्रजरत्नदास, भारतेन्दु नाटकावली (प्रथम भाग), पृ० २१।
२. महाभारत, वनपर्व, अध्याय ५२-७९।
३. बालकृष्ण भट्टकृत दमयन्ती स्वयंवर, सम्पादक—धनंजय भट्ट 'सरल' (संस्करण, सं० १९९६) वक्तव्य, पृ० २।

'इसी नैषध ग्रन्थ को निचोड़ कर स्वर्गीय पण्डित बालकृष्ण भट्ट ने 'दमयन्ती स्वयंवर' नाटक की रचना की है। इसके पढ़ने से पाठकों को भट्ट जी की लेखन—चातुरी के साथ ही महाकवि श्री हर्ष की कृति का भी कुछ रसास्वादन मिल जाता है।'

उल्लेख करते हुए नाटक के सात अंकों की कथा को श्रीहर्ष के नैषध महाकाव्य पर आधारित माना है,[1] परन्तु उपर्युक्त वक्तव्य में सात अंकों का उल्लेख नहीं मिलता।[2]

राजा नल स्वप्न में विदर्भ देश के राजा भीम की कन्या अतीव सुन्दरी दमयन्ती को देखते है। वह स्वप्न में ही अपने कण्ठ से मोतियों का हार उतार कर नल के गले में डालकर चली जाती है। तब से नल उसके वियोग में सन्तप्त हो जाते हैं और राज-काज के प्रति भी उनका मन उदासीन हो जाता है। राजा अपने अन्तरंग सखा भागुरायण को साथ लेकर वियोग के संताप को दूर करने के लिए एक सरोवर में जल-विहार के लिए जाते हैं। वहां स्वर्ण पंखों से युक्त पक्षिराज हंस से उन्हें पता चलता है कि वह भीमसुता दमयन्ती है जिसके वियोग में वे व्यथित रहते है। इधर हंस के मुंह से नल के गुणों को सुनकर दमयन्ती की विरहाग्नि बढ़ जाती है। राजा भीम अपनी कन्या के लिए स्वयंवर रचाते हैं। इन्द्र, वरुण, यम और अग्नि देवतागण भी स्वयवर में भाग लेने के लिए आते है और वे नल से दमयन्ती के पास यह सन्देश ले जाने के लिए कहते है कि वह उनमें से किसी एक देवता से विवाह कर ले। नल इन्द्र की इस कुटिलता को पहचान जाते हैं, परन्तु देवगणों के बहुत अनुरोध पर वे उनका दूत-कर्म करने के लिए तत्पर हो जाते हैं। दमयन्ती के महल में जाकर उसकी ही एक सखी सुलक्षणा से नल को पता चलता है कि दमयन्ती ने अपने मन में यह दृढ़ निश्चय कर लिया है कि यदि वह नल का वरण न कर सकी तो वह जीवन का अन्त कर डालेगी। स्वयंवर के दिन इन्द्रादि चारों देवता नल के वेश में नल के समीप ही बैठ जाते है। इन्द्र दमयन्ती के दृढ़ निश्चय से प्रसन्न होकर अपने देव-चिन्हों को प्रकट कर देते हैं। दमयन्ती नल को पति रूप में वर लेती है। स्वयंवर में ठीक समय पर न पहुंच सकने वाले कलि को जब इन्द्र से यह पता चलता है कि दमयन्ती ने नल को पति रूप में वर लिया है तो वह उन दोनों को दण्ड देने का निश्चय कर लेता है। कलि की प्रेरणा से नल अपने भाई पुष्कर से जुआ खेलता है और अपना सारा राजपाट हार जाता है इस प्रकार इन दोनों के लिए कष्टों की लम्बी शृंखला का श्रीगणेश हो जाता है। नल वन में सोई हुई दमयन्ती को छोड़कर चले जाते है। दमयन्ती चेदिनगर की राजमाता अपनी मौसी के यहां एक दासी के रूप में आश्रय लेती है और

---

१. डा० देवर्षि सनाढ्य, हिन्दी के पौराणिक नाटक, (सं० १९६१ ई०), पृ० १३४।

२. दमयन्ती स्वयवर नाटक, सम्पादक धनंजय भट्ट 'सरल' वक्तव्य।

उधर नल कर्कोटक नाग के सुझाव पर राजा ऋतुपर्ण के यहां सहायता की आशा से जाते हैं। वे ऋतुपर्ण से द्यूत-विद्या सीखते है और उसमें पारंगत हो जाते है। भीम नल की खोज करते-करते थक जाते हैं और अन्त में दमयन्ती के सुझाव पर उसके दूसरे स्वयंवर की घोषणा करते है। ऋतुपर्ण के साथ बाहुक वेश में नल भी दमयन्ती स्वयंवर में जाते है। इस प्रकार नल और दमयन्ती का मिलन होता है। अन्त में राजा भीम इन दोनों को आशीर्वाद देते हैं।

राजा नल इस नाटक के नायक हैं। उसके व्यक्तित्व में महाभारतीय नल तथा नैषधीय नल के गुणो का अपूर्व सामंजस्य मिलता है। महाभारत का नल अधिक चतुर एवं बुद्धिमान नहीं है। उसमें मानव-सुलभ आचरण का अपेक्षा-कृत अभाव है। इसी कारण उसके चरित्र में थोड़ी-सी अस्वाभाविकता आ गई है। महाभारत में नल से जब इन्द्र मिलते है तो वे उन्हें पूर्व-परिचय के बिना ही दूत-कर्म करने की स्वीकृति दे देते हैं।[१] इन्द्र वचन ले लेने के बाद ही नल को दमयन्ती के लिए अपना दूत बन जाने की बात कहते हैं।[२] परन्तु नैषध महाकाव्य में देवगण स्वयं नल को पहले अपना परिचय देते हैं और बाद में वे नल को स्पष्ट रूप से ही यह नहीं कह देते कि तुम दमयन्ती के लिए हमारे दूत बन जाओ अपितु हम लोग याचक होकर तुम्हारे पास आ रहे हैं,[३] ऐसा कहकर उसे संशय में डाल देते हैं। नल मन में यह सोचते है कि मेरे याचक बनने वाले इन देवताओं को क्या दुर्लभ है ? ये क्यों मेरे प्रति इस प्रकार याचक भाव रखते हैं इस स्थल पर कवि ने उनके मानसिक संघर्ष का बहुत ही सुन्दर चित्रण किया है। कुछ देर सोचने के बाद नल अपनी जिज्ञासा को शान्त करने के लिए बड़े ही विनम्र शब्दों में उनसे निवेदन करते है कि 'मेरे प्राणों तक या इससे अधिक

---

१. महाभारत, वन पर्व।

'कै वै भवन्तः कश्चासौ यस्यान्हं दूत ईप्सितः।
किं च तद् वो मया कार्य कथयध्व यथातथम् ।।५५।२।।

२. वही.

'त्वं वै समागतानस्मान् दमयन्त्यै निवेदय।
लोकपाला महेन्द्राद्याः समायन्ति दिदृक्षवः ।।५५।५।।

३. श्री हर्ष कृत 'नैषध महाकाव्यम्' (पूर्व खण्ड) भाषाटीकाकार, पण्डित श्री हरगोविन्द शास्त्री, (संस्करण, १६५४ ई०)।

'अर्थिनो वयममी समुपैमस्त्वां किलेति फलितार्थमवेहि।
अध्वनः क्षणमपास्य च खेदं कुर्महे भवति कार्यनिवेदम् ।।५।७७।।

जो अभिलषित वस्तु है, उसे आप कहे ताकि उससे मैं आपकी अर्चना करूं ।'[1] दमयन्ती स्वयंवर नाटक में भी नल का चरित्र इसी प्रकार से चित्रित किया गया है ।

नैषध महाकाव्य में जब इन्द्र नल से अपने दूत-कर्म को कहते है तो नल उनकी बातों से उनके कपट को पहचान लेते है और वे उसके ही अनुरूप वचन कहते हैं क्योंकि कुटिलों के प्रति सरलता रखना उचित नहीं है ।[2] नल बड़े ही शिष्ट एवं विनम्र शब्दों में उन्हें इन्कार करते हुए कहते हैं 'जिस दमयन्ती को वरण करने के लिए मैं जा रहा हूं, उसी के लिए दूत-कर्म मैं कैसे कर सकूंगा । आप जैसे बड़े लोगों को मुझ तृण जैसे व्यक्ति को ठगने में भी कोई घृणा नहीं हुई ।[3] यही नहीं, मैं उस दमयन्ती के समक्ष, जिसे मैं हृदय से चाहता हूं, अपने प्रेमोन्माद को कैसे छिपा सकूगा ।[4] भट्ट जी के नाटक में भी नल इसी प्रकार से आचरण करता है ।---'धिक् । देवताओं में भी क्या कुटिलता का भाव रहता है तब तो हमी लोग जो मनुष्य-कोटि में हैं सब भांति अच्छे ठहरे । क्षण-क्षण में जिसके विरह-ताप मे तापित हम विकल हुआ करते है, इस दशा में आप ही बतलाइये हम क्योंकर इस बात को छिपा सकेंगे कि हम नल नहीं है । × × × कुण्डिनेश कन्या दमयन्ती हमें पहले ही से अपने लिये उपयुक्त वर स्वीकार कर चुकी है सो अब वह मुझे देखकर लज्जित भले ही होगी और आप लोगों में किसी को भी अपना पति न स्वीकार करेगी । इसलिए नाह करने की हमारी धृष्टता क्षमा कीजिये । इस काम में हमारा दूत होकर वहां जाना किसी तरह योग्य नहीं है ।'[5]

---

१. नैषध महाकाव्यम् (पूर्व खण्ड),
'जीवितावधि किमप्यधिकं वा यन्मनीषितमितो नरडिम्भात् ।
तेन वश्चरणमर्चतु सोऽयं ब्रूत वस्तु पुनरस्तु किमीदृक् ।।५।९७ ।।

२. वही,
'तेन तेन वचसैव मघोन. स स्म वेद कपटं पटुरुच्चैः ।
आचरत्तदुचितामथ वाणीमार्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः ।।५।१०३ ।।

३. वही,
'यामि यामिह वरीतुमहो तद्दूततां तु करवाणि कथं वः ।
ईदृशा न महता बत जाता वचने मम तृणस्य घृणापि ।।५।१०७।।

४. वही,
'यां मनोरथमयी हृदि कृत्वा यः श्वसिम्यथ कथं स तदग्रे ।
भावगुप्तिमवलम्बितुमीशे दुर्जया हि विषया विदुषापि ।।५।१०९।।

५. दमयन्ती स्वयंवर नाटक, सम्पादक, धनंजय भट्ट 'सरल', पृ० १६ ।

महाभारत में भी नल इन्द्र को अपने इसी एक मात्र प्रयोजन से परिचित तो करवाता है परन्तु उसके चरित्र में मानव-सुलभ भावनाओं का अभाव है, जो एक प्रेमी के हृदय में होनी चाहिएं।[1] यही नहीं, वह इन्द्र के एक-दो बार कहने पर ही उनके दूत कर्म को करने के लिए तत्पर हो जाता है। परन्तु 'नैषध' में नल को इस काम को करने के लिए तैयार करने में पर्याप्त समय लगता है। 'दमयन्ती-स्वयंवर' नाटक में भी जब नल यह देखते हैं कि अब इन 'धूर्तों' से पीछा छुड़वाना कठिन है तो वे उनका दूत-कर्म स्वीकार कर लेते हैं।[2] यद्यपि नल प्रत्यक्ष रूप से देवताओं के लिए 'धूर्त' शब्द का प्रयोग नहीं करते, तथापि अपने मन में भी नल जैसे व्यक्ति के लिए ऐसा सोचना अवांछनीय ही कहा जा सकता है।

नाटक में जब नल दमयन्ती से देवताओं का सन्देश देते हैं तो वह उसकी वाक्-चातुरी से मुग्ध तो होती है परन्तु उस 'सन्देश' में अरुचि दिखाती हुई, उसके अपने नाम और वंश को जानने के बारे में जिज्ञासा-भाव प्रकट करती है, परन्तु नल अपने मुख से अपने ही नाम, गौत्र एवं वंशादि को बतलाने में अशिष्टाचार अनुभव करते है।[3] नाटककार नल के इस गुण के लिए भी नैषध महाकाव्य का ऋणी है।[4] परन्तु महाभारत के नल इन दोनों रचनाओं के नल से भिन्न प्रकार से आचरण करते हैं। दमयन्ती द्वारा उसका नाम एवं परिचय

---

१. महाभारत, वनपर्व,

'एवमुक्तः स शक्रेण नलः प्रांजलिरब्रवीत्।
एकार्थ समुपेतं मां न प्रेषयितुमर्हथ॥५५।७॥

२. दमयन्ती स्वयंवर नाटक, पृ० १७।

३. दमयन्ती स्वयंवर नाटक, सं० धनंजय भट्ट 'सरल', पृ० २३-२४।

'प्रत्यक्ष रूबरू बातचीत करने में तुम और हम ये सर्वनाम ऐसे कामधेनु है कि इनसे सब काम निकल सकता है तब नाम गोत्र बतलाने की आवश्यकता ही क्या रह गई। × × × बड़े लोगों की ऐसी परम्परा रीति चली आई है कि अपना नाम अपने मुख से नहीं कहते—'आत्मानामगुरोर्नामनामातिकृपणस्य च। श्रेयस्कामो व [illegible]' इसलिए मैं अपना नाम अपने मुख से नहीं कह सकता। यदि इस शिष्टाचार के विरुद्ध करता हूं तो लोक में निंदा होती है—'जनः किलाचारमुचं विगायति—'

४. नैषध महाकाव्य,

'महाजनाचार परम्परेदृशी स्वनाम नामाददते न साधवः।
अतोऽभिधातुं न तदुत्सहे पुनर्जनः किलाचारमुचं विगायति॥६।१३॥

पूछे जाने पर वह एकदम उसे इस प्रकार परिचय ही नहीं देते, साथ ही अपने आने के उद्देश्य को भी स्पष्ट कर देते हैं—'हे कल्याणि। तुम मुझे नल समझो और मैं देवताओं का दूत बन कर यहां आया हूं। इन्द्र, अग्नि, वरुण, यम ये चारों देवता तुम्हें प्राप्त करने की इच्छा रखते है। इसलिए हे शोभने तुम इनमें से किसी एक को अपना पति चुन लो।'[1] नल दमयन्ती से देवताओं में से किसी एक को वरण करने के लिए कहते हैं परन्तु शोक-सन्तप्त दमयन्ती के यह कहने पर कि 'हे पृथ्वीपते। मैं सम्पूर्ण देवताओं को नमस्कार करके आप ही को अपना पति चुनती हूं। यह मैंने आपसे सच्ची बात कही है।'[2] वे उसके इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लेते है और साथ ही उसे ऐसा समाधान ढूंढने के लिए भी कहते है जिससे उन्हें धर्म युक्त स्वार्थ की सिद्धि हो सके।[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि महाभारत के नल देवताओं के प्रति अपने कर्तव्य को निभाने में शिथिलता के साथ आचरण करते है और अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए अधिक उत्सुक दिखाई पड़ते है। परन्तु भट्ट जी के नाटक में नल के चरित्र मे प्रेम और कर्तव्य मे संघर्ष दिखलाकर उसके चरित्र को स्वाभाविकता के अधिक निकट ला दिया है। जब नल दमयन्ती की विलाप-चेष्टाओं को सहन करने में सर्वथा असमर्थ हो जाते है तो उनका हृदय संयम खो बैठता है और प्रेमोन्माद में वे अपने आपको प्रकट कर देते है।[4] प्रेम और कर्तव्य में यह संघर्ष नैषधीय नल में भी मिलता है परन्तु इन दोनों में अन्तर यह है कि नैषधीय नल प्रेमोन्माद में जब अपने को प्रकाशित कर देते है कि 'मैं नल हूं,' तो उसी समय उनमे यह संस्कार उत्पन्न होता है कि मैं एक दूत हूं और मुझे अपने दूत-कर्म को निभाने मे शिथिलता नहीं दिखानी चाहिए।

---

१. महाभारत वन पर्व,

'नलं मां विद्धि कल्याणि देवदूतमिहागतम् ॥५५।२२॥
देवास्त्वां प्राप्तमिच्छन्ति शक्रोऽग्निर्वरुणो यमः ॥
तेषामन्यतमं देवं पतिं वरय शोभने ॥५५।२३॥

२. महाभारत, वन पर्व,

देवेभ्योऽहं नमस्कृत्य सर्वेभ्यः पृथिवीपते।
वृणे त्वामेव भर्तारं सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥५६।१४॥

३. महाभारत, वन पर्व,

एष धर्मो यदि स्वार्थो ममापि भविता ततः।
एवं स्वार्थं करिष्यामि तथा भद्रे विधीयताम् ॥५६।१७॥

४. दमयन्ती स्वयंवर नाटक, संपादक, धनंजय भट्ट 'सरल', पृ० २६।

फिर भी मुझे अपने दूतत्व के ज्ञान पर संतोष है। बलवान दैव ने मेरी इस चेतना को नष्ट कर दिया था, अन्यथा मैं स्वनाम को कदापि प्रकट नहीं करता। अतः इसमें मेरा कोई अपराध नहीं है।[1] परन्तु दमयन्ती स्वयंवर नाटक में नाटककार ने नल द्वारा ऐसा प्रायश्चित नहीं करवाया।

नाटक के नायक राजा नल में धीरललित नायक के गुण विद्यमान है। वे रूपवान् और युवा है। उनके रूप-सौन्दर्य का अनुमान इसी से लगाया जा है कि इन्द्र, वरुणादि चारों देवता भी उनके समक्ष हीन भाव का अनुभव करते हैं।[2] सुन्दर आकृति के अनुरूप उनमें गुण भी हैं। वे विनम्र, क्षमाशील और गुणवान् है। संघर्षो का सामना करते है। कर्म-फल और भाग्यवाद में उनकी आस्था है।[3] नल के चरित्र में नाटककार ने न तो मौलिकता का परिचय दिया है और न ही युग-चेतना के अनुरूप उसमें किसी नयी उद्‌भावना को लाने की चेष्टा की है।

वालकृष्ण भट्ट कृत '**बृहन्नला**' नाटक संवत् १९८१-८२ में 'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित हुआ।[4] इसका [illegible] के विराट पर्व पर आधारित है।[5] भट्ट जी से पूर्व भारतेन्दु जी ने इसी कथानक के आधार पर 'धनंजय विजय' नाटक की रचना की थी। भारतेन्दु जी की अपेक्षा भट्ट जी का यह नाटक वर्ण्य-विषय की दृष्टि से अधिक सम्पूर्ण और कला की दृष्टि से अधिक प्रौढ़ रचना है। नाटक का कथानक परम्परायुक्त है। द्वितीय अंक के प्रथम गर्भांक में कायर ब्राह्मण की कल्पना कर भट्ट जी ने हास्य की सृष्टि कर अपनी अद्‌भुत कला-चातुरी का परिचय दिया है।

पांचों पाण्डव द्रौपदी सहित अज्ञातवास के लिए राजा विराट के यहां छद्‌मवेश में आश्रय ग्रहण करते हैं। युधिष्ठिर 'कंक' नाम से महाराजा विराट

---

१. नैपध महाकाव्य, नवम सर्ग, श्लोक १२२-१२६।

२. दमयन्ती स्वयंवर, सम्पादक धनंजय भट्ट 'सरल', पृ० १४।
'हा! इसकी रूप-माधुरी, लवनाई और तारुण्य देखकर दमयन्ती अब हमे काहे को कभी अपने चित्त में स्थान देगी। मनुष्य-कोटि में भी ऐसे रूपवान है तो हम सबों को जो अपने को देवयोनि मानते हैं, धिक्कार है। यदि दमयन्ती नल को छोड़कर हम में से किसी को चुन भी ले तो हम यही कहेंगे वह निस्सन्देह रूप की परख में गंवार है।'

३. दमयन्ती स्वयंवर, पृ० ५१।

४. भट्ट नाटकावली, वक्तव्य, पृ० ४।

५. महाभारत, विराटपर्व, अध्याय ३४-७२।

की राज-सभा के सदस्य बनते हैं। भीम 'वल्लभ' नाम से सूपकार का काम करते है। अर्जुन नपुंसक 'बृहन्नला' के रूप में राजा विराट के अन्तःपुर की स्त्रियों को संगीत और नृत्यकला की शिक्षा देने के लिए शिक्षक नियुक्त होते है। राजा विराट की कन्या उत्तरा इन्हीं से संगीत और नृत्य की शिक्षा ग्रहण करती है। नकुल 'ग्रन्थिक' के रूप में अश्वपाल नियुक्त हुए और सहदेव 'तन्त्रिपाल' नाम से गोरक्षक नियुक्त हुए। द्रौपदी 'सैरन्ध्री' नाम से अन्तःपुर की स्त्रियों के केशों का श्रृंगार करने वाली नियुक्त हुई।

एक दिन अचानक कौरव राजा विराट पर आक्रमण कर उसकी गौओ को चुरा ले जाते हैं। राजा विराट का पुत्र उत्तर नपुंसक वृहन्नला के रूप में अर्जुन को सारथि बनाकर कौरवों से युद्ध करने के लिए जाते हैं परन्तु वहां कौरवों की भारी सेना देखकर उत्तर भयभीय हो जाते है और कायर बनकर वापस लौटना चाहते है। अर्जुन उन्हें क्षत्रिय धर्म का उपदेश देकर समझाते है परन्तु उत्तर का भीरु मन अर्जुन के तर्कों को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं होता। तब अर्जुन अपना वास्तविक रूप उत्तर को बतलाते है। इससे उत्तर को सांत्वना मिलती है। अकेले अर्जुन ही कौरवों की सेना को परास्त कर विजयी बन वापस लौटते हैं। महाराज विराट अर्जुन के शौर्य एवं पराक्रम पर प्रसन्न होकर अपनी कन्या उत्तरा का विवाह अभिमन्यु से करने का सुझाव देते है जिसे अर्जुन सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं।

छद्मवेशी बृहन्नला के रूप में अर्जुन इस नाटक के वीर नायक है। अर्जुन के चरित्र-चित्रण मे लेखक ने किसी भी प्रकार की मौलिकता का परिचय नही दिया। युग-चेतनानुरूप भी उसमें किसी गुण की अवतारणा नहीं की गई है। अर्जुन के शौर्य, पराक्रम, एवं साहस का आतंक शत्रुपक्ष पर छाया हुआ है। अपनी वीरता की डींग मारते हुए कर्ण से गुरुद्रोणाचार्य इस प्रकार कहते है—'अरे, मूर्ख. पार्थ अकेला त्रिभुवन को जीत सकता है जिसने सहस्रों महाबली राजाओं के देखते मत्स्य भेद पांचाली को ब्याह ले गया उसके सन्मुख रणक्षेत्र में ठहरने की तेरी भला क्या सामर्थ्य है। 'कोटिस्तु कीटापते' तेरा पुरुपार्थ जो न जानता हो उसके सामने तू ये बातें हांका कर। त्रयोदश वर्ष की अवधि पूर्ण हुई है, मेघवृन्द से मुक्त मिहिर के सदृश जिस समय पार्थ रणभूमि में देख पड़ेगा उस समय किसका सामर्थ्य है कि उसका असह्य प्रताप सह सके।'[१]

गुरु द्रोणाचार्य की तरह पितामह भीष्म भी वीर अर्जुन के प्रति स्नेह एवं आदर का भाव रखते हैं। रणभूमि मे अर्जुन को साक्षात् अपनी आंखो के

१. भट् नाटकावली, सम्पादक, धनंजय भट्ट 'सरल', पृ० १६।

समक्ष देखकर पितामह का हृदय प्रेम-विह्वल हो उठता है ।[1] राजा विराट को रानी से जब इस बात का पता चलता है कि उत्तर नपुसक बृहन्नला के साथ युद्ध करने के लिए गये है, तो राजा अनिष्ट की आशंका से शोकाकुल हो विलाप करने लग जाते हे । तब कंकभट्ट (युधिष्ठिर) उन्हें सांत्वना देते हुए कहते हैं—'राजन् ! आप क्यों व्यर्थ शोकाभिभूत होते है । बृहन्नला कुमार के साथ है तो त्रिभुवन एकत्र हो लड़े तब भी कुमार को कुछ भय नहीं है ।[2]

इस प्रकार हम देखते है कि अर्जुन के तेज, साहस एवं पराक्रम की सभी प्रशंसा करते हैं ।

लाला श्रीनिवास दास के **तप्ता संवरण'** (सन् १८७४) नाटक★ की कथा महाभारत के आदिपर्व पर आधारित है ।[3] इसमें राजा संवरण और सूर्यकन्या तप्ता की प्रेम कथा का वर्णन है । यह नाटक कालिदास के अभिज्ञान शकुन्तला नाटक की शैली पर लिखा गया है । शकुन्तला नाटक की तरह इसमें भी पत्र-लेखन, ऋषि-शाप एवं शाप-निवारण विधि आदि के प्रसंग पाये जाते हैं ।

यह पांच अंकों का छोटा सा नाटक है । प्रथम अंक में मंगलाचरण और सूत्रधार नटी संवाद है । तप्ता और संवरण प्रथम दर्शन में ही एक दूसरे के प्रति आकृष्ट हो जाते है । दूसरे अंक में ये दोनों प्रेमालाप करते है और साथ ही एक-दूसरे को आत्म-समर्पण । तप्ता प्रथम मिलन के अवसर पर ही संवरण से कहती है—

---

१. भट्ट नाटकावली, पृ० २६ ।

'हमारा हृदय निधि, नयनों की पुतली, फाल्गुणी कहां है ? (अर्जुन को देख) अरे अर्जुन, तूने बड़ा दुख सहा बेटा; हां नष्ट दैव पूर्णिमा का यह पूर्ण चन्द्र दुःखरूपी राहु से कवलित हो रहा है ।'

२. वही, पृ० ३२ ।

★ श्रीनिवासदास, तप्तासंवरण (भूमिका), संस्करण १८८३ ई०,

'तप्तासम्वरण' मेरी प्रथम रचना है और सन् १८७४ ई० के हरिश्चन्द्र मैगज़ीन में मुद्रित हो चुका है इसमें कुछ लोकोपकारी विषय नहीं पाया जाता यह केवल श्रृंगार विषयक पुरानी चाल का एक छोटा सा नाटक है परन्तु सज्जनों ने अपनी स्वाभाविक सज्जनता से इसका यहां तक आदर किया कि गुजराती भाषा में इसका अनुवाद होकर मुम्बई के 'बुद्धिवर्धक' नामी प्रसिद्ध मासिक पत्र में प्रकाशित हुआ ।'

पुस्तकाकार रूप में यह नाटक प्रथम बार सन् १८८३ में छपा ।

महाभारत, आदिपर्व, अध्याय १७०-१७२ ।

'हम से इनको बहुत हैं, इनसे हमको एक ।
कमलन को रबि एक है, रवि को कमल अनेक ।।'[1]

तप्ता संवरण के गले में पुष्प-माला पहनाती है ।[2] वहीं पर गौतम ऋषि आ जाते है । प्रेमोन्मत्त संवरण से उचित आदर-सत्कार न पाकर वे उसे यह शाप दे देते हैं—'कि जिसके ध्यान से यह इस समय अपने तन मन की सुधि विसर गया है वह इसे न पहचाने ।'[3] परन्तु बाद में राजा संवरण की अनुनय-विनय पर गौतम ऋषि का मन द्रवित हो जाता है । वे उसे यह वर देते हैं कि जब तेरी प्रिया तेरे शरीर का स्पर्श करेगी, उसी समय यह शाप मिट जायगा और भगवान् की कृपा से तुम्हारी मनोऽभिलाषा पूरी होगी ।

तीसरे अंक में संवरण के वियोग मे तप्ता की मानसिक दशा का चित्रण किया गया है । वह उसके वियोग में इतनी कृशकाय हो जाती है कि हाथों में कंगन नहीं टिक पाता । इसी अंक में वह संवरण के नाम पत्र लिखती है ।[4] वह अपनी सखी सुन्दरी से कहती है—

---

१. तप्ता संवरण नाटक, पृ० १२ ।

२. महाभारत में यह प्रसंग नही है । महाभारत की तप्ता बड़ी संयमी है । इसमें जब संवरण तप्ता को गांधर्व-विवाह की श्रेष्ठता बतलाता है और इसी पद्धति द्वारा उसे पाना चाहता है तो उस समय वह उससे इस प्रकार मर्यादापूर्ण वचन कहती है—'कि मेरे पिता विद्यमान है । इसलिए उनके रहते मेरा अपने शरीर पर कोई अधिकार नही है । अतः आप मुझे पाने के लिए मेरे पिता से मांग लीजिए ।' (आदिपर्व), ।।१७१।१६,२०।।

३. तप्ता संवरण नाटक, पृ० १५ ।
(शाप-प्रसंग में तप्ता संवरण नाटक तथा शकुन्तला नाटक में इतना अन्तर है कि पहले में गौतम ऋषि संवरण को शाप देते है और दूसरे में दुर्वासा ऋषि शकुन्तला को शाप देते है ।)

४. तप्ता संवरण, पृ० २० ।
'चतुर शिरोमणि प्रेमनिधि, मो चकोर के चंद ।
निज दर्शन से दृगन कों, कब दै हौ आनन्द ।।
मन चाहत है मिलन कों, मुख देखन कों नैन ।
श्रवन सुन्यो चाहत सदा, पिय प्यारे के बैन ।।
तुम बिन इतनी को करै, दया भाव मम नाथ ।
मोहि अकेली जान कै, राख दियो दुख साथ ।।*

'सजनी मन तो एक है, ये न भये दस बीस।
सो प्यारे में लग गयो, कौन भजे जगदीश ।।'[1]

तप्ता के ये शब्द संवरण के प्रति अनन्य प्रेम के सूचक हैं। तप्ता योगिनी के वेश मे संवरण को ढूढने निकलती है। उधर से संवरण तप्ता को ढूढते ढूढते वहां आ जाता है। संवरण उसे पहचान लेता है परन्तु तप्ता गौतम ऋषि के शाप के प्रभाव-स्वरूप उसे नही पहचानती। सवरण उसे पिछली बातों का स्मरण कराता है, परन्तु तप्ता उसकी बातों पर विश्वास नहीं करती। इस पर इन दोनों में विवाद हो जाता है। तप्ता क्रोध से वहां से उठकर चल देती है। संवरण भी चला चाता है।

चतुर्थ अंक में संवरण अपने मित्र कमलाकर से अपने हृदयोद्गार प्रकट करता है। उसे ऐसा लगता है जैसे कि प्रकृतिगत सभी जड़-चेतन पदार्थ उसकी हंसी उड़ाते हैं। वह तप्ता के वियोग में अचेत हो जाता है। कमलाकर उसके मुंह को कपड़े से ढक कर नेपथ्य में चला जाता है। यहीं पर योगिनी वेश में तप्ता अपनी सखी चन्द्रकला के साथ आती है। वह अचेतावस्था में पड़े संवरण के बुड़बुड़ाने का शब्द सुनती है। वह उसके समीप जाकर उसके मुंह से वस्त्र को हटाती है। तप्ता को संवरण के अंग-स्पर्श से पिछली सभी बातें स्मरण हो

---

* मैं तुम कूं नहिं सुमरि हो, तुम नित सुमरो मोहि।
सुमरण चित को धर्म है, हर लीनो तुम सोहि ।।
प्यारे तेरे बिरह में, रह्यो अधर जी आय।
अब का आज्ञा होत है, रहै कि फिर घट जाय ।।
तन मन जोबन डूबियो, प्रेम ध्वजा फहरन्त ।।
कहन सुनन की बात नहिं, पढ़ी लिखी नहिं जात।
अपने जी से जानियो, मेरे जी की बात ।।
अन्तिम दोनों पंक्तियों का भाव नाटककार ने बिहारी के निम्न दोहे से ग्रहण किया है :—
कागद पर लिखत न बनत, कहत संदेसु लजात।
कहिहै सब तेरौ हियौ, मेरे हिय की बात ।।

१. तप्ता संवरण, तीसरा अंक
इन पंक्तियों के भाव के लिए नाटककार सूरदास का ऋणी है—
'ऊधौ मन न भए दस बीस।
एक हुतौ सो गयौ स्याम संग, कौ अवराधै ईस ।।'
(नन्द दुलारे वाजपेयी द्वारा संपादित, सूरसागर दशमस्कंध, ४३४४)

आती हैं और वह उसकी ऐसी दशा देखकर बड़ा विलाप करती है। इतने में संवरण की चेतना आ जाती है और दोनों एक दूसरे से मिलते हैं।

पांचवें अंक में संवरण गुरू वशिष्ठ को स्मरण करता है। वे राजा संवरण के अभीष्ट-लाभ के लिए सूर्य भगवान् की स्तुति करते हैं। सूर्य भगवान् प्रसन्न होकर वहां आते हैं और वशिष्ठ से वर मांगने के लिए कहते हैं। वे उनसे वांछित वर मांगते है। सूर्य भगवान् की कृपा से तप्ता और संवरण का विवाह सम्पन्न होता है और नाटक समाप्त हो जाता है।

संवरण इस नाटक का नायक है। नाटककार ने संवरण के पौराणिक चरित्र की रक्षा की है। उसे एक सफल प्रेमी के रूप में चित्रित किया गया है। तप्ता के प्रति वह प्रथम-दर्शन में ही आसक्त हो जाता है। भावुक प्रेमी के अतिरिक्त उसके चरित्र का और कोई पक्ष नहीं उभर सका। अतः चरित्र-विकास की दृष्टि से यह कोई उत्कृष्ट रचना नहीं है।

बालक अभिमन्यु के वीर चरित्र को आधार बनाकर मुरादाबाद निवासी शालिग्राम वैश्य ने '**अभिमन्यु नाटक**' (१८९६) लिखा। चूंकि दुर्योधन, दुःशासन आदि सात वीरों ने अन्यायपूर्ण ढंग से अभिमन्यु का वध किया था अतः इसे 'वीरकलंक' नाम भी दिया जा सकता है। ऐसा नाटक के अन्त में नाटककार ने लिखा है। इसे लिखने की प्रेरणा उन्हें पण्डित नारायणदास से मिली।[1] इस नाटक में दस अंक हैं। नाटक के आरम्भ में कर्ण, दुर्योधन द्वारा अपमानित होकर गुरु द्रोणाचार्य अर्जुन की अनुपस्थिति में व्यूह-रचना बनाकर किसी न किसी पाण्डव वीर के वध का प्रण करते हैं। पाण्डवों की ओर से अभिमन्यु शत्रुपक्ष की सेना-संहार की प्रतिज्ञा करता है। युद्ध में जाने से पूर्व वह उत्तरा और सुभद्रा से मिलने जाता है और वे दोनों ही युद्ध में न जाने के लिए अनुरोध करती हैं, परन्तु अन्ततः अभिमन्यु माता सुभद्रा से जाने की अनुमति लेने में सफल हो जाता है। युद्ध में वह अकेला वीर कुरु सेना के असंख्य वीरों का वध करता है, परन्तु बाद में दुर्योधन आदि के द्वारा अन्यायपूर्ण रीति से मारा जाता है। अर्जुन जब कृष्ण के साथ वापस आते है और उन्हें अभिमन्यु वध की सूचना मिलती है तब वह जयद्रथ-वध का प्रण करते हैं। अर्जुन कृष्ण की योगमाया की सहायता से जयद्रथ-वध करने में सफल होते है और नाटक समाप्त हो जाता है।

नाटक में नायक अभिमन्यु और उसके पिता अर्जुन के वीरता एवं पराक्रम-पूर्ण कृत्यों का उल्लेख किया गया है। राधेश्याम कथावाचक का 'वीर अभिमन्यु' नाटक भाव की दृष्टि से इसी 'अभिमन्यु नाटक' का रूपान्तर है। इस नाटक

---

१. अभिमन्यु नाटक, संस्करण १९२०, उपोद्घात, पृ० १३।

का विवेचन विस्तार से आगे किया गया है।

सावित्री-सत्यवान की प्रसिद्ध पौराणिक कथा को लेकर भी इस युग में दो-चार नाटक लिखे गये। महाभारत तथा मत्स्य पुराण में सावित्री-सत्यवान का कथा-प्रसंग आता है।[१] सर्वप्रथम भारतेन्दु जी ने **'सती प्रताप'** (१८८३) नाम से एक नाटक लिखा परन्तु दुर्भाग्यवश वह पूर्ण न हो सका। इसके केवल चार दृश्य ही मिलते हैं। बाद में सन् १८९२ में बाबू राधा कृष्णदास ने इसे पूर्ण किया।[२] बाबू जी की अनुकरण-चातुरी के विषय में बाबू ब्रजरत्नदास लिखते हैं—'अनुकरण करने की इनकी शक्ति सराहनीय है और इस प्रकार इस नाटक को पूरा किया कि यदि बतलाया न जाये तो कोई नहीं कह सकता कि इन्होंने कितना अंग लिखा था।'[३]

'सती प्रताप' नायिकाप्रधान नाटक है। नाटक की नायिका सावित्री और नायक सत्यवान है। नाटककार ने नायक के पौराणिक व्यक्तित्व की रक्षा की है। सावित्री भद्र देश के जयन्ती नाम की नगरी के राजा अश्वपति की कन्या है। एक दिन वह अपनी सखियों के साथ वन में घूमने जाती है। वहां पर वह शाल्व देश के राजा द्युमत्सेन के पुत्र सत्यवान के दर्शन करती है। प्रथम दर्शन में ही वह उसके प्रति आसक्त हो जाती है। सत्यवान का यह दुर्भाग्य है कि वह माता-पिता की वृद्धावस्था, असमर्थता और उस पर भी उनकी दृष्टि-विहीनता की दशा में वनों में भटक रहा है। वह अपनी ओर से उनकी सेवा-शुश्रूषा खूब करता है, फिर भी उसे मानसिक शान्ति नहीं मिल पाती। एक ओर दारिद्रय-दुख और उस पर भी अशान्त मन। यही उसकी जटिल समस्या है। वह कहता है—'धन्य विधाता! दरिद्र को धनवान् और धनवान् को दरिद्र करना तो तुम्हें एक खेल है। किन्तु दरिद्र बना के फिर क्यों कष्ट देते हो। दारिद्रय ही सही, पर मन को तो शान्ति दो। भला दो घड़ी भी वृद्ध माता-पिता की सेवा करने पावें।'[४]

---

१. महाभारत, वनपर्व, अध्याय २९३-२९९, मत्स्य पुराण, अध्याय २०८-२१४।

२. 'इस रूपक के पहले चार दृश्यों को भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने लिखा था। पीछे से सन् १८९२ में बाबू राधाकृष्णदास ने उसकी पूर्ति की। इसमें सावित्री-सत्यवान की कथा दृश्य रूपक में दिखाई गई है।'
—सम्पादक, राधाकृष्णदास ग्रन्थावली

३. ब्रजरत्नदास, हिन्दी नाट्य साहित्य, संस्करण-संवत् २००६, पृ० १२९।

४. ब्रजरत्नदास, भारतेन्दु नाटकावली (प्रथम भाग), द्वितीय संस्करण, पृ० ४८४।

सत्यवान एक राजकुमार है। गणक लोगों ने उसके पिता को बतला रखा है कि वह अल्पायु है। घोर संकट के दिनों को भी वह भगवान का खेल समझता है। उसे दुख इसी बात का है कि उसे मानसिक शान्ति नहीं मिल पाती। वह मातृ एवं पितृ-सेवी है। अतीत के स्वर्णिम सुखद क्षणों की स्मृति जब उसके हृदय को कचोटती है तो वह अपने माता-पिता के बारे में सोचता है—'हाय! प्रासादों में स्फटिक की छत पर चलने में जिनके चरण को कष्ट होता था आज वह कंटकमय पथ में नंगे पांव फिर रहे हैं और दुग्ध फेन सी सेज के बदले आज मृग-चर्म पर सोते हैं।'[1] वन में वृक्ष से गिर जाने पर वह अचेत हो जाता है और जब बीच में उसे कुछ क्षणों के लिए चेतना आती है, तो उस समय भी उसे अपने माता-पिता का ध्यान बराबर बना रहता है। वह सन्देश रूप में सावित्री से कहता है—'पिता से मेरा बहुत तरह से प्रणाम कहना और कहना कि मुझे इस बात का बड़ा खेद है कि मैं आपकी सेवा बहुत कम करने पाया, मेरे अपराधों को आप क्षमा करें। मातृ-चरणों में मेरा प्रणाम पहुंचाना। मुझे बड़ा ही दुःख है कि मैं अन्त समय उनके दर्शन न कर सका। तुम अपने सास, ससुर की सेवा बड़ी सावधानता से करना, भगवान् के चरणों में सदा स्नेह रखना...[2]

वह अत्यन्त रूपवान् है। सावित्री प्रथम दर्शन में ही उसके प्रति आकृष्ट हो जाती है। वह स्वयं भी उसके प्रति आसक्त हो जाता है। वह वन की शोभा का अंकुर है जिसे पति प्राणा सावित्री ने अभिसिंचित कर विकसित किया है। वह सावित्री को पाकर अपने को धन्य मानता है।[3] वह अतिथि-सेवी भी है। मधुकरी आदि को वह आतिथ्य-ग्रहण करने के लिए कहता है। ईश्वर तथा भाग्य में उसकी अटल आस्था है।

भरतपुर निवासी कन्हैयालाल कपूर ने सावित्री-सत्यवान की कथा के आधार पर '**शीलसावित्री नाटक**' [१८९७] लिखा। इसको लिखने के लिए नाटककार ने शकुंतला नाटक, सत्यहरिश्चन्द्र नाटक, सुखसागर, सत्य धर्मामृत वर्षिणी इत्यादि पुस्तकों से सहायता ली है।[4] इसमें नाटककार ने यथासम्भव

---

१. सं० ब्रजरत्नदास, भारतेन्दु नाटकावली (प्रथम भाग), पृ० ४८३।

२. वही, पृ० ५०५-५०६।

३. वही, पृ० ५०३।

'मेरी प्राण! धन्य हमारे भाग्य जो तुम सी नारी हमने पाई। हमारे ऐसा बडभागी कोई स्वर्ग में भी न होगा।'

४. शील सावित्री नाटक; प्रस्तावना

पौराणिक तथ्यों की रक्षा की है। नाटककार ने सत्यवान को एक आदर्श पुत्र और सावित्री को आदर्श भारतीय ललना के रूप में चित्रित किया है। वह अपने आप को अभागा तो समझता है परन्तु साथ ही 'गतं न शोचामि कृतं न मन्ये'— ऐसा भी वह सोचता है। नारद सावित्री के पिता अश्वपति से सत्यवान के गुणों का इस प्रकार वर्णन करते हैं—'राजन्! मैं सत्य कहता हूं उस राजपुत्र का शरीर प्रियदर्शनता से और अन्तः करण बुद्धि से प्रकाशमान् है, विद्या, संतोष, सत्य वक्तृता, स्थिरता, साहस और इन्द्रियदमन आदि गुणों में परिपूर्ण है, शूरता में इन्द्र के समान है, धर्मज्ञ आज्ञाकारी दुष्टों का शत्रु और सज्जनों का हितकारी है, तेज में सूर्य, बुद्धि में बृहस्पति, क्षमा में पृथ्वी, शक्ति और दान में संक्रांति के पुत्र रंतिदेव, उदारता में ययाति और बल, वीर्य में अश्वनीकुमार से भी श्रेष्ठ है। निदान सर्वगुण सम्पन्न है। इस पृथ्वी पर यदि कोई मनुष्य आपकी कन्या के योग्य है तो सत्यवान ही है सर्वभांति से 'यथानाम तथा गुणः' है।'[1]

राधाकृष्णदास के सतीप्रताप नाटक में नायक सत्यवान जब वृक्ष से गिर कर अचेत हो जाता है और इस बीच जब-तब उसे कुछ देर के लिए चेतना आती है, उस समय वह सावित्री से अपने पिता के लिए संदेश भेजता है परन्तु शीलसावित्री नाटक में ऐसा नहीं होता। वैसे भाषा-शैली की दृष्टि से नाटक साधारण ही कहा जा सकता है।

राधाकृष्णदास तथा कन्हैयालाल कपूर ने अपने नाटकों में पौराणिक तत्वों की रक्षा की है परन्तु देवराज ने अपने **'सावित्री नाटक'** [सन् १६००] मे पौराणिकता को हटाने का प्रयास किया है। नाटक की भूमिका में लेखक ने कहा है—'पाठक पाठिकागणों को विदित हो जावे कि प्राचीन समय में बाल-विवाह की रीति प्रचलित न थी, शिक्षा प्रचार था और स्त्रियों को वेदादि सत्य शास्त्रों तक के पढ़ने का अधिकार था। चतुर और धर्मात्मा स्त्रियां किस प्रकार अपने पति की सहायता कर सकती हैं।' नाटक में सर्वत्र नाटककार का दृष्टि-कोण आर्यसमाजी रहा है। इसमें यमराज को एक दुष्ट राजा के रूप में चित्रित किया गया है जो बलपूर्वक द्युमत्सेन से उसका राज्य छीन लेता है और सत्यवान को फांसी देने के लिए बाध लेता है। परन्तु नाटक के अन्त में नाटककार स्वयं ही इस बौद्धिकता की रक्षा न कर यमराज के द्वारा सावित्री को धार्मिक पुत्रों के होने का वरदान दिलवा देता है। समूचे नाटक में यमराज को एक मनुष्य के रूप में चित्रित करने के अतिरिक्त और कोई विशेष बात नहीं है।

इस युग के नाटककारों के लिए भक्त प्रह्लाद का चरित्र भी विशेष

१. शीलसावित्री नाटक, संस्करण १६२३ पृ० ३६।

आकर्षण का विषय रहा है। भक्त प्रह्लाद पर इस युग में पांच नाटक लिखे गये। मोहन लाल विष्णु पण्डया ने सन् १८७४ में **'प्रह्लाद नाटक'** लिखा जिसका केवल पहला अंक ही उसी वर्ष की हरिश्चन्द्र मैगज़ीन के अप्रैल अंक मे प्रकाशित हुआ। आज नाटक का बस इतना अंश ही प्राप्य है। राम गयाप्रसाद दीन ने भी १८८२ में **'प्रह्लाद नाटक'** लिखा। महाराजदीन दीक्षित ने स्वांग शैली का **'प्रह्लाद नाटक'** १९०० में लिखा। इस नाटक में लेखक ने गद्य के लिए वारतिक' शब्द का प्रयोग किया है। जगन्नाथ शरणकृत **'प्रह्लाद चरित्रामृत'** [१९००] एक साधारण नाटक हैं।

प्रह्लाद चरित्र पर लिखे गये सभी नाटकों में लाला श्रीनिवास दास के 'प्रह्लाद चरित्र' ने विशेष ख्याति प्राप्त की है। इस नाटक के बारे में डाक्टर सोमनाथ गुप्त लिखते हैं—'लाला जी के नाटक को एक विद्वान् की सम्मति के अनुसार उनका लिखा न मानकर उनके पुत्र का ही बताया जाता है।'[1] परन्तु डाक्टर साहब ने उस विद्वान् का नाम नहीं दिया। नाटक के सन् १८९५ के संस्करण से कही भी इस बात का संकेत नहीं मिलता कि यह नाटक लाला जी का अपना न होकर उनके सुपुत्र द्वारा प्रणीत है।

भक्त प्रह्लाद की अनुपम भगवद्भक्ति का उल्लेख भागवत तथा विष्णु पुराण में आता है।[2] प्रह्लाद चरित्र पर इस युग में जितने भी नाटक लिखे गये, उन का आधार यही ग्रन्थ हैं। लाला श्री निवासदास के 'प्रह्लाद चरित्र' की कथा भी इन्हीं ग्रन्थों पर आधारित है। नाटक में लेखक ने अंक के स्थान पर 'दृश्य' शब्द का प्रयोग किया है।

नाटक के आरम्भ में प्रस्तावना है। सनतकुमार जय विजय को पृथ्वी पर जाकर असुर-योनि में जन्म लेने का शाप देते हैं। श्री नारायण सनक को बतलाते है कि यह शाप प्रह्लाद के रूप में संसार के लिए हितकारी होगा। वे कहते है 'निस्सन्देह संसारी जीवों के उद्धार के लिए एक उत्तम दृष्टान्त होगा वह धन हानि, मान हानि, पितृ कोप, राजभय, समाजभय, प्राणभय, छोड़ अकुतोभय हो, सत्य का पक्ष, धर्म में आस्था और हमारे चरणारविन्द में दृढ़ विश्वास दिखावैगा, परोपकार बुद्धि से संसारी जीवों की मुक्ति के लिए आप नरकवास अंगीकार करैगा, उसके दर्शन से ही नहीं उसके चरित्रों का अनुभव करने से भी संसारी जीव मुक्त होंगे।'[3]

---

१. डाक्टर सोमनाथ गुप्त, हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास, पृ० ६४।

२. श्रीमद्भागवत्, सप्तमस्कंध, अध्याय ३-१०; विष्णु पुराण, अध्याय १७-२०।

३. प्रह्लाद चरित्र नाटक, पृ० ८।

स्पष्ट है कि भगवद् भक्ति की प्रतिष्ठा प्रह्लाद के चरित्र के माध्यम से दिखाना ही नाटककार का उद्देश्य है। बालक प्रह्लाद भगवान् को प्राणमय समझता है। उसकी माता कयाधु को इसी बात की चिन्ता है कि यदि उसके पिता हिरण्यकशिपु ने उसके मुंह से भगवद्-भजन सुन लिया तो वह प्रह्लाद को मरवा देगा। वह अपने पुत्र को ऐसा करने से मना करती है लेकिन निर्भीक प्रह्लाद कब माता की मानता है। वह कहता है—

'हरिनामें पाषाण तरै। माता वृथा काहे डरै ।।
जब पिता की गोद जाऊं। भुज उठाय हरिहि गाऊं ।।
पिता भी हमारा ओ! मां! हरि गुण सुन प्रीति करे ।।'[1]

गुरु शुक्राचार्य की अनुपस्थिति में षण्डामर्क से जब प्रह्लाद थोड़े दिनों के लिए पढ़ते है तो वहां भी उनके द्वारा रोके जाने पर भी वे भगवद्-भजन नहीं छोड़ते। बालक प्रह्लाद गम्भीर दार्शनिकों की तरह उन्हें समझाते हुए कहते हैं—'श्री हरि की अपार दया तो देखिए, कि जब बालक गर्भ में आता है तब उसके जन्म से पहिले उसकी माता के स्तन में दूध भर जाता है और जब विमुख प्राणियों पर उनकी ऐसी कृपा है तो जो लोग विश्वास सहित सब तज कर हरि भजेंगे उनकी रक्षा क्यों न होगी ? जो धोखा है अपने मन का है, जो दुःख है सो अपने मन की कचाई से है। श्री हरि की ओर से हित होने में कुछ सन्देह नहीं हो सकता है।[2] षण्डामर्क प्रह्लाद को उसके पिता के पास चलने के लिए कहता है। निर्भीक बालक उसके इस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लेता है।[3] प्रह्लाद अपने पिता के समक्ष भी हरिनाम की महत्ता बतलाता है। पिता-पुत्र में खूब तर्क-वितर्क होता है। प्रह्लाद अपने पिता को सांसारिक सुख-वैभव की नश्वरता के बारे में समझाता है—'आज आप चक्रवर्ती बन गये परन्तु मरे पीछे ये वैभव आपके किस काम आयेगा ? आप कहां से आये ? कहां जाओगे ? क्या लाये ? क्या ले जाओगे ? आप कौन हो ? आपका कौन

---

१. प्रह्लाद चरित्र नाटक, पृ० १६।
२. वही, पृ० २६-२७।
३. वही, पृ० २७-२८।
'चलिये पिता के पास चलने को मैं तैयार हूं। मैं प्राण दूंगा पर हरि भजन कभी न छोड़ूंगा। शरीर की क्या ? यह तो क्षणभंगुर है। इसका नाश तो एक दिन होना ही है, फिर ये देह हरि के हेत लगे तो इससे अधिक और क्या लाभ होगा ? यह देहधारियों की प्राप्ति को रोकती इसलिए मुझ को इसके रखने का कुछ लालच नहीं।'

है ? जब आपको इन बातों की भी कुछ खबर नहीं तो फिर आपको कौनसी बात पर इतना अभिमान है ? और नाशवान् पदार्थो के ऊपर आप इतना क्या फूले फिरते हो ?"[१]

आत्मा परमात्मा का सनातन दास है, ऐसा प्रह्लाद का विश्वास है। इसीलिए वह पिता के रोकने पर भी हरि-भजन नहीं छोड़ता। हिरण्यकशिपु घातक गणों को उसे मारने की आज्ञा देता है। एक घातक प्रह्लाद के गले पर तलवार मारता है परन्तु उसकी तलवार टूट जाती है। तब हिरण्यकशिपु उसे हाथी के नीचे कुचलवाने का आदेश देता है लेकिन हाथी उसे अपनी सूंड पर बैठा लेता है। कारागार में उसके लिए विषान्न भेजा जाता है। भगवान् स्वयं उस अन्न को खाते हैं और अपने भक्त को भी खिलाते हैं परन्तु हिरण्यकशिपु को आते देख भगवान् अन्तर्धान हो जाते है। तदनन्तर हिरण्यकशिपु षण्डामर्क के साथ प्रह्लाद को जीवित ही अग्नि में जला देने की आज्ञा देता है परन्तु प्रह्लाद जीवित ही बचकर बाहर निकल आता है। फिर उसे शिला के साथ बांधकर समुद्र में फेंक दिया जाता है। प्रह्लाद का फिर भी बाल बाका नहीं होता। प्रह्लाद अपने पिता को एक बार और भगवान् की सर्वव्यापकता के बारे मे समझाने का असफल प्रयास करता है। अन्त में जब हिरण्यकशिपु स्वयं उसे मारने का प्रयास करता है, तभी भगवान् नृसिह अवतार का रूप धारण कर अपने शत्रु हिरण्यकशिपु का संहार करते है। प्रह्लाद भगवान् से सविनय निवेदन करता है—'स्वामी दास का तो स्वभाव ही दुःख भोगने का पड़ गया है। सब जीवों का मोक्ष हो जाये और उनके बदले दास को नरकवास हो।'[२] नाटक के अन्त में भगवान् अपने भक्त प्रह्लाद को यह वरदान देते है—'तेरा उज्ज्वल चरित्र ही उनके लिए आम उपाय है। संसारी लोगों को बंधन से छूट कर हमारे मार्ग में निष्ठ होने के लिए तेरा उदार चरित्र परम उपकारक होगा। इसको देखकर बहुत जीवों को हमारे चरणों में प्रीति होगी और तू हमारे दोस्तों में अग्रगण्य होगा।'[३]

कथावस्तु एवं चरित्र विकास की दृष्टि से यह नाटक साधारण ही कहा जा सकता है। लेखक ने यथासम्भव प्रह्लाद के अलौकिक एवं पौराणिक चरित्र की रक्षा करने का प्रयास किया है। बालक प्रह्लाद नाटक का नायक है जो भगवान् का भक्त है। निर्भीकता उसका विशेष गुण है। अलौकिकता का

---

१. प्रह्लाद चरित्र नाटक, पृ० ३४-३५।

२. प्रह्लाद चरित्र, पृ० ६५।

३. प्रह्लाद चरित्र, पृ० ६६।

अधिक समावेश होने के कारण उसके चरित्र में यथार्थता का अभाव है। भाषा और संवाद की दृष्टि से भी नाटक बड़ा शिथिल है।

कार्त्तिक प्रसाद खत्री के **'ऊषा हरण'** नाटक की कथा श्रीमद्भागवत पुराण पर आधारित है।[1] केवल ३० पृष्ठों के इस छोटे से नाटक में चार अंक हैं। नाटक में प्रस्तावना आदि कुछ भी नहीं है। प्रथम अंक में ऊषा अनिरुद्ध को स्वप्न में देखती है परन्तु लज्जावश वह उससे उसका नाम-धाम भी नहीं पूछ पाती। स्वप्न में ही प्रथम दर्शन में वह अनिरुद्ध के प्रति आकृष्ट हो जाती है। जागने पर वह अनिरुद्ध के वियोग में अत्यन्त सन्तप्त हो जाती है। उसकी सखी चित्रलेखा* गन्धर्वों, दानवों, दैत्यों, नागलोकवासी पुरुषों, देवताओं, यदु-वंशी आदि के चित्रों को चित्रित कर उसे इस विचार से दिखाती है कि वह उनमें से अपने प्रेमी को बताये और तदनन्तर उसे ढूंढ़ कर लाने की व्यवस्था की जाये। ऊषा अनिरुद्ध के चित्र पर अंगुली रखती है। चित्रलेखा उसे बतलाती है कि यह रति का पुत्र और द्वारकाधीश कृष्ण का पौत्र है। वह अपनी अन्य सखियों को साथ लेकर अनिरुद्ध को लाने के लिए चल देती है।—इधर अनिरुद्ध भी स्वप्न में ऊषा के साथ आलिंगन के सुख का अनुभव करता है। ऊषा की सखियां सोये हुए अनिरुद्ध को पलंग समेत उठाकर शून्य मार्ग से ले जाती हैं।

दूसरे अंक में शोणितपुर के प्रमोदकानन में ऊषा-अनिरुद्ध की भेंट होती है। रानी संध्या के समय जब ऊषा के महल में आती है तो देखती है कि उसके शीश महल के किवाड़ बन्द हैं और भीतर से पासों की खड़क सुनाई पड़ रही है। यह देखकर वह वापस लौट जाती है और उसका मन चिन्तित हो जाता है। ऊषा के महल को बाणासुर आदि दैत्य घेर लेते हैं। सखियां ऊषा को छिपा देती है। अनिरुद्ध मन्त्र-बल से एक शिला का आवाहन कर उन दैत्यों से युद्ध करता है। अनेक दैत्यों का संहार कर वह ऊषा के पिता बाणासुर के नागपाश में बंध जाता है। वह ब्रह्मा के वचनों की रक्षा हेतु अपने आपको उस नागपाश से नहीं छुड़वाता। इतने में वहां नारद आ जाते हैं और अनिरुद्ध से यह कहकर चले जाते हैं कि मैं अभी द्वारका जाकर यह समाचार दूंगा जिससे यदु-सैन्य बाणासुर पर आक्रमण करके ऊषा सहित तुम्हें छुड़ा ले जायेगी।

तीसरे अंक में ऊषा अनिरुद्ध के विरह में दुःखी होती है। चित्रलेखा उसे सात्वना देती हुई कहती है—'क्या तैंने अपने नेत्रों से नहीं देखा कि एक शिला

---

१. श्रीमद्भागवत, स्कन्ध १०, अध्याय ६२-६३।

* श्रीमद्भागवत में चित्रलेखा की अपेक्षा चित्ररेखा नाम दिया गया है।

प्रहार से क्षणमात्र मे सारी सैन्य को मार गिराया ? वह तो केवल ब्रह्मा का मान्य रखने को आप जान-बूझ कर नागपाश मे बंध गये है, इससे ऐसा कभी न समझ कि वह हार गये है और फिर अभी मैं देखे चली आती हूं कि देवर्षि नारद अभी कुमार अनिरुद्ध से मिलने आये थे और कह गये है कि मैं द्वारका में समाचार देने जाता हूं ।[1] इसी अंक में बाणासुर का श्रीकृष्ण तथा उसकी सेना से घोर युद्ध होता है । शिवजी श्रीकृष्ण से अपने दास बाणासुर के लिए अभयदान मागते हैं ।

चौथे अंक में शिवजी की आज्ञा से ऊषा का अनिरुद्ध के साथ विधिपूर्वक विवाह सम्पन्न होता है । बरात के विदा होने पर सखियों के मंगलाचार के साथ नाटक समाप्त हो जाता है ।

इस नाटक के नायक अनिरुद्ध और नायिका ऊषा है । अनिरुद्ध कृष्ण का पौत्र तथा प्रद्युम्न का पुत्र है । वह रूपवान्, पराक्रमी, साहसी और सुन्दर है । वह अकेला ही बाणासुर की सेना का मुकावला करता है और अनेक दैत्यों का संहार भी करता है। उसमें धीरललित नायक के सभी गुण विद्यमान हैं ।

नाटक में लेखक ने श्रीकृष्ण को संयमी पुरुष के रूप में न दिखलाकर स्त्रियों के पीछे मारे-मारे फिरने वाले व्यक्ति के रूप में चित्रित किया है। चित्रलेखा ऊषा से कहती है—'क्या तैने यह भी नही सुना कि जिस किसी राजा की रूपवती कन्या होती है उसे किसी न किसी छल बल से श्रीकृष्ण चन्द्र ब्याह लाते है...।'[2] वैसे लेखक ने कृष्ण के रसिक रूप के साथ-साथ उनके अतुल पराक्रम का संकेत भी बाणासुर युद्ध प्रसंग में कर दिया है ।

कुंवर हरिपाल सिंह के 'ऊषानिरुद्ध नाटक'* की कथा भी कार्त्तिक प्रसाद

---

१. कार्त्तिक प्रसाद खत्री, ऊषा हरण नाटक (संस्करण सन् १८६१), पृ० १६ ।

२. वही, पृ० २० ।

* इस नाटक का रचनाकाल नाटककार ने नाटक के अन्त में १८६६ दिया है । उसके अनुसार—

श्री राधावल्लभ चरण, कमल नाय निज भाल ।
नाटक कीन्हि समाप्त यह, सुखप्रद जन हरिपाल ।।
सोहिलामउ निवास मम, सिकरवार कुल जानि ।
तिलकसिंह मम जनक है, परम विज्ञ गुण खानि ।।
कार्त्तिक सितिपक्ष पंचमी, क्षपानाथ वर वार ।
रस शरग्रह चन्द्राब्द मह, पुस्तक भई

इस नाटक का प्रकाशन काल १६०२ है ।

के 'ऊषा हरण नाटक' जैसी है। इस में सात अंक हैं। नाटककार ने नान्दी, प्रस्तावना आदि का समावेश कर नाटक को प्राचीन परिपाटी के अनुरूप बनाने की चेष्टा की है, फिर भी भाषा-शैली की दृष्टि से नाटक साधारण ही बन पड़ा है और नाटककार पारसी शैली के कुप्रभाव से अपनी रक्षा नहीं कर सका। चित्रलेखा जब ऊषा के लिए अनिरुद्ध की खोज में उसके महल में जाती है, जहां वह विरहाग्नि से सन्तप्त पड़ा होता है—उस समय का अनिरुद्ध का चित्रलेखा के प्रति व्यवहार श्लील एवं शोभनीय नहीं कहा जा सकता। उसमें सस्ती पारसी मंच की मांसल शृंगारिकता स्पष्ट दिखाई देती है। यही नहीं कई स्थानों पर नाटककार ने अनिरुद्ध के द्वारा चित्रलेखा के लिए ऊषा की उपस्थिति में भी 'प्यारी' शब्द का सम्बोधन करवाया है। नाटककार ने कृष्ण को 'ऊषाहरण' नाटक के कृष्ण के समान रसिक रूप में कहीं भी चित्रित नहीं किया है। शिव जी ने उन्हें साक्षात् ब्रह्म माना है।[1]

भारतेन्दु कृत **'सत्य हरिश्चन्द्र'** (१८७४) नाटक की गणना न केवल भारतेन्दु के अपितु उस युग के श्रेष्ठ नाटकों में की जाती है। इस नाटक की कथा मार्कण्डेय पुराण पर आधारित है।[2] यद्यपि नाटक की कथावस्तु पौराणिक है फिर भी उस में सामयिक चित्रणों की झलक यत्र तत्र देखी जा सकती है। इस नाटक की मौलिकता के बारे में विद्वानों में मतभेद है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इसे बंगला के एक नाटक का अनुवाद मानते हैं[3] परन्तु उन्होंने न तो उस बंगला नाटक का नाम दिया है और न ही उसका रचनाकाल। डाक्टर दशरथ ओझा इसे अनूदित न मानकर मौलिक रचना स्वीकार करते हैं।[4]

भारतेन्दु जी ने नाटक के उपक्रम में क्षेमीश्वर कवि कृत चण्डकौशिक नाटक का उल्लेख किया है[5] परन्तु उससे न तो यह स्पष्ट होता है कि यह

१. ऊषानिरुद्ध नाटक, संस्करण १९०२, पृ० ९९।

२. मार्कण्डेय पुराण, अध्याय ७-८।

३. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास (संस्करण २०१४) पृ० ४२२।

४. डॉ० दशरथ ओझा, हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, पृ० २१४।

५. भारतेन्दु नाटकावली (प्रथम भाग); पृ० २७।

'इसकी कथा शास्त्रों में बहुत प्रसिद्ध है और संस्कृत में राजा महीपाल देव के समय में आर्य क्षेमीश्वर* कवि ने चण्डकौशिक नामक नाटक इन्हीं हरिश्चन्द्र के चरित्र में बनाया है। अनुमान होता है कि इस नाटक को बने चार सौ बरस से ऊपर हुए क्योंकि विश्वनाथ कविराज ने अपने साहित्य-ग्रन्थ में इसका नाम लिखा है।'

नाटक 'चण्डकौशिक का अनुवाद है अथवा उससे रूपान्तरित। सम्भवतः उन्होंने मात्र सूचनार्थ चण्डकौशिक का उल्लेख कर दिया है। डाक्टर सोमनाथ गुप्त ने भारतेन्दु के इसी वक्तव्य को ध्यान में रखते हुए अपने प्रबन्ध में चण्डकौशिक और सत्य हरिश्चन्द्र इन दोनों नाटकों की तुलना करके दूसरे को पहले का रूपान्तरित माना है और इस प्रकार उसकी मौलिकता पर सन्देह प्रकट किया है। वे लिखते हैं—'अपनी सम्पूर्ण स्थिति में हरिश्चन्द्र न तो एकदम मौलिक ही है और न बिल्कुल अनुवाद ही। यदि हम उसे रूपान्तरित मान लें तो किसी प्रकार के विवाद के लिए स्थान नहीं रह जाता। × × × अतएव कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, उद्देश्य और इन सबके विकास एवं प्रतिपादन को देखकर यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सत्य हरिश्चन्द्र मौलिक रचना न होकर रूपान्तरित रचना है जिसमें लेखक की मौलिकता अधिक और अनुवाद की मात्रा कम है।'[1] इसके उत्तर में डाक्टर दशरथ ओझा लिखते हैं—'डाक्टर सोमनाथ ने उपर्युक्त मत के समर्थन में, जिन स्थलों का उद्धरण 'चण्डकौशिक' और 'सत्यहरिश्चन्द्र' से देकर सत्य हरिश्चन्द्र को चण्डकौशिक का उस सीमा तक अनुवाद माना है, वे ही स्थल भारतेन्दु की मौलिकता के प्रमाण कहे जा सकते है।'[2] वस्तुस्थिति यह है कि भारतेन्दु जी के 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक का ढांचा चण्डकौशिक पर आधारित तो है परन्तु उसमें लेखक ने सर्वत्र अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। चण्डकौशिक में क्षेमीश्वर ने विश्वामित्र के चरित्र को अधिक महत्व दिया है और सत्य हरिश्चन्द्र में राजा हरिश्चन्द्र के चरित्र को। जहां कहीं भारतेन्दु जी ने चण्डकौशिक के श्लोकों का हिन्दी में अनुवाद किया है, उसमें अधिक मार्मिकता, वाग्-विदग्धता तथा वर्णन की

---

* ए. बी. कीथ (संस्कृत ड्रामा; पृ० २३६) तथा श्री बलदेव उपाध्याय (संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ५६८) के अनुसार क्षेमीश्वर कवि राजशेखर के समकालीन थे और कन्नौज नरेश राजा महीपाल के सभा पण्डित थे। महीपाल अपने पिता राजा महेन्द्रपाल की मृत्यु के बाद राजा बनते हैं और वे सन् ६१४ मे वर्तमान थे। अतः भारतेन्दु द्वारा चण्डकौशिक का समय अपने से चार सौ वर्ष पूर्व मानना ऐतिहासिकता के विरुद्ध है।

१. हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास, पृ० ४२, ४३।

२. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, पृ० २१३।

उत्कृष्टता है ।[1] अतः 'सत्य हरिश्चन्द्र नाटक की गणना भारतेन्दु जी के मौलिक नाटकों में ही की जानी चाहिए ।

भारतेन्दु युग के आदर्श चरित प्रधान नाटकों में 'सत्य हरिश्चन्द्र' का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है । नाटक के महत्वपूर्ण पात्र हैं—राजा हरिश्चन्द्र, विश्वामित्र और इन्द्र । हरिश्चन्द्र सारे इतिवृत्त का केन्द्र-बिन्दु है । प्रथम अंक में इन्द्र की सभा में नारद मुनि आते हैं और वे इन्द्र से अयोध्यापति सूर्यकुलशिरोमणि राजा हरिश्चन्द्र के निष्कपट एवं अकृत्रिम स्वभाव की चर्चा करते हैं । नारद की बाते सुनकर इन्द्र के मन में ईर्ष्या भाव जाग्रत होता है । वे नारद से हरिश्चन्द्र की 'सत्य-परीक्षा' लेने का प्रस्ताव रखते है । इस पर नारद उन्हें उत्तर देते हैं—'राजन् ! आपको यह सब सोचना बहुत अयोग्य है । ईश्वर ने आपको बडा किया है, तो आपको दूसरों की उन्नति और उत्तमता पर सन्तोष करना चाहिए । ईर्ष्या करना तो क्षुद्राशयों का काम है । महाशय वही है जो दूसरों की बड़ाई से अपनी बड़ाई समझे ।'[2] परन्तु इन्द्र नारद के वचनों को कब मानने वाले थे । इतने में मुनि विश्वामित्र उनकी सभा में आ जाते है । इन्द्र उन्हें इस काम के लिए उपयुक्त समझ कर इस प्रकार उकसाते है—'भला सत्यधर्म-पालन क्या हंसी-खेल है ? यह आप ऐसे महात्माओं ही का काम है, जिन्होने घर बार छोड़ दिया है । भला राज करके और घर में रह के मनुष्य क्या धर्म का हठ करेगा । और फिर कोई परीक्षा लेता तो मालूम पड़ती । इन्हीं बातों से तो नारद जी बिना बात ही अप्रसन्न हुए ।'[3] इस पर विश्वामित्र जी क्रोधपूर्वक वचन कहते है—'मैं अभी देखता हूं न । जो हरिश्चन्द्र को तेजोभ्रष्ट न किया तो मेरा नाम विश्वामित्र नहीं । भला मेरे सामने वह क्या सत्यवादी बनेगा और क्या दानीपने का अभिमान करेगा ?'[4]

---

१. चण्डकौशिक, पृ० ६३ ।

आत्मानमेव विक्रीय सत्यं रक्षामि शाश्वतम् ।
यस्मिन्न रक्षिते नून लोकद्वयमरक्षितम् ।।

सत्यहरिश्चन्द्र (भारतेन्दु नाटकावली), पृ० ५८ ।

वेचि देह द्वारा सुअन, होय दास हूं मंद ।
रखि है निज बच सत्य करि, अभिमानी हरिचन्द ।।

२. भारतेन्दु नाटकावली (प्रथम भाग), पृ० ४५ ।

३. वही, पृ० ४८ ।

४. वही, पृ० ४८ ।

द्वितीय अंक में रानी शैव्या एक बुरा स्वप्न देखती है। वह पहले अपनी सखी से उसका वर्णन करती है[1] और फिर महाराज के पधारने पर उनसे भी निवेदन करती है। वे उसे शास्त्र और ईश्वर में आस्था रखने को कहते है।[2] हरिश्चन्द्र रानी को अपना स्वप्न भी सुनाते है---'स्वप्न तो कुछ हमने भी देखा है (चिन्तापूर्वक स्मरण करके) हां, यह देखा है कि एक क्रोधी ब्राह्मण विद्या साधन करने को सब दिव्य महाविद्याओं को खींचता है और जब मैं स्त्री जानकर उनको बचाने गया हूँ तो वह मुझी से रुष्ट हो गया है और फिर जब बड़े विनय से मैंने उसे मनाया है तो उसने मुझ से मेरा सारा राज्य मांगा है, मैंने उसे प्रसन्न करने को अपना सब राज्य दे दिया × × × मैं यह सोचता हूं अब मैं उस ब्राह्मण को कहां पाऊंगा और बिना उसकी थाती उसे सौंपे भोजन कैसे करूंगा ?'[3]

ब्राह्मण वेशधारी विश्वामित्र हरिश्चन्द्र के पास आते है और स्वप्न में दी गई पृथ्वी मांगते है। वे उसे क्षत्रियाधर्म, सूर्यकुल कलंक, मिथ्याधर्माभिमानी, मिथ्या दानवीर आदि सम्बोधनों से भी सम्बोधित करते है। राजा सहर्ष उन्हे अपना सारा राज्य दान कर देते है। विश्वामित्र इस महादान की इनसे दक्षिणा मागते है। राजा मन्त्री को राजकोष में से इसके लिए दस सहस्र मुद्राएं लाने के लिए कहते है।[4] इस पर विश्वामित्र क्रोधपूर्ण वचन कहते है—'मन्त्री ! दस हज़ार स्वर्ण मुद्रा अभी लाओ। मन्त्री कहां से लावेगा ? क्या अब खजाना तेरा है ? झूठा कहीं का। देना नहीं था तो मुंह से कहा क्यों ? चल मैं नहीं लेता

१. भारतेन्दु नाटकावली (प्रथम भाग), पृ० ४६।

'महाराज को तो मैंने सारे अंग में भस्म लगाये देखा है और अपने को बाल खोले, और (आंखों में आंसू भर कर) रोहिताश्व को देखा है कि सांप काट गया है।'

२. वही, पृ० ५३।

'शास्त्र और ईश्वर पर विश्वास रखो, सब कल्याण होगा। सदा सर्वदा सहज मंगल-साधन करते भी जो आपत्ति आ पड़े तो उसे निरी ईश्वर की इच्छा ही समझ के सन्तोष करना चाहिए।'

३. वही, पृ० ५३।

४. मार्कण्डेय पुराण में मन्त्री द्वारा मद्राएं देने का प्रसंग नही है। उसमें तो राजा दक्षिणा देने के लिए विश्वामित्र से कुछ समय की अवधि मांगते हैं।

ऐसे मनुष्य की दक्षिणा।'[1] राजा सविनय उनसे अपने इस अपराध की क्षमा याचना करते हैं। विश्वामित्र उन्हें एक मास में दक्षिणा न मिलने पर कठिन ब्रह्मदण्ड देने की बात कहते है। इस पर हरिश्चन्द्र उन्हें विनय भाव से उत्तर देते हैं—'महाराज, मैं ब्रह्मदण्ड से उतना नहीं डरता जितना सत्य-दण्ड से। इससे—

बेचि देह दारा सुअन, होइ दास हूं मंद।
रखि है निज वच सत्य करि, अभिमानी हरिचन्द ॥'[2]

तृतीय अंक में हरिश्चन्द्र शैव्या तथा रोहिताश्व सहित अपने को बेच कर विश्वामित्र की दक्षिणा चुकाते हैं। शैव्या तो उपाध्याय के हाथ बेची जाती है और राजा स्वयं डोम वेश में धर्म के यहां बिक जाते हैं। विश्वामित्र का ऋण चुका देने पर वे मन ही मन बड़े प्रसन्न होते हैं। वे अपने मन में कहते हैं—

ऋण छूट्यो पूर्‌यो बचन, द्विजहु न दीनो साप।
सत्य पालि चंडाल हू होइ आजु मोहि दाप ॥'[3]

चतुर्थ अंक में धर्म कापालिक के वेश में, ब्रह्मा, विष्णु, महेश के वेश में तीनों महाविद्याएं तथा अष्ट महासिद्धि, नवनिधि और बारहों प्रयोग आदि देवता राजा हरिश्चन्द्र को सत्य पथ से विचलित करने का असफल प्रयास करते है। इसी अंक में सांप से डसे मृत रोहिताश्व को लेकर शैव्या श्मशान में विलाप करती हुई आती है। मृत-पुत्र तथा विलाप करती हुई शैव्या को देखकर कुछ क्षणों के लिए वे अपने धैर्य को खो बैठते हैं। पुत्र शोक और पत्नी के दारुण दु:ख को देखकर उनके मन में आत्महत्या का भाव आता है और फिर दूसरे ही क्षण इसे अधर्म और पाप कृत्य जान कर अपने को फांसी लगाने से रोकते हैं। वे अपने कर्तव्य को पहचान लेते हैं। प्रेम और कर्तव्य के संघर्ष में कर्तव्य की विजय होती है।[4] इस स्थल पर नाटककार ने बड़े ही सुन्दर ढंग से हरिश्चन्द्र

---

१. भारतेन्दु नाटकावली (प्रथम भाग) पृ० ५७।
२. वही, पृ० ५८।
३. वही, पृ० ७६।
४. मार्कण्डेय पुराण में हरिश्चन्द्र इसके विपरीत आचरण करता है। उसमें हरिश्चन्द्र शैव्या के मुंह से पुत्र रोहिताश्व की मृत्यु का दु:खद वृत्तान्त सुनकर पृथ्वी पर गिर जाते है और पुत्र-मोह के कारण मृत पुत्र का मुख जीभ से चाटने लगते हैं (देखिए ८।२२२) और रानी से कहते है कि आओ, हम दोनों प्रार्थना करें और शीघ्र ही रोहिताश्व के पास पहुंचें।

मानसिक अन्तर्द्वन्द्व को दिखाया है ।[1] हरिश्चन्द्र स्वयं ही अपने कर्तव्य को नहीं निभाते, अपितु वे शैव्या को भी, जब वह पुत्र-शोक से बहुत संतप्त होकर आत्महत्या करने लगती है, आड़ में खड़े होकर उसके कर्तव्य के प्रति इस प्रकार सचेत करते हैं—

'तनहिं बेचि दासी कहवाई।
भरत स्वामि-आयसु विनु पाई ।।
करुं न अधर्म सोच जिय माहीं।
'पराधीन सपने सुख नाही ।।'[2]

जब शैव्या चिता बनाकर पुत्र के पास आकर उसे उठाना चाहती है तो हरिश्चन्द्र बलपूर्वक अपने आंसुओं को रोककर उससे कहते हैं—'महाभागे ! श्मशानपति की आज्ञा है कि आधा कफ़न दिए बिना कोई मुरदा फूकने न पावे सो तुम भी पहले हमें कपड़ा दे लो तब क्रिया करो।'[3] इससे बढ़कर कठिन परीक्षा और क्या हो सकती है । हरिश्चन्द्र कफ़न मांगने के लिए हाथ बढ़ाते ही है कि इतने में आकाश से पुष्प-वृष्टि होती है और साथ ही यह आकाश भाषित होता है—

'अहो, धैर्य्यमहो सत्यमहो दानमहो बलम् ।
त्वया राजन् हरिश्चन्द्र सर्व्व लोकोत्तरं कृतम् ।।[4]'

शैव्या यह देखकर बड़ी आश्चर्य-चकित होती है । शैव्या हरिश्चन्द्र को

---

१. भारतेन्दु नाटकावली (प्रथम भाग), पृ० १०१ ।
'गोविंद ! गोविंद ! यह मैंने क्या अनर्थ अधर्म विचारा ! भला दास को अपने शरीर पर क्या अधिकार था कि मैंने प्राण-त्याग करना चाहा । भगवान् सूर्य इसी क्षण के हेतु अनुशासन करते थे । नारायण ! नारायण ! इस इच्छा-कृत मानसिक पाप से कैसे उद्धार होगा ? हे सर्व्वा-तर्यामी जगदीश्वर ! क्षमा करना । दुःख से मनुष्य की बुद्धि ठिकाने नही रहती । अब तो मैं चांडाल कुल का दास हूं । न अब शैव्या मेरी स्त्री है और न रोहिताश्व मेरा पुत्र । चलूं, अपने स्वामी के काम पर सावधान हो जाऊं, वा देखू, अब दुःखिनी शैव्या क्या करनी है ?'

२. भारतेन्दु नाटकावली (प्रथम भाग), पृ० १०२ ।

३. वही, पृ० १०३ ।
(मार्कण्डेय पुराण में हरिश्चन्द्र द्वारा शैव्या से कफ़न मांगने का प्रसंग नहीं है ।)

४. वही, पृ० १०३ ।

पहचान लेती है और अधीर हो जाती है। ऐसे घोर संकट के समय में भी हरिश्चन्द्र अपनी पत्नी शैव्या को धैर्य, धर्म और कर्तव्यनिष्ठा के प्रति सचेत करते हुए कहते है—'प्यारी ! रो मत। ऐसे समय में तो धीरज और धर्म रखना काम है। मैं जिसका दास हूं उसकी आज्ञा है कि बिना आधा कफ़न लिए क्रिया मत करने दो। इसमें मैं यदि अपनी स्त्री और अपना पुत्र समझ कर तुम से इसका आधा कफ़न न लू तो बड़ा अधर्म हो। जिस हरिश्चन्द्र ने उदय से अस्त तक की पृथ्वी के लिए धर्म न छोड़ा उसका धर्म आधा गज कपड़े के वास्ते मत छुड़ाओ और कफ़न से जल्दी आधा कपड़ा फाड़ दो।'[१] शैव्या कफ़न का आधा भाग फाड़ कर राजा को देना ही चाहती है कि आकाश से पुष्पवृष्टि होती है और भगवान् नारायण स्वयं प्रकट होकर रोहिताश्व को जीवित करते हैं। अन्य देवतागण सहित इन्द्र और विश्वामित्र भी वहां आकर आशीर्वाद देते है। विश्वामित्र अपने छलपूर्ण कृत्य की हरिश्चन्द्र से क्षमा मागते हैं और सारे षड्यन्त्र का रहस्य बताते हैं। भगवान् नारायण के अनुरोध पर हरिश्चन्द्र दो वर मांगते हैं। एक तो यह कि उनकी प्रजा भी उनके साथ बैकुण्ठ जाये और दूसरे, सत्य सदा पृथ्वी पर स्थिर रहे। अन्त में भरत-वाक्य की सफलता की कामना के साथ नाटक समाप्त होता है।

प्रस्तुत नाटक के नायक के बारे में राम गोपाल सिंह चौहान लिखते है—'यह एक विवाद का प्रश्न है कि इस नाटक का नायक कौन है ? कार्य व्यापार के अनुसार विश्वामित्र नायक ठहरते हैं किन्तु फल प्राप्ति के अनुसार राजा हरिश्चन्द्र। विश्वामित्र को प्रतिनायक मानना ही अधिक युक्ति-संगत प्रतीत होता है।'[२] इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक के मुख्य पात्र राजा हरिश्चन्द्र के समान विश्वामित्र का चरित्र भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। परन्तु मात्र कार्य-व्यापार का संचालन सूत्र विश्वामित्र में होने के कारण उसे ही नायक माना जाना चाहिए, यह कोई तर्क नहीं है। यदि नायक-निर्णय का आधार इसे ही मान लिया जाये तो इस दृष्टि से इन्द्र का महत्व भी विश्वामित्र से कम नहीं माना जा सकता। क्योंकि विश्वामित्र को भी प्रेरणा देने वाला इन्द्र है और इस दृष्टि से विश्वामित्र की अपेक्षा इन्द्र को ही नायक मानना चाहिए परन्तु नाटककार को ऐसा मान्य नहीं था। नाटक के 'उपक्रम' में लेखक ने नाटक लिखने के उद्देश्य को इस प्रकार स्पष्ट किया है—'मेरे मित्र बाबू बालेश्वर प्रसाद बी० ए० ने मुझसे कहा कि आप कोई ऐसा

---

१. भारतेन्दु नाटकावली (प्रथम भाग), पृ० १०४-१०५।

२. भारतेन्दु साहित्य, पृ० १३०।

नाटक भी लिखें जो लड़कों के पढ़ने-पढ़ाने के योग्य हों, क्योंकि शृंगार रस के आपने जो नाटक लिखे है, वे बड़े लोगों के पढ़ने के है, लड़कों को उनसे कोई लाभ नहीं। उन्ही के इच्छानुसार मैंने यह सत्य हरिश्चन्द्र नामक रूपक लिखा है।'[1] और उपक्रम के अन्त में लिखा हैं—'इस भारतवर्ष में उत्पन्न और इन्हीं हम लोगों के पूर्व पुरुष महाराज हरिश्चन्द्र भी थे। यह समझ कर इस नाटक के पढ़ने वाले कुछ भी अपना चरित्र सुधारेंगे तो कवि का परिश्रम सुफल होगा।'[2]

भारतेन्दु के उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होने नाटक को एक विशेष आदर्श की सिद्धि हेतु लिखा है, जिसकी पूर्ति उनके अपने दृष्टि-कोण से भी हरिश्चन्द्र द्वारा ही सम्भव है, विश्वामित्र को नायक मानकर नहीं। वस्तुतः हरिश्चन्द्र में ही भारतेन्दु जी के अपने जीवन-दर्शन एवं आदर्शो का प्रतिनिधित्व करने की शक्ति है।

नाटक की आधिकारिक कथा का सम्बन्ध भी हरिश्चन्द्र से है और वही उसके मूल फल का उपभोक्ता भी है। प्रत्येक अंक की घटनाओं का विवरण विश्वामित्र की अपेक्षा हरिश्चन्द्र से अधिक सम्बन्धित है। विश्वामित्र तो बीच बीच में आकर कथानक को गति देकर चले जाते हैं। यदि नाटक मे नाटककार का उद्देश्य विश्वामित्र के चरित्र को महत्व प्रदान करने का होता है, तो हरिश्चन्द्र का चरित्र नाटक में इतना सशक्त तथा महत्वपूर्ण न बन पाता। यही नहीं, नाटक में सामाजिकों की सहानुभूति भी विश्वामित्र की अपेक्षा हरिश्चन्द्र के प्रति बनी रहती है। उनका हृदय हरिश्चन्द्र के उत्थान एवं पतन की कहानी में अधिक रमता है। इस प्रकार हम देखते है कि नाटक का नायक विश्वामित्र न होकर हरिश्चन्द्र ही है। विश्वामित्र को प्रतिनायक ही माना जा सकता है। इन्द्र को भी प्रतिनायक की कोटि में रखा जा सकता है क्योंकि उसमें विश्वामित्र के समान ही गुण हैं। स्यात् यह अपने युग का ऐसा प्रथम नाटक माना जा सकता है जिसमें एक नायक के विरुद्ध नाटककार ने दो प्रतिनायकों की कल्पना की है। ये दोनों ही प्रतिनायक नायक के जीवन में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से संघर्ष की वृद्धि करने में सहायक हुए है। दोनों का उद्देश्य राजा हरिश्चन्द्र को सत्य के इस आदर्श से—

चन्द टरै सूरज टरै, टरै जगत ब्यौहार।
पै दृढ़ श्री हरिचन्द को, टरै न सत्य विचार॥

---

१. भारतेन्दु नाटकावली (प्रथम भाग), पृ० २७।
२. वही, पृ० ३१।

विचलित करना है। इसके लिए विश्वामित्र उन्हें अनेक कष्ट देते है परन्तु अन्त मे राजा की निश्चल सत्यवादिता, धैर्यशीलता, संकल्प-दृढ़ता, दानशीलता एव चारित्रिक उदात्तता के समक्ष उन्हें परास्त होना पड़ता है और वे प्रसन्न होकर उन्हें उसका राज्य-वैभव वापस लौटा देते हैं। नाटककार ने राजा हरिश्चन्द्र के चरित्र में मानवीय मनोभावों का संघर्ष दिखलाकर जहां उसे लौकिक रूप प्रदान किया है, साथ ही उनके चारित्रिक उदात्तत्व की बराबर रक्षा की है। वे स्वभाव से बड़े गम्भीर, क्रोध आदि मनोविकारों से रहित, ब्राह्मणों का आदर-सत्कार करने वाले, दृढव्रती तथा विनम्रता आदि गुणों से युक्त हैं।

नायक के स्वरूप विकास की दृष्टि से भारतेन्दु का यह नाटक अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है। दशरूपककार के अनुसार धीरशान्त नायक का ब्राह्मण अथवा वैश्य होना अनिवार्य है परन्तु नाटक का नायक हरिश्चन्द्र जन्मजात ब्राह्मण अथवा वैश्य न होकर गुणों से धीरशान्त है। स्पष्ट है कि इस युग का नाटककार शास्त्रीय दृष्टिकोण के एकान्त परिपालन मे आबद्ध नहीं परिलक्षित होता। नाटक के अनेक स्थलों पर हरिश्चन्द्र के मानसिक संघर्ष की अभिव्यक्ति भी नायक के स्वरूप के विकास में एक नवीन दिशा का स्पष्ट संकेत कर रही है। पश्चिमी नाटकों मे इस संघर्ष का बाह्य संघर्ष की अपेक्षा भी अधिक महत्व है। हमारे प्राचीन नाटकों में मानसिक संघर्ष के इस मात्रा में चित्रण का प्रायः अभाव है। इस नाटक के नायक के चरित्र-चित्रण से यह स्पष्ट हो जाता है कि पश्चिमी नाट्य साहित्य के सम्पर्क का प्रभाव उत्तरोत्तर अधिक प्रबल होता जा रहा है।

भरतपुर निवासी बाबू मंगलसिंह वासव श्रीमाल के पुत्र कन्हैया लाल ने सन् १८९९ मे जैन ग्रन्थों[1] के आधार पर **अंजना सुन्दरी'** नाटक की रचना की।[2]

---

१. पउम चरिउ तथा जैन पद्म, (रविषेणाचार्य) पर्व १५-१८ सं० ५० का सं०।

२. इस नाटक की प्रति पंजाब विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में सुरक्षित है। नाटक की अंग्रेज़ी भूमिका में इसका समय सन् १८९९ दिया है। इस प्रति का संस्करण सन् १९०९ है, पता नहीं बाबू व्रजरत्नदास (हिन्दी नाट्य साहित्य, संस्करण सं० २००६, पृ० १४६) ने इसका रचनाकाल सन् १९०० डाक्टर सोमनाथ गुप्त (हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास, संस्करण १९५८, पृ० ६५), डा० देवर्षि सनाढ्य (हिन्दी के पौराणिक नाटक, संस्करण प्रथम, पृ० १४२) १९०१, तथा डाक्टर दशरथ ओझा (हिन्दी नाटक, उद्भव और विकास, संस्करण प्रथम, पृ० २७७) ने १९०१ कैसे दे दिया है।

इसमें नाटककार ने पवनजय और अंजना की प्रेम कथा तथा हनुमान के जन्म की कथा का वर्णन किया है।* यद्यपि नाटक की कथा पौराणिक है, तथापि नाटककार को इसमें पौराणिक तथ्यों की रक्षा करना अभीष्ट नहीं था। नाटक की भूमिका में लेखक ने इस बात को स्पष्ट किया है कि इस नाटक मे उसका उद्देश्य पौराणिक कथा को वर्णित करना नहीं है अपितु एक रोचक एव उपदेशात्मक कथानक के द्वारा वर्तमान युग में नारी की दुर्दशा को चित्रित करना है।[१]

नाटक में पाच अक है। आरम्भ में नान्दी और मंगलाचरण है। आदित्यपुर के राजा प्रह्लाद अपने पुत्र पवनजय का विवाह महेन्द्रपुर के राजा महेन्द्र की कन्या अजना के साथ करने के प्रस्ताव को स्वीकार कर लेते है। परन्तु महेन्द्र के मन्त्री कुमति उन को अजना का विवाह हिरण्यप्रभु के पुत्र विद्युत्प्रभु से जिसको सौदामिनी भी कहते हे, करने का सुझाव देते है। महेन्द्र इस प्रस्ताव को नहीं मानते। कुमति अजना के प्रह्लाद के साथ विवाह को रोकने के लिए मिश्रकेशी को अपने षड्यन्त्र में साथ मिलाते हैं। एक दिन मानसरोवर के तट पर अंजना अपनी सखियों के साथ जाती है। प्रह्लाद और उसका मित्र प्रहस्त वहां झाड़ियों में छिपकर उसे देखते है। मिश्रकेशी अजना के समक्ष विद्युत्प्रभु के गुणों की प्रशसा करती है। इससे प्रह्लाद के मन मे यह सदेह

---

* इस नाटक में हनुमान के पूर्वजों को वानर न मानकर मनुष्य रूप में चित्रित किया है।

१. अंजना सुन्दरी नाटक, अग्रेज़ी भूमिका —

"Since the publication of my primary work "Shil Savitri Natak", having found that it has met the appreciation of men of leading and light as an instructive story for the young women of India, I have been cherishing innumerable new ideas for the betterment of the moral condition of the fair sex, and in order to lay them before the public in an interesting drama, I have selected this story so that it may be both novelty and didactic. From the notes on the little page my readers should not guess that I am going to relate a religious story. It is only for its being a useful apparatus to give vent to my sincere ideas that I placed my choice on it, that all the Hindi knowing public might take interest in the story, I have made it a general instructive comedy, without any regard to the religious sentiments. My chief aim by its publication is to show the ennobling elegance of the female friendship which the chief ornament of prosperity, and the only consolation in adversity, and the dangers of the violation of the marriage bed."

पैदा हो जाता है कि अंजना उसे न चाहकर विद्युत्प्रभु को चाहती है और वह उसके साथ विवाह न करने का निश्चय कर लेता है। परन्तु अपने पिता प्रह्लाद की आज्ञा से वह विवाह के लिए उद्यत हो जाता है। लेकिन साथ ही यह निश्चय कर लेता है कि वह इस दुश्चरित्रा का मुंह तक नही देखेगा। विवाह के पश्चात् अंजना को एक पृथक् भवन रहने के लिए दे दिया जाता है। अंजना अपने पति के इस प्रकार विमुख होने के कारण बड़ी दुखी होती है। वह उसे एक प्रेम पत्र भी भेजती है, परन्तु इसका भी पवनजय के हृदय पर कोई प्रभाव नही पड़ता। इधर पवनजय प्रहस्त के साथ अपने पिता की आज्ञानुसार वरुण के विरुद्ध रावण की सहायतार्थ प्रस्थान करता है। मार्ग में रत्नसागर के तट पर वृक्षों के समूह में क्रौंच पक्षी द्वारा चक्रवाक की हत्या कर चक्रवाकी की विक्षुब्ध दशा को देखकर उसे अपनी पत्नी अंजना का ध्यान हो आता है। वह सोचता है कि 'मेरा विवाह भी मानसरोवर के तट पर हुआ था। हाय! उस बेचारी दुखिया की जिसका मैं ऐसा अनादर करके आया हूं क्या दशा होगी? प्रियतम का वियोग पतिव्रता स्त्री से नहीं सहा जाता। मैं कैसा कठोर हृदय निर्दयी हूं जो अपनी प्रिया को ऐसा कष्ट देता हूं? उस विचारी का क्या अपराध है। यदि विद्युत्प्रभु की प्रशंसा की तो उसकी दासी ने की, स्वयं प्राण प्यारी ने कुछ कहा भी नहीं। हा शोक! इतने दिवस से मेरी बुद्धि कहां चली गई, चकवी से एक क्षण भर का वियोग नहीं सहा जाता वह सुन्दरी कैसे सहती होगी? धिक्कार है मेरी मूर्खता पर बिना विचारे ऐसी प्राणवल्लभा को इतने दिवस तक महाकष्ट दिया।'[१] परिणामस्वरूप वह अपनी प्रियतमा को मिलने के लिए इतना विह्वल हो जाता है कि रातों रात वह आदित्यपुर वापस जाकर अजना से मिलता है और अपने अपराध की क्षमा याचना करता है। अगले दिन चलते समय वह अपनी मुद्रिका उतारकर अंजना को दे जाता है।

तदनन्तर कुछ दिनों के बाद अंजना के गर्भवती होने की बात सुनकर प्रह्लाद और उसकी पत्नी केतुमती उसे कुल कलंकिनी समझ कर घर से निकाल देते हैं। वह मुद्रिका दिखाने की सोचती है, परन्तु उसे अपने हाथ की अंगुली में न पाकर बड़ी दुखी होती है क्योंकि अपनी सास और ससुर में विश्वास दिलाने का यही एक मात्र उपाय उसके पास था। अतः वहां से अंजना अपनी सखी बसन्तमाला के साथ अपने पिता के पास शरण के लिए जाती है परन्तु वहा से भी उसे निराश होना पड़ता है। वहां से वे दोनों एक सघन बन में चली जाती हैं। वही पर अजना पुत्र को जन्म देती है जिसका नाम श्रीशैल्य अथवा हनुमान

१. अजना सुन्दरी नाटक, पृ० ५१।

रखा जाता है । अन्त में वह अपने मामा प्रतसूर्य की सहायता से अपने प्रियतम पवनजय के साथ मिलने में सफल होती है ।

नाटक का नायक पवनजय धीरोदात्त है जिसका पर्यवसान ललितत्व में होता है । अंजना के रूप सौन्दर्य की प्रशसा सुनकर वह काम-ज्वर से पीड़ित हो जाता है और किसी भी प्रकार के काम में उसका मन नहीं लगता । उसके मन में उसे देखने की इच्छा पैदा होती है ।

पुरुष स्वभाव से ही सन्देहशील प्रकृति का होता है । उसमें नारी हृदय जैसी उदारता और विशालता नही होती । इसी सन्देहशीलता के कारण अनेक भ्रांतियां पैदा हो जाती हैं जो व्यक्ति के लिए दुखों का कारण बनती है। पवनजय अंजना की सच्चरित्रता पर सन्देह करता है और परिणामस्वरूप उनका वैवाहिक जीवन दिन प्रतिदिन अत्यन्त दुखी होता चला जाता है । वह अंजना से इसी विचार से विवाह करता है कि इससे एक तो पिता की आज्ञा का पालन हो जायगा और साथ ही विवाहोपरान्त वह उसके अधीन हो जायगी । तब वह उसे इच्छानुसार दण्ड दे सकेगा । भारन्तेदु युग के लेखकों को स्त्रियों के प्रति पुरुषों का ऐसा व्यवहार असह्य था । समाज में स्त्रियों की ऐसी दुर्गति के कारण ही इस युग के लेखकों ने अन्य सामाजिक सुधारों के साथ स्त्री की दशा को भी सुधारना चाहा । इस नाटक के लेखक का भी ऐसा ही उद्देश्य है जो उसने नाटक की भूमिका में स्पष्ट कर दिया है ।

समाज में स्त्रियों की दीन-हीन दशा के प्रति हमारे माता-पिता अथवा सास-ससुर भी पर्याप्त सीमा तक ज़िम्मेदार हैं । वे रूढ़िवादिता और जीर्ण-शीर्ण मान्यताओं के शिकार हैं, जिनके कारण उनका अपनी बहु-बेटियों के प्रति दृष्टिकोण सहिष्णुता एवं सहृदयतापूर्ण न होकर अमानवीय है । अंजना सास और ससुर के द्वारा तो ठुकराई जाती है, लेकिन जब वह शरण के लिए अपने माता-पिता के घर आती है तो वे वास्तविकता को जाने बिना सुनी-सुनाई बात के आधार पर ही उसे दुश्चरित्रा एवं कलंकिनी जानकर अपने घर से निकाल देते है ।

पवनजय में एक प्रेमी हृदय की अधीरता भी है । उसके हृदय में अंजना के प्रति प्रेम तभी जागृत होता है जब वह स्वयं ही उसकी सच्चरित्रता के प्रति आश्वस्त हो जाता है । तब वह अपनी मूर्खता पर प्रायश्चित भी करता है और अंजना से अपने अपराध की क्षमा-याचना भी करता है । अंजना तो भारतीय पतिव्रता, सदाचारिणी एवं सुशीला नारी का प्रतिनिधित्व करती है । पति द्वारा बार-बार अनादृत होने पर भी वह हृदय से कभी भी अपने प्रियतम का अहित नही सोचती । अंजना को जब पता चलता है कि पवनजय युद्ध के लिए

प्रस्थान कर रहा है, तभी वह विजयहेतु रण कंकण बांधने के लिए पवनजय के पास जाती है, परन्तु वहां से उसे निराश और अपमानित होकर लौटना पड़ता है। लेकिन जब युद्ध से पूर्व ही चक्रवाकी की घटना से द्रवित होकर पवनजय अपनी पत्नी को मिलने के लिए वापस आता है, तो वह उसका हृदय में स्वागत करती है और पिछली बातों को केवल अपने ही अशुभ कर्मों का फल मानती है। वह उसके दर्शनों से अपने आपको कृत-कृत्य समझती है।

पवनजय आज्ञाकारी, गुणज्ञ और प्रेमी होने के साथ-साथ वीर भी है। रावण को विजयी बनाने का श्रेय पवनजय को ही दिया जा सकता है।

कथा-शिल्प एवं चरित्र-चित्रण की दृष्टि से नाटककार कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' से पर्याप्त प्रभावित है। नाटक में अंजना द्वारा पवनजय को पत्र लिखना और पवनजय का अंजना को अभिज्ञान करवाने के लिए अपनी मुद्रिका देने के भाव नाटककार ने कालिदास के शकुन्तला नाटक से ही ग्रहण किये हैं। शकुन्तला नाटक में दुष्यन्त दुर्वासा के शाप के कारण शकुन्तला के प्रति विमुख हो जाता है और बाद में धीवर द्वारा अंगूठी के मिल जाने पर उसे प्रियतमा का प्रत्यभिज्ञान होता है। 'अंजना-सुन्दरी' में भी पवनजय द्वारा अंजना को मुद्रिका देने का यही प्रयोजन होता है। शकुन्तला को अंगूठी के गुम हो जाने के कारण दारुण दुख सहना पड़ता है और अंजना को भी मुद्रिका के खो जाने पर पर्याप्त यातना सहनी पड़ती है।

ऐतिहासिक नाटकों में नायक

पूर्व भारतेन्दु युग के साहित्य मे ऐतिहासिक नाटकों का सृजन नहीं हुआ। हां, कुछ एक लेखकों का ध्यान पौराणिक कथाओं की ओर अवश्य आकृष्ट हुआ, जिनको उन्होंने अपने नाटकीय काव्यों में नाटकीय रूप देने का प्रयास किया। इतिहास लिखने की परम्परा का श्रीगणेश ही भारतेन्दु युग में होता है। अतः उससे पूर्व ऐतिहासिक नाटकों का लिखा जाना असम्भव ही था। देश की परिस्थितियां भी इसके अनुकुल नहीं थीं। भक्ति युग और तत्पश्चात् रीतिकाल में क्रमशः भक्ति और शृंगारपरक रचनाओं को लिखने की ओर ही अधिकाश लेखकों का ध्यान आकृष्ट हुआ। यद्यपि मध्यकाल में हिन्दू और मुसलमान राजाओं के परस्पर युद्ध होते ही रहते थे और कई कवियों ने अपने अपने आश्रयदाताओं के वीरतापूर्ण कृत्यों का अपनी रचनाओं में प्रशस्तिगान भी किया है, परन्तु उन्हें नाटकीय ढंग से अभिव्यक्ति प्रदान करना उन्हें अभीष्ट न हुआ। वैसे भी इस युग में नाट्य-कला ह्रासावस्था मे थी।

ऐतिहासिक नाटक-रचना के लिए भारतेन्दु युगीन परिस्थितियां विशेषकर

अनुकूल थी। यह देश के नव-जागरण का युग था। रीतिकालीन भोग एव विलासिता की प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप जनता अकर्मण्य, शिथिल एवं अकर्मठता की ओर अग्रसर हो रही थी। इसी परिस्थिति से विदेशी सत्ताओं ने लाभ उठाने का प्रयास किया। अंग्रेज इसमें सफल हुए। परन्तु राजा राममोहन राय प्रभृति समाज सुधारको के प्रयत्नों से भारतीय जनता के विक्षुब्ध हृदय अपने खोये हुए अधिकारों को प्राप्त करने के लिए सजग बने। उनमें राजनैतिक चेतना के अंकुर प्रस्फुटित हुए। यद्यपि सन् सत्तावन की क्रान्ति देश को स्वाधीन बनाने के प्रयास में सफल नही हो सकी, परन्तु सामाजिक एवं राज-नैतिक रूप से समस्त भारतीय जनता को जागृत करने में अवश्य सफल हुई। ये परिस्थितियां ऐतिहासिक नाटक रचना के लिए पर्याप्त अनुकूल सिद्ध हुई। इस युग में जितने भी ऐतिहासिक नाटक लिखे गये, उन सभी में हिन्दू वीरों की प्रशंसा, देश-प्रेम तथा हिन्दुत्व की भावना को जगाने की चेष्टा की गई है और मुसलमान शासकों की निन्दा। अतः इस युग के ऐतिहासिक नाटकों के नायक वीर हैं। नाटककार ने इन वीर नायकों के चरित्रों को प्रणय-गाथाओं के ताने-बाने में बुनने की चेष्टा की है। इन सभी नाटकों में नाटककार एक पूर्व निश्चित आदर्श को लेकर चला है। नाटक का कथानक तथा पात्र इसी आदर्श सिद्धि के उपादान मात्र है।

भारतेन्दु जी के हिन्दी मे ऐतिहासिक नाटकों का सूत्रपात भारतेन्दु जी के **'नीलदेवी'** नाटक (१८८० ई०) से माना जाता है। यह दस दृश्यों की एक दुःखान्त रचना है। पंजाब के क्षत्रिय राजा सूर्यदेव पर अमीर अवदुश्शरीफ खा सूर रात्रि के समय एकाएक आक्रमण कर देता है। अवदुश्शरीफ की सेना राजा को बन्दी बनाने में सफल होती है। वे लोग राजा को मुसलमान बन जाने के लिए कहते है। परन्तु राजा धर्म-परिवर्तन के सुझाव को ठुकरा देता है। इससे अमीर के सैनिक पिजड़े में बन्दी राजा सूर्यदेव पर अस्त्रों से प्रहार करते है। सूर्यदेव भी पिजड़े की एक लोहे की सीख को उखाड़ कर बाहर निकलकर सत्ताइस यवनों को मार कर वीर गति को प्राप्त होता है। इधर सूर्यदेव की पत्नी नीलदेवी अपने पति की हत्या का प्रतिकार लेने के लिए गायिका के छद्मवेश मे अमीर अबदुश्शरीफ के शिविर में जाती है और अवसर पाकर अपनी कटार से उसे मार देती है। कुमार सोमदेव अपने सैनिकों के साथ मुसलमानो का संहार करते है और विजयी बनते है। अन्त में रानी नीलदेवी सती हो जाती है।

यह नाटक नायिका प्रधान है। इसमें भारतेन्दु जी ने देश की स्वतन्त्रता के लिए आत्म-बलिदान करने वाली वीर नारी के आदर्श चरित्र को चित्रित किया

है। नाटक की भूमिका में नाटककार ने नाटक लिखने के उद्देश्य को इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'जिस भाति अंग्रेज़ी स्त्रियां सावधान होती है, पढ़ी लिखी होती है, घर का काम-काज सम्भालती है, अपने संतानगण को शिक्षा देती है, अपना स्वत्व पहचानती हैं, अपनी जाति और अपने देश की सम्पत्ति-विपत्ति को समझती हैं, उसमें सहायता देती हैं, और इतने समुन्नत मनुष्य-जीवन को गृहदास्य और कलह ही में नहीं खोतीं, उसी भांति हमारी गृह-देवियां भी वर्तमान हीनावस्था को उल्लंघन करके कुछ उन्नति प्राप्त करें, यही लालसा है। इस उन्नति-पथ का अवरोधक हम लोगों की वर्तमान कुल-परम्परा-मात्र है और कुछ नहीं है।'[1]

स्पष्ट है कि भारतेन्दु जी भारतीय नारी को उद्‌बुद्ध कर उसे अपनी वर्तमान हीनावस्था को दूर करने की प्रेरणा देते हैं, साथ ही देश-प्रेम की भावना को जागृत करना चाहते हैं। भारतेन्दु जी की देश-भक्ति में आधुनिक राष्ट्रीयता की अपेक्षा हिन्दुत्व-भावना की प्रधानता है। यह उस युग की मांग थी। जब नाटक का नायक राजा सूर्यदेव मुसलमान सैनिकों द्वारा बन्दी बना दिया जाता है और वह पिंजरे में अचेत पड़ा होता है, एक देवता आकर उसके समक्ष गाता है। उस गीत में तत्कालीन समाज का नाटककार ने अच्छा चित्र खींचा है।[2]

---

१. भारतेन्दु नाटकावली (प्रथम भाग), पृ० ४२१-४२२।

२. वही, पृ० ४३६-४३७।

सब भांति दैव प्रतिकूल होइ एहि नासा।
अब तजहु बीर-बर भारत की सब आसा॥
अब सुख-सूरज को उदय नहीं इत ह्वै है।
सो दिन फिर इत अब सपनेहुं नहिं एहै॥
स्वाधीनपनो बल धीरज सबहि नसै है।
मंगलमय भारत भुव मसान ह्वै जैहै॥
दुख ही दुख करि है चारहु ओर प्रकासा।
अब तजहु बीर-बर भारत की सब आसा॥

× × ×

रहे हमहुं कबहुं स्वाधीन आर्य बलधारी।
यह दैहैं जिय सों सब ही बात बिसारी॥
हरि-विमुख, धरम बिनु, धन-बलहीन दुखारी।
आलसी मंद तन छीन छुधित संसारी॥
सुख सों सहि हैं सिर यवन पादुका त्रासा।
अब तजहु बीर-बर भारत की सब आसा॥

देश की ऐसी दीनहीन दशा को दूर करने के लिए नील देवी जैसी वीर-ललनाओं की ही आवश्यकता है ।

नाटक का नायक राजा सूर्यदेव धीरोदात्त गुणों से युक्त है । वह वीर एवं पराक्रमी तो है, परन्तु उसमे दूरदर्शिता का अभाव है । राजा को विश्वास था कि अमीर अब्दुश्शरीफ के सैनिक रात्रि के समय आक्रमण नही करेगे । वह इसे अधर्म-युद्ध समझता था । रानी उनकी इस धारणा पर आशंका प्रकट करती है, परन्तु राजा उसके कथन को कोई महत्व नही देता । बाद में रानी की बात सत्य निकलती है । यवन-सैनिक रात्रि के समय ही आक्रमण करते है और राजा को बन्दी बना लेते हैं । वे लोग उन्हे धर्म-परिवर्तन करने के लिए कहते हैं, परन्तु राजा धर्म-परिवर्तन की अपेक्षा मरना स्वीकार करता है । इस प्रकार वह [illegible] की रक्षा आत्म-बलिदान देकर करता है । नाटककार ने नायक की जिन परिस्थितियों मे मृत्यु दिखलाई है, वह दुखान्तकी के तत्वों के अनुरूप ही है । दुखान्तकी में नायक की मृत्यु के अवसर पर भय और करुणा का संचार किया जाता है, ठीक उसी प्रकार भारतेन्दु जी ने लोहे के पिजरे में अचेत पड़े सूर्यदेव के समक्ष देवता के गीत के द्वारा निराशा एवं अवसादमय वातावरण की सर्जना की है ।

नीलदेवी के समान राधाकृष्णदास का **'महारानी पद्मावती'** नाटक भी नायिका-प्रधान है । इसे लिखने की प्रेरणा लेखक को भारतेन्दु कृत नीलदेवी नाटक से मिली थी ।[1] इस नाटक का रचनाकाल सन् १८८२ है । सर्वप्रथम इसका प्रकाशन 'साहित्य-सुधा-निधि' पत्र में हुआ और तदुपरान्त यह नाटक पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित हुआ । इसमें महारानी चित्तौड़ की प्रसिद्ध ऐतिहासिक कथा का चित्रण किया गया है । दिल्ली का राजा अलाउद्दीन खिलजी चित्तौड़ के राजा रत्नसेन की रानी पद्मावती के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर चितौड़ पर आक्रमण कर देता है और परास्त हो जाता है । हारने पर अलाउद्दीन संधि का प्रस्ताव करता है, लेकिन धोखे से वह राजा रत्नसेन को बन्दी बना कर

---

१. राधाकृष्णदास ग्रन्थावली, नाटक का उपक्रम ।

'पूज्यपाद भाई साहब बाबू हरिश्चन्द्र जी भारतेन्दु ने जब 'नीलदेवी' लिखा, मुझ से आज्ञा की कि भारतवर्ष में अब ऐसे ही नाटकों की आवश्यकता है जो आर्य संतानों को अपने पूर्व पुरुषों का गौरव स्मरण करावें । अतएव तुम कोई नाटक इस चाल का लिखो । उनकी आज्ञा पाते ही मैंने 'महारानी पद्मावती' रूपक में हाथ लगाया और इसे पूर्ण करके पूज्य भाई साहब को दिखलाया ।'

दिल्ली ले जाता है। पद्मावती सात सौ सैनिकों को अपने साथ लेकर रत्नसेन को अलाउद्दीन की कैद से मुक्त करवाने के लिए जाती है। गोरा-बादल की सहायता से रानी रत्नसेन को छुड़वाने में सफल होती है। इससे अलाउद्दीन क्रुद्ध हो जाता है और दूसरी बार चित्तौड़ पर आक्रमण करता है। बहुत से राजपूत क्षत्रियगण युद्ध में काम आते है। अन्त में पद्मावती जौहर का पालन करती है।

महाराणा रत्नसेन धीरोदात्त नायक है। वे भगवान् एक-लिंग के अनन्य उपासक हैं। धर्म तथा ईश्वर के प्रति उनकी आस्था ने उन्हें भीरु नही अपितु, वीर एवं प्रतापी बनाया है। उनमें क्षत्रिय कुलोचित गर्व तथा स्वाभिमान है। वे सच्चे देशभक्त भी है। मातृभूमि की सेवा में वे तन, मन तथा प्राण तक न्यौछावर कर देने को ही सच्ची सेवा मानते है। वे कहते हैं—'यदि यह पामर शरीर अपनी मातृभूमि के कुछ भी काम आवे तो इससे बढ़कर और पुण्य का क्या फल है ?'[१]

रत्नसेन दूरदर्शी होने के साथ-साथ प्रजा को भी बहुत प्रिय है। प्रजा भी अपने देश-भक्त महाराणा के सुख के लिए अपने प्राणों तक का बलिदान करने के लिए सदैव तत्पर रहती है। प्रजा के इस विषय में उद्गार उल्लेखनीय है—'हम शपथ खाकर कहते हैं कि हमको उसी दिन आनन्द होगा जिस दिन हम अपने देश, अपने प्रभु और अपनी महाराणी के लिए प्राण देंगे।'[२]

भारतेन्दु युग देश के नवजागरण का युग था। जनता राजनैतिक एवं सामाजिक क्षेत्र में अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिए सजग एवं सक्रिय हो रही थी। सन् सत्तावन में एक बार देश को विदेशी सत्ता के आतंक से मुक्त करने के प्रयास किये जा चुके थे। असंख्य भारतीयों ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के इस महायज्ञ में अपनी आहुति देकर अपने देश-प्रेम का परिचय दिया था। अतः नाटक मे आये हुए प्रजा के उपर्युक्त विचार विवेच्य युग की परिस्थितियों के अनुरूप ही हैं।

रत्नसेन का पद्मावती पर अगाध प्रेम भी है और उसके विरह में क्षण-क्षण में वे अधीर हो मूर्च्छित हो जाते है। जब पद्मावती आती है तो उनकी दशा ऐसी हो जाती है मानों सूखे धान में पानी पड़ गया हो। अलाउद्दीन की कैद से छूट कर वे देश की रक्षा हेतु उद्यत हो जाते हैं। जब लक्षण कुछ अच्छे नहीं दिखाई पड़ते तो वे व्यथित एवं आकुलमना पद्मावती को समझाते हुए कहते हैं कि वीर क्षत्राणियां जौहर करेंगी और वीर सैनिक रणभूमि में वीरगति प्राप्त

१. राधाकृष्ण दास ग्रन्थावली, पृ० ५८३।

२. वही, पृ० ५६७।

करेंगे । और दूसरी ओर वे सब राजपूतों को मेवाड़ तथा सूर्यवंश और राजपूत कुल की आन की याद दिलाकर युद्ध के लिए उत्साहित एवं प्रेरित करके रणभूमि में प्रस्थान करते हैं। उनकी दृढ़ आस्था है कि 'वीर राजपूतों के जीवन समय तक कोई इस पवित्र भूमि की ओर देखने का साहस नहीं कर सकता···।"[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि नाटककार ने नाटक में नायक के गुणों को परिस्थितियों के परिवेश में उभारने का सफल प्रयास किया है । रत्नसेन में एक आदर्श नायक के गुण विद्यमान है.। वह देश-प्रेमी है, वीर है और सहृदय प्रेमी भी है । नाटककार ने नाटक एवं नायिका के चरित्रों के द्वारा देश-प्रेम एवं हिन्दुत्व की भावना को उभारने की चेष्टा की है । मुसलमानों द्वारा किये गये भारतीयों पर अत्याचारों तथा देश की सामयिक परिस्थितियों एवं दुर्दशा का संकेत भी लेखक ने यथास्थान कर दिया है ।

नाटक में कतिपय बाते इतिहास से कुछ भिन्न भी कही गई हैं । प्रथमतः, अलाउद्दीन का आक्रमण से पूर्व ही रत्नसेन तथा पद्मावती के भाग जाने का समाचार प्राप्त करना, जबकि इतिहास के अनुसार राजपूतों के आक्रमण हो जाने पर ही अलाउद्दीन को इस बात पता चलता है कि रत्नसेन उसकी कैद से मुक्त होकर भाग गया है । दूसरे, नाटक में राजपूतों की सेना तब तक आक्रमण नहीं करती जब तक मुसलमानों की सेना नहीं आ जाती, परन्तु ऐतिहासिक सत्य यह है कि गोरा-बादल ने मुसलमानों की सेना के आगमन से पूर्व ही आक्रमण कर दिया था ।

इस युग के नाटककारों का ध्यान प्रसिद्ध ऐतिहासिक चरित नायक पृथ्वीराज ने भी अपनी ओर आकृष्ट किया । लाला श्री निवास दास ने **'संयोगिता स्वयंवर'** नाटक की रचना १८८५ में की । नाटक की कथा पृथ्वीराज रासो तथा आत्माराम केशव कृत 'पृथ्वीराज चहुआण' पर आधारित है। नाटक के आरम्भिक पृष्ठों में ही नाटककार इस बात की सूचना दे देता है कि स्वयंवर हो चुका है । संयोगिता ने अनादृत पृथ्वीराज की स्वर्ण प्रतिमा के गले में जय-माला डाल दी है । पृथ्वीराज अपने सखा कवि चंद के साथ भृत्य के रूप में राजा जयचन्द के यहा जाते हैं । वहां इन दोनों में परस्पर कहा-सुनी हो जाती है । जयचन्द पृथ्वीराज को पहचान कर उसके डेरे को घेर लेने का आदेश देता है । पृथ्वीराज की आज्ञा से लंगरी राय जयचन्द की सेना के साथ युद्ध करता है । द्वितीय अंक में पृथ्वीराज का संयोगिता से परिचय हो जाता है । तृतीय

---

१. राधाकृष्ण दास ग्रन्थावली, पृ० ६२४ ।

अंक में दोनों पक्षों की सेनाओं मे परस्पर युद्ध होता है। जयचन्द की सेना परास्त हो जाती है। अन्तिम दो अंकों में पृथ्वीराज का सयोगिता को अपने साथ ले जा कर दिल्ली जाने की तैयारी करना तथा गान्धर्व विवाह की सूचना पाकर राजा जयचन्द का अपनी बेटी संयोगिता को दहेज वगैरह देकर बिदा करने की कथा है।

नाटक के नायक पृथ्वीराज धीरोदात्त हैं। वे दिल्लीश्वर है और जयचंद की कन्या संयोगिता के स्वयंवर पर अनादृत किये जाते है और उनकी स्वर्ण प्रतिमा बनाकर राजा जयचन्द उसे द्वार पर रखवा देते है। परन्तु पृथ्वीराज अपने इस अपमान का बदला संयोगिता के साथ गान्धर्व-विवाह करके ले लेते है। वे वीर, पराक्रमी एवं उदार हैं और क्षत्रियोचित समस्त गुणों से युक्त है। संयोगिता के शब्दों में--'किसने शहाबुद्दीन जैसे शत्रु को आठ बार जीत कर हिन्दुओं की नाक रक्खी ? किसने पराजित शत्रुओं को बारम्बार छोड़ कर अपना उदार मन प्रगट किया ? खण्ड मण्डलेश्वर कितने ही हों आज इस पृथ्वी पर उनके सिवाय पृथिवीराज कौन है ?'[१]

वे स्वाभिमानी हैं। अपना अनादर देखकर उनके हृदय मे क्रोध की ज्वाला धधक उठती है। वे कहते हैं—'मैं वहां चलकर अभी जयचन्द का सिर खण्डन करने को तैयार हूं। उस समय के रुकाव से मेरे हृदय में ज्वाला उठ रही है…।'[२] वे युद्धप्रिय हैं और सफल प्रेमी भी। संयोगिता के प्रति उनका अगाध प्रेम है। प्रेम के साथ साथ वे अपने कर्तव्य को नहीं भूलते। उनके निर्भीक स्वभाव एवं धैर्यशील प्रकृति का स्थान-स्थान पर परिचय मिलता है।

इस नाटक में पृथ्वीराज संयोगिता को हरण करके नही ले जाता, अपितु जयचन्द को कवि चन्द के हाथ सूचना भिजवाता है कि उन दोनो ने गान्धर्व विवाह कर लिया है। तदनन्तर जयचंद स्वयं कन्यादान करके दोनों को सादर बिदा करता है। यह ऐतिहासिक सत्य नहीं है। केवल प्राचीन परम्परानुसार अपने चरित्र नायक के कृत्य को निर्दोष एवं न्याय सिद्ध करने के लिए ऐसा किया गया है। अन्यथा यह कहा जा सकता था कि पृथ्वीराज शूरवीर होकर संयोगिता का चोरी से हरण करके क्यों भागा ? इसके अतिरिक्त पृथ्वीराज और संयोगिता का इकट्ठे झूला झूलना और मल्हार गाने का प्रसंग भी ऐतिहासिक सत्य के अनुकूल नहीं, मात्र कवि-कल्पना है। डाक्टर विश्वनाथ प्रसाद मिश्र इस नाटक के अन्तिम दो अंकों पर शेक्सपियर के 'दि मर्चेंट आफ वेनिस' की छाया

---

१. संयोगिया स्वयंवर नाटक।
२. वही।

मानते है। वे लिखते है—'संयोगिता हरण का प्रसंग जिस रूप मे प्रस्तुत किया गया है, वह शेक्सपीयर के इस नाटक के शाइलॉक की लडकी जेसिका के अपने प्रिय के साथ विलुप्त होने के प्रसंग से बहुत मिलता हुआ है।'[1]

गोपालराम गहमरी कृत **'योबन योगिनी'** (१८६३) नाटक का कथानक भी पृथ्वीराज के चरित्र से सम्बन्धित है। इस नाटक में दस अंक है। इसमें हस्तिनापुर तथा अजमेर के राजा पृथ्वीराज और गुजरात की राजकुमारी मायावती की दुःखान्त प्रेम-कथा का बड़े ही मार्मिक ढंग से चित्रण किया गया है। मायावती के जन्म के समय ही गणकों ने उसके माता-पिता को यह बतला रखा था कि यह 'योबन योगिनी' होगी। लेकिन 'अब एक मास हुआ इसी महामाया ने राजकुमारी की माता और पिता को स्वप्न दिखाया कि उग्र चण्डिका के पूजन से राजकुमारी के योवन योगिनी होने की साइत बीत जायगी।'[2] अतः मायावती पाटनगर के उग्र चण्डिका के मन्दिर में पूजन के लिए आती है। वही पर पृथ्वीराज भी आता है। दोनों प्रथम दर्शन में एक-दूसरे के प्रति आसक्त हो जाते है। मायावती उसके रूप सौन्दर्य को देख कर मन ही मन कहती है—'क्या ही लावण्यमय रूप है ? यह तो पृथ्वीराज नहीं त्रिभुवन राज है। अच्छी साइत में मैंने यहां प्रवेश किया। क्या मैं योवन योगिनी हूंगी, ना ! कभी ना !! जो मुझे ऐसा कहते है वह पागल है × × × × अहा यह पृथ्वीराज मेरी ओर करुणा नयन से निहार रहे है। ऐसे देखते हैं मानों विन्ध्याचल से तरुण अरुणोदय।[3] तत्पश्चात् पृथ्वीराज उसे मुद्रिका प्रदान करता है और उससे प्रेम-याचना करता है—'राजकुमारी ! यही राजमुकुट और यही प्राण स्वरूप तरवार आप के पांव पर रख कर (आगे बढ़कर मुकुट और तलवार माया के सामने रखता हुआ) कहता हूं मेरा मन आपको छोड़ कर और किसी रमणी के निकट अवनत नही हुआ है। आपके लिए यह राजमुकुट त्यागते भी मुझे संकोच नहीं है।'[4] प्रथम अंक में नाटककार इस बात का संकेत भी कर देता है कि देश मे कतिपय व्यक्ति ऐसे हैं जिनकी चेष्टाएं राष्ट्र विरोधी है। बौद्धाचार्य शंकराचार्य का 'अहिंसा परमोधर्मः' में विश्वास है परन्तु आत्मस्वार्थ-लाभ के लिए वह भारतीय राजाओं के विरुद्ध यवनों की सहायता करता है। हिन्दू राजाओं मे परस्पर फूट डालने के लिए सक्रिय रहता है और इस प्रकार

---

१. आलोचना : नाटक विशेषांक, जुलाई १९५६, पृ० १३९।
२. योबन योगिनी नाटक (काशी नागरी प्रचारिणी सभा), पृ० ३।
३. वही, पृ० ६।
४. वही, पृ० १२।

कूटनीति से काम लेता है।

इधर मायावती के चले जाने से पृथ्वीराज वियोग की असह्य पीड़ा से दु:खी होता है। वह धनुर्वीर से प्रेमवीर बन जाता है। उसका मन राजकाज के प्रति विरक्त हो जाता है। वह शंकराचार्य को मध्यस्थ बनाकर दो पत्र देकर उसे गुजरात के भीमदेव के पास भेजता है -- एक उसके लिए और दूसरा मायावती के लिए। वह अपने मन में यह निश्चय कर लेता है कि 'गुजरातपति यदि अपनी कन्या देने में सम्मत न होंगे तो इसी तलवार का आश्रय लूंगा (तलवार घुमा कर) या नहीं तो कान्य कुब्जपति जयचन्द्र की अनन्त मंजरी के लिए जो हुआ था वही किया जायगा।'[1] इधर पृथ्वीराज का मन्त्री कृष्णराव उन्हें आकर यह समाचार देता है कि इस बार मुहम्मद गौरी बड़ी भारी सेना लेकर सिन्धु तीर पर आ चुका है।

मायावती भी पृथ्वीराज के वियोग में अत्यन्त दु:खी है। शंकराचार्य भीमदेव को पृथ्वीराज का पत्र लाकर देता है। भीमदेव पत्र पढ़कर बड़ा ही क्रुद्ध होता है। वह मायावती के भी उस पत्र को पढ़ लेता है जिसे वह पृथ्वीराज के नाम पर लिखती है। वह उसे कुल-कलंकिनी, दुराचारिणी, पातकिनी आदि सम्बोधनों से सम्बोधित करता है। वह अपने सेनापति गणेन्द्र देव से अस्वालिका और मायावती को कारागार में बन्द कर देने की आज्ञा देता है। भीदेमव यह निश्चय कर लेता है कि वह अपनी कन्या मायावती का विवाह लम्पट, कापुरुष पृथ्वीराज से न कर कालिजरपति के बड़े बेटे चन्द्रदेव के साथ करेगा। शंकराचार्य भीमदेव के समक्ष पृथ्वीराज के इस कृत्य का विरोध करता है। शंकराचार्य वापस आकर पृथ्वीराज को यह समाचार देता है कि उसके वहां पहुंचने से पूर्व ही मायावती 'योबने योगिनी' होकर गुजरात से चली गई है। इससे पृथ्वीराज भी योगी बन कर उसे खोजने का निश्चय कर लेता है। चित्तौड़ का राजा समरसिह उसे सांत्वना देता है तथा देश के प्रति उसके कर्तव्य का स्मरण करवाता है। वह उससे यह भी प्रतिज्ञा करता है कि वह अपने सखा पृथ्वीराज के लिए 'योबन योगिनी' को ढूंढ लाने का प्रत्येक सम्भव प्रयास करेगा।

इधर योगिनी वेश में मायावती और अस्वालिका को जंगल में डाकू मिल जाते हैं। वे इनसे धन आदि छीन कर, उन्हे रस्सियों से बांधकर निकटस्थ खोह में डाल कर खोह बन्द कर देते है। इतने में समरसिंह कुछ सैनिकों के साथ वहां आ जाता है। उसे इस बात का पता चल जाता है कि यह मायावती है।

---

१. योबन योगिनी, पृ० २५-२६।

वह अपने सिपाहियों को इन दोनों को खोह में से बाहर निकाल कर पृथ्वीराज के पास ले जाने की आज्ञा देता है। शंकराचार्य जंगल में इस सारी घटना को अपनी आंखों के सामने देखता है। अब यह तो निश्चित ही हो जाता है कि समरसिंह मायावती को पृथ्वीराज से अवश्य ही मिला देगा। अतः वह अब नयी युक्ति अपने मन में इस प्रकार सोचता है—'अब क्या करें पृथ्वी के पास समरसिंह के जाने के पहले से पहुचना ठीक है, और उससे कह दें, समरसिंह ने मायावती का सतीत्व भ्रष्ट किया; ऐसा कहने से सहज ही बन्धु-विद्रोह घटेगा, और मौहम्मद गौरी की कामना पूरी होगी। पृथ्वीराज की जो कुछ भक्ति इस समय हमारे ऊपर है, वह भी अधिक बढ़ सकेगी।'[1] शंकराचार्य के हाथ योगिनी सिद्धेश्वरी का दिया हुआ तथा मायावती का अपना लिखा हुआ पत्र भी लग जाता है। वह डाकुओं को यह परामर्श देता है कि यदि वे लोग मायावती को चित्तौड़पति समरसिंह से छीन कर ला देंगे तो वह उन्हे उचित पारितोषिक देगा। डाकू लोग ऐसा करना मान जाते है।

छठे अंक में पृथ्वीराज और मायावती का मिलन होता है। दोनों एक दूसरे को आलिंगन करते हैं और चरम सुख एवं आनन्द का अनुभव करते है। इतने में ही शंकराचार्य वहां आकर पृथ्वीराज से चित्तौड़पति द्वारा मायावती के सतीत्व-भ्रष्ट की चर्चा करता है और प्रमाणस्वरूप वह उन्हें मायावती का लिखा हुआ पत्र देता है, जो वास्तव में उसने पृथ्वीराज के नाम पर लिखा था। पृथ्वीराज शंकराचार्य की बात पर विश्वास कर लेता है और उसे पापिनी, चाण्डालिनी कह कर दूर हो जाने के लिए कहता है। माया उसे लुटेरों द्वारा लूटे जाने की बात कहती है, परन्तु पृथ्वीराज उसकी बात पर विश्वास नही करता। इस पर मायावती शंकराचार्य को 'अकाल मृत्यु' का शाप देती है। पृथ्वीराज समरसिंह पर मायावती के सतीत्व भ्रष्ट करने का आरोप लगाता है। अस्वालिका पृथ्वीराज को बतलाती है कि इस सारी विपत्ति की जड़ शंकराचार्य है। उसकी बातों से पृथ्वीराज को थोड़ा विश्वास हो जाता है और वह समरसिंह तथा अस्वालिका से कहे गये अपने कठोर वचनों की क्षमा-याचना करता है।

सातवें अंक में मायावती श्मशान भूमि में जलती हुई चिता पर बैठकर आत्महत्या करना ही चाहती है कि इतने में शंकराचार्य अपने चार साथियों के साथ वहां पहुंच कर उसे ऐसा करने से रोकता है और साथ ही वह अपने सभी अपराधों को स्वीकार करता है। वह उसे बतलाता है कि पृथ्वीराज उसके वियोग-संताप से अत्यन्त दुःखी है, अतः उसे उससे (पृथ्वीराज से) अवश्य

१. योवन योगिनी नाटक, पृ० ७७।

मिलना चाहिए।

आठवें अंक में मुहम्मद गौरी का सेनापति कुतुबुद्दीन उसे आकर सूचना देता है कि जयचन्द और भीमदेव उसकी सहायता के लिए तत्पर है, पृथ्वीराज मायावती के प्रेम में अन्धा हो गया है और उसे शासकीय कार्यों में कोई रुचि नही है। शंकराचार्य आकर मुहम्मद गौरी को देश भरकी राजनीति से परिचित करवाता है। वह मायावती को धोखे से पृथ्वीराज के दरबार की अपेक्षा गौरी के दरबार मे ले जाता है। गौरी को देखकर मायावती अपने मन में सोचती है है कि इस नरक के कीट शकराचार्य के कारण ही मुझे असख्य दुख सहने पड रहे है, अत. इसी को समाप्त करने की युक्ति निकालनी चाहिए। जब गौरी उससे प्रेम-निवेदन करता है तो मायावती उसे बताती है कि वह भ्रष्टाचारिणी है और इसका कारण शंकराचार्य है। इस बात को सुनकर गौरी क्रोधपूर्वक तलवार से शंकराचार्य का वध कर देता है। अब मायावती गौरी के चंगुल से छूटने का उपाय सोचती है। वह गौरी से कहती है कि पहले तुम इस शव को बाहर रख आओ। जैसे ही गौरी शंकराचार्य के शव को बाहर रखने के लिए जाता है, मायावती उसी की तलवार से आत्म-हत्या करना चाहती है। इतने मे गौरी आ जाता है और उससे तलवार छीनकर आत्महत्या का कारण पूछता है। मायावती कहतो है कि मैं आत्महत्या नही कर रही थी अपितु तलवार देख रही थी कि यह कैसी है। गौरी उससे आलिंगन करने का प्रयास करता है। मायावती कहती है कि मैने योगिनी-व्रत रखा हुआ है। आठ दिन के बाद इसके पूर्ण होने पर तुम्हारी आज्ञा को मानूगी। इतने में कुतुबुद्दीन गौरी को आकर यह सूचना देता है कि पृथ्वीराज बड़ी भारी सेना के साथ युद्ध के लिए आ रहा है। पृथ्वीराज को एक दूत के द्वारा यह सूचना मिल गई थी कि शंकराचार्य ने धोखे से मायावती को गौरी के हाथ सौंप दिया है। इसी कारण गौरी से प्रति-शोध लेने के लिए वह तैयार होता है। गौरी माया को कुतुबुद्दीन को सुपुर्द कर स्वयं लड़ने के लिए चला जाता है।

नवें अंक में गौरी और पृथ्वीराज की सेनाओं में युद्ध होता है। पृथ्वीराज बन्दी बना लिया जाता है। वह गौरी को द्वन्द्व युद्ध के लिए ललकारता है परन्तु वह अपने सेनापति को उसे गजनी भेज देने के लिए आदेश देता है।

दसवें अंक में पृथ्वीराज और गौरी का परस्पर द्वन्द्व युद्ध होता है। मुहम्मद गौरी गिर जाता है। इस पर उस के सिपाही पृथ्वीराज को पकड़ लेते हैं और गौरी के संकेत पर उस पर प्रहार करते हैं। पृथ्वीराज मरते समय मायावती का नाम लेता है। गौरी सिपाहियों को मायावती को वहां लाने का आदेश देता है। मायावती पृथ्वीराज को मृत देखकर विलाप करती हुई उसके वक्ष

तलवार उठाकर स्वयं आत्मघात कर लेती है। अन्त में गौरी अपने सिपाहियों को यह आदेश देता है—'देखो, तुम लोग इन दोनों मुर्दों को ले जाव और गजनी की शाही सड़कों में से आला दरजे की सड़क पर इन दोनों की यादगारी मे दो पत्थर लगा दो। पृथ्वीराज के पत्थर पर सोने के हरफों से लिखोगे 'आर्यराज चूड़ामणि पृथ्वीराज' और मायावती के पत्थर पर हीरे के हरफों से लिखोगे 'पृथ्वीराज की प्रेम भिखारिनी मायावती योबने योगिनी'।'

इस नाटक का नायक पृथ्वीराज है। नाटककार ने उसके चरित्र को इतिहास और कल्पना के परिवेश में रखने की चेष्टा की है और उसमें मानव-सुलभ सबलताओं एवं दुर्बलताओं को चित्रित करने का प्रयास किया है। उसका चरित्र शास्त्र-सम्मत आदर्श नायक की कसौटी पर पूर्णतः खरा नहीं उतरता है। वह गुणों का पुतला ही नहीं, एक दुर्बल चरित्र की विशिष्टताओं से भी युक्त है। उसके व्यक्तित्व में आदर्श और यथार्थ गुणों का अद्‌भुत समन्वय मिलता है। सत्य तो यह है कि नाटककार ने उसके चरित्र को आदर्श की अपेक्षा यथार्थ के अधिक निकट लाने की चेष्टा की है और इस दृष्टि से यह अपने युग का एक महत्वपूर्ण नाटक है।

पृथ्वीराज युवा, सुन्दर, वीर एवं साहसी है। वीर होने के साथ-साथ वह एक प्रेमी का भावुक हृदय भी रखता है। उसके चरित्र में धीर ललितत्व का पर्यवसान धीरोदात्तत्व में हुआ है। पृथ्वीराज प्रथम दर्शन में ही मायावती के प्रति आसक्त हो जाता है और उसके चली जाने पर वियोग-दुःख से दुःखी हो राज-काज में अरुचि करने लगता है। वह धनुर्वीर से प्रेमवीर बन जाता है। उसकी ऐसी मनोदशा का नाटककार ने इस प्रकार चित्रण किया है—'जो दोनों कान लड़ाई के अन्त में जय करने वाली सेना का 'भारत की जय' सुनने को उत्सुक थे वह इस समय उस प्राण प्रतिमा का मधुर नाम सुनने में व्यस्त हैं; जिस हृदय को केवल प्रजापालन की चिन्ता थी वह हृदय केवल मिलन मात्र का अभिलाषी है, इस समय मन मेरा नहीं है। मन की गति मेघ मण्डल की भांति छने छने बदल रही है। कोई उपाय स्थिर नहीं कर सकता, किन्तु यातना नहीं सही जाती। प्रेम की यातना असह्य होती है। रोग-यातना, दुःख-यातना, शोक-यातना सब यातनाओं से प्रेम-यातना भयंकर! हरे हरे!! प्राण छुट जाय अच्छा, किन्तु ओ; प्रेम का भी कैसा कठोर शासन है राम! राम!!'[1] प्रेम में व्यक्ति की ऐसी मनोदशा का हो जाना स्वाभाविक तो है, परन्तु पृथ्वीराज ऐसे वीर प्रतापी राजा का नारी प्रेम के समक्ष देश एवं जाति के हितों को भूल

---

१. योबने योगिनी नाटक, पृ० २२-२३।

जाना भी शोभा नहीं देता। जब समरसिंह पृथ्वीराज को शीघ्र होने वाले मुहम्मद गौरी के आक्रमण के प्रति सचेत करता है तो वह उसे उत्तर देता है 'तुम मुहम्मद २ करके पागल हो जाओगे। वह बहुत दूर है उसके लिए इतना डर क्यों ?'[१] वास्तव में माया के विरह ने उसके पराक्रम को शिथिल कर दिया है और वह अपने कर्तव्य को भूल जाता है। यही नही जब शंकराचार्य से उसे यह सूचना मिलती है कि मायावती 'योवन योगिनी' बन गई है, तो वह भी उसे पाने के लिए राज्य-सिहासन छोड़ कर योगी बनने के लिए उद्यत हो जाता है।

प्रेमी हृदय स्वभाव से ही शंकालु होता है। पृथ्वीराज भी इस विषय में अपवाद नहीं। जब समरसिंह डाकुओं के चंगुल से मायवती को छुड़ाकर उसे अपने सैनिकों के साथ पृथ्वीराज के पास भेज देता है, तो शंकराचार्य पृथ्वीराज के पास पहुंच कर उसके हृदय में मायावती के प्रति संदेह-बीज को इस प्रकार बो देता है—'दुष्ट चित्तौरपति ने इसका सतीत्व भ्रष्ट किया है। वह आपके लिए नही चित्तौर राज के लिए योबने योगिनी हुई है।'[२] इसके प्रमाण स्वरूप वह पृथ्वीराज को मायावती का वह पत्र देता है, जो उसने पृथ्वीराज के नाम पर लिखा था, लेकिन शंकराचार्य यही कहता है कि वह उसने समरसिंह के नाम पर लिखा था। पुरूष-स्वभाव की यह दुर्बलता है कि वह अपनी प्रेमिका अथवा पत्नी के चरित्र के बारे में कोई भी निंद्य कथन को सहन नही कर पाता। यह दुर्बलता पृथ्वीराज में भी है। इसीलिए वह शंकराचार्य की बातों पर विश्वास कर मायावती का तिरस्कार कर देता है। वह समरसिंह पर विश्वासघात का आरोप लगाकर उसे महापातकी, कपटी आदि कहता है परन्तु बाद में अस्वालिका से सारे घटना-सत्य को जानकर समरसिंह से क्षमा-याचना करता है।

जब दूसरी बार मायावती पृथ्वीराज से मिलकर बिछुड़ जाती है, और उसके मिलने की आशा समाप्त हो जाती है, तो इस निराशा के क्षण में मानसिक दुर्बलता वश जीवन के प्रति मोह समाप्त हो जाता है। वह अपने अन्तरंग सखा समरसिंह से कहता है—'सखा ! मेरे जीवन की आशा, भरोसा सब गया। योवन योगिनी के लिए मेरा सब मर मिटा। अब प्राण आकुल, मन उदास, देह भार, राज्य दण्ड, निवास नरक, पृथ्वी तमोमयी, बोध होती है। सखा ! अब जीवन का अन्त है ! ना सखा, अब नहीं।'[३] यही नहीं वह बच्चों

---

१. योवने योगिनी नाटक, पृ० ४८।

२. वही, छठा अंक।

३. वही, पृ० ६८-६९।

की तरह विलाप भी करता है। समरसिंह पृथ्वीराज को बतलाता है कि 'मुहम्मद गौरी लाहौर में डेरा डाले पड़ा है, इस समय अब भारत की रक्षा चाहिए कि—।'[१] तो वह उत्तर देता है—'बस ! बस ! अब उस बात को मत उभाडो। भारत की रक्षा तुम लोग करो। मैं अब पृथ्वीराज नहीं काठ का पुतला हूं।'[२] मन इतना उदास, निराश, शिथिल एवं कायर बन जाता है कि मायावती के बिना वह गौरी को बिना युद्ध किये राज्य-सत्ता सौंप कर एकान्त बन में जाकर मायावती का नाम जपने के लिए तैयार हो जाता है—'मुहम्मदो ! भारत लो ! मैं चला। अब मैं गहन बन एकान्त कानन में मायावती का नाम जपू, तुम राज करो, भारत का शासन करो, लो ! तू राहु और शंकर केतु है, यदि कभी उस पाखण्डी का भेद पाऊं तो उसे खूब उचित फल दूंगा।'[३] परन्तु जब एक दूत के द्वारा पृथ्वीराज को यह सूचना मिलती है कि शंकराचार्य ने छल से मायावती को गौरी के हाथ सौंप दिया तो उससे उसके हृदय में लड़ने का उत्साह फिर पैदा हो जाता है। वह गौरी से युद्ध करता है, परन्तु बन्दी बना लिया जाता है। गौरी उससे कहता है कि इस समय तुम्हारे प्राण मेरे हाथ में हैं। वह निर्भीकता से उत्तर देता है—'पृथू इतना नीच और डरपोक नही है कि प्राण के लिए तुम से प्रार्थना करेगा।'[४] वह अन्तिम क्षण तक भी अपने स्वाभिमान की रक्षा करना चाहता है। कायरता उसके स्वभाव में नहीं है, वह तो मायावती के विरहजन्य शोक के कारण उसमें आ गई थी, परन्तु उसी मायावती को गौरी के चंगुल से बचाने के लिए वह उससे युद्ध करता है। इस प्रकार वह अपने प्रेम की रक्षा हेतु देश-हित की ओर झुकता है। वस्तुतः नाटककार ने इस बात को दिखलाने की चेष्टा की है, कि भारतेन्दु युग में लोगों में विशुद्ध राष्ट्रीयता की भावना नहीं जगी थी।

पृथ्वीराज का चरित्र स्थिर न होकर गतिशील है। नाटक के आरम्भ में जिस पृथ्वीराज को उदास, निराश, कर्तव्यच्युत एवं कायर देखते हैं, उसे ही अन्त में वीर स्वाभिमानी, एवं निर्भीक पाते है। उसमें परम्परागत नायक की अपेक्षा रोमांटिक नायक के गुण अधिक विद्यमान है। वे वीर, साहसी सुन्दर तथा कुलीन है। उसमें आत्म-सम्मान एवं स्वाभिमान की भावना है। नाटककार ने उसके चरित्र में देश प्रेम की अपेक्षा नारी-प्रेम को प्रधानता दी है। भारतेन्दु युग के रोमांटिक नाटकों में इस नाटक की गणना की जा सकती है।

राधाचरण गोस्वामी कृत **'अमर सिंह राठौर'** (१८९५) एक दुःखान्त

---

१. योबने योगिनी नाटक, पृ० १०१।
२. वही, पृ० १०१।
३. वही, पृ० १२१-१२२।
४. वही, पृ० १३२।

ऐतिहासिक नाटक है। इसमें नायक अमरसिंह के शौर्य एवं पराक्रम के द्वारा हिन्दू जाति मे हिन्दुत्व एवं वीरता की भावनाओं को भरने की चेष्टा की गई है। जोधपुर के महाराज गजसिंह शाहजहां के कहने पर अपने पुत्र अमरसिंह को राज्य से निर्वासित कर देते हैं। वह शंकरानन्द और योगानन्द नाम के दो व्यक्तियों की सहायता से शाहजहां से बदला लेने के लिए देश भर के राजपूत राजाओं को संगठित करने का प्रयास करता है। इस बीच अमरसिंह की भेंट शाहजहां से होती है। शाहजहां अमरसिंह को अपनी मुट्ठी में करने के लिए उसे नागौर की जागीर दे देता है। परन्तु बाद में अमरसिंह को अपने प्रति उदासीन देखकर शाहजहां उसे पाच हज़ार रुपये का दण्ड देता है। इस अर्थ दण्ड की वसूली के लिए शाहजहां सलावत खां को फौजी दस्ते के साथ भेजता है। अपने इस अपमान का निर्णय करवाने के लिए वह शाहजहां के दरबार मे आता है। वह अमरसिंह को दोषी ठहराता है। अमरसिह क्रुद्ध होकर सलावत खां की अपनी तलवार से हत्या कर देता है और बाद में उसी तलवार से शाहजहां पर भी आक्रमण कर देता है। बादशाह तो बच जाता है, परन्तु अमरसिंह मुसलमानों की सेना से घिर जाता है। वह अपने साथी अर्जुनसिह को उसे इसलिए मार डालने के लिए कहता है कि बाद में कोई यह न कह सके कि अमरसिंह की मृत्यु किसी मुसलमान के हाथ से हुई है। इस प्रकार नाटक के अन्त में नाटककार ने नायक की मृत्यु दिखलाकर भारतीय नाट्य शास्त्रीय परम्परा का पालन न कर पाश्चात्य नाट्य प्रणाली को अपनाया है।

अमरसिंह धीरोदात्त नायक है। वह देश-भक्त तथा वीर है। मुसलमान शासकों के आतंक को वह सहन नहीं कर सकता, इसीलिए वह शाहजहां से प्रतिकार लेने की सोचता है, परन्तु शाहजहां से नागौर की जागीर को स्वीकार कर वह अपनी मूर्खता का भी परिचय देता है। वैसे भी उसकी शाहजहा के प्रति प्रतिकार की भावना जातीयता की अपेक्षा वैयक्तिकता के आधार को अधिक अपनाये हुए है जो कि नाटक की उद्देश्य-सिद्धि में बाधक है।

बाबू राधाकृष्ण दास कृत **'महाराणा प्रतापसिंह'** (१८९७) नाटक की गणना इस युग के श्रेष्ठ ऐतिहासिक नाटकों में की जाती है। इस नाटक को लिखने की प्रेरणा बाबू जी ने भारतेन्दु जी से ग्रहण की थी।[1] इस नाटक का

---

१. महाराणा प्रताप सिंह नाटक (सं० सं० १९६९), निवेदन;
'पूज्यपाद भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र जी ने एक याददाश्त पर लिखा था कि 'किसी नाटक में (प्रताप सिंह के) अकबर की पालिसी स्पष्ट करके दिखाना। उसे देखकर मैंने इस नाटक को लिखना आरम्भ किया।'

कुछ अंश बाबू जगन्नाथ दास रत्नाकर द्वारा सम्पादित 'साहित्य सुधानिधि' में प्रकाशित हुआ था परन्तु बाद में इस पत्र के बन्द हो जाने से यह नाटक पूर्ण न हो सका। तत्पश्चात् पण्डित जगन्नाथ मेहता तथा बाबू श्यामसुन्दर दास की प्रेरणा से लेखक ने इस नाटक को पूर्ण किया। इस नाटक की रचना में लेखक गणपतिराम राजाराम कृत गुजराती के 'प्रताप नाटक' का ऋणी है, ऐसा नाटककार ने नाटक के आरम्भ में दिये गये 'निवेदन' में स्वीकार किया है।

इस नाटक में सात अंक है। महाराणा प्रताप तथा अकबर की आधिकारिक कथा के साथ-साथ वीर गुलाब सिंह तथा मालती की गौण कथा का भी बड़े ही सुन्दर एवं कलात्मक ढंग से विकास हुआ है। नाटक के आरम्भ में महाराणा प्रताप इस कारण बड़े उदासीन दिखाई पड़ते हैं कि अंबर, जोधपुर, बीकानेर आदि के राजाओं ने यवनों से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने के लिए अपनी बेटियों के विवाह उनके साथ कर दिये है, और फिर उनके अपने ही सगे भाई सक्ता जी ने अकबर की सेवकाई स्वीकार कर पवित्र सिसौदिया वश को कलंकित कर दिया है। कविराज के ओजस्वी शब्दों से प्रेरित होकर वे देश की स्वाधीनता की रक्षा का व्रत लेते है। महाराणा प्रताप के उत्साह को देखकर सैनिकों में भी वीरता, उत्साह एवं आशा की किरण जागृत होती है। द्वितीय अंक में अकबर की एक खवासिन वृद्धा उसके दरबारी पृथ्वीराज की रानी को बहका कर अकबर के पास ले आती है। अकबर रानी की ओर वासनापूर्ण दृष्टि से देखता है। इस पर वह उसे खूब जली-भुनी सुनाती है:—'क्यों रे नरपिशाच, तू मेरी बात न सुनेगा? क्या तेरा काल ही तेरे सिर पर नाच रहा है? क्या मुझी को नरपति-हत्या से अपना हाथ अपवित्र करना होगा? सुन, मैं तेरी सब दुष्टता सुन चुकी हूं और आज तेरे हाथ से निर्बोध राजपूत बालाओं के सतीत्व-रक्षार्थ मैं तैयार होकर आई हूं। तुझ से फिर भी यही कहती हूं कि अपने इस नीचता के काम को छोड़ और अपने कर्तव्य की ओर देख।"[1] इस पर भी जब अकबर बाज़ नहीं आता तो वह लपक कर अपनी कमर में छिपी कटार को निकाल कर उसकी छाती पर सवार हो जाती है। तब अकबर उससे जीवनदान मांगता है और इस प्रकार की शरारत न करने की सदा के लिए शपथ लेता है। तृतीय अंक में मानसिंह दक्षिण से लौटते समय उदयपुर रुकता है। महाराणा प्रताप उसके लिए भोज का आयोजन करते हैं। परन्तु इसमें वे स्वयं उपस्थित न होकर अपने पुत्र को भेज देते हैं। मानसिंह इसे अपना अपमान समझता है। इसी अंक में मालती और गुलाब सिंह के प्रेम की गौण कथा

---

१. महाराणा प्रताप सिंह नाटक, पृ० २४-२५।

आरम्भ होती है। मालती उसे अपनी यह प्रतिज्ञा सुनाती है कि जो व्यक्ति शत्रु-समूह से मेवाड की रक्षा करेगा, मलेच्छों के रक्त से इस धरती की प्यास को शान्त करेगा, और आर्य धर्म की ध्वजा को फहरायेगा, उसकी सेवा करने मे मुझे बड़ा सुख मिलेगा। गुलाबसिंह उसकी इस प्रतिज्ञा को सुनकर उसका पालन करने के लिए उसे वचन देता है। चतुर्थ अंक में गुलाबसिंह वीरसिंह को साथ लेकर दिल्ली जाता है और वहां अकबर के दरबार में छद्म-वेश में प्रवेश कर यह समाचार जानने में सफल होता है कि अकबर ने राजा मानसिंह के अपमान का बदला चुकाने के लिए मुहब्बत खां को उदयपुर पर आक्रमण करने का आदेश कर दिया है। पृथ्वीराज शीघ्र ही गुलाब सिंह को यह संदेश महाराणा प्रताप तक पहुंचाने के लिए कहता है। पंचम अंक में गुलाब सिंह महाराणा प्रताप को पृथ्वीराज का पत्र देता है। पत्र के वर्ण्य-विषय को जानकर वे भी अपने सैनिकों को अकबर की सेना का सामना करने के लिए सावधान करते है। महाराणा प्रताप तथा अकबर की सेनाओं में परस्पर घोर संग्राम होता है। प्रताप की सेना के बहुत से सैनिक युद्ध में काम आते है। वे स्वयं बड़ी कठिनाई से अपने प्राण बचाकर चेतक घोड़े पर सवार होकर भाग जाते है। उन्हें इस प्रकार भागे जाते हुए देखकर दो मुगल सैनिक घोड़ों पर उनका पीछा करते है। महाराणा का भाई सक्ता जी इनको देख लेता है। भ्रातृ-स्नेह उमड़ पड़ता है और वह भी अपने घोड़े को मुगल-सैनिकों के पीछे लगा देता है। सक्ता जी मुगल सैनिकों को मारकर भाई के गले मिलता है और अपने अपराधों के लिए क्षमा-याचना करता है। इधर थकान के कारण चेतक दम तोड़ देता है। प्रताप उसके वियोग में अत्यन्त दुःखी हो जाते है सक्ता जी उन्हें इन शब्दों में सांत्वना देता है—'भैया, तुम धीरवीर होकर ऐसे अधीर होते हो? चेतक ने अपना काम किया, प्राण दिया पर अपने कर्तव्य से विमुख न हुआ और क्या प्रतापसिह आज मोह के वशीभूत होकर निज कर्तव्य को भूल रहे है? सारी हिन्दू-जाति इस समय तुम्हारा मुख देख रही है—उठो देर न करो।'[1] और इतना कह सक्ता जी वहां से तीर की भांति प्रस्थान करता है।

षष्ठ अंक में शाहजादा सलीम अकबर को उदयपुर की विजय का समाचार देता है और युद्ध का पूरा विवरण देता है। उधर महाराणा प्रताप अपनी पराजय से खिन्न होकर जंगलों में भटकते हुए निराशा के क्षणों में सम्राट से सन्धि कर लेने की बात सोचते हैं। इस पर उन की वीरता को ललकारता हुआ एक परम भक्त क्षत्रिय सैनिक निवेदन करता है:—'महाराज, इन हृदयवेधी वाक्य-वाणों

---

१. महाराणा प्रताप सिंह नाटक; पृ० ८३।

का प्रयोग न कीजिए। जो स्वाधीनता का स्वर्गीय सुख हम लोग यहा भोग रहे है क्या कभी बड़े से बड़े पराश्रित राज सिंहासन पर बैठने से भी वह सुख प्राप्त हो सकता है ? छिः ! मरना तो एक दिन हुई है पर क्या उसके भय से आज ही हम अपने को बेच दें ? क्या दासत्व स्वीकार करने से हमारा मृत्यु-भय जाता रहेगा ? फिर महाराज। जब मरना ही है तो मान खोकर मरने से क्या ?"[1] इन शब्दों को सुनकर राणा प्रताप में फिर से आत्म विश्वास जाग्रत होता है और उनके मन में अकबर के साथ सन्धि करने की जो बात उठी थी, उसको वे त्याग देते हैं।

सप्तम अंक में राणा प्रताप भामाशाह की प्रेरणा और उसकी अपार धन-सम्पत्ति की सहायता से सेना को एकत्रित कर देशोद्धार का प्रयत्न करने के लिए उद्यत हो जाते है और दूसरी ओर दिल्ली में खानखाना अकबर से यह कहते है—'मगर खुदाबंद, अब तो मेरी यही इल्तिजा है कि ऐसे शख्स को अब जियादा तकलीफ न दी जाय। हुजूर, ऐसे बहादुर शख्स को सताना नाजेबा है।'[2] इतने में ही एक सैनिक आकर अकबर को यह सूचना देता है कि राणा प्रताप ने फिर मेवाड़ पर अपना अधिकार कर लिया है। इस पर अकबर के क्रोध का ठिकाना नहीं रहता। खानखाना उन्हें समझाते है—'खुदावंद, प्रताप के लिए तो यह कोई नई बात नहीं है, मगर हुजूर का हुक्म जो एक मर्तबः जुबान मुबारक से निकल चुका क्योंकर पलट सकता है ?'[3] इतने में ही नेपथ्य में से 'अजान' का शब्द सुनाई पड़ता है और अकबर यह कहकर कि नमाज़ का समय हो गया है, इस बात पर फिर सोचा जायगा, चले जाते हैं। इसी अंक के अन्तिम दृश्य में राणा प्रताप अपने सभी सभासदों के समक्ष राजकुमार को उपदेश देते हैं और उसे उनके सुपुर्द कर देते हैं। वे गुलाबसिंह और मालती के विवाह का आयोजन करने के लिए भी मन्त्री से कहते हैं। यहीं पर नाटक समाप्त हो जाता है।

राणा प्रताप इस नाटक के धीरोदात्त नायक हैं। इस काल के अन्य सभी नाटकों की तरह इस नाटक में हिन्दुत्व एवं देश-प्रेम की भावना को उभारने का प्रयास किया गया है। इसके लिए नाटककार ने अकबर के समकालीन महाराणा प्रताप के प्रसिद्ध ऐतिहासिक चरित को चुना। अकबर और अंग्रेज़ों के काल में बहुत बातों में समानता भी थी। अतः अतीत के गर्भ में वर्तमान भारत की दशा

---

१. महाराणा प्रताप सिंह नाटक, पृ० ९३।
२. वही, पृ० १३१।
३. वही, पृ० १३३।

के चित्रण हेतु भी नाटककार ने राणा प्रताप के चरित्र को अधिक उपर्युक्त समझा।[१]

नायक के चरित्र विकास की दृष्टि से इस नाटक की गणना भारतेन्दु युग के श्रेष्ठ नाटको में की जा सकती है। राणा प्रताप के चरित्र-चित्रण में लेखक पौर्वात्य एवं पाश्चात्य दोनों प्रभावों को ग्रहण किये हुए है। एक ओर नाटककार नाट्यशास्त्रीय परम्परानुसार उनमें धीरोदात्त नायक के गुणों को दर्शाता है तो दूसरी ओर मानसिक घात-प्रतिघात, सबलताओं एवं दुर्बलताओं को घटनाओं के परिवेश मे उद्घाटित कर चरित्र-चित्रण की पाश्चात्य परम्परा को धारण कर रहा है। राणा प्रताप की चारित्रिक सबलताओं एवं दुर्बलताओं का चित्रण घटनाओं के स्वाभाविक विकास द्वारा हुआ है। उनका चरित्र पहले से ही, एक विशिष्ट साचे मे नहीं ढाला गया। यह एक अच्छे नाटक का गुण है और इसका श्रेय नाटककार को है।

नाटककार ने राणा प्रताप के चरित्र के द्वारा हिन्दुत्व की रक्षा, देश-भक्ति, स्वाधीनता एवं धर्म-पालन की भावनाओं को उभारने की चेष्टा की है। राणा प्रताप को अंबर, जोधपुर, बीकानेर आदि महाराजाओं की यवनों के साथ घनिष्ठता स्थापित करने के लिए अपनी बेटियों को ब्याहने की चेष्टा बिल्कुल पसन्द नहीं है, इसीलिए वे नाटक के आरम्भ में कुछ उदासीन दिखाई पड़ते है। राणा प्रताप जैसे वीर, उत्साही तथा सच्चे देश हितैषी के हृदय मे ऐसा भाव आना उचित है। उन्हें अपयश और दासता का जीवन प्रिय नहीं है। इससे तो वे मरना भला समझते है। परन्तु कविराजा के ओजस्वी शब्दों से उनकी यह उदासी और मानसिक दुर्बलता दूर हो जाती है और वे देश की स्वाधीनता की रक्षा का व्रत लेते है।[२] उन्हें अपने और अपने देशवासियों के शौर्य, पराक्रम एवं साहसशीलता पर विश्वास है और ये सब गुण उन्हें अपने पूर्वजों से धरोहर रूप में मिले हैं। वे महाराजा मानसिंह का इसलिए अपमान करते हैं, कि उन्होंने अपने प्राचीन गौरव को कलंकित कर स्वार्थवश अकबर की दासता स्वीकार की है। तृतीय अंक के द्वितीय गर्भांक में जब पुरोहित जी राणा प्रताप से यह कहते हैं कि मुसलमानों के साथ तो हमारा चोली दामन का साथ बन चुका है, क्योंकि उन्हें अपने देश से निर्मूल करना कठिन ही नहीं, वरंच असंभव भी है। इसलिए अब हमें ऐसे उपाय करने चाहिएं जिनसे परस्पर भ्रातृ-भाव बढ़े, तो इस पर वे उन्हें समझाते हैं कि क्षत्रिय होने के नाते हिन्दुत्व एवं प्राणिमात्र की रक्षा करना हमारा परम धर्म है। धर्म और अपने देश की रक्षा करना परम

१. महाराणा प्रतापसिंह नाटक, (प्रस्तावना), पृ० ४-५।
२. वही, पृ० ८।

कर्तव्य है। उन्हे कदापि यह सह्य नहीं है कि हमारे भाई मुसलमान जाये और हम आंख मूद कर ऐसा देखते जाये। पुरोहित जी राणा को उनकी बात का उत्तर देते है--'फिर जब भारत के भाग्य मे ऐसा लिखा है तो व्यर्थ बैठे बिठाये अपने ऊपर झगड़े खड़े करने से क्या लाभ ?'[१] परन्तु राणा प्रताप ऐसे भाग्य पर कब विश्वास करने वाले थे जो उनके देश की स्वाधीनता उनसे छीन ले। वे तो स्वयं पुरुषार्थ एवं कर्मशीलता में विश्वास करते है। इसीलिए वे उनसे कहते है--'पुरोहित जी, यह आप क्या कहते है ? क्या यह समझ कर कि कल तो हमको मरना ही है आज ही से खाना-पीना छोड़ देना उचित है ? × × × वह दिन भारत के सौभाग्य का होगा जिस दिन इन सबों के हाथ से यह राज्य निकल जायेगा, परन्तु क्या यह सब सोच विचार कर आज ही से हमको निराश होकर अपने राज्य को कौन कहै अपने धर्म को भी उसे सौंप देना चाहिए ? क्या आप आज्ञा देते हैं कि उसकी प्रार्थनानुसार राजकुमारी का विवाह उसके बेटे के साथ कर दिया जाये ?'[२] राणा तो इस बात के कायल है कि चाहे उनका हिन्दू धर्म भला हो या बुरा परन्तु जब तक वे इस धर्म का अवलम्बन किये हुए हैं, उसके नियमों का पालन करना अपना कर्तव्य समझते है। वस्तुतः उनमें जात्यभिमान कूट-कूट कर भरा हुआ है। अकबर के दरबारी पृथ्वीराज भी उनके इस गुण की सराहना किये बिना नहीं रहते।

राणा सच्चे देश-भक्त, वीर, उदार, एवं साहसी हैं। उनके इन्हीं गुणों के कारण उनका अपना सगा भाई सक्ता जी पारस्परिक मन-मुटाव एवं बदले की भावना को भुलाकर मुसलमान सैनिकों से राणा की रक्षा करता है। वह अपने नीच कृत्यों के लिए भाई से क्षमा-याचना करता है और राणा अपनी उदारता का परिचय उसे हृदय से लगाकर देते हैं। उनका हृदय भ्रातृ-प्रेम से विभोर हो जाता है। यही नहीं जब उनका स्वामि-भक्त सहचर चेतक शत्रु पक्ष की गोलियों के घाव से दम तोड़ बैठता है, तो उनकी आंखें सजल हो जाती हैं, और वे करुण स्वर में विलाप करने लगते हैं।[३] इसीलिए वे अपने ऐसे विपत-

---

१. महाराणा प्रताप सिंह नाटक, पृ० ३८।

२. वही, पृ० ३८।

३. वही, पृ० ८२-८३।

विपति संघाती धीर, स्वामिभक्त सांचो सुहृद।
चल्यो होइ बेपीर, रे चेतक परताप तजि ॥
सहे अनेकन घाय, चढ़ि सलीम-गज-सीस पै।
पीछो दियो न पाय, अब क्यों भाजत मोहिं तजि ॥★

संघाती चेतक को वीरोचित सम्मान देने के लिए नाटक के अन्त में अपने मन्त्री से कहते है—'प्यारे चेतक ने पशु होकर मेरा जैसा उपकार किया उससे में कभी उऋृण नहीं हो सकता। मन्त्रिवर, जहां चेतक का शरीर गिरा है एक उत्तम समाधि बनवाई जाये और प्रतिवर्ष उसके सम्मानार्थ वहां मेला लगा करे, मै स्वयं वहां चला करूंगा।'[1] नाटक के अन्तिम अंक में राणा प्रताप की बेटी से जब विल्ली घास की रोटी भी छीन कर भाग जाती है, उस समय हठात् ही प्रताप की आंखों में आंसू छलक आते है, हृदय पसीज जाता है और अपने मन में सोचते हैं—'हाय, वह प्रताप का हृदय जो कभी बड़े-बड़े शत्रु-दल में नही हिला, आज क्यों कांप जाता है, जो आंखे बड़ी-बड़ी विपत्तियो में फसने से और बड़े-बड़े दुख: पड़ने पर भी तर न हुई आज उनमें स्वत: आंसू क्यों उमड़े जाते है?'[2]

राणा प्रताप के व्यक्तित्व का एक और पहलू भी मुखर हुआ है और वह है वीर सेनानी का। उनके शौर्य एवं अद्भुत पराक्रम की धाक न केवल हिन्दू राजा ही मानते थे अपितु शाहज़ादा सलीम भी उनकी वीरता की अकबर के आगे प्रशंसा किये बिना नहीं रहते। अकबर भी उन्हें दूरदर्शी मानते है और वे भी उनकी वीरता के कायल हैं। वे शाहज़ादा सलीम से कहते है—'मुझे मेवाड़ की फतह से सीमोजर की ख्वाहिश नही; मुल्कगीरी की ख्वाहिश नही, सिर्फ बातों की आन है। मगर देखना खबरदार जिसमें प्रताप ऐसा बहादुर शख्स मारा न जाय, जिंद:गिरफ्तार हो। आहा! क्या ऐसा बहादुर भी रुए ज़मीन पर मौजूद है? अकबर, तू खुशनसीब है कि तुझे ऐसा दुश्मन मिला।'[3] प्रताप युद्ध के मैदान में सलीम को लड़का समझ कर उस पर आक्रमण नही करते। वे अकबर को भी एक पत्र में यही बात लिखते हैं—'मैंने कभी सन्धि की प्रार्थना नहीं की, मेरी यदि कोई प्रार्थना है तो यही है कि अकबर स्वयं युद्धस्थल में आवें। एक हाथ में उनके तलवार हो और एक में हमारे, तब हमारा जी भर जाय। वह क्या वहां से बैठे बैठे लड़कों को तथा अपने साले ससुरों को भेजते है? हम क्या इन पर शस्त्र चलावें।'[4] यद्यपि परिस्थितियों की विवशता

★ रतन अमोलक तौल, सहस गुनो जो वारिए।
तौहू लहै न मोल, रे चेतक तुव सामुहै॥
करिके ऋनिया मोहि, हा हा चेतक चलि बस्यो॥
सहि नहिं सकत बिछोह, अब जीवन लागत वृथा॥

१. महाराणा प्रताप सिंह नाटक, पृ० १३६।
२. वही, पृ० ११४।
३. वही, पृ० ६०।
४. वही, पृ० १३२।

के कारण कई बार उनका मन, उदास एवं निराश होकर अवश्य अस्थिर हो जाता है, परन्तु वे शीघ्र ही अपने कर्तव्य को पहचान कर उसे पूर्ण करने के लिए उत्साहित हो जाते है ।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हैं कि महाराणा प्रताप का धीरोदात्त चरित्र नाट्यशास्त्रीय परम्परा के अनुसार उस कोटि का नितान्त निर्दोप एव आदर्श चरित्र नहीं है, अपितु चारित्रिक गुण-दोषों के रहते हुए भी अपने असाधारण व्यक्तित्व के कारण ऐसा आदर्श चरित्र है जो यथार्थ की भाव-भूमि के अधिक निकट हैं । उनके चरित्र में स्थिरता की अपेक्षा गतिशीलता है । नाटककार ने उनके चरित्र को अधिक स्वाभाविक बनाने की सफल चेष्टा की है ।

प्रेमप्रधान नाटकों में नायक

भारतेन्दु युग पौर्वात्य तथा पाश्चात्य सांस्कृतिक एवं साहित्यिक विचारों एवं धारणाओं के सम्मिलन का युग था । अंग्रेज़ों के शासक रूप में प्रतिष्ठित हो जाने के परिणामस्वरूप उनकी संस्कृति एवं सभ्यता से जो निकटस्थ सम्पर्क भारतीयों का स्थापित हुआ, वह उनके लिए वरदान ही सिद्ध हुआ । एक तो, उससे साहित्य-समृद्धि का द्वार खुला और नयी साहित्य-विधाओं का आविर्भाव हुआ । नाटक, कहानी, उपन्यास, निबन्ध, जीवन-चरित्र आदि साहित्य के विभिन्न रूपों का आविर्भाव इसी युग में ही होता है । दूसरे, लेखकों की मनोवृत्ति आदर्श के साथ-साथ जीवन के यथार्थ-चित्रण की ओर भी प्रवृत्त हुई । पाश्चात्य जीवन-दर्शन के उदारवादी, भौतिक एवं व्यापक दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप भारतीय जनता भी सामाजिक तथा राजनैतिक क्षेत्र में अपने अधिकारों के प्रति विशेष रूप से सक्रिय बनी । वस्तुतः भारतेन्दु युग सामाजिक सुधार एवं सांस्कृतिक पुनरुत्थान का युग था । आर्य समाज, प्रार्थना समाज, ब्रह्म समाज, रामकृष्ण मिशन आदि सभी संस्थाओं की गतिविधियां इसी उद्देश्य को लेकर चालित थीं । यद्यपि उस युग में इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना हो चुकी थी, परन्तु उसका उद्देश्य समाज सुधार तथा भारतीयों के सामाजिक अधिकारों की रक्षा करना ही था । बाद में जाकर वह अवश्य ही देश की प्रमुख राजनैतिक संस्था बनी, जिसने देश में स्वतन्त्रता के अनेक आन्दोलनों का नेतृत्व-भार अपने ऊपर लिया । अतः हम देखते हैं कि इस युग के नाट्य साहित्य में मुख्यतः दो प्रवृत्तियों का विकास हुआ—आदर्शवादी तथा यथार्थवादी । आदर्शवादी प्रवृत्ति तो इस युग के पौराणिक तथा ऐतिहासिक नाटकों में देखी जा सकती है । इन नाटकों में भी नाटककारों ने पुराण तथा इतिहास को वर्तमान समाज की उपयोगिता की दृष्टि से देखने का प्रयास किया है । इसी

विन्दु का विकास बाद में हम प्रसाद तथा प्रेमी जी के नाटकों मे पाते है। यथार्थवादी प्रवृत्ति का विकास इस युग के सामाजिक नाटकों के माध्यम से हुआ। क्योंकि यह युग सामाजिक चेतना का था, इसलिए इस युग के नाटक-कारों का ध्यान सामाजिक समस्याओं की ओर अधिक गया। इन नाटककारो ने बाल विवाह, विधवा विवाह, स्वच्छन्द प्रेम की समस्या, अनमेल विवाह, प्राचीन जीर्ण-जर्जरित रूढ़ियों एवं अन्धविश्वासो के प्रति विद्रोह की भावना तथा अन्य सामाजिक कुरीतियों को नाटकीय इतिवृत्त में स्थान दिया, जिनके मूल मे सुधार की भावना थी, हिन्दी में पहली बार इस प्रकार की नाटक रचना इस युग में हुई जिसका श्रेय भारतेन्दु जी को दिया जा सकता है। उन्होंने अपने सर्वप्रथम नाटक विद्यासुन्दर में स्वच्छन्द प्रेम विवाह की समस्या को सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से चित्रित कर सामाजिक नाटकों की परम्परा का सूत्रपात किया, और अपने सहयोगी लेखकों को भी इस दिशा में लिखने के लिए प्रेरणा दी।

भारतेन्दु कृत **'विद्यासुन्दर'** (१८६८) नाटक बंगला के महाराजा यतीन्द्र मोहन ठाकुर के विद्यासुन्दर का छायानुवाद है।[1] ठाकुर जी इस नाटक की कथा के लिए भारतचन्द्र राय के ऋणी है, जिन्होंने संस्कृत के 'चौरपंचाशिका' काव्य को बंगला में पद्यबद्ध किया। भारतेन्दु जी की यह सर्वप्रथम रचना होने के कारण नाट्य कला की दृष्टि से कोई प्रौढ़ नहीं है। नाटककार का ध्यान पात्रों के चरित्र-चित्रण की अपेक्षा नाटक के कथानक में अधिक रमा है।

नाटक का आरम्भ वर्द्धमान के राजा वीर सिंह की बेटी विद्या के विवाह की चिन्ता से होता है। विद्या शिक्षित और तर्कशास्त्र में प्रवीण है। उसने यह प्रण किया हुआ है कि जो उसे शास्त्रार्थ में पराजित करेगा, वह उसके साथ विवाह करेगी। इस घोषणा को सुनकर बहुत से राजकुमार वहां आते हैं और सब के सब उससे पराजित हो अपना सा मुंह लेकर लौट जाते हैं। इससे राजा वीरसिंह की चिन्ता बढ़ जाती है। वीर सिंह का मन्त्री उससे राजा गुणसिन्धु के पुत्र युवराज सुन्दर के सौन्दर्य और प्रतिभा की चर्चा करता है, जिसने बहुत से पण्डितों को शास्त्रार्थ में परास्त किया है। वीरसिंह गंगा भाट को सुन्दर को अपने साथ ले आने के लिए भेजते है। दूसरी ओर सुन्दर भाट के मुख से विद्या के प्रण को सुनकर उसे प्राप्त करने के लिए वर्द्धमान के लिए चल पड़ता है। वह सब राजकुमारों के साथ इसलिए नहीं आता, क्योंकि वह विद्या को शास्त्रार्थ

---

१. भारतेन्दु नाटकावली (द्वितीय भाग), विद्यासुन्दर नाटक, द्वितीय आवृत्ति का उपक्रम।

द्वारा जीतना नहीं चाहता बल्कि अपने सौन्दर्य के बल पर उसके हृदय को पराजित करना चाहता है, और उसे अपने इस उद्देश्य में सफलता भी मिलती है। (नाटककार को ऐसा करना स्यात् इसलिए अभीष्ट था कि वह सुन्दर के निजी वैशिष्ट्य एवं व्यक्तित्व को उभारना चाहता था। यदि वह अन्य सब राजकुमारों के साथ आता तो सम्भवत. नाटककार को अपने ध्येय में सफलता न मिलती।) हीरा मालिन इस काम में उसकी पर्याप्त सहायता करती है। उसी के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप सुन्दर सुरंग द्वार को खोलकर विद्या के महल में जाता है और वहां विद्या और सुन्दर इन दोनों का मिलन होता है। दोनों एक-दूसरे को देखकर आकृष्ट होते हैं और गांधर्व विवाह कर लेते हैं। सुन्दर सुरंग द्वार खोलकर महल में प्रवेश करने के अपराध में राजा के सैनिकों द्वारा पकड लिया जाता है। राजा उसे चोर समझकर कारागार में भिजवा देते हैं परन्तु गंगाभाट द्वारा यह बतलाये जाने पर कि यह सुन्दर है, राजा उसे रिहा कर देते हैं और विद्या तथा सुन्दर दोनों को प्रसन्नता के साथ विवाह की अनुमति देते हैं। इस प्रकार वर-वधू के सुखमय मिलन में नाटक का अन्त होता है।

इस नाटक में नाटककार ने पात्रों के चरित्र-चित्रण की अपेक्षा कथानक में कौतूहल-तत्व की ओर अधिक ध्यान दिया है। नायक सुन्दर का हीरा मालिन के यहां छद्मवेश में रहना, माला में फूल के धनुष-बाण को रखकर हीरा मालिन के द्वारा विद्या के पास भेजना, चोरी-चोरी सुरंग में से निकल कर विद्या को मिलने जाना, संन्यासी के वेष में उसका राजसभा में जाना आदि ऐसे प्रसंग हैं जो सामाजिक के हृदय में कौतूहल वृत्ति को जगाते हैं।

नाटक का नायक सुन्दर धीरललित है। वह प्रेमी और रसिक है। उसका प्रेम सूफियों का सा है। भाट के मुख से राजकन्या विद्या के विचार का समाचार सुनकर वह वर्द्धमान में आता है। उसके मन में विद्या के प्रति पूर्वानुराग की भावना है। नाटक के आरम्भ में जब वह वर्द्धमान नगरी के एक उद्यान में विश्राम हेतु बैठता है तो वहां शीतल पवन का स्पर्श कर वह कह उठता है—'निश्चय यह पवन (सांस लेकर) हमारी प्राण प्यारी त्रिभुवन मोहिनी विद्या का अंग स्पर्श करके आती है, नहीं तो ऐसी मधुर सुगन्ध इसमें न होती।'[1] सुन्दर का यही पूर्वानुराग बाद में प्रेम में परिवर्तित हो जाता है। जिसकी परिणति विवाह में होती है। यद्यपि सुन्दर का प्रेम सूफियों के पूर्वानुराग का सा है। परन्तु उसमें सूफियों के प्रेम जैसी तड़प और विरह-व्यथा का अभाव है। यही कारण है कि इसका प्रेम-वर्णन कुछ हल्के ढंग का प्रतीत होता है।

---

१. भारतेन्दु नाटकावली (द्वितीय भाग), पृ० ५।

राजकुमार सुन्दर नाम के अनुरूप ही सुन्दर भी है। हीरा मालिन प्रथम दर्शन में ही उसके रूप-सौन्दर्य को देखकर आश्चर्यान्वित हो जाती है। वह अपने मन में कहती है—'हाय-हाय ऐसा सुन्दर रूप तो न कभी आंखों देखा, न कानो सुना, इसकी दोनों हाथ से बलैया लेने को जी चाहता है। लोग सच कहते हैं कि चन्द्रमा को सिंगार न चाहिए। हम को तो जान पड़ता है कि चन्द्रमा ही पृथ्वी पर उतर के बैठा है। क्या कामदेव इस रूप की बराबरी कर सकता है? ऐसी कौन स्त्री है जो इसको देख के धीरज धरेगी।'[1] विद्या के अनुरोध पर वह सुन्दर के रूप-सौन्दर्य का इस प्रकार वर्णन करती है—

'कहै को चन्द बदन की शोभा?
जाकों देखत नगर-नारि कों सहजहिं ते मन लोभा॥
मनु चन्दा आकाश छोड़ि कै भूमि लखन को आयो।
कैधों काम बाम के कारन अपुनो रूप छिपायो॥
भौह कमान कटाक्ष बान से अलक भ्रमर घुंघरारे।
देखत ही बेधत है मन मृग नहिं बचि सकत बिचारै।'[2]

इतना सुनते ही विद्या के मन में उसे एक बार देख लेने की इच्छा पैदा होती है। वह सौन्दर्य-गुणों के श्रवण मात्र से वियोगिन बन जाती है।

भाग्यवाद भारतीय जीवन दर्शन का प्रमुख तत्व है। नाटककार ने जिस भाग्यवाद की ओर संकेत किया है, वह व्यक्ति को अकर्मण्य नहीं बनाता, वरन् जीवन में उसे सतत प्रेरणा और शक्ति देने वाला है, उसे कर्मठ बनाता है और साथ ही उसे आशावादी। विद्या की प्रतिज्ञा पूर्ण न होने पर जब राजा वीरसिंह चिन्तित एवं निराश हो जाते है तो मन्त्री राजकुमार सुन्दर का प्रसंग चला कर उन्हें उद्योगशील होने का परामर्श देता है।[3] निस्सन्देह उस युग में ऐसे ही

---

१. भारतेन्दु नाटकावली (द्वितीय भाग), पृ० ७-८।
२. वही, पृ० १४-१५।
३. वही, पृ० १-२-३।

(क) 'मन्त्री—महाराज, आप जो आज्ञा करते है सो सच है। लक्ष्मी और सरस्वती दोनों एक स्थान पर नहीं रहतीं, इससे ऐसा भाग्यशाली वर मिलना अत्यन्त कठिन है। इन दिनों मैंने सुना है कि कांचीपुर के राजा गुणसिन्धू का पुत्र सुन्दर, युवराज, अत्यन्त सुन्दर, अनेक शास्त्रों में शिक्षित और बड़ा कवि है और उसने अनेक पण्डितों को शास्त्रार्थ में जीता है। × × × महाराज, मैंने निश्चय सुना है कि वह अपूर्व सुन्दर और अद्वितीय पण्डित है। इससे मैं अनुमान करता हूं कि जिसने संसार*

भाग्यवाद की अपेक्षा थी जो करोड़ों भारतीयों को अकर्मण्यता से कर्मठता की ओर ले जाता। भारतेन्दु जी ने ऐसे ही सुखद एवं आशामय भाग्यवाद को जीवन के अनुकूल समझा और उसे नयी दृष्टि प्रदान की।

'विद्या सुन्दर' हिन्दी का पहला प्रेम प्रधान सामाजिक नाटक है। जिसमें लेखक ने स्वच्छन्द प्रेम-विवाह की समस्या को नाटक का आधार बनाया। विवाह एक सामाजिक बन्धन है और भारतेन्दु का दृष्टिकोण इसके विषय में प्रगतिशील रहा है। नाटककार ने बड़े ही स्वाभाविक ढंग से गान्धर्व विवाह तथा माता-पिता द्वारा नियोजित विवाह के गुण-दोषों का चित्रण किया है। विद्या कालिदास की शकुन्तला की तरह अपने पिता की आज्ञा के बिना ही सुन्दर से गान्धर्व विवाह कर लेती है और पिता भी महर्षि कण्व की तरह प्रसन्नतापूर्वक अपनी सहमति प्रकट कर देता है।[1] नाटक की मूल समस्या भी यही है कि यहां वर-वधू का विवाह उनकी इच्छानुसार होना चाहिए, वहां साथ ही उन्हें अभिभावकों की अनुमति एवं आर्शीवाद भी मिलना चाहिए। इस के लिए अभिभावकों को भी अधिक सहृदयता एवं उदारता का परिचय देना होगा।

नाटक का नायक सुन्दर विचारों में प्रगतिशील है। नायिका विद्या भी कम क्रान्तिकारिणी नहीं। हीरा मालिन जब उससे कहती है—'पहले राजा सुन्दर को देख ले, तो उसके बाद तुम देख लेना।'[2] इस पर विद्या का विद्रोही हृदय कह उठता है—'नहीं, ऐसा न होने पावे, पहिले मैं देख लूं, पहले मैं देख लूं, तब और कोई देखे।'[3] वास्तव में दोनों ही विवाह के विषय में क्रान्तिकारी विचार रखते हैं, और माता-पिता द्वारा नियोजित विवाह की अपेक्षा गान्धर्व

---

* की सब विद्या पाई है वह हमारी राजकुमारी को भी पावेगा। यद्यपि ईश्वर की इच्छा और होनहार अत्यन्त प्रबल है तथापि हमको निश्चित हो के बैठ रहना उचित नहीं है। इस कहने का अभिप्राय यह है कि आप कांचीपुर में किसी को समाचार लेने हेतु भेजिए।'

(ख) 'मन्त्री—महाराज, आज तक कोई कन्या क्वारी नहीं रही। सीता और द्रौपदी इत्यादि जिनके बड़े कठिन प्रण थे उनका तो विवाह हो ही गया। जब ईश्वर कन्या उत्पन्न करता है तो उसका वर भी उसी के साथ उत्पन्न कर देता है। अतएव आपको सोच करना न चाहिए।'

१. भारतेन्दु नाटकावली (द्वितीय भाग), पृ० ४६।
२. वही, पृ० १५।
३. वही, पृ० १५।

विवाह के समर्थक हैं। विवाह-विषयक प्राचीन और नवीन दोनों प्रकार के संस्कारों मे सघर्ष दिखला कर नाटककार ने बाद में बड़ी कुशलता से माता-पिता द्वारा वर-वधू को आशीर्वाद दिलवा कर उस का समाधान कर दिया है। यह भारतेन्दु जी की कला में पश्चिमी और पूर्वी प्रभावों के समन्वय का ही प्रमाण है।

चरित्र-विकास की दृष्टि से सुन्दर का चरित्र स्थिर कोटि का ही है। नाटक के आरम्भ में हम जिस सुन्दर को एक सच्चे प्रेमी के रूप मे पाते हैं, नाटक के अन्त तक भी उसका वही रूप ही बना रहता है। वह साहसी, चतुर तथा विनम्र तो है ही, साथ ही हंसोड़, रसिक एवं विद्वान् भी है।

लाला श्रीनिवास दास कृत **'रणधीर और प्रेम मोहिनी'** भारतीय नाट्य शास्त्रीय परम्परा के विरुद्ध हिन्दी में सर्वप्रथम दुःखान्त नाटक है। इसके रचना-काल के विषय में विद्वानों में भ्रांति है। डा० श्रीकृष्णलाल इसका रचनाकाल १८७८ मानते हैं,[१] जबकि इसका प्रथम संस्करण प्रथम जून सन् १८७७ में प्रकाशित हो चुका था।[२] डाक्टर दशरथ ओझा,[३] डा० गोपीनाथ तिवारी,[४] डाक्टर श्रीपति शर्मा[५] तथा डाक्टर सोमनाथ गुप्त[६] इसका रचनाकाल १८७७ ही मानते हैं, इनके विपरीत डाक्टर दशरथ सिंह इस नाटक का रचनाकाल १८८३ देते है।[७] परन्तु 'रणधीर और प्रेम मोहिनी' नाटक का जो तीसरा संस्करण काशी नागरी प्रचारिणी सभा में सुरक्षित है, उसके आरम्भ में 'धन्यवाद' शीर्षक में नाटककार ने इस बात का उल्लेख किया है कि इस नाटक का अभिनय ६ दिसम्बर १८७१ में हुआ[८] और इसके अभिनय हेतु स्वयं भारतेन्दु जी ने इसका प्रस्तावना

---

१. श्री निवास ग्रन्थावली, (प्रथम संस्करण), पृ० ६।
२. वही, (निवेदन), पृ० १६।
३. हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, पृ० २६१।
४. भारतेन्दुकालीन नाटक साहित्य, पृ० १७४।
५. हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव, पृ० ६९।
६. हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास, पृ० २१४।
७. हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी नाटक, पृ० ४२।
८. नाटक के तीसरे संस्करण के 'धन्यवाद' शीर्षक में नाटककार ने इस बात का उल्लेख किया है कि यह नाटक अपने समय पटियाला के 'मदरसों' की ऊंची श्रेणी के विद्यार्थियों को पढ़ाया जाता था और 'आर्य नाट्य सभा' ने इसका अभिनय ६ दिसम्बर सन् १८७१ में प्रयाग में किया। (देखिए पृ० १२-१३)।

भाग लिखा। भारतेन्दु द्वारा लिखित यह प्रस्तावना भी नाटक के इसी संस्करण में सम्मिलित की गई है। परन्तु विचित्र बात तो यह है कि नाटककार ने न जाने किस कारण से भारतेन्दु द्वारा लिखित प्रस्तावना को नाटक के प्रथम संस्करण में स्थान क्यों नहीं दिया। फिर भी इससे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि इस नाटक का रचनाकाल १८७७ न होकर १८७१ है। हां १८७७ इसका प्रकाशन काल अवश्य है।

इस नाटक के पांच अंकों में पाटन के राजकुमार रणधीरसिंह तथा सूरत की राजकुमारी प्रेममोहिनी की दुःखान्त प्रेम-कथा का वर्णन है। प्रेममोहिनी का प्रेम सूफी ढंग का पूर्वानुराग है। मालती चम्पा से रणधीर के रूप-सौन्दर्य की चर्चा करती है, जिसे प्रेममोहिनी स्वयं अपने कानों से सुन लेती है। उसके मन में राजकुमार रणधीर को एक बार देखने की इच्छा जाग्रत होती है। वह मालती से कहती है---'वैसे ही रणधीर को एक बार देखने की मेरे मन में इच्छा है। परन्तु मैं सुभाव की परीक्षा किये बिना प्रीति नहीं किया चाहती; क्योंकि गुण की प्रीति के समान रूप की प्रीति मन में नहीं होती, केवल आंखों में रहती है, और रूप घटने अथवा उसके अधिक मिलने पर वो तत्काल घट जाती है।'[1]

इधर रणधीर वन में सिंह को मार कर प्रेममोहिनी के भाई रिपुदमन के प्राण बचाता है। इससे उन दोनों में मैत्री हो जाती है। रणधीर का कारिंदा सुखवासी लाल उसका नाश करने के लिए उसे मदिरापान और वेश्यागमन का दुर्व्यसन लगाना चाहता है परन्तु राजा अपने दृढ़ आत्म-विश्वास तथा स्वामि-भक्त जीवन की सम्मति के कारण इससे बच जाता है।

तीसरे अंक में प्रेममोहिनी के पिता, सूरत के महाराज अपनी बेटी का स्वयंवर रचाते हैं। रणधीर भी वहां आ जाता है, परन्तु वहां वह सेनापति द्वारा अपमानित किया जाता है। इसी अंक में रणधीर और प्रेममोहिनी का परस्पर मिलन होता है। सूरत नरेश की आज्ञा से सभी राजा लोग एकत्रित होकर रणधीर पर आक्रमण करते हैं। रिपुदमन इन राजाओं के साथ घोर युद्ध करता है और अन्त में वीरगति को प्राप्त होता है। रणधीर भी इस युद्ध में घायल हो जाता है, वह घायलावस्था में ही प्रेममोहिनी के पास जाता है और वहीं पर अपने प्राणों को छोड़ देता है। प्रेममोहिनी भी उसके चरणों पर सिर रख कर अपने शरीर को त्याग देती है। अन्त में दोनों को एक साथ चिता पर जला दिया जाता है।

---

१. श्रीनिवास ग्रन्थावली, सम्पादक, डाक्टर श्रीकृष्ण लाल, पृ० ६।

हिन्दी का स्यात् यह सर्वप्रथम नाटक है जिसमें नायक का चरित्र-चित्रण विशुद्ध रूप से पश्चिम की शैली पर हुआ है। इसमें नाटककार शेक्सपियर की चरित्र-चित्रण शैली से प्रभावित है। शेक्सपियर के नायकों की तरह रणधीर भी वीर और कुलीन हैं परन्तु अपनी चारित्रिक दुर्बलता के कारण उसे अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ता है। भारतीय दृष्टि से नायक धीरोदात्त होता हुआ भी उसकी कसौटी पर पूरा नहीं उतरता। उसका हठी स्वभाव और बुद्धिहीनता जहां उसके धीरोदात्त होने में बाधक है, साथ ही उसके पतन का भी कारण बनते हैं। वह अनुपम वीर, साहसी (रोमियो के समान) अदम्य उत्साही, सांसारिक पाशों से दूर, सच्चा मित्र, आचारवान्, विद्याव्यसनी तथा संगीत-प्रेमी है। अपने अनुचरों के साथ इसका व्यवहार बड़ा अच्छा है। स्वामिभक्त जीवन के किये हुए उपकार के प्रति वह कृतज्ञ-भाव ही नही रखता अपितु उसे सच्चे मित्र के रूप में भी देखता है। यहां तक कि उसकी इच्छा के विरुद्ध कोई भी काम करना उसे अभीष्ट नहीं है। वह जीवन से कहता है—

'मैं जगत के अपयश को मौत से बढ़ कर मानता हूं। ये लड़ाई का बाजा मेरे मन की उमंग को चौगुना बढ़ाता है। लड़ाई से विमुख होना हमारे कुल को कलंक लगाता है, तो भी तेरे लिए, तेरी प्रसन्नता के लिए, तू कहे तो मै इन सब बातों को पानी दूं। मैं अपने प्राणों से बढ़कर जस और जस से बढ़कर धर्म को समझता हूं तो भी तेरे लिए मेरा धर्म जाय तो जावे, तेरी मर्जी बिना कभी कोई काम न करूंगा। जिस दिन मेरी छाया भी मेरा साथ छोड़ कर अलग हो गई थी उस दिन तैंने अपनी जान झोंक कर मेरा साथ दिया, तो क्या अब मैं तुझ को उदास करके तेरी मर्जी बिना कोई काम करूं ?'[१]

रणधीर वास्तव में रणधीर है। विकट से विकट स्थिति में भी वह अपने धैर्य को नहीं छोड़ता। वह वन में सिंह को मारकर रिपुदमन की रक्षा करता है। स्वयंवर के समय सूरत का सेनापति जब उसे युद्ध के लिए ललकारता है, तो वह एक भाला मार कर सेनापति को पांच सात गज़ ऊंचा उछाल देता है। इस बात को देखकर सूरतपति स्वयंवर में आये हुए सभी राजा लोगों से कहते हैं कि 'जो वीर हमारे सेनापति को बचावेगा वो ही आज की शस्त्र-विद्या में जीतने वाला समझा जायगा'।[२] इस पर रणधीर घोड़े समेत ऊंचे उछल कर सेनापति को गिरते गिरते रोक लेता है और उसे सूरतपति के आगे लाकर खड़ा

१. श्रीनिवास ग्रन्थावली, पृ० १११।

२. वही, पृ० ७२।

कर देता है। रिपुदमन की मृत्यु का समाचार सुनकर वह अकेला ही सामूहिक सेना के साथ युद्ध कर निर्भीकता तथा साहसशीलता का परिचय देता है। 'म्योर सैन्ट्रल कालेज के संस्कृत प्रोफेसर आदित्य राम भट्टाचार्य ने रणधीर सिंह की वीरता के लिए लिखा था कि 'यह नाटक का एक दोष है क्योंकि कलियुग मे इस प्रकार के वीर पैदा होने की सम्भावना नहीं है, त्रेता में ही ऐसे वीर होते थे जो अकेले अक्षौहिणी सेना से युद्ध कर सकते थे। रणधीर की वीरता वास्तव में कलियुग में आश्चर्यजनक ही है।'[1]

रणधीर रण-वीर होने के साथ साथ सुन्दर, गुणवान् तथा आचारवान् भी है। मालती प्रेममोहिनी से उसके अनुपम सौन्दर्य की चर्चा इस प्रकार करती है—'सखी! उसको स्मरण करते ही शरीर के रोम खड़े हो जाते है। उसका सब अंग सांचे ढाल बना है। मैने तो ऐसी सजधज का ज्वान सब उमर में कभी नहीं देखा था। जिस समय वह अपने 'पवन वेग' घोड़े को किले के मैदान में फेरकर अपना कर्तव्य दिखाता है, उस समय और राजकुमार उसकी फुर्ती देख, चकित हो, चित्र बन जाते हैं। उसके शरीर में चुस्त पोशाक ऐसी जम कर बैठती है कि बहुत से राजकुमार उसकी नकल करते हैं। जिस समय उसके मनोहर मुख की रसभरी मुसकान और झलकते नेत्रों की मदमाती चितवन मेरे ध्यान में आती है, मेरी तो सुध बुध ठिकाने नहीं रहती। मैं उसकी अलबेली छवि का कहां तक वर्णन करूं, सब नगर उसकी मोहिनी मूरत देख मोहित हो रहा है।'[2]

रणधीर का आचरण शील गुण से युक्त है। दृढ़ निश्चयी होने के साथ-साथ वह अपने चरित्र में यथासम्भव नैतिक दुर्बलता को नहीं आने देता। सुखबासी लाल के कहने पर जब सरोजिनी उससे अपना नृत्य और गान की कुशलता को देखने के लिए अनुरोध करती है, उस समय वह इन विषयों में अरुचि प्रदर्शित कर अपने दृढ़ निश्चय का पूर्ण परिचय देता है। वह तो एकान्त में प्रेममोहिनी के प्रेमपूर्ण अनुनय से भी प्रभावित नहीं होता यही नहीं उसे तो स्त्री के वचनों पर चलना भी अच्छा नहीं लगता।

रणधीर सच्ची मित्रता को सम्मान की दृष्टि से देखता है। रिपुदमन और बाद में स्वामिभक्त जीवन को वह सच्चे मित्रों के रूप में स्वीकार कर लेता है। ऐसी बातों में वह अच्छी सूझ-बूझ का परिचय देता है। वन में जब रिपुदमन रणधीर से मैत्री का हाथ बढ़ाता है, तो वह उसके प्रयोजन को जानने

---

१. श्री निवासदास ग्रन्थावली, भूमिका, पृ० २१।

२. वही, पृ० ६-७।

के लिए उसमें स्पष्ट रूप से इस प्रकार कहता है --'संसार में किसी तरह के प्रयोजन बिना कोई किसी काम में प्रवृत्त नहीं होता, पर जो लोग लौकिक चतुर हैं, वे आदि में दूसरे से मिलते ही अपना कुछ प्रयोजन नहीं जानते, प्रीति हुए बाद दूसरे पर सब तरह का बोझ डाल कर अपना प्रयोजन प्रकट करते हैं, उस समय संकोच में आकर या तो दूसरे को उनका प्रयोजन सिद्ध करना पड़ता है या दोनों में परस्पर बिगाड़ हो जाता है। ऐसा संकोच अथवा बिगाड़ होने के बदले आदि में प्रीति करने वाले का प्रयोजन समझ लिया जाय और उसका काम हो सके तो उसको पीछे के लिए धोखे में न रखा जाय, ये बातें मेरी राय में अच्छी हैं। आप इस बात को कैसी समझते हैं।'[1] लेकिन बाद में रिपुदमन के आग्रह पर कि प्रीति के अतिरिक्त उसका और कोई प्रयोजन नहीं है, वह उसकी मित्रता को अंगीकार कर लेता है। वह संगीत, शास्त्र आदि विभिन्न प्रसगों को छेड़ कर उसके हृदय तथा स्वभाव की परख भी कर लेता है।

रणधीर का अपने माता-पिता के प्रति आचरण भी अनुकरणीय है। इस प्रकार हम देखते हैं कि नाटक के नायक के चरित्र में शील, शक्ति और सौन्दर्य की त्रिवेणी बहती है। फिर भी नाटककार को ऐसे गुणी नायक का पतन दिखलाना ही अभीष्ट था। शेक्सपियर के नाटकों के नायकों के समान उसकी चारित्रिक दुर्बलता ही उसके पतन का कारण बनती है। रणधीर भी स्वयंवर के समय अपने पिछले दिन की भूल को सुधारने के लिए नर्तकी सरोजिनी को अपने गले से मोतियों की माला उतार कर दे देता है। यही उसके दुखद अन्त का कारण बनती है। वह अपने हठी स्वभाव के कारण ही कहीं-कहीं बुद्धिहीनता से आचरण भी करता है। वह निर्दोष चौबे जी को दण्ड देने के लिए तैयार हो जाता है। जीवन के द्वारा रोके जाने पर भी वह निःशस्त्र युद्ध में कूद पड़ता है। इस प्रकार की भूलें नायक रणधीर के पतन में सहायक बनी हैं।

रणधीर में रोमांटिक नायक की विशेषताएं अधिक हैं। उसके चरित्र का विकास मानसिक घात-प्रतिघातों तथा बाह्य संघर्ष के परिवेश में स्वाभाविक रूप से हुआ है। इसी अन्तर्द्वन्द्व के कारण उसकी चारित्रिक सबलताएं एवं दुर्बलताएं यथास्थान स्वतः ही स्पष्ट हो गई हैं। रणधीर का अपना चरित्र यौवन के प्रेम, साहस, शौर्य तथा आत्म-बलिदान की अनुकरणीय गाथा है। उसका व्यक्तिगत वैशिष्ट्य उसे परम्परागत नायकों की श्रेणी से अलग कर देता है। नायक के स्वरूप-विकास की दृष्टि से यह नाटक विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

---

१ श्रीनिवास ग्रन्थावली, पृ० १४।

नायक के प्रति इसी नवीन दृष्टिकोण का सम्यग् विकास हम प्रसाद आदि के नाटकों में पाते हैं।

नयी शैली के 'रणधीर और प्रेम मोहिनी' की दुःखान्त नाटकों की परम्परा में शालिग्राम वैश्य कृत **लावण्यवती सुदर्शन'** नाटक विशेष रूप से प्रसिद्ध है। नाटक की भूमिका में नाटककार ने इसका रचनाकाल सम्वत् १९४७ अर्थात् सन् १८९० बड़े स्पष्ट रूप से दिया है,[1] पता नहीं डाक्टर सोमनाथ गुप्त[2] तथा डाक्टर वेद पाल खन्ना[3] ने इसका रचनाकाल सन् १८९२ कैसे दे दिया है। इस नाटक को लिखने की प्रेरणा तो स्पष्टतः 'रणधीर-प्रेममोहिनी' से ही प्राप्त हुई परन्तु दोनों नाटकों के उद्देश्य में पर्याप्त अन्तर है। श्रीनिवास दास ने तो दुःखान्त नाटक की रचना करके हिन्दी मां की गोद को भरना चाहा और शालिग्राम ने नायक-नायिका के लौकिक प्रेम के भयंकर परिणामों को दिखाने के हेतु ही इस नाटक की रचना की है। लेखक के शब्दों में 'इसके पाठ करने से पाठकों को यह भलीभांति विदित हो जायगा, कि इसका परिणाम कैसा भयंकर होता है। राज, धन, धाम, माता, पिता, खानपान, लज्जादिक सब ही से हाथ धोना पड़ता है और अन्त में प्राण भी इन दो अक्षरों की भेंट करने पड़ते हैं। जब इस कंटीले प्रेम के ये सब दोष ध्यान में समावेंगे, तो ये कदापि इस ओर को पग न बढ़ावेंगे। यही मेरा इस ग्रन्थ के लिखने का प्रयोजन है, कुछ विषयासक्ति नहीं। अधिक क्या लिखूं; 'थोरे में जानि हैं सयाने।'[4] नाटक के अन्त में भी नाटककार ने अपने इसी प्रयोजन को इस भांति स्पष्ट किया है—

'देखेउं मन्द प्रेम परिणाम;
जब ते अंकुर जमत चित्त में, छूटत धन अरु धाम;
मित्र मित्र दिन रात रटत हैं, और न दूजो काम;
पहिले विरह अग्नि तन प्रगटत, चैन न आठो याम;
मारत तक तक तीर रात दिन, पीछे पापी काम;
गये सुदर्शन और सुलोचन, समरसिंह बलधाम;
प्रेमलता लावण्यवती को रह्यो नाम ही नाम;

---

१. लावण्यवती सुदर्शन नाटक, संस्करण १९०७, भूमिका, पृ० १२।
२. हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास, संस्करण १९५८, पृ० ७०।
३. हिन्दी नाटक साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन, संस्करण १९५८, पृ० ७४।
४. लावण्यवती सुदर्शन नाटक, भूमिका, पृ० १०-११।

पूर्ण प्रेम कर राम रमा सों, जो चाहे विश्राम;
तज भ्रम लोभ मोह ममता को, भज मन शालग्राम।''[1]

इस पद्य भाग से स्पष्ट है कि नाटककार का उद्देश्य लौकिक प्रेम के कुपरिणामों को दिखलाकर 'राम और रमा' से प्रेम करने की प्रेरणा देना है। पूर्ण सुख और आनन्द की प्राप्ति हो सकती है। नाटककार ने नाटक के कथा-संकेत भी इसी पद्य द्वारा स्पष्ट कर दिये हैं।

नाटक में सात अंक है। राजकुमारी लावण्यवती स्वप्न में राजकुमार सुदर्शन को देखती है और उसके रूप-सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाती है। सुदर्शन भी स्वप्न में लावण्यवती को देखकर उसके रूप पर आसक्त हो जाता है। लावण्यवती की सखी प्रेम लता जो इन्द्रजाल के यन्त्र मन्त्र भली भांति जानती है, जादू, टोना उच्चाटन, मोहन और आकर्षण विद्या में अत्यन्त निपुण है, सभी राजकुमारों के चित्र बनाकर विजय नगर के राजा विजयसिंह के पुत्र सुदर्शन से उसकी पहचान करवाती है और साथ ही उसे ढूंढ लाने के लिए योगिन वेश में निकल पड़ती है। सुदर्शन भी लावण्यवती के प्रेम-विरह में अपने मित्र सुलोचन को साथ लेकर अपनी प्रेमिका की खोज में निकलता है। रास्ते में उनकी भेंट प्रेमलता से हो जाती है और वह उन दोनों को लावण्यवती के पास ले जाने का वचन देती है रास्ते में सुदर्शन एक बाग में विश्राम के लिए प्रवेश करता है जहां दुर्मुख नामक राक्षस उसे उठा ले जाता है। सुदर्शन शुक की सहायता से सुलोचना के पास पत्र भिजवाता है। सुलोचन और प्रेमलता वहां पहुंच जाते है और सुदर्शन उनके साथ लावण्यवती के पास जाता है। बाग में सुदर्शन कोतवाल के द्वारा पकड़ा जाता है और वह उसे राजा के पास ले जाता है और उसे फांसी की सज़ा दे देता है। सुदर्शन को फांसी लगने की बात सुनकर लावण्यवती अपने प्राणों को छोड़ देती है। और लावण्यवती की मृत्यु का दुखद समाचार सुनकर उसकी माता तथा उसके पिता राजा समरसिंह भी प्राणों को त्याग देते हैं। सुलोचन और प्रेमलता भी जलती आग में कूद कर अपनी लौकिक यात्रा को समाप्त कर देते हैं।

यद्यपि 'लावण्यवती सुदर्शन' को लिखने की प्रेरणा नाटककार को 'रणधीर और प्रेममोहिनी' से मिली तथापि इस पर उसके अतिरिक्त कार्तिक प्रसाद खत्री के 'ऊषा हरण' नाटक का भी प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। 'ऊषा-हरण' में ऊषा अनिरुद्ध को स्वप्न में देखती है और उसके प्रति आकृष्ट हो जाती है। लावण्यवती भी स्वप्न में ही सुदर्शन के प्रति आसक्त हो जाती है। 'ऊषा हरण'

---

१. लावण्यवती सुदर्शन नाटक, भूमिका, पृ० १७२।

में ऊषा की सखी चित्रलेखा ऊषा के प्रेमी को जानने के लिए अनेक व्यक्तियों के चित्रों को चित्रित करती है। लावण्यवती की सखी प्रेमलता भी इस विद्या मे निष्णात है और उसी की सहायता से ही नायक-नायिका में परस्पर भेट हो पाती हैं।

नाट्य-शिल्प की दृष्टि से 'रणधीर और प्रेममोहिनी' तथा 'लावण्यवती सुदर्शन' दोनों ही दुःखान्त रचनाएं है। दोनों ही नाटकों में नायक की मृत्यु पर नायिकाएं अपने प्राणों को त्याग देती हैं 'रणधीर और प्रेममोहिनी' में तो इन दोनों के पिता इनकी मृत्यु पर दुखी ही होते है—परन्तु 'लावण्यवती सुदर्शन' में सुदर्शन के घर से चले जाने के वियोग में उसके पिता विजयसिंह राजपाट छोड कर भगवद् भजन में लग जाते हैं और लावण्यवती के माता-पिता अपने प्राणों को त्याग देते हैं। सुलोचन अपने मित्र को और प्रेमलता अपनी सखी के वियोग में अपने प्राणों को त्याग देते हैं। दूसरे शब्दों में नाटक के अन्त में समस्त रंगमंच पर शवों का ढेर लग जाता है। 'रणधीर और प्रेममोहिनी' में लौकिक चित्रण और यथार्थता का अंश 'लावण्यवती सुदर्शन' नाटक से बहुत अधिक है। 'लावण्यवती सुदर्शन' में दुर्मुख राक्षस का सुदर्शन को उठा ले जाना, शुक सारिका का मानवी भाषा में बोलना तथा पत्र-वाहक बनना, सुलोचन के चिता पर बैठते समय एक महापुरुष का प्रकट होना और फिर सहसा ही अन्तर्धान हो जाना आदि घटनाओं के समावेश से नाटक के वस्तु-व्यापार में अलौकिकता आ गई है।

नाटक का नायक सुदर्शन पन्द्रह-सोलह वर्ष का एक रूपवान् और प्रेमी युवक है। उसका प्रेम सूफ़ियों के प्रेम जैसा पूर्वानुराग है। लावण्यवती को स्वप्न में देखकर वह उसके विरह में सन्तप्त हो कर राजकीय बातों के प्रति उदासीन हो जाता है। सुलोचन नाटककार के आध्यात्मिक प्रेम के विचारों का प्रतिनिधित्व करता है। वह बार-बार प्रेम-पन्थ की कठिनाइयों एवं भयंकर परिणामों की ओर सुदर्शन का ध्यान आकृष्ट करता है और उसे परमेश्वर की ओर ध्यान लगाने के लिए कहता है जो भुक्ति और मुक्ति दोनों पदार्थों को देने वाला है। परन्तु सुदर्शन पर उसकी ऐसी किसी भी बात का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह तो अपनी प्रेमिका के वियोग में इतना अधीर हो जाता है कि उसके बिना वह पेट में छुरी मार कर आत्महत्या करने की बात को भी हृदय में लाता है।

नाटककार ने सुदर्शन को उसके पिता के द्वारा आज्ञाकारी कहलवाया है, परन्तु उसकी आज्ञाकारिता का कोई प्रमाण नहीं दिया। सुदर्शन दृढ़-निश्चयी एवं हठी है। प्रेमी होने के साथ-साथ वह वीर एवं साहसी भी है। वह अपने

प्रेम की सत्यता को प्रमाणित करने के लिए हंसते-हंसते फांसी की सज़ा को सहन कर लेता है। समूचे तौर पर सुदर्शन का चरित्र इन उपर्युक्त विशेषताओं के कारण रोमांटिक नायक के चरित्र के ही अधिक निकट पड़ता है।

भारतेन्दु युग में ऐसे नाटक बहुत कम मिलते है जिनमें पाश्चात्य नाटकों की तरह पात्रों में संघर्ष को चित्रित किया गया हो। इस बात का पूर्व ही उल्लेख किया जा चुका है कि अंग्रेज़ी नाट्य शैली का प्रभाव सर्वप्रथम बंगला नाटकों पर पड़ा और बंगला के माध्यम से हिन्दी नाटक भी प्रभावित हुए। भारतेन्दु ने 'विद्यासुन्दर' नाटक लिखने की प्रेरणा बंगला से ली। इसी प्रकार पण्डित केशवराम भट्ट ने बंगला के उपेन्द्रनाथ दास कृत 'शरत और सरोजिनी' के आधार पर सन् १८७७ में **'सज्जाद सुम्बुल'** नाम से नाटक लिखा। इस युग का स्यात् यह पहला नाटक माना जा सकता है जिसमें सज्जाद जैसे एक साधारण ज़मीदार को नायक के रूप में चित्रित किया गया है। नाटककार ने नायक सम्बन्धी सभी प्राचीन एवं शास्त्रीय मान्यताओं को अस्वीकार कर उसे नयी दृष्टि से देखने का प्रयास किया है। इस दृष्टि से तत्कालीन नाटकों में 'सज्जाद-सुम्बुल' का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है।

नाटक के आरम्भ में मंगलाचरण, प्रस्तावना आदि न देकर नाटककार ने शास्त्रीय परम्परा की उपेक्षा की है। नाटक का आरम्भ सज्जाद के पत्र से होता है जो सुम्बुल के नाम लिखा गया है। सज्जाद के मित्र नरसिंह तथा हैदर उसे वेश्याओं के नृत्य देखने के लिए कहते हैं परन्तु सज्ज़ाद को स्वभाव से ही ये बातें अच्छी नहीं लगतीं और वह इसका विरोध करता है। दूसरी ओर ज़मीदार शमशेर बहादुर हैं जिसका अपने नौकरों के साथ व्यवहार बड़ा दुष्ट है। बात-बात पर उन्हें गालियां देता है। घसीटा ऐसे बदमाश को उसने इस लिए पाल रखा है कि समय-असमय वह उसके काम आ सके। अब्बास इनका पाला हुआ युवा लड़का है, जिसे इनकी बीबी नसीमन हृदय से प्रेम करती है। शमशेर बहादुर की वेश्या भावज हलीमा से अब्बास को पता चलता है कि घसीटा बदमाश उसके पीछे पड़ा हुआ है। अब्बास इन बदमाशों के हाथों पीटा जाता है, परन्तु संकट के समय सज्जाद उसकी सहायता करता है। शमशेर बहादुर इसे अपनी तौहीन समझ कर सज्जाद की बहन गुलशन के अपहरण की योजना बनाता है।

इधर गुलशन अब्बास के प्रति आकृष्ट हो जाती है। सलीमा अब्बास से मिलने आती है और उससे वह अपना यह निश्चय स्पष्ट रूप से प्रकट कर देती है कि वह शमशेर बहादुर के प्रति बदले का भाव रखती है और उसकी हत्या करना चाहती हैं। उसका कारण वह यह देती है कि शमशेर बहादुर ने

उसके पति को इस लिए घसीटा द्वारा मरवा दिया है, क्योंकि वह हलीमा पर कुदृष्टि रखता था। जब हलीमा ने यह देखा कि इस दुष्ट से अपने को बचा लेना बड़ा कठिन है, तो उसी दिन उसने यह निश्चय कर लिया था 'कि अब हमारी पाकदामनी मे दाग तो लग ही चुका, अब नाहक मरने की तदबीर क्यों करूं। मगर मैंने अपने जी मे उसी वक्त वादा किया था (दांतवर दांत ससमसा के) कि आज हो या कल, एक रोज़ न एक रोज इसके खून से मैं जरूर नहाऊंगी। उसी वक्त से मैं घात मे लगी हूं।'[1]

इधर शमशेर के कहने पर 'सनीचर' की रात को ग्यारह बजे घसीटा आदि कई व्यक्ति गुलशन को भगाने के लिए उसके यहां आते है। उसी दिन सज्जाद भी हुसैनी के साथ अचानक ही अपने घर आ जाता है। अतः घसीटा तथा उसके साथियो द्वारा डाका पड़ने का समाचार सुनकर सज्जाद अपनी पिस्तौल निकाल लाता है और अकेला ही बीस पच्चीस व्यक्तियों का मुकाबला करता है। घसीटा इस लड़ाई में मारा जाता है। सज्जाद के भी चोटें आती है। सुम्बुल उसकी सेवा-शुश्रूषा में कोई कसर नहीं रखती। उसके हृदय में सज्जाद के प्रति कोमल भाव हैं। वह अपने इस आकर्षण को कह न सकने के कारण वहां से चले जाना ही अच्छा समझती है। इधर सज्जाद भी अपने हृदय में उसके प्रति आकर्षण अनुभव करता है। सुम्बुल जाने से पहले गुलशन के नाम यह पत्र लिख कर छोड़ जाती है—

'प्यारी बहन,

तुम लोगों के इहसान इतने मुझ पर है कि मैं सर नहीं उठा सकती। मुझे न बाप है, न मां, मैं यतीम हूं। लेकिन तुम लोगों की मुहब्बत और मिहरबानी से मैं आज तक यह नहीं जानती कि तकलीफ किसे कहते हैं। मैं कहीं और किसी हालत में क्यों न रहूं, मगर तुम लोगों को कभी न भूलूंगी। बहन, कुछ ख्याल न करना, तुम से हमेशा के लिए रुखसत हुई। हमारे लिए न बेफाइदा अफसोस करना, न हमें नाहक ढूंढवाना। इस दुनिया में अब तुम लोगों से और मुझ से मुलाकात न होगी। अल्लाहताला गुफूरुलरहीम के पास हमारी यही दुआ है कि तुम लोग सदा खुश रहो। गुलशन प्यारी बहन, तुझे छोड़ते छाती फटती है, पर क्या करूं लाचार हूं। गुलशन, तुम मुझे भूलना मत, दिन भर में एक बार भी याद करोगी तो बहुत है।

तुम्हारी कम्बख्त सुम्बुल।'[2]

---

१. सज्जाद सुम्बुल, (संस्करण १९०४ ई०) पृ० ५९।

२. वही, पृ० ८१।

सज्जाद इस पत्र को पढ़कर बड़ा चिन्तित हो जाता है और वह सुम्बुल की खोज में घर से चल पड़ता है। इधर डाकुओं की सहायता से शमशेर गुलशन तथा अब्बास को पकड़ लेता है। दूसरी ओर सज्जाद भी राजमहल के पास की पहाड़ी पर चार छद्मवेशी भिखारियों द्वारा धोखे में पकड़ लिया जाता है। ये चारों व्यक्ति क्रांतिकारी दल से सम्बन्धित होते हैं जो देश को स्वतन्त्र करवाना चाहते हैं। ये लोग सज्जाद से बारूद वगैरह बनवाने के लिए ४००० रुपया मांगते हैं और न मिलने पर उसे गार के नीचे अन्धेरे तहखाने में डाल देते हैं। इस स्थल पर नाटककार अपनी तिलस्म प्रवृत्ति में अधिक रस लेता हुआ दिखाई पड़ता है।

सुम्बुल भी घूमती भटकती हुई इधर आ निकलती है। वह भी इन बद-माशों के गिरोह में फंस जाती है। अपने स्त्रीत्व को खतरे में पड़े देखकर वह एक कमरे में अकेले खरबूजा खाने के बहाने उसमें बन्द होकर गले में हंसिया लगाकर आत्म-हत्या करने का प्रयास करती है और अचेत हो कर गिर पड़ती है। गिरने से पूर्व वह रोती हुई यह कहती है—'अब दिन भर रोने के लिए भी वक्त नही है। सज्जाद ! जालिम अब मरती हूं, मगर हाय मरते वक्त तेरी सूरत नहीं देखी ! अम्मा, अब तेरी कमबख्त बेटी इस दुनिया से रुखसत होती है। खुदकशी गुनाह तो है, मगर क्या करूं औरतों के लिए इज़्जत से बढ़ के कोई चीज़ नहीं है। खुदाया ! मैं लाचार हूं, हमारे गुनाह को बख्श (रोती रोती) सज्जाद, जालिम तुझको मैं प्यार करती थी—अपनी जान से भी जियादे प्यार करती थी। हाय जालिम, एक नज़र भी तुझको इस वक्त देखती अब अफसोस करने से क्या होता है। (रोती रोती-आंख बन्द करके) देखो मतवाले, देखो, मैं कैसा खाना खाती हूं।'[१]

राजमहलों के पास की पर्वतीय भूमि हेमचन्द्र के द्वारा सामुद्रिक जन्तुओं के अस्थि कंकालों के अनुसंधान हेतु खुदवाई जाती है। वस्तुतः यह वही स्थान होता है जिसके नीचे सज्जाद गढ़े में बन्द किया गया था। सूर्य के प्रकाश को देखकर सज्जाद ऊपर चढ़कर बाहर आ जाता है। कुली लोग उसे भूत समझते है परन्तु हेमचन्द्र उसे पहचान लेते हैं। हेमचन्द्र से ही यह पता चलता है कि गुलशन को शमशेर बहादुर उठा ले गया है और उसकी सारी धन-सम्पत्ति लोगों द्वारा लूट ली गई है।

इधर शमशेर ने अब्बास को बांध रखा है। वह उससे बलपूर्वक यह लिख-वाना चाहता है कि उसने सारी सम्पत्ति शमशेर बहादुर को दे दी है और

१. सज्जाद सुम्बुल, पृ० ६६।

दूसरे यह कि मियां सज्जाद की बहन पर उसे सन्देह है। अब्बास इस बात के लिए तैयार नही होता। शमशेर बहादुर अब्बास के सीने पर लात मार कर उसे मारना ही चाहता है कि बदले हुए भेस में हलीमा उसे पीछे से मारकर भाग जाती है। यहां हलीमा से ही अब्बास को गुलशन की कुशलता का समाचार मिलता है। सज्जाद की सौतेली मां महमूदा, जिसे मरा हुआ बतलाकर शमशेर बहादुर ने सज्जाद पर मुकदमा किया था, वह शमशेर बहादुर से दीवान काली प्रसाद के पास पड़े हुए दस्तावेजों पर हस्ताक्षर करवा लेती है, जिन में यह लिखा होता है कि 'मैने अदालत मे बीबी मौसूफा का दस्तखत किया। जो वसीयतनामा पेश किया, वह महज़ जाली और लिबासी है।' इत्यादि।

शमशेर घर आकर अपने इस अपमान का बदला अब्बास को मार कर लेना चाहता है। वह गुलशन के सामने ऐसा करने की सोचता है इसलिए वह उसे वहा साथ लेकर आता है। अब्बास के सामने वह गुलशन का बलपूर्वक चुम्बन भी लेता है। ज्यों ही वह किर्च अब्बास पर मारना चाहता है कि पीछे से हलीमा किर्च उठाकर शमशेर के मारती है। वह अचेत हो जाता है। गुलशन अपने स्त्रीत्व के लुट जाने के भय से अचेत हो जाती है और अब्बास यह सब कुछ न सहन कर सकने के कारण। यहां हलीमा स्वयं भी अपनी छाती में किर्च मारकर आत्महत्या कर लेती है। शमशेर, गुलशन, अब्बास तथा अपनी पत्नी नसीमन के समक्ष अपने सभी गुनाहों को स्वीकार करता है। जिस गुलशन के वह स्त्रीत्व को लूटने का प्रयास करता है, उसे ही वह अन्त में अपनी बेटी कहकर पुकारता है। वह अब्बास से अपने सभी अपराधों की क्षमा मांगता है और अपनी पत्नी नसीमन से जिसके साथ वह आजीवन कभी खुश होकर नहीं बोला, उससे भी अपने अपराध की क्षमा याचना करता है। मरते समय वह अब्बास के नाम ८००० रुपया और गुलशन के नाम ४००० रुपया वसीयत कर जाता है तथा शेष अपनी पत्नी के नाम। इसके बाद शमशेर दम तोड़ देता है। नसीमन भी पति को मरा हुआ देखकर रोती-पीटती हुई शोणित की कै करती है और मर जाती है।

अब सज्जाद, गुलशन और अब्बास इकट्ठे हो जाते हैं, परन्तु सुम्बुल का कोई पता नहीं चलता। इसके लिए सज्जाद देश भर के प्रसिद्ध समाचार पत्रों में भी निकलवाता है और उसका समाचार ला देने वाले व्यक्ति के लिए २००० रुपये का पुरस्कार भी घोषित करता है। सुम्बुल पुरुष वेश में सज्जाद के पास आती है और स्वयं ही अपने बारे में सज्जाद से बहुत बातें बतलाती है। परन्तु अन्त मे वह सज्जाद द्वारा पहचान ली जाती है। वस्तुतः वह पुरुष वेश में सज्जाद के हृदय में उसके लिए कितना प्रेम है?—यह जानने की चेष्टा करती

है। अन्त में सज्जाद और सुम्बुल का विवाह हो जाता है। अब्बास और गुलशन भी विवाह सूत्र में बन्ध जाते हैं।

नायक के चरित्र-विकास की दृष्टि से इस नाटक का बड़ा महत्त्व है। सज्जाद के जीवन में संघर्ष है। इसी कारण उसके चारित्रिक-दोषों का प्रस्फुटन बड़े ही स्वाभाविक ढंग से नाटक में हुआ है। वह एक उदार हृदय व्यक्ति है। निर्धनों के प्रति उसके हृदय में सहानुभूति है। वेश्याओं के नृत्य-गान के लिए उसके हृदय में अरुचि है। वह अपने देश के लोगों की ऐसी विलासिता की प्रवृत्ति को देखकर बड़ा चिन्तित हो जाता है। वह कहता है—'जरा अपने मुल्क और अपनी हालत पर गौर करो। यह वक्त नहीं है कि इश्क से दीवाने बने बन बन की खाक छानते फिरें, जंगल और सहरा में भटकते फिरें। देखो तुम्हारे मुल्क की क्या हालत थी और क्या हो गई। तुम्हारा मुल्क किसके हाथ में है ? वह कैसे है और तुम कैसे हो ? इंगलैंड और फ्रांस की क्या हालत है, और तुम्हारे हिन्दुस्तान की क्या गत है ?'[1] उसके हृदय में देश-प्रेम है। जो लोग अपने देश के प्रति ईमानदार नहीं हैं, उनके प्रति उसके हृदय में कोई आदर नहीं है। उसे इस बात का अहसास है कि 'जब तक हम लोग इस बुरी हालत में हैं तब तक जो इश्क और ऐश को रवा समझेगा वह नमकहराम, दगाबाज, खुदगर्ज, नफ्स-परस्त और अपनी मां हिन्दुस्तान का कपूत बेटा है।'[2]

सज्जाद में एक सज्जन व्यक्ति का हृदय है। वह समाज के उन सभी दोषों, कुरीतियों एवं व्यवस्थाओं को घृणा की दृष्टि से देखता है जो देश के उत्थान, प्रगति एवं विकास में बाधक हैं। अपने देश में जो थोड़े-बहुत सामाजिक व्यवस्थाओं में सुधार उसे दृष्टिगोचर होते हैं, उनके लिए वह अंग्रेज़ सरकार को श्रेय देता है। उसके शब्दों में—'जिहालत, हठधर्मी और तअस्सुब की वजह से हम लोग इस बुरी हालत को पहुंच गये हैं। अगर हम लोग महज खुदगरज और नफ्सपरस्त न होते तो यह हाल न होता। लेकिन अफसोस है कि बिगड़ी हालत पर हफ्ते में भी एक बार गौर करने वाले इतने कम हैं कि उनका शुमार उंगलियों पर कर ले सकते है। मुल्क की तरफ से बेपरवाई का मरज या खुदा कब दफा होगा ? इसका कौन इलाज हो ?—(आह भरकर) हिन्दुस्तान की किस्मत कुछ अच्छी थी कि अंग्रेजों का यहां कदम आया। खुदावन्दा ! अंग्रेजों की सल्तनत कुछ दिन और कायम रख। अगर इस मुल्क की तरक्की होगी तो इन्हीं की बदौलत होगी। इस हालत में जो बृटिश सल्तनत के बरखिलाफ

---

१. सज्जाद और सुम्बुल, पृ० ५।

२. वही, पृ० ५।

सलाह दे वह नादान है बेवकूफ है बल्कि मुल्क का दुश्मन है।'

भारतेन्दु युग में देश-भक्ति की दो धाराएं बह रही थीं। एक तो वे लोग थे जो भारतीय संस्कृति के पोषक एवं समर्थक थे और दूसरे वे जो अंग्रेज सरकार के समर्थक थे। इस युग के सशक्त कवि एवं नाटककार भारतेन्दु की रचनाओं में इन भावनाओं का चित्रण हुआ हैं। इस नाटक का नायक सज्जाद हुसैन दूसरी विचारधारा का समर्थक है। उसका दृढ़ विश्वास है कि भारत में सभी प्रकार के सुधारों का श्रेय अंग्रेज़ सरकार को है। इस प्रकार सज्जाद हुसैन देशभक्त होने के साथ राज-भक्त भी है।

सज्जाद स्वभाव से दानी प्रकृति का है। निर्धनों की सहायता करना तथा उनके कष्टों को दूर करना आदि कुछ एक ऐसे गुण हैं, जिनके कारण नगर के सभी हिन्दू-मुस्लमान उसे बड़े सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। उसके मन में किसी भी प्रकार का साम्प्रदायिक भाव नहीं है।

सज्जाद वीर एव निर्भीक प्रकृति का है। अकेले ही बीस-पच्चीस डाकुओं का वह डटकर मुकाबला करता है। जंगल में भी जब वह चार छद्मवेशी व्यक्ति द्वारा घिर जाता है, उस समय भी वह घबराता नहीं। उस स्थिति का निर्भीकता एवं धैर्य के साथ सामना करता है।

वीर होने के साथ-साथ उसके हृदय में सुम्बुल के प्रति आकर्षण है। इन दोनों का प्रेम बड़ा मर्यादित रहा है दोनों लज्जा एवं संकोच के कारण एक-दूसरे से अपने हृदय की बात नहीं कह पाते। इसीलिए तो सुम्बुल उसे छोड़ कर चली जाती है। अन्त में तो वह पुरुष के छद्मवेश में अपने प्रति सज्जाद की प्रेम-भावना की परीक्षा कर ही अपने वास्तविक रूप को प्रकट करती है। सुम्बुल की मां के शब्दों में—'बेटी, मियां सज्जाद इन्सान नहीं है, यह कोई फरिश्ता है।' निस्सन्देह उसके गुण अनुकरणीय हैं। रणधीर की तरह सज्जाद में भी रोमांटिक नायक के गुण अधिक है। वह वीर, साहसी, निर्भीक देशभक्त एवं राजभक्त तो है ही, साथ ही एक सफल प्रेमी भी हैं। अतः इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस युग में नायक-सम्बन्धी पाश्चात्य प्रभाव का बीजारोपण आरम्भ हो गया था जिसका सम्यग् विकास प्रसाद युग में पाते हैं।

सामाजिक नाटकों में नायक

भारतेन्दु युग मुख्यतः सुधारवादी युग है। इस युग के कलाकार ने अपने साहित्य के माध्यम से व्यक्ति के सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक तथा नैतिक

सिद्धान्तों, आदर्शों तथा मान्यताओं में उचित परिवर्तन तथा सुधार लाने का प्रयास किया। साहित्य के क्षेत्र में भारतेन्दु इस आन्दोलन के प्रवर्तक थे। उन्होंने तत्कालीन समाज की आवश्यकता को अनुभव कर ऐसे नाटकों की रचना की, जिनमें प्राचीन रूढ़ियों, अन्ध-विश्वासों, धर्म के बाह्याचारों तथा समाज की खोखली आर्थिक व्यवस्था एवं राजनैतिक व्यवस्था पर तीखे और मार्मिक व्यंग्य भरे है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति,' अन्धेर नगरी, भारत दुर्दशा आदि इनकी ऐसी ही रचनाएं है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' (सन् १८७३) में भारतेन्दु ने धर्म का नाम लेकर शास्त्रोक्तियों का तर्क देकर मांसभक्षण करने वाले, मदिरा-पान तथा व्यभिचार करने वाले धर्मध्वजों पर बड़ा तीखा एवं प्रभावक व्यंग्य किया हैं। ऐसे लोगों का सामाजिक आदर्श है—

'एहि असार संसार में चार वस्तु है सार।
जूआ मदिरा मांस अरु नारी-संग बिहार।'[१]

इस नाटक का नायक राजा गृद्धराज है, जिसका आदर्श है—

'पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा पतित्वा धरणीतले।
उत्थाय च पुनः पीत्वा नरोमुक्तिमवाप्नुयात्॥'[२]

अर्थात् पीकर, पीकर और पुनः पीकर, पृथ्वी पर गिरकर तथा उठकर पुनः पीकर मनुष्य मुक्ति प्राप्त करता है। यमराज इस पापी गृद्धराज तथा उसके अन्य साथियो को बड़ी कठोर नरक-यातना का दण्ड देता है। चित्रगुप्त यमराज के समक्ष गृद्धराज के पाप-कृत्यों का उल्लेख इस प्रकार करता है—'यह राजा जन्म से पाप में रत रहा, इसने धर्म को अधर्म माना और अधर्म को धर्म माना, जो जी चाहा किया और उसकी व्यवस्था पण्डितों से ले ली, लाखों जीव का इसने नाश किया और हज़ारों घड़े मदिरा के पी गया पर आड़ सर्वदा धर्म की रखी, अहिंसा, सत्य, शौच, दया, शान्ति और तप आदि सच्चे धर्म इसने एक न किये, जो कुछ किया वह केवल वितंडा कर्म-जाल किया, जिसमें मांस-भक्षण और मदिरा पीने को मिले और परमेश्वर प्रीत्यर्थ इसने एक कौड़ी भी नहीं व्यय की, जो कुछ व्यय किया सब नाम और प्रतिष्ठा पाने के हेतु।'[३] जब यमराज के दूत राजा को कोड़े मारते हैं तो उस समय वह कहता है—'अब देखिये, अंग्रेज़ों के राज्य में इतनी गो-हिंसा होती है सब हिन्दू बीफ खाते है उन्हें आप नहीं दण्ड देते और हाय हम से धार्मिक की यह दशा, दुहाई वेदों की, दुहाई धर्म

---

१. भारतेन्दु नाटकावली (द्वितीय भाग), पृ० १०८।
२. भारतेन्दु नाटकावली (द्वितीय भाग), पृ० १०८।
३. वही, पृ० ११५।

शास्त्रो की, दुहाई व्यास जी की, हाय रे मैं इनके भरोसे मारा गया।'[1] जिस देश तथा समाज में गृद्धराज ऐसे धार्मिक विद्वान हों उस का पतन अवश्यंभावी है राजा के कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन दिनों गो-हत्या बहुत हुआ करती थी।

भारतेन्दु स्वभाव से निर्भीक थे। उन्होने अपने नाटको में जहां सामाजिक एवं धार्मिक कुरीतियों का निर्भीकता से भण्डाफोड़ किया है, वहां साथ ही अदम्य साहसशीलता के साथ उन्होंने सामयिक परिस्थितियों के अनुकूल नयी सामाजिक मान्यताओं का समर्थन भी किया है। उस युग में विधवाओं के पुर्नाविवाह का समर्थन अधिकांशत: सभी समाज-सुधारकों ने किया है। इस नाटक मे भी भारतेन्दु ने एक ऐसे बंगाली पात्र को स्थान दिया है। जो विधवाओं के पुन-र्विवाह का प्रबल समर्थक है। उसके शब्दों में—'पुर्नाविवाह का करना क्या! पुर्नाविवाह अवश्य करना। सब शास्त्र की यही आज्ञा है, और पुर्नाविवाह के न होने से बड़ा नोकसान होता है, धर्म का नाश होता है। ललनागन पुश्चली हो जाती है, जो विचार कर देखिए तो विधवागन का विवाह कर देना उनको नरक से निकाल लेना है और शास्त्र की भी आज्ञा है।'[2]

राधाकृष्ण दास कृत **'दुखिनी बाला'** अथवा 'विधवा-विवाह नाटक (१८८०) में पुत्र-जन्म आदि उत्सवों पर अपव्यय, अनमेल विवाह तथा बाल-विवाह के कुपरिणामों की ओर संकेत किया गया है। नाटक नायिकाप्रधान है। प्रथम संस्करण की श्यामा और तदनन्तर दूसरे संस्करण की सरला इस नाटक की नायिका है। इस नाटक में उभरती हुई सुधारवादी युग-चेतना के स्वर मुखर हुए हैं। नायिका सरला के चरित्र से स्पष्ट है कि इस युग की नारी अपने अधिकारों के प्रति पूर्णत: सजग है और वह समाज में सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त करने के लिए उद्योगशील है। नाटक के अन्य पात्रों की अपेक्षा नाटककार का ध्यान सरला के चरित्र तथा उसकी समस्याओं की ओर अधिक आकृष्ट हुआ है।

राधाकृष्ण दास कृत **'धर्मालाप'** (१८८५) में, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, भारत में प्रचलित नाना धार्मिक सम्प्रदायों की अवस्था का चित्रण किया गया है। वृद्ध सनातन धर्म इसका नायक है। इसके अन्य पात्र हैं—वैरागी, ब्राह्म देवता, शैव, शाक्त, कौल, वैष्णव, दयानन्दी, ब्राह्मो, थियोसोफिस्ट आदि। ये सभी पात्र सनातन धर्म को घेरे हुए भारत में धर्म-दुर्दशा पर अपना अपना अभिमत प्रकट करते है। इन धार्मिक सम्प्रदायों में पारस्परिक फूट को दिखलाना

---

१. भारतेन्दु नाटकावली (द्वितीय भाग) पृ० ११८-११६।

२. वही, पृ० ६३।

ही नाटककार का उद्देश्य है। वास्तव में यह नाटक न होकर वार्तालाप मात्र है। नाट्य-शिल्प की दृष्टि से इसका कोई विशेष महत्व नही है।

प्रताप नारायण मिश्र के **'कलि कौतुक रूपक'** (१८८६) में भी **'दुखिनी बाला'** की तरह नारी जीवन की समस्या को ही चित्रित किया गया है। चौतालीस पृष्ठो के छोटे से इस नाटक में केवल चार दृश्य है। प्रत्येक दृश्य में लेखक नये पात्रों से हमे परिचित करवाता है। घटनाओं में बिखराव होने के कारण इस नाटक का कथानक अत्यन्त ही शिथिल है। नाटक के नायक लाला किशोरी दास है।

किशोरीदास की पत्नी श्यामा का एक व्यक्ति रसिक बिहारी के साथ प्रेम सम्बन्ध है। किशोरीदास स्वयं पर-स्त्री गमन करता है और रात को देर से घर लौटता है। उसका लशकरीजान से प्रेम सम्बन्ध है। पति की लम्पटता से पत्नी भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहती। समूचे नाटक में मांस-मदिरा-सेवन व्यभिचार, कपटी साधुओं तथा लम्पट पुरुष एवं स्त्रियों के आचरण को ही चित्रित किया गया है। नाटक के अन्त में लेखक भरत-वाक्य के ढंग पर निम्न शुभकामनाओं को व्यक्त करता है—

तजि दुखप्रद दुरव्यसन पुरुष बनिता अरु बालक।
मन क्रम बच सो होहिं सुखद आज्ञा प्रतिपालक॥
निज गौरव पहिचान सजग रहि कपटी जन सों।
करहि सवै सब काल देश हित तन मन धन सों॥
भारत मे चहुं दिशि प्रेममय धवल धुजा फहरत रहे।
वाणी प्रताप हरि मिश्र की सुहृद हृदय आदर लहै॥[1]

वस्तुतः इस युग के लगभग सभी यथार्थवादी नाटक अपनी सुधारात्मक प्रवृत्ति के कारण मूल रूप में आदर्शवादी बन गये हैं। ऐसे नाटकों में साकेतिक उपदेशात्मकता की प्रधानता है। यही कारण है कि इस युग के लगभग सभी सामाजिक नाटकों के नायक अथवा नायिकाएं आदर्श चरित की कोटि में आती हैं।

'शिक्षादान' अर्थात् **'जैसा काम वैसा परिणाम'** भी इसी कोटि का नाटक है। इसमें बालकृष्ण भट्ट ने लम्पट नायक को मनोवैज्ञानिक ढंग से शिक्षा दिलवाई है। नायक रसिकलाल स्वभाव से लम्पट और वेश्यागामी है। उसे अपने ही सुख और आराम का अधिक ध्यान रहता है। वह यह भूल जाता है कि उसकी पत्नी के भी हृदय है और उसका मन भी प्रेम की भूख रखता है।

---

१. कलिकौतुक रूपक, पृ० ४४।

रसिकलाल में अपने नाम के अनुरूप ही गुण हैं। वह पर-स्त्री प्रेमी है और अपनी पत्नी मालती के साथ उसका व्यवहार अच्छा नहीं है। वह उस के साथ सदैव गाली गलोच के साथ पेश आता है, मालती अत्यन्त सहनशील है, वह अपने दुर्भाग्य पर आंसू बहाती है, परन्तु रसिकलाल को उसके पास बैठकर दो घड़ी बात करना भी अच्छा नहीं लगता। उसे तो मोहिनी वेश्या के यहां जाना ही अभीष्ट है। इन सब बातों का प्रभाव मालती के स्वास्थ्य पर बहुत पड़ता है। वह दिन प्रतिदिन बड़ी क्षीण होती जा रही है। मालती अपनी मां द्वारा भेजी गई नाउन से अपने दुःखी जीवन की बात इस प्रकार कहती है--'हमारा करम एक बार ही फूट गया (रो रो कर) इतने बड़े घर में आठों पहर भूतिन सी पड़ी रहती हैं। नाउन ठकुराइन, बहुत तुम से क्या कहूँ। तुम भी तो स्त्री की जाति हो क्या जानती न होगी वह असह वेदना भला किसके सहे सही जा सकती है। मर्मघात के अतिरिक्त हम तो नित्य नित्य न जाने कितने लात-घूंसे सहा करती हैं। यही जी चाहता है कि गले में फांसी लगाकर मर जायं वा विष खा सो रहें। इतने दिन लों सहा पर अब नहीं सहा जाता। सब लोग मरे जाते हैं हमें मौत भी नहीं पूछती।'[१]

वास्तव में ही उन दिनों नारी को क्रूर एवं निर्मम पुरुषों के हाथों कितना नारकीय जीवन व्यतीत करना पड़ता था। विशेष कर उस हिन्दू नारी को जिसके लिए पति ही परम देवता के समान है, जो तन, मन, धन से पति का मंगल चाहने वाली है, पुरुष उसको गालियां भी निकाल ले, जूतियां भी मार ले, फिर भी वह संयम और धैर्य को नहीं छोड़ती, पति का अशुभ नही सोचती। मालती ऐसी ही सती-साध्वी पतिव्रता स्त्री है। वह अपने दुराचारी पति को सही रास्ते पर लाने के लिए नाउन को पुरुष बना कर उससे प्रेम का स्वांग रचती है। रसिकलाल यह सब देखकर अपने धैर्य को खो बैठता है। क्रोध से उसकी आंखें लाल हो जाती हैं। वह आवेश में इन दोनों की हत्या करने के लिए तैयार हो जाता है और मालती को कुलटा, दुष्टा, दुराचारिणी आदि कहता है। छीना-झपटी में नाउन का पुरुष वेश उतर जाता है और उसे पहचान कर वह बड़ा लज्जित होता है। मालती उसे समझाती है कि उसने यह सब इसलिए किया कि वह भी एक स्त्री के हृदय की विकलता को पहचान सके। जिस प्रकार अपनी पत्नी को पर पुरुषगामी जान कर पुरुष के दुःख और क्रोध होता है, उसी प्रकार अपने पति को परस्त्रीगामी देखकर स्त्री को भी होता है।

---

१. भट्ट नाटकावली (सं० धनंजय भट्ट सरल) शिक्षादान नाटक (संस्करण संवत् २००४), पृ० १०० ।

रसिकलाल जो पहले से ही मोहिनी वेश्या के द्वारा खूब छकाया जा चुका है और उससे अपमानित किया जा चुका है, अपने अपराध को स्वीकार कर मालती से क्षमा याचना करता है। वह उसे इस बात का वचन भी देता है कि आगे से वह उस के अतिरिक्त अन्य किसी स्त्री की ओर नहीं ताकेगा।

रसिकलाल की कामुक प्रकृति की दुर्बलता को राधावल्लभ दास भली-भांति पहचानता है और वह इस अवसर से लाभ उठाने से भी नहीं चूकता। उसी के कहने में आकर ही वह मोहिनी वेश्या के यहां जाना शुरू करता है। मोहिनी प्रेम तो राधा वल्लभ दास से करती है—परन्तु सुखोपभोग रसिकलाल के धन से प्राप्त करती है। राधा बल्लभदास भी अपना खर्चा उसी के पैसों से चलाता है। नाटककार ने मोहिनी के द्वारा वेश्या जाति की प्रकृति का निम्न शब्दों में बड़ा ही सुन्दर परन्तु वास्तविक चित्रण किया है—

मन से करैं और को ध्यान, दृग से करै और को मान।
अन्य पुरुष से कर बिहार, तन से करै और को प्यार ॥[1]

इस युग में नारी जाति को बड़े हीनभाव से देखा जाता था। आर्य समाज ऐसी धार्मिक संस्थाओं के प्रयत्नों के फलस्वरूप ही धीरे धीरे युग-चेतना स्त्री के अधिकारों और उस की शिक्षा के महत्व को समझने लगी थी। बाल-विवाह का विरोध होने लगा था। और स्त्री के दासतापूर्ण जीवन की भर्त्सना की जाने लगी थी। इस नाटक की नायिका मालती के ये शब्द युग-चेतना से अनुप्राणित हैं—'नारी के जन्म समान घिनौना जन्म किसी का न होगा, जिसने पुर्बले में बड़े-बड़े पाप कर रखे हैं वही स्त्री का जन्म पाते हैं। पराधीन, तिस पर भी अनेक यातना जैसे पिंजरे में बन्द पखेरु हो। ऊंची-ऊंची दीवालों से घिरा हुआ घर क्या मानो पिंजरा है। सूर्यदेव भी जिसका मुख कभी न देखते हों, न हवा-अंग स्पर्श कर सकती हो वही नारी सती, कलावती, पतिव्रताओं में मुखिया समझी जाती है जिसने बाहर कभी पांव न रक्खा हो। लिखने-पढ़ने से चरित्र बिगड़ जाता है इस कुसंस्कार के कारण उन्हें लिखना, पढ़ना नही सिखलाया जाता। बचपन ही से रोना, गाना, गिल्ला, चबाव का अभ्यास करते करते उमर बढ़ जाने पर भी वही सब बातें बनी रहती हैं। यहां लौं कि अन्त में बड़ी कर्कशा चण्डी-कलहकारिणी होती है। अच्छा ! तो यह सब किसका दोष है ? हम लोगों का तो इसमें कोई दोष नहीं है। लड़काई में बाप मां के आधीन रहती हैं, ब्याह होने पर सास, ससुर और पति के वश में रहीं। जो वे हमें अच्छी तरह रक्खें; लिखना पढ़ना सिखावें, हमें तुच्छ न समझें, हमसे घिन

---

१. भट्ट नाटकावली, पृ० ६२।

न करें, मनुष्य का सा वर्ताव हमारे साथ करें और कहां लौं कहें मुंह भर हम से बोलें भी तो सही. तो भी हम अपना भाग्य सराहें और अपना जन्म सफल मानें। आठ ही वर्ष से हमें व्याह देते हैं सो भी बिना देखे-भाले, बहुधा एक ऐसे के साथ कि जन्म ही नष्ट जाता है।'

भट्ट जी का इस नाटक में दृष्टिकोण सुधारवादी रहा है जो नाटक को आदर्शवादी बना देता है। रसिकलाल को अपनी वेश्यागामी प्रकृति का परिणाम मिल जाता है और उसके हृदय में प्रायश्चित का भाव आता है। परन्तु निद्धिलाल ने अपने **विवाहिता विलाप**' (१८९८) नाटक में नायक मनधीर की लम्पटता का चित्रण कर ही सन्तोष किया है। उसे अनुताप की अग्नि में जलते हुए अथवा सुधरते हुए नहीं दिखलाया। हां, नाटककार ने उसकी पत्नी चम्पा की विरह-व्यथा का बड़े ही सुन्दर ढंग से चित्रण किया है। नाटक के अन्त में वह ईश्वर से प्रार्थना भी करती है कि वह उसके दुखों का निवारण करे। वैसे यह नाटक सुधारवादी दृष्टिकोण से ही लिखा गया है, जैसा कि इस की प्रस्तावना से स्पष्ट है।

देवकीनन्दन त्रिपाठी के **'वेश्या विलास'** का नायक मकरध्वज एक मुसलमान वेश्या पन्नाजान के प्रेम में फंसकर न केवल मदिरापान और मांस-भक्षण ही करने लग जाता है अपितु वह अपने धर्म को छोड़कर मुसलमान भी हो जाता है। उसका अपना सारा घरबार इसी वेश्यागमिता के कारण नीलाम हो जाता है। वस्तुतः पन्नाजान उसे हृदय से प्रेम नहीं करती; केवल पैसे बटोरना ही उसका ध्येय है। वेश्यावृत्ति से किस प्रकार लोगों के घर उजड़ जाते हैं, इसी बात को दिखाना नाटक का उद्देश्य है।

पं० जगन्ननाथ शर्मा के **'कुन्दकली'** नाटक (१८९०) में नायक मधुकर अपने धूर्त मित्र काग की मीठी बातों में आकर अपने पति द्वारा उपेक्षिता बालिका कुन्दकली के यहां जाना शुरू करता है। यद्यपि वह ऐसा करना नहीं चाहता था क्योंकि मधुकर के अपने शब्दों में 'अभी इस पर मन गड़ाने अथवा नेत्र अड़ाने से क्या लाभ है। न तो वह पूर्ण कली ही हुई है और न इसमें अभी वह मत्त सुगन्ध ही प्रवेश हुई है।'[1] वस्तुतः काग भी मधुकर को अपने ही स्वार्थ के लिए कुन्दकली के प्रति आसक्त करता है। उसका विचार है कि सम्भवतः वह मधुकर के धन से कुंदकली को फांस कर अपनी काम-पिपासा को शान्त करने में सफल हो सके। वास्तव में मधुकर स्वयं बुरा नहीं है, बुरा बना दिया गया है—यही नाटककार ने दिखलाने की चेष्टा की है। इसके अतिरिक्त

---

१. कुंदकली नाटक, अंक २।

रसिकलाल जो पहले से ही मोहिनी वेश्या के द्वारा खूब छकाया जा चुका है और उससे अपमानित किया जा चुका है, अपने अपराध को स्वीकार कर मालती से क्षमा याचना करता है। वह उसे इस बात का वचन भी देता है कि आगे से वह उस के अतिरिक्त अन्य किसी स्त्री की ओर नहीं ताकेगा।

रसिकलाल की कामुक प्रकृति की दुर्बलता को राधावल्लभ दास भली-भांति पहचानता है और वह इस अवसर से लाभ उठाने से भी नहीं चूकता। उसी के कहने में आकर ही वह मोहिनी वेश्या के यहां जाना शुरू करता है। मोहिनी प्रेम तो राधा वल्लभ दास से करती है—परन्तु सुखोपभोग रसिकलाल के धन से प्राप्त करती है। राधा बल्लभदास भी अपना खर्चा उसी के पैसों से चलाता है। नाटककार ने मोहिनी के द्वारा वेश्या जाति की प्रकृति का निम्न शब्दों में बड़ा ही सुन्दर परन्तु वास्तविक चित्रण किया है--

मन से करै और को ध्यान, दृग से करै और को मान।
अन्य पुरुष से कर बिहार, तन से करै और को प्यार ॥[1]

इस युग में नारी जाति को बड़े हीनभाव से देखा जाता था। आर्य समाज ऐसी धार्मिक संस्थाओं के प्रयत्नों के फलस्वरूप ही धीरे धीरे युग-चेतना स्त्री के अधिकारों और उस की शिक्षा के महत्व को समझने लगी थी। बाल-विवाह का विरोध होने लगा था। और स्त्री के दासतापूर्ण जीवन की भर्त्सना की जाने लगी थी। इस नाटक की नायिका मालती के ये शब्द युग-चेतना से अनुप्राणित हैं—'नारी के जन्म समान घिनौना जन्म किसी का न होगा, जिसने पुर्बले में बड़े-बड़े पाप कर रखे हैं वही स्त्री का जन्म पाते हैं। पराधीन, तिस पर भी अनेक यातना जैसे पिंजरे में बन्द पखेरु हो। ऊंची-ऊंची दीवालों से घिरा हुआ घर क्या मानो पिंजरा है। सूर्यदेव भी जिसका मुख कभी न देखते हों, न हवा-अंग स्पर्श कर सकती हो वही नारी सती, कलावती, पतिव्रताओं में मुखिया समझी जाती है जिसने बाहर कभी पांव न रक्खा हो। लिखने-पढ़ने से चरित्र बिगड़ जाता है इस कुसंस्कार के कारण उन्हें लिखना, पढ़ना नही सिखलाया जाता। बचपन ही से रोना, गाना, गिल्ला, चबाव का अभ्यास करते करते उमर बढ़ जाने पर भी वही सब बातें बनी रहती हैं। यहां लौं कि अन्त में बड़ी कर्कशा चण्डी-कलहकारिणी होती है। अच्छा ! तो यह सब किसका दोष है ? हम लोगों का तो इसमें कोई दोष नहीं है। लड़काई में बाप मां के आधीन रहती हैं, ब्याह होने पर सास, ससुर और पति के वश में रहीं। जो वे हमें अच्छी तरह रक्खें; लिखना पढ़ना सिखावें, हमें तुच्छ न समझें, हमसे घिन

---

१. भट्ट नाटकावली, पृ० ६२।

न करें, मनुष्य का सा वर्ताव हमारे साथ करें और कहां लौं कहें मुंह भर हम से बोलें भी तो सही, तो भी हम अपना भाग्य सराहें और अपना जन्म सफल मानें। आठ ही वर्ष से हमें व्याह देते है सो भी बिना देखे-भाले, बहुधा एक ऐसे के साथ कि जन्म ही नष्ट जाता है।'

भट्ट जी का इस नाटक में दृष्टिकोण सुधारवादी रहा है जो नाटक को आदर्शवादी बना देता है। रसिकलाल को अपनी वेश्यागामी प्रकृति का परिणाम मिल जाता है और उसके हृदय में प्रायश्चित का भाव आता है। परन्तु सिद्धिलाल ने अपने **विवाहिता विलाप**' (१८९८) नाटक में नायक मनधीर की लम्पटता का चित्रण कर ही सन्तोष किया है। उसे अनुताप की अग्नि में जलते हुए अथवा सुधरते हुए नहीं दिखलाया। हां, नाटककार ने उसकी पत्नी चम्पा की विरह-व्यथा का बड़े ही सुन्दर ढंग से चित्रण किया है। नाटक के अन्त में वह ईश्वर से प्रार्थना भी करती है कि वह उसके दुखों का निवारण करे। वैसे यह नाटक सुधारवादी दृष्टिकोण से ही लिखा गया है, जैसा कि इस की प्रस्तावना से स्पष्ट है।

देवकीनन्दन त्रिपाठी के **'वेश्या विलास'** का नायक मकरध्वज एक मुसलमान वेश्या पन्नाजान के प्रेम में फंसकर न केवल मदिरापान और मांस-भक्षण ही करने लग जाता है अपितु वह अपने धर्म को छोड़कर मुसलमान भी हो जाता है। उसका अपना सारा घरबार इसी वेश्यागामिता के कारण नीलाम हो जाता है। वस्तुतः पन्नाजान उसे हृदय से प्रेम नहीं करती; केवल पैसे बटोरना ही उसका ध्येय है। वेश्यावृत्ति से किस प्रकार लोगों के घर उजड़ जाते हैं, इसी बात को दिखाना नाटक का उद्देश्य है।

पं० जगन्ननाथ शर्मा के **'कुन्दकली**' नाटक (१८९०) में नायक मधुकर अपने धूर्त मित्र काग की मीठी बातों में आकर अपने पति द्वारा उपेक्षिता बालिका कुन्दकली के यहां जाना शुरू करता है। यद्यपि वह ऐसा करना नहीं चाहता था क्योंकि मधुकर के अपने शब्दों में 'अभी इस पर मन गड़ाने अथवा नेत्र अड़ाने से क्या लाभ है। न तो वह पूर्ण कली ही हुई है और न इसमें अभी वह मत्त सुगन्ध ही प्रवेश हुई है।'[१] वस्तुतः काग भी मधुकर को अपने ही स्वार्थ के लिए कुन्दकली के प्रति आसक्त करता है। उसका विचार है कि सम्भवतः वह मधुकर के धन से कुंदकली को फांस कर अपनी काम-पिपासा को शान्त करने में सफल हो सके। वास्तव में मधुकर स्वयं बुरा नहीं है, बुरा बना दिया गया है—यही नाटककार ने दिखलाने की चेष्टा की है। इसके अतिरिक्त

१. कुदकली नाटक, अंक २।

लेखक ने यह भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि किस प्रकार मधुकर जैसे कुलीन व्यक्ति केवल काम-वासना की तृप्ति-हेतु नीच जाति की कुन्दकली के प्रति आसक्त होते हैं।

ईश्वरी प्रसाद शर्मा के **'वेश्या नाटक'**● (१८९३) में वेश्यागमन के कारण उत्पन्न होने वाले सामाजिक विकारों के साथ-साथ शारीरिक रोगों का भी निदर्शन किया गया है। नायक बनवारी लाल वेश्यासक्ति के चक्कर में अपने धन के साथ-साथ स्वास्थ्य भी लुटा देता है। उसे आतशक रोग हो जाता है। धन की समाप्ति पर वह वेश्या भी इससे मुंह मोड़ लेती है और अन्त में वह भिक्षुक बनकर अपना पेट पालता है और मर जाता है।

गोपाल राम गहमरी ने भी इस युग में सामाजिक समस्याप्रधान नाटकों की रचना की है जिसमे तत्कालीन सामाजिक कुरीतियों-यथा अनमेल विवाह, दहेज प्रथा, बाल विवाह आदि का चित्रण किया गया है। इनके **'देश दशा'** नाटक (१८९२) तथा **'विद्या विनोद'** नाटक (१८९२) इन्हीं समस्याओं पर आधारित हैं। पहले नाटक में तो नाटककार का ध्यान पात्रों के चरित्र-चित्रण की अपेक्षा समस्याओं के निदर्शन में ही अधिक रमा है। नाटक के पांच अंक हैं और प्रत्येक अंक में नाटककार हमारा नये पात्रों से परिचय करवाता है। यही कारण है कि चरित्र-चित्रण की दृष्टि से नाटक का कोई भी पात्र प्रधानता प्राप्त नहीं कर सका। इस छोटे से नाटक में लेखक ने घूंसखोरी, पुलिस के हथकण्डे, बाल विवाह तथा दहेज प्रथा की समस्याओं का चित्रण किया है।

'देशदशा' नाटक के समान इस युग में कई और भी समस्याप्रधान नाटक उपलब्ध होते हैं,* जिनमें नाटककार का ध्यान पात्रों के चरित्र-चित्रण की

● इस नाटक के संवाद कहानी की वर्णनात्मक शैली पर कहे गये है, जिससे उसका अपना नाटकीयता का गुण समाप्त हो गया है।

* हिन्दी-उर्दू के विवाद को लेकर निर्मित नाटकः—रविदत्त शुक्ल कृत 'देवाक्षर चरित्र' (१८८४), नन्हेमल का 'सत्योदय' नाटक (१८८३), रामगरीब चतुर्वेदी का 'नागरी विलाप' नाटक (१८८५), तथा हिन्दू-मुसलमानों के पारस्परिक संघर्ष पर आधारित नाटक :—बलदेव प्रसाद का 'रामलीला विजय' नाटक (१८८७), रत्नचन्द्र वकील का 'न्याय सभा' नाटक (१८८७), देवकी नन्दन त्रिपाठी के 'प्रचण्ड गोरक्षण' नाटक (१८८१) तथा 'गोवध निषेध' (१८८१), पं० अम्बिकादत्त व्यास का 'गो संकट नाटक (१८८२), पं० जगत नारायण का 'अकबर गोरक्षा न्याय' नाटक (१८८६), पं० प्रताप नारायण मिश्र का 'गो संकट' नाटक (१८८२) आदि।

अपेक्षा उसमें उठाई गई समस्याओं पर ही केन्द्रित हुआ है। अतः ऐसे नाटकों में नायकत्व का प्रश्न ही नहीं उठता। इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि समस्याप्रधान नाटकों में नायक का अस्तित्व ही सम्भव नहीं है। वैसे तो समस्याप्रधान नाटकों में भी नाटककार नायक तथा अन्य पात्रों की सहायता से ही नाटक के घटना-चक्र का निर्माण करता हुआ समस्याओं का निदर्शन करता है। ऐसी स्थिति में नाटक का प्रधान पात्र अर्थात् नायक ही नाटक के घटना-जाल का आधार और केन्द्रबिन्दु बनता है। परन्तु कई बार ऐसी स्थिति भी आ जाती है (जैसी कि हम इस युग के 'देशदशा' आदि नाटकों में पाते हैं) कि नाटककार का लक्ष्य ही समस्याओं का निदर्शन रहता है और पात्रों का चरित्र चित्रण नहीं। उस स्थिति में वे नाटक नायकहीन ही रह जाते हैं। इसका एक कारण और सम्भवतः मुख्य कारण यही हो सकता है कि इस युग का नाटककार अभी इतना सशक्त एवं समर्थ नहीं था कि वह अपने नाटकों में युगचेतना के चित्रण के साथ-साथ अपने पात्रों के चरित्र चित्रण के साथ भी न्याय कर पाता, जो उसकी उद्देश्य-सिद्धि में न केवल सहायक ही होते, अपितु उस युग चेतना का प्रतिनिधित्व करते, नाटककार के मन के प्रतिनिधि बनते और नाटक को नाट्य-शिल्प की दृष्टि से पूर्ण बनाते।

'**विद्या बिनोद**' नाटक में गहमरी जी ने अनमेल विवाह का विरोध और गान्धर्व विवाह का समर्थन किया है। अधेड़ अवस्था के राजा ढोंगल सेन अपने यहां पुत्र न होने के कारण मन्त्री लीक पीटन से नयी सुन्दरी ढूंढ़ ला देने के लिए कहते हैं। मन्त्री की आज्ञानुसार नौरंगा भाट नागरपुर के राजा भोंदूसेन के यहां जाता है और उससे अनुरोध करता है कि वह अपनी रूपवती एवं विदुषी कन्या विद्या का विवाह उससे कर दे। भोंदूसेन इसके लिएं तैयार हो जाता है। इधर विद्या देवीपूजन के लिए मंदिर में जाती है। वहां शान्तिपुर के राजा क्रांति गोपाल के पुत्र विनोद से उसका साक्षात्कार होता है और दोनों ही प्रथम-दर्शन में एक-दूसरे से प्रेम करने लगते हैं। दोनों अपनी मुद्रिकाओं को एक-दूसरे से बदल लेते हैं। विनोद अपने देश जाकर उसे भूल जाता है। विद्या उसे पत्र के द्वारा यह सूचित भी करती है कि उसका विवाह राजा भोंदूसेन से बलपूर्वक किया जा रहा है। इधर ढोंगल का विद्या से विवाह हो जाता है, परन्तु वह उसे पति के रूप में स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं होती बल्कि उसे पिता कहकर पुकारती है। वह क्रोध में आकर उसे घर से निकाल देता है।

एक रात को विनोद विद्या के बारे में एक अनिष्ट स्वप्न देखता है। उसके मन में उसके बारे में कुशल क्षेम जानने की उत्कण्ठा बढ़ जाती है, और वह

योगी के वेश में विद्या को ढूंढने के लिए निकल पड़ता है। सातवें अंक में विद्या और विनोद का साधुवेश में मिलन होता है और नाटक समाप्त हो जाता है।

नाटक का नायक विनोद एक रूप-यौवन-सम्पन्न राजकुमार है। उसमें धीरललित नायक के प्रायः सभी गुण विद्यमान हैं।

कुंवर रघुवीर सिंह वर्मा के **मनोरजिनी**' नाटक (१८९०) तथा किशोरी लाल गोस्वामी कृत **'चौपट चपेट'** (१८९१) नाटक में नायक की अपेक्षा नायिका के चरित्र को अधिक उभारा गया है। मनोरजिनी नाटक को जैसा कि उसके मुखपृष्ठ से स्पष्ट है, 'भारतीय महिलाओं के शिक्षार्थ' प्रणीत किया गया है। नायिका मनोरंजिनी दो कपटवेशधारी साधुओं के चंगुल में फंस जाती है। स्वामिभक्त नौकर छोटे सिंह इन लम्पटों से मनोरंजिनी के स्त्रीत्व की रक्षा करने में सफल होता है। नायक मोतीराम का चरित्र विशेष रूप से नहीं उभारा गया। नाटक का घटनाचक्र भी अनेक अस्वाभाविकताओं से भरा पड़ा है।

'चौपट चपेट' के कथानक का केन्द्र बिन्दु भी नारी है। अभयकुमार की पत्नी चम्पकलता के रूप सौन्दर्य पर कई मनचले युवक मोहित होकर अपने जाल में फांसना चाहते है। अभयकुमार का अपना मित्र मदनमोहन तथा उसके दो अन्य साथी भी इस षड्यन्त्र में सम्मिलित हैं जो अभय के मन में उसकी पत्नी की चरित्र-भ्रष्टता के बारे में सन्देह डाल देते हैं। नायक अभयकुमार साधुवेश में अपनी पत्नी की सच्चरित्रता की परीक्षा करता है। परीक्षा में सफल जानकर वह चम्पकलता से अपने सन्देह के लिए क्षमा याचना करता है।

राष्ट्रीय चेतनाप्रधान नाटकों में नायक

इस युग के प्रायः सभी नाटककारों ने अपनी रचनाओं में राष्ट्रीय युग-चेतना के स्वरों को भी अपनाया है। इस दिशा में भी भारत-दुर्दशा (१८७६), भारत-जननी (१८७७), तथा 'अन्धेर-नगरी' (१८८१) की रचना कर भारतेन्दु ने सम-सामयिक कलाकारों का पथ-प्रदर्शन किया।

'भारत दुर्दशा' 'प्रबोध चन्द्रोदय' तथा 'देवमाया प्रपंच' के समान नाट्य-रूपक परम्परा में आता है। पात्र-प्रवेश की शैली में लेखक ने 'इन्दर सभा' नाटक का अनुकरण किया है। वे अपना परिचय स्वयं देते हुए मंच पर प्रवेश करते हैं। इसमें नाटककार ने प्राचीन भारत के गौरव तथा वर्तमान भारत की दयनीय अवस्था का बड़े ही सुन्दर ढंग से चित्रण किया है। भारतेन्दु जी का निजी चिन्तन देश-भक्ति एवं राज-भक्ति की दोनों सरणियों में प्रवाहित हुआ है

भारत इस नाटक का नायक है और भारतदुर्दैव प्रतिनायक। नाटक के आरम्भ में नाटककार ने भारत की दुर्व्यवस्था का चित्रण किया है और इस बात का समर्थन किया है कि भारतीय संस्कृति ही भारत के लिए श्रेयस्कर है। इस मे सन्देह नहीं कि लार्ड डलहौजी तथा उसके बाद में आने वाले अंग्रेज शासकों ने भारतीय जनता के जीवन को अधिक सुखमय बनाने के लिए रेल, डाक-तार आदि की व्यवस्था की तथा सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के लिए कानून बनाये। भारतेन्दु जी इन सब बातों के कारण ही अंग्रेजी शासन के भक्त थे, परन्तु देश को दासता की शृंखलाओं में बंधा देखकर उनका हृदय रो उठता था। उन्हे इस बात का भी घोर दुःख था कि पराधीनता के कारण हमारे देश का धन विदेश चला जा रहा है। वस्तुतः उनकी राजभक्ति भी देश-प्रेम की भावना से परिसीमित है।

नाटक के नायक भारत की अपनी वेशभूषा से भी भारतवर्ष की दुरवस्था का चित्र खिंच जाता है। उसका फटे कपड़े पहनना, सिर पर अर्द्ध किरीट का होना, हाथ में टेकने की छड़ी और अंगों का शिथिल होना यह सूचित करता है कि यहां के लोग दरिद्र और शक्तिहीन हो चुके हैं। भारत अपनी ऐसी दुर्दशा पर आंसू बहाता है। भारतदुर्दैव* जो क्रिस्तानी और आधा मुसलमानी वेश में है, सत्यानाश, निर्लज्जता, मदिरा, अन्धकार, रोग, आलस्य आदि साथियों के साथ भारत नाश के लिए भारत के साथ युद्ध छेड़ता है। वस्तुतः इन्हीं सामाजिक दोषों के कारण भारतवर्ष दासता के बन्धन से शताब्दियों तक मुक्त नहीं हो सका। भारत भाग्य● अचेत पड़े भारत को जगाने की चेष्टा करता है, परन्तु उसके न जागने पर वह स्वयं भी आत्महत्या कर लेता है।

नाटककार ने नाटक में आये सभी पात्रों का मानवीकरण कर दिया है। यद्यपि नाटक दुखान्त है, फिर भी नाटककार ने सांकेतिक रूप से आशा-तन्तु को प्रदर्शित करने का प्रयास किया है। 'भारत भाग्य' भले ही आत्महत्या कर लेता है परन्तु नाटक के नायक भारत का तो मरण नहीं होता। उसे अचेतावस्था में ही दिखाकर छोड़ दिया गया है। अचेत प्राणी के यदा-कदा सचेत होने की सम्भावना तो कम से कम बनी रहती है।

'अन्धेर नगरी' नाटक में भारतेन्दु जी ने अंग्रेज़ी राजकीय अव्यवस्था को चित्रित किया है। नाटक में पात्रों के कथन व्यंग्यपूर्ण है। अंग्रेज शासकों का

---

* 'भारत दुर्दैव' अंग्रेज़ ही है जो भारतीयों को 'काला नीच' (अंक ३) कहकर पुकारा करते थे।

● 'भारत भाग्य' प्राचीन भारतीय गौरव का प्रतीक है।

भारतीय जनता पर टैक्स का दुगना कर देना,[१] स्वयं पुलिस के द्वारा ही कानून का उल्लंघन करना,[२] अंग्रेज़ शासकों का भारत को धन, बल से हीन कर अपने को शक्तिशाली बनाना[३], विधर्मियों के शासन में गौ, ब्राह्मण तथा वेदों का आदर न होना[४] आदि व्यंग्यपूर्ण कथनों के द्वारा नाटककार ने अंग्रेज़ी शासकीय व्यवस्था पर तीखा एवं गहरा व्यंग्य किया है ।

चौपट्ट राजा इस नाटक का नायक है । नाम के अनुरूप ही उसका चरित्र है । वह नितान्त मूर्ख, शराबी एवं बकवादी है । उसके चरित्र में गाम्भीर्य तथा उदात्तत्व नाम की कोई वस्तु नहीं है । निरपराध व्यक्तियों को फासी का दण्ड देने से ही उसकी न्यायपरता स्पष्ट हो जाती है । महन्त के शिष्य गोबर धनदास (गोवर+धनदास) को फांसी पर चढ़ाने का दृश्य इसी बात को स्पष्ट करता है । जब राजा के अनुचर बलपूर्वक गोबरधन दास को फांसी पर चढ़ाने ही वाले होते हैं, उसी समय उसका गुरु महन्त लोगों के समक्ष उसे यह बतलाता है कि इस अच्छी साइत में जो भी फांसी चढ़ेगा, वह सीधे बैकुण्ठ जाएगा । इस पर राजा स्वयं फांसी पर चढ़ने के लिए तैयार हो जाता है । इस प्रकार भारतेन्दु जी ने राजा की मूर्खता का बड़े ही सुन्दर तथा व्यंग्यात्मक ढंग से परिचय दिया है । उन्होंने इस बात का स्पष्ट संकेत किया है कि जहां चौपट्ट राजा जैसे व्यक्ति हों, वहां प्रजा की क्या मनोदशा हो जाती है और साथ ही प्रजा की मूर्खता एवं अकर्मण्यता की ओर भी संकेत किया है, जो अपने शासकों के अन्याय को नतमस्तक होकर सहन करती चली आ रही है । इसके अतिरिक्त भारतेन्दु जी ने चौपट्ट राजा के दुरन्त को दिखलाकर यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि संसार में घोर अन्यायी शासकों का अन्त कदापि सुखमय नहीं हो सकता । न्याय की अन्याय पर विजय एक न दिन अवश्य होगी ।

---

१. भारतेन्दु नाटकावली (प्रथम भाग), पृ० ४६१ ।
चना हाकिम सब जो खाते । सब पर दूना टिकस लगाते ।।

२. वही, पृ० ४६३ ।
चूरन पुलिस वाले खाते । सब कानून हजम कर जाते ।।

३. वही, पृ० ४६३ ।
हिन्दू चूरन जो कोई खाय । मुझको छोड़ कहीं नहिं जाय ।।
हिन्दू चूरन इसका नाम । विलायत पूरन इसका काम ।।

४. वही, पृ० ४७३ ।
अधाधुंध मच्यौ सब देसा । मानहुं राजा रहत विदेसा ।।
गो द्विज श्रुति आदर नहि होई । मानहुं नृपति विधर्मी कोई ।।

भारतेन्दु जी कृत 'भारत दुर्दशा' के अनुकरण पर बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन ने **'भारत सौभाग्य'** रूपक (१८८९) तथा पं० अंबिकादत्त व्यास ने **'भारत सौभाग्य'** नाटक (१८८७) लिखे। इन दोनों ही नाटकों में नायक अंग्रेज़ सरकार के कृत्यों का प्रशस्ति गान करते हैं। प्रेमघन के 'भारत-सौभाग्य' रूपक का नायक भारत पहले तो नाटक के प्रतिनायक बद-इकबालए-हिन्द के अनिष्ट-कारी प्रयत्नों से अपनी रक्षा का प्रयास करता है, परन्तु अपने को असफल पाकर वह दूसरों की सहायता प्राप्त करने तथा उनके आश्रित रहने में ही अपना सुख समझता है। एक ओर भारत अपने प्राचीन गौरवमय इतिहास का स्मरण कर पश्चाताप करता है और अंग्रेज़ी शासन के कारण यहां के छोटे-मोटे सभी उद्योग धन्धों के ठप्प हो जाने पर दुःख प्रकट करता है—

'सब गए बनज व्यापार इतै सों भागी।
उद्यम पौरुष नसि दियो बनाय अभागी॥
अब बची खुशी खेतोइ खिसकन लागी।
चारहूं दिसि लागै है महंगी की आगी॥
सुनिए चिलायँ सब परजा भई भिखारी।
भागो भागो अब काल पड़ा भारी॥'[1]

और, दूसरी ओर नायक भारत अंग्रेज़ सरकार द्वारा डाक-तार, रेल, न्यायालय, समाचार पत्र, पाठशाला, औषधालय आदि की दी हुई सुविधाओं को उपकार रूप में स्वीकार करता हुआ विक्टोरिया शासन को समूची प्रजा के दूखों को दूर करने वाला मानता है। उसके शब्दों में—'यथार्थ तो यों है कि बृटिश गवर्नमेंट के न्याय और उद्देश्य का दर्शन तो आप ही ने कराया। और यथार्थ उन्नति की आशा आज ही हुई।'[2]

सन् १८८५ में इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना हुई और ठीक इसके चार वर्ष उपरान्त प्रेमघन जी के इस नाटक की निर्मिति। नाटक के पांचवें अंक में नाटककार ने यह स्पष्ट किया है कि इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना सर्वजनहित हेतु हुई है और साथ ही उन्हीं दिनों लंदन की पार्लियामेंट में पेश किये गये 'भारतीय निवेदन पत्र' की भी चर्चा की गई है जिसमें भारतीयों के लिए अधिक अधिकारों की मांग की गई है। स्पष्ट है कि इस युग का नाटककार युगचेतना को अपने नाटकों में चित्रित करने के लिए पूर्णतः जागरूक था।

व्यास जी के नाटक 'भारत सौभाग्य' का महत्व सामयिक परिस्थितियों के

---

१. भारत सौभाग्य रूपक, पृ० ६१।

२. वही पृ० ७१।

भारतीय जनता पर टैक्स का दुगना कर देना,[१] स्वयं पुलिस के द्वारा ही कानून का उल्लंघन करना,[२] अंग्रेज़ शासकों का भारत को धन, बल से हीन कर अपने को शक्तिशाली बनाना[३], विधर्मियों के शासन में गौ, ब्राह्मण तथा वेदों का आदर न होना[४] आदि व्यंग्यपूर्ण कथनों के द्वारा नाटककार ने अंग्रेज़ी शासकीय व्यवस्था पर तीखा एवं गहरा व्यंग्य किया है।

चौपट्ट राजा इस नाटक का नायक है। नाम के अनुरूप ही उसका चरित्र है। वह नितान्त मूर्ख, शराबी एवं बकवादी है। उसके चरित्र में गाम्भीर्य तथा उदात्तत्व नाम की कोई वस्तु नहीं है। निरपराध व्यक्तियों को फांसी का दण्ड देने से ही उसकी न्यायपरता स्पष्ट हो जाती है। महन्त के शिष्य गोबर धनदास (गोबर+धनदास) को फांसी पर चढ़ाने का दृश्य इसी बात को स्पष्ट करता है। जब राजा के अनुचर बलपूर्वक गोबरधन दास को फांसी पर चढ़ाने ही वाले होते हैं, उसी समय उसका गुरु महन्त लोगों के समक्ष उसे यह बतलाता है कि इस अच्छी साइत में जो भी फांसी चढ़ेगा, वह सीधे बैकुण्ठ जाएगा। इस पर राजा स्वयं फांसी पर चढ़ने के लिए तैयार हो जाता है। इस प्रकार भारतेन्दु जी ने राजा की मूर्खता का बड़े ही सुन्दर तथा व्यंग्यात्मक ढंग से परिचय दिया है। उन्होंने इस बात का स्पष्ट संकेत किया है कि जहां चौपट्ट राजा जैसे व्यक्ति हों, वहां प्रजा की क्या मनोदशा हो जाती है और साथ ही प्रजा की मूर्खता एवं अकर्मण्यता की ओर भी संकेत किया है, जो अपने शासकों के अन्याय को नतमस्तक होकर सहन करती चली आ रही है। इसके अतिरिक्त भारतेन्दु जी ने चौपट्ट राजा के दुरन्त को दिखलाकर यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि संसार में घोर अन्यायी शासकों का अन्त कदापि सुखमय नहीं हो सकता। न्याय की अन्याय पर विजय एक न दिन अवश्य होगी।

---

१. भारतेन्दु नाटकावली (प्रथम भाग), पृ० ४६१।
चना हाकिम सब जो खाते। सब पर दूना टिकस लगाते॥

२. वही, पृ० ४६३।
चूरन पुलिस वाले खाते। सब कानून हजम कर जाते॥

३. वही, पृ० ४६३।
हिन्दू चूरन जो कोई खाय। मुझको छोड़ कहीं नहिं जाय॥
हिन्दू चूरन इसका नाम। विलायत पूरन इसका काम॥

४. वही, पृ० ४७३।
अंधाधुंध मच्यौ सब देसा। मानहुं राजा रहत विदेसा॥
गो द्विज श्रुति आदर नहिं होई। मानहुं नृपति विधर्मी कोई॥

सिंहावलोकन की दृष्टि से बहुत अधिक है परन्तु नायक की दृष्टि से नहीं । नाटक के आरम्भ में ही महारानी विक्टोरिया की स्तुति की गई है । अंग्रेज़ी पताका, अंग्रेज़ों की साम्राज्य-व्यवस्था, उनके पराक्रम और साहस की भी प्रशंसा की गई है । राज भक्ति के पात्र द्वारा नाटककार ने अंग्रेज़ी शासन की प्रशंसा करवाई है और भारत पताका के पात्र द्वारा भारत की स्तुति । वास्तव में इस युग की चेतना राज भक्ति और राष्ट्रभक्ति की मिली जुली भावनाओं से ओत-प्रोत है ।

उपसंहार

इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि इस युग में नाटक साहित्य का पर्याप्त विकास हुआ । पूर्व भारतेन्दु युग के नाटकीय काव्यो के कथानक केवल पौराणिक थे, परन्तु इस युग में पौराणिक नाटकों के साथ-साथ ऐतिहासिक, सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना प्रधान नाटक भी लिखे गये । यह युग चेतना का प्रभाव था । भारतेन्दु युग समाज-सुधार एवं सांस्कृतिक पुनरुत्थान का युग था । स्वाभाविक तौर पर इसके नाटक साहित्य में भी इसी सुधारात्मक एवं सास्कृतिक चेतना की प्रधानता है । जहां तक नाट्य-शिल्प का प्रश्न है इस युग के नाटक साहित्य में भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों के नाट्य-शिल्प का प्रभाव स्पष्टतः देखा जा सकता है । कहीं-कहीं एक ही नाटककार की विभिन्न कृतियों में दोनों प्रभाव संश्लिष्ट रूप में अथवा विच्छिन्न रूप में देखे जा सकते है । इस युग का नाटककार परिस्थितियों के अनुरोध से पाश्चात्य नाट्य-शिल्प को अपनाने के लिए विवश था और साथ ही वह अपने प्राचीन अथवा परम्परित नाट्य-सिद्धान्तों के परिपालन के मोह को भी सहज ही त्याग नहीं सकता था । इसी प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप इस युग के पौराणिक नाटकों में भी नाटककार कहीं-कहीं पौराणिकता की केंचुल उतारता हुआ प्रतीत होता है । पण्डित दामोदर शास्त्री कृत 'रामलीला नाटक' तथा मुंशी तोताराम कृत 'सीता-स्वयंवर नाटक' में नायक राम को जहां परब्रह्म एवं अवतारी रूप में चित्रित किया गया है, वहां पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र के 'सीता बनवास' नाटक में राम को भगवान् की अपेक्षा एक असाधारण आदर्श व्यक्ति के रूप में चित्रित किया गया है । उनमें साधारण मनुष्यों की तरह अधीरत्व को दिखाया गया है । देवकीनन्दन त्रिपाठी के 'सीता हरण' नाटक में राम का चरित्र प्रचलित रामलीला-शैली पर चित्रित किया गया है । इस नाटक के अन्य पात्र भी मानवी जगत् के अधिक निकट चित्रित किये गये हैं । नाटक का पात्र जयन्त काग न होकर एक राजकुमार है । राक्षस, वानर आदि पात्र भी मानव रूप में ही दर्शाये गये हैं ।

इसी प्रकार कृष्ण-चरित प्रधान नाटकों में कृष्ण को एक ओर तो परब्रह्म के रूप में चित्रित किया गया है और दूसरी ओर उसे धीरललित तथा दक्षिणनायक के रूप मे भी। भारतेन्दु की 'श्री चन्द्रावली नाटिका' तथा हरिऔध के 'रुक्मणी-परिणय' के कृष्ण का चरित्र अलौकिक है परन्तु देवकीनन्दन त्रिपाठी के 'रुक्मणी-हरण' में कृष्ण को साधारण मानवी रूप मे ही चित्रित किया गया है। अम्बिकादत्त व्यास की 'ललिता' नाटिका में कृष्ण को रसिक रूप मे चित्रित किया गया है। कार्तिक प्रसाद खत्री के 'उषा हरण' के कृष्ण भी अत्यन्त रसिक है। इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस युग के नाटककार की नायक-सम्बन्धी प्राचीन धारणा में युग-चेतना के अनुरूप परिवर्तन आना आरम्भ हो गया था। वह नायक-सम्बन्धी नाट्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का परम्परित रूप में पालन नही कर पा रहा था। सामयिक परिस्थितियों के अनुरूप उसकी मान्यताएं परिवर्तित हो रही थीं। स्वयं भारतेन्दु ने अपने 'नाटक' नामक निबन्ध में कई ऐसी नयी बातों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है जो प्राचीन नाट्य-सिद्धान्तो से मेल नहीं खातीं। दशरूपककार के अनुसार व्यायोग का नायक कोई उद्धत व्यक्ति ही होना चाहिए। भारतेन्दु जी ने ऐसा स्वीकार नहीं किया। इसी प्रकार शास्त्रीय परम्परा के अनुसार धीरशान्त नायक का ब्राह्मण अथवा वैश्य होना अनिवार्य है, परन्तु भारतेन्दु के 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक के नायक राजा हरिश्चन्द्र ब्राह्मण न होकर क्षत्रिय है। स्पष्ट है कि इस युग के नाटककार के द्वारा प्राचीन नाट्य-शास्त्रीय-परम्पराओं का पालन पूर्णरूपेण नहीं हो सका। इस युग के पौराणिक नाटकों के नायकों के चरित्र-चित्रण में नाटककार का यही भरसक प्रयास रहा है कि वह अपने पात्रों के चरित्र-चित्रण को अधिक स्वाभाविक बनाने की चेष्टा करे। अपने पौराणिक पात्रों की पौराणिकता की रक्षा के साथ-साथ सामयिक प्रभावों के अधीन वह उन के स्वरूप में परिवर्तन अथवा विकास प्रस्तुत करने के लिए विवश हुआ है।

ऐतिहासिक नाटकों के नायक भी अधिकांश में पौराणिक नाटकों के नायकों के सदृश धीरोदात्त है। इस युग के नाटककारों ने युग की मांग के अनुकूल राजा रत्नसेन (महारानी पद्मावती नाटक), पृथ्वीराज (संयोगिता स्वयंवर तथा योबन योगिनी), महाराणा प्रताप (महाराणा प्रताप सिह नाटक) आदि प्रख्यात चरित-नायकों को अपने नाटकों का नायक बनाया। इन सभी नाटकों में जातीय गौरव अथवा हिन्दुत्व एवं देश-प्रेम की भावना है, हिन्दू वीरों के उत्साह की प्रशंसा तथा विदेशी शासकों के अत्याचारों की निन्दा है। वस्तुतः ये सभी नायक भारतीय जीवन में प्रगति के उन्नायक एवं अदम्य साहस के प्रतीक थे। नाटककारों को इन्हें आदर्श रूप में ही चित्रित करना अभीष्ट था,

तो भी इन नायकों के चित्रण में सामयिक जीवनादर्शो के प्रभाव भी जहा-तहां स्पष्ट दिखाई देते हैं। 'योबन योगिनी' का नायक पृथ्वीराज 'संयोगिता-स्वयंवर' नाटक के पृथ्वीराज और इतिहास के पृथ्वीराज से कई बातों में भिन्न हो जाता है। 'योबन योगिनी' के नाटककार ने नायक पृथ्वीराज की चारित्रिक सबलताओं एवं दुर्बलताओं का निदर्शन कर उसके चरित्र में स्वाभाविकता की प्रतिष्ठा की है और उसे आदर्श की अपेक्षा हमारे यथार्थ जीवन के अधिक निकट ला दिया है। यद्यपि नाटककार ने उसके धीरललितत्व का पर्यावसान धीरोदात्तत्व में करने की कोशिश की है, तो भी समूचे तौर पर उसका चित्रण एक दुर्बल नायक के रूप में ही हुआ है। इसी प्रकार महाराणा प्रताप के चरित्र चित्रण में भी भारतीय और पाश्चात्य परम्पराओं का अद्‌भुत सम्मिलन मिलता है। वह आदर्श नायक तो है ही, साथ ही उसमें यथार्थ नायक के गुण भी विद्यमान हैं। उसका चरित्र भारतीय नाटकों के नायकों की तरह पहले से ही आदर्श के सांचे में नहीं ढाला गया, बल्कि नाटककार ने उसके चारित्रिक गुण दोषों का निदर्शन घटनाओं के परिपार्श्व में दिखलाकर उसे स्वाभाविकता एवं यथार्थता के अधिक निकट ला दिया है।

अंग्रेज़ी नाटकों के प्रभावाधीन ही इस युग में दुःखान्त नाटकों की रचना हुई। भारतीय नाट्य परम्परा का रसवादी दृष्टिकोण तो इस का विघातक ही था। संस्कृत नाटकों में रंगमंच पर नायक की मृत्यु दिखाना वर्जित था। स्वयं भारतेन्दु तथा उनका नेतृत्व स्वीकार करने वाले युग के अनेक नाटककारों ने शेक्सपियर की शैली पर अनेक दुःखान्त नाटकों की रचना की है। भारतेन्दु जी ने १८७६ में 'भारत-दुर्दशा' तथा १८८० में 'नीलदेवी' की रचना की। 'भारत-दुर्दशा' में नायक भारत नाटक के अन्त में आत्महत्या कर लेता है और नीलदेवी में रंगमंच पर ही राजा सूर्यदेव तथा अमीर अबदुश्शरीफ की हत्या दिखाई गई है। लाला श्रीनिवासदास का 'रणधीर और प्रेममोहिनी' (१८७१) हिन्दी की प्रथम त्रासद रचना है जिसमें नायक का चरित्र-चित्रण विशुद्ध रूप से पाश्चात्य शैली पर हुआ है। नायक रणधीर के अन्तः और बाह्य संघर्ष के परिवेश में नाटककार ने उसकी सबलताओं एवं दुर्बलताओं को चित्रित किया है। उसमें रोमांटिक नायक की विशेषताएं हैं। 'सज्जाद और सुम्बुल' नाटक के नायक सज्जाद में भी रोमांटिक नायक के गुण हैं। उसका सारा जीवन संघर्षमय ही रहता है। नायक सज्जाद में यह विशेषता है कि वह भारतेन्दु युगीन नाटकों के नायकों की तरह कोई राजा या राजकुमार नहीं है, अपितु एक साधारण ज़मीदार है। इसी प्रकार 'शिक्षा-दान' अर्थात् 'जैसा काम वैसा परिणाम' नाटक का रसिक लाल, 'विवाहिता विलाप' का मनधीर, 'कुन्दकली'

का मधुकर भी समाज के साधारण व्यक्ति हैं, जिन्हें नाटक में नायक का स्थान दिया गया है।

सामाजिक समस्याप्रधान नाटकों में नाटककारों का ध्यान समस्या चित्रण में अधिक रमा है और नायक तथा इतर पात्रों का चरित्र चित्रण गौण हो गया है। इस युग का 'देशदशा' नाटक इसी प्रकार का है जिसमें पात्रों के चरित्र की अपेक्षा नाटककार ने अपना सारा ध्यान समस्याओं के निदर्शन में ही केन्द्रित किया है। अपने युग का स्यात् यह प्रथम नाटक कहा जा सकता है जिसमें कोई नायक नहीं है। इस दृष्टि से इस नाटक का बड़ा महत्व है।

विवेच्य युग में कुछ एक नाटक 'प्रबोध चन्द्रोदय' की शैली पर भी लिखे गये। स्वयं भारतेन्दु के 'भारत-दुर्दशा' नाटक के पात्र प्रबोध चन्द्रोदय की भान्ति ही प्रतीकात्मक है। इनमें चरित्र का विकास बहुत कम देखने में आता है।

युग के समूचे नाटक साहित्य के परिशीलन से यह तथ्य असंदिग्ध रूप से स्पष्ट हो जाता है कि इस युग में नायक के चरित्र-चित्रण के विषय में नाटककारों की प्रवृत्ति धीरे धीरे आदर्श से हट कर यथार्थ की ओर अग्रसर हुई। युग जीवन को प्रेरणा देने वाले सभी भाव इन नाटकों में नायकों के स्वल्प अथवा प्रचुर मात्रा में देखे जा सकते हैं। आदर्श की अपेक्षा उनका मानवी रूप ही अधिक आकर्षक है।

सातवां अध्याय

द्विवेदी युग के नाटकों में नायक

सामयिक पृष्ठभूमि

धार्मिक तथा सामाजिक युग चेतना

भारतेन्दु-युग में जिस सामाजिक एवं राजनैतिक जागरण तथा सांस्कृतिक पुनरुत्थान की प्रवृत्तियों का श्रीगणेश हुआ था, उन्हीं का विकास द्विवेदी-युग में हुआ। भारतेन्दु-युग साहित्य एवं इतिहास का 'नव जागरण-काल' है। इस युग में सामाजिक एवं राजनैतिक क्षेत्र में नव जागरण, नयी चेतना-शक्ति तथा नव-स्फुरण का श्रेय पाश्चात्य शैक्षिक, सांस्कृतिक एवं सभ्यता के निकटतम सम्पर्क को है जो हमारे लिए वरदान सिद्ध हुआ। इसी के कारण हम आधुनिकता की ओर भी बढ़े। सामाजिक कुरीतियों, धार्मिक एवं आध्यात्मिक अन्ध-विश्वासों तथा ऊंच-नीच एवं छुआछूत आदि की भावनाओं ने हमारी सामाजिक, धार्मिक एवं नैतिक शक्ति को इस प्रकार झकझोर डाला था कि उससे भारतीयों का जीवन-संतुलन बहुत बुरी तरह से अव्यवस्थित हो गया। अंग्रेजों की भारत के प्रति आर्थिक-शोषण की नीति के कारण हमारी सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था में जो अराजकता एवं अव्यवस्था फैल रही थी, उसको समूल खदेड़ने के लिए तथा सामाजिक एवं धार्मिक ढांचे को सुचारु एवं सुव्यवस्थित रूप देने के लिए जो प्रयत्न भारतेन्दु युग में आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन आदि विभिन्न धार्मिक संस्थाओं द्वारा किये गये, उन्हीं का सम्यग् विकास इस युग में हुआ, जिससे जनता में सामाजिक एवं राजनैतिक जागरण को पर्याप्त बल मिला। इसके साथ ही इस युग में इसी प्रकार की कुछ और संस्थाओं की भी स्थापना हुई। सन् १९०५ में गोपाल कृष्ण गोखले द्वारा 'भारत-सेवक-समिति' (Servants of India Society) की स्थापना हुई जिसका उद्देश्य

भारतीयों को देश-भक्त बनाना तथा वैधानिक रूप से उनके हितों की रक्षा करना था। इस संस्था की स्थापना किसी सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक एवं राजनैतिक उद्देश्य से न होकर मात्र भारत मां की सेवा-हेतु शिक्षा देने के लिए हुई। सन् १९११ में नारायण मल्हार जोशी ने 'समाज-सेवा-संघ' (Social Service League) की बम्बई में स्थापना की जिसका उद्देश्य जनता के रहन-सहन तथा जीवन की अन्य सुविधाओं को जुटाना था। सन् १९२० में देश भर के मजदूरों को संगठित करने के लिये उन्होंने अखिल भारतीय कार्मिक-संघ महासभा' (All India Trade union Congress) की स्थापना की, जिसकी गणना शीघ्र ही मजदूरों की प्रतिनिधि संस्थाओं में की जाने लगी। सन् १९१४ में श्री राम वाजपेयी ने 'सेवा-समिति ब्वाय स्काउट्स' की स्थापना की। इसी वर्ष हृदयनाथ कुंज़रू ने इलाहाबाद में 'सेवा-समिति' की स्थापना की। इन दोनों संस्थाओं का उद्देश्य शिक्षा, स्वास्थ्य एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में सुधार करना तो था ही, साथ ही अकाल, महामारी, आदि के समय तथा कुम्भ आदि धार्मिकोत्सवों पर जन- सेवा करना भी था।

देश में चल रहे इन सुधारवादी आन्दोलनों का प्रभाव पारसियों और सिखों पर भी पड़ा। बहराम जी राम मालाबारी ने स्त्री शिक्षा, बाल-शिक्षा तथा पत्रकारिता के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया। चीफ़ खालसा दीवान ने देश भर में अपनी शाखाएं खोल कर समाज तथा संस्कृति सम्बन्धी उदार भावनाओं का प्रचार किया। इसी संस्था के द्वारा अमृतसर में खालसा कालेज भी खोला गया।

शैक्षिक पृष्ठभूमि

शिक्षा के प्रचार के बिना किसी भी देश में पूर्ण जागृति नहीं आती। यद्यपि लार्ड कर्ज़न ने अपने शासन-काल में शिक्षा-सम्बन्धी सुधार करने की चेष्टा की, परन्तु भारतीय नेताओं पर इसकी प्रतिकूल प्रतिक्रिया ही हुई। सन् १९०२ में उन्होंने 'विश्वविद्यालय आयोग' (University Commission) की नियुक्ति की जिसका उद्देश्य उनकी दृष्टि में शिक्षा-स्तर को उन्नत बनाना तथा उसमें उचित सुधार करना था। १९०४ में आयोग की सिफारिशों को ऐक्ट का रूप दे दिया गया। ब्रिटिश सरकार के इस ऐक्ट की गोखले आदि कई नेताओं ने इसलिए आलोचना की, क्योंकि इस आयोग में जनता के प्रतिनिधि सम्मिलित नहीं किये गये थे। दूसरे, इसमें विश्व-विद्यालयों को आर्थिक सहायता देने का कोई प्रस्ताव नहीं था। यद्यपि सरकार ने अपनी ओर से इस आयोग को जनतांत्रिक रूप देने की चेष्टा की थी, परन्तु वह मात्र लोक-छलावा

था। वास्तव में आयोग ने अपनी सिफारिशों में जन-साक्ष्यों को कोई महत्व न देकर उन्हीं बातों की सिफ़ारिश की थी जिनका दो वर्ष पूर्व शिमला में वाइसराय की उपस्थिति में शिक्षा-विभाग के अधिकारियों ने निर्णय किया था। भारतीय नेताओं द्वारा घोर विरोध किये जाने पर भी विश्वविद्यालय अधिनियम पारित हो गया। 'कहने का तात्पर्य यह कि जनतांत्रीय मंच पर सभी आवश्यक दृश्यों का नाट्य हुआ, अन्त में दर्शनगण क्षुब्ध और नाट्यकार गर्वोदबुद्ध हो अपनी-अपनी झोंपड़ियों या महलों में जा सिधारे।'[१] इस विवेचन से स्पष्ट है कि सरकार का इस अधिनियम को पारित करने का उद्देश्य भारतीय शिक्षा-संस्थाओं को अपने नियन्त्रण में रखना था, ताकि यह देशभक्ति के बढ़ते हुए आन्दोलन को रोकने में समर्थ हो सके। अतः इस अधिनियम का उद्देश्य शिक्षात्मक की अपेक्षा प्रशासनिक अधिक था।

सन् १९१० में भारत सरकार द्वारा शिक्षा-विभाग की स्थापना हुई। इस विभाग ने १९१३ में 'सावास विश्वविद्यालयों' (Residential University) की सिफारिशें की थीं, परन्तु १९१४ में प्रथम महायुद्ध के छिड़ जाने के कारण वे कार्यान्वित नही की जा सकीं। इसी युग में देश में बढ़ती हुई साम्प्रदायिक एवं प्रांतीय भावना के परिणाम एवं प्रभाव स्वरूप पटना, लखनऊ, उसमानिया, अलीगढ़, बनारस, आगरा, देहली, नागपुर आदि कई नये विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। १९१६ में धोंधू केशव कार्वे द्वारा 'भारतीय नारी विश्वविद्यालय' (Indian women University) की स्थापना हुई। सर आर. जी. भण्डारकर इसके प्रथम उपकुलपति थे। १९२१ में रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा शान्ति निकेतन में 'विश्वभारती' की स्थापना हुई। देश भर में इतने विश्वविद्यालयों के खुल जाने का परिणाम यह हुआ कि शिक्षित लोगों की बेकारी बढ़ गई। यहां एक और बात का उल्लेख कर देना अनिवार्य है कि इस युग में सरकार का ध्यान औद्योगिक एवं व्यावसायिक परिशिक्षण की ओर बिल्कुल नहीं गया। माध्यमिक विद्यालयों में शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी होने के बावजूद भी छात्रों में सामाजिक एवं राजनैतिक जागरण हुआ। ऐसे विद्यालयों की व्यवस्था भारतीयों के हाथ में थी।

इस युग में स्त्री-शिक्षा का भी खूब प्रचार हुआ। इस दिशा में आर्य समाज ब्रह्म समाज तथा भारत-सेवक-समिति के प्रयास सराहनीय हैं। कई प्रान्तों में केवल स्त्रियों के लिए कालेज खोले गये। आसाम और मद्रास में सहशिक्षा का

---

१. रमणीकान्त सूर तथा श्यामाचरण दुबे, भारतीय शिक्षा का इतिहास, संस्करण १९५७, पृ० ३१४।

प्रचार हुआ। देहली में लेडी इरविन और लेडी हार्डिंग कालेज खोले गये। स्त्री-शिक्षा के प्रचार स्वरूप देश भर की नारियों में जागृति की लहर उठी और समाज में उनकी स्थिति में भी पर्याप्त सुधार हुआ। उन्होंने न केवल अपने आप को पर्दे से बाहर निकाला, अपितु अब वे सामाजिक एवं राजनैतिक विषयों में भी रुचि लेने लगीं। १९०१ में बड़ौदा के महाराजा गायकवाड़ ने 'बाल-विवाह निरोधक अधिनियम' (Infant Marriage Prevention Act) पारित किया। इसके अनुसार विवाह के लिए लड़की की आयु कम से कम १२ वर्ष और लड़के की १६ वर्ष निश्चित कर दी गई। विधवाओं के लिए भी इस युग के समाज-सुधारकों एवं विभिन्न धार्मिक संस्थाओं ने आन्दोलन चलाये। सन् १९१९ में लाहौर में 'आल इण्डिया मुस्लिम लेडीज कांफ्रेंस' हुई, जिसमें पुरुषों द्वारा बहु-पत्नी रखने की प्रथा का विरोध किया गया। सन् १९१७ में एनी बेसंट, सरोजिनी नायडू तथा हीराबाई टाटा के नेतृत्व में एक प्रतिनिधि मण्डल लार्ड माटेगू से मद्रास में स्त्रियों को मताधिकार दिलवाने के लिए मिला। १९०९ में श्रीमती रामाबाई रानाडे तथा जी. के. देवधर आदि व्यक्तियों के प्रयत्नों से पूना में 'सेवा-सदन' नामक संस्था की स्थापना हुई, जिसका उद्देश्य विधवाओं के लिए नौकरी आदि की व्यवस्था करना था।

औद्योगिक विकास

१९ वीं शताब्दी के अन्त तक विश्व के लगभग सभी देशों में औद्योगिक विकास हुआ। विज्ञान ने यातायात की सुविधाएं प्रदान कर औद्योगिक धन्धों को विकसित करने में सहायता प्रदान की। यद्यपि १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत में डाक-तार, टेलीफोन, नहरों, सड़कों तथा रेलों आदि यातायात के साधनों के जुट जाने से औद्योगिक धन्धों का पर्याप्त विकास होना चाहिए था, परन्तु सरकार की आर्थिक-विषमता एवं शोषण की नीति के कारण ऐसा न हो सका। हां, १९१४ के प्रथम महायुद्ध ने भारतीय औद्योगिक निर्धनता को अना-वृत करते हुए सरकार को इस बात के लिए विवश कर दिया कि वह आर्थिक एवं सैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए औद्योगिक विकास सम्बन्धी अपनी नीति को बदले।

पश्चिम में १९ वीं शताब्दी के औद्योगिक विकास के परिणाम-स्वरूप जिस आर्थिक साम्राज्यवाद का आविर्भाव हुआ, उसके कारण विश्व का बहुत-सा भाग कुछ एक बड़े देशों के अधीन हो गया। ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, पुर्तगाल आदि विभिन्न विकसित देशों के अधिकार में विश्व के कई देश आ गये। प्रथम महा-युद्ध के मूल में भी यही साम्राज्यवादी प्रवृत्ति थी। विश्व के इन बड़े राष्ट्रों की

पारस्परिक गुटवन्दी में जातिगत, सास्कृतिक तथा प्रजातान्त्रिक सम्बन्धों की एकता की अपेक्षा [illegible] प्रवृत्ति का प्रभाव विशेष रूप से था।

औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप नगरों में लोगों की संख्या बढ़ने लगी। परिणामत: सामाजिक एवं आर्थिक समस्याएं उभरने लगीं। मशीनों के प्रयोग से कृषि एवं उद्योगों का विकास तो हुआ ही, साथ ही नगरों की बढ़ती हुई जनसंख्या के भरण-पोषण में भी सहायता मिली। नगरों में बड़े-बड़े कारखानों की स्थापना से समाज दो वर्गों में विभक्त हो गया, पूंजीवादी तथा श्रमिकवर्ग। इस प्रकार सन् १८७० के पश्चात् लाखों की संख्या में श्रमिकों का जीवन पूंजी-पतियों के अधीन हो गया। जब कभी एक कारखाना या मिल बन्द हो जाती, तो उससे उसमें काम करने वाले श्रमिक तो प्रभावित होते ही, साथ ही जनता भी प्रभावित हुए बिना न रहती। दूसरी ओर पूंजीपतियों का दृष्टिकोण अधिक धन-संग्रह के कारण व्यक्तिवादी बन गया। समाज के ऐसे आर्थिक विषमतापूर्ण वातावरण में केवल शक्तिशाली ही जीवित रह पाता है, शेष तो उसके भोज्य बन जाते हैं। परिणामत: श्रमिकवर्ग का शोषण हुआ और समाज में वह दिन-प्रतिदिन दबता चला गया। भूमि और औज़ारों के बिना साधनहीन तथा अस-हाय, श्रमिक वर्ग को अपने आप जीवित रखने के लिए पूजीपतियों का कृपापात्र बनना पड़ा। जितनी मज़दूरी उन्होंने दी, उसे स्वीकार करना पड़ा। समाज में ऐसे ही श्रमिक वर्ग के अधिकारों की सुरक्षा के लिए, उनकी सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति में सुधार लाने के लिए, तथा पूजीपतियों के शोषण से बचाने के लिए संघवाद (Unionism) का प्रचार हुआ। जब कभी पूंजीवादियों की अराजकता से श्रमिक वर्ग के हितों की रक्षा के लिए हड़ताल आदि की जाती, तो उस में कोई एक व्यक्ति भाग न लेता, बल्कि संघ के सभी सदस्य उसमें भाग लेते। चूंकि सामूहिक हड़ताल आदि से देश भर के उत्पादन क्षेत्र को बड़ा आघात पहुंचता था, इसलिए पूंजीवादियों को उनके समक्ष झुकना पड़ता और इस प्रकार श्रमिकों की पारस्परिक एकता से अब उनके अधिकार सुरक्षित रहने लगे।

२० वीं शताब्दी के आरम्भ में मज़दूरों की दशा को सुधारने के लिए भारत सरकार ने भी अनेक पग उठाये। १६११ मे फैक्ट्री अधिनियम बनाया गया। इस अधिनियम के द्वारा काम करने वाले बच्चों, स्त्रियों तथा मज़दूरों की अवस्था सुधरी। उनके काम करने के घण्टे निश्चित कर दिये गये। सप्ताह में एक दिन की छुट्टी की व्यवस्था कर दी गई। अतिरिक्त काम करने के वेतन के नियम बनाये गये। प्रथम महायुद्ध के बाद दैनिक आवश्यकताओं की वस्तुओं के मूल्यों में अभिवृद्धि हो जाने के कारण देश में असंतोष एवं विक्षोभ की

भावना जगी। सन् १९१७ की सफल रूसी क्रान्ति ने भारत में संघवाद (Unionism) की भावना का प्रचार किया। १९१८ में बी. पी. वाड़िया ने 'मद्रास श्रमिक संघ' (Madras Labour Union) तथा १९२० में नारायण मल्हार जोशी ने 'अखिल भारतीय कार्मिक संघ महासभा' (All India Trade Unian Congress) की स्थापना की। इसी वर्ष अहमदाबाद में भी 'टैक्सटाइल लेबर एसोसियेशन' की स्थापना हुई।

समाज मे आर्थिक विषमता एवं असन्तोष की भावना की प्रतिक्रियास्वरूप समाजवाद का जन्म हुआ, जिसके जन्मदाता १९ वीं शताब्दी के प्रसिद्ध दार्शनिक एवं विचारक कार्ल मार्क्स थे। उनकी धारणा थी कि समाज की बहुत-सी समस्याएं लोगों के पास भूमि एवं पूजी के न होने के कारण ही जन्म लेती हैं। लाखों की संख्या में लोगों को पूंजीपतियों द्वारा दिये गये दैनिक वेतनों पर निर्भर रहना पड़ता है। अतः श्रमिकों को पूजीपतियों के आर्थिक शोषण से बचाने के लिए समाजवाद ने वैयक्तिक सम्पत्ति को मिटा देना चाहा जो पूंजीवादी उत्पादन का आधार था। समाजवादी सामाजिक-व्यवस्था उत्पादन के सभी साधनों पर राज्य के अधिकार में विश्वास रखती है। मार्क्स का तो यह दृढ़ विश्वास था कि श्रमिक वर्ग ही समूचे सामाजिक जीवन के मूल्यों का स्रोत एवं आधार है। अतः यदि उसके वैयक्तिक एवं पारिवारिक जीवन की पूंजीपतियों के शोषण से रक्षा न की गई, तो हमारा समाज भयंकर विनाश के गर्त में पड़ जायेगा। मार्क्स इसीलिए पूजीवादी सामाजिक व्यवस्था को समाजवादी व्यवस्था में परिवर्तित करने के प्रबल समर्थक थे। इस विचारधारा का प्रभाव विश्व के समस्त देशों के साहित्य पर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में पड़ा।

राष्ट्रीय चेतना का विकास

इस युग में राष्ट्रीय एवं राजनैतिक चेतना को विकसित करने में इण्डियन नेशनल कांग्रेस की गतिविधियां पहले से कहीं अधिक सक्रिय रही। लार्ड कर्ज़न ने अपने शासनकाल में सन् १९०५ में बंगाल को दो भागों में विभक्त कर दिया। बंग-भंग की प्रतिक्रिया न केवल बंगाल में हुई, अपितु इससे समूचे देश में असन्तोष की लहर दौड़ गई। लार्ड कर्ज़न के कठोर एवं दमनकारी शासन ने भारतीय राष्ट्रीयता के आन्दोलन को दबाने की अपेक्षा उभारने में अधिक सहायता की। १९०५ के कांग्रेस के २१ वें अधिवेशन में बंग-भंग का विरोध किया गया और इसको वापस लेने की मांग की गई। सरकार की बंग-भंग की नीति ने वास्तव में समस्त भारतीय जनता को एकता के सूत्र में बांध दिया और इस प्रकार यह एक वरदान ही सिद्ध हुई।

१९०७ में पारस्परिक फूट के कारण कांग्रेस के दो दल बन गये—उग्र-वादी तथा उदारवादी। देश मे उग्रवादी नीतियो के विकास के मुख्य कारण थे—उदारवादी नेताओं की राजनैतिक भिक्षावृत्ति की असफल नीति, ब्रिटिश सरकार की असहानुभूति एवं प्रतिक्रियात्मक नीति, लार्ड कर्जन का कठोर एवं दमनकारी शासन, बग-भंग, आर्थिक असन्तोष तथा १९०५ मे जापान की रूस पर विजय। इनके अतिरिक्त देश मे चल रहे धार्मिक राष्ट्रवाद के आन्दोलनों तथा शिक्षा के प्रसार ने भी उग्रवादियों की नीतियों को विकसित करने में सहायता की। बंकिम चन्द्र चटर्जी का प्रसिद्ध राष्ट्रीय गान 'वन्दे मातरम्' भी इन्हीं दिनों लिखा गया। इन्ही दिनो उन्होने राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत 'आनन्द मठ' उपन्यास की भी रचना की। 'स्वदेशी' और 'स्वराज्य-प्राप्ति' के उद्घोष भी इन्ही दिनों प्रचारित किये गये। गुरुमुख निहाल सिंह ने बीसवी शताब्दी के प्रथम दशक में धार्मिक राष्ट्रवाद के उदय होने के निम्न कारण दिये है—विदेशो में होने वाली घटनाओ का प्रभाव, सरकार की भारतीयों के प्रति कठोरता की नीति, देश मे अकाल, प्लेग आदि दैवी विपत्तियों के प्रति सरकार की असहानुभूति एवं असंतोषजनक नीति, सरकार की राष्ट्र विरोधी आर्थिक नीति, भारतवासियो के प्रति आंगल-भारतीयों का अहंकारयुक्त व्यवहार और आंगल-भारतीय पत्रो का भारतीय-विरोधी दृष्टिकोण और प्रचार, दक्षिण अफ्रीका (ट्रांसवाल तथा नाटाल) मे रहने वाले भारतीयो के प्रति हीनतापूर्ण व्यवहार, स्कूल और कालेजो मे शिक्षा के प्रचार एवं प्रसार स्वरूप बौद्धिक जागरण, धार्मिक आन्दोलनों और भारतीय समाचरपत्रों का जन-चेतना पर प्रभाव तथा कांग्रेस की राजनैतिक भिक्षावृत्ति की असफल नीति।*

जिन परिस्थितियों एव कारणों के परिणामस्वरूप देश में उग्रवाद का उदय हुआ, वहुत सीमा तक उन्ही परिस्थितियों के कारण बगाल में क्रान्तिकारी अथवा आतंकवादी आन्दोलन का उदय हुआ, जिसका देशव्यापी प्रभाव पड़ा। यद्यपि इन दोनों का साध्य स्वतन्त्रता-प्राप्ति था, परन्तु फिर भी इनके साधन एक दूसरे मे भिन्न थे। 'उग्रदल का राजनीतिक आन्दोलन मे ब्रिटिश चीजों और संस्थाओ के बहिष्कार द्वारा राष्ट्रीय पुनर्निमाण मे विश्वास था। वे सर-कारी कार्यालय, न्यायालय और स्कूल आदि सब संस्थाओं के बहिष्कार के पक्ष मे थे और वे उनके स्थान पर राष्ट्रीय न्याय-मण्डल, पचायत, स्कूल आदि स्थापित करना चाहते थे। क्रान्तिकारी दल को पश्चिमी क्रान्तिकारी साधनो

---

* भारत का वैधानिक एव राष्ट्रीय विकास (१९००-१९१९), सस्करण १९६१, पृ० १३१-१४८।

में, विशेषकर बम और पिस्तौल द्वारा आतंकवाद, राजनीतिक हत्याओं और राजनीतिक डकैतियों में विश्वास था।"[1]

सन् १९१४ मे प्रथम महायुद्ध छिड गया। इस युद्ध मे भारतीय जनता ने तन, मन और धन से ब्रिटिश सरकार की सहायता की। देश के क्रान्तिकारी नेताओ के अतिरिक्त अन्य सभी नेताओं ने भी भारतीयो द्वारा ब्रिटिश सरकार की सहायता का समर्थन किया। सन् १९१८ मे युद्ध समाप्त हो गया। ब्रिटेन तथा अन्य मित्र राष्ट्रों की जर्मनी पर विजय हुई। भारतीयों का विचार था कि अंग्रेज़ भारतीयों की युद्ध-सेवाओ मे प्रसन्न हो कर उनकी मागों को स्वीकार कर लेगे और उन्हें 'स्वराज्य' दे देगे। परन्तु युद्धोपरान्त इनकी मागों के विषय में जब सरकार ने बिल्कुल मौन साध लिया, तो इससे समस्त भारत मे असंतोष एवं निराशा की लहर दौड गई। इसी बीच एनी बेसेंट तथा तिलक ने 'स्वराज्य' प्राप्ति-हेतु 'होम रूल' आन्दोलन चलाया। इस आन्दोलन की प्रेरणा उन्हे महायुद्ध से ही मिली थी। सन् १९१८ मे माटेगु-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट प्रकाशित हुई। डाक्टर-पट्टाभि सीता रामैया के शब्दो मे 'साहित्यिक दृष्टि से वह ऊचे दरजे की चीज़ थी। यह ब्रिटिश राजनीतिज्ञो द्वारा तैयार किये गये राजनैतिक लेखो के समान, भारत को स्वशासन देने के सम्बन्ध में एक निष्पक्ष बयान था। उसमे सुधारों के मार्गो की रुकावटो का बडी स्पष्टता के साथ वर्णन किया गया था और फिर भी जोर दिया गया था कि सुधार अवश्य मिलने चाहिएं।* १९१८ मे रिपोर्ट मे प्रकाशित सिफारिशों को एक्ट का रूप दे दिया गया जो सन् १९२१ से लागू किया गया। भारतीयों को सरकार द्वारा किये गये इन सुधारों से भी कोई सतोष नही हुआ। सन् १९१९ मे पंजाब के अमृतसर नगर में जलियांवाला बाग का हत्याकाण्ड हुआ। इससे सारे देश मे रोष की ज्वाला धधक उठी।

साहित्य पर प्रभाव एवं प्रतिक्रिया

द्विवेदी-युग की मूल प्रवृत्तिया थी—राजनैतिक चेतना मे निश्चिन्तता का विकास तथा समाज-सुधार एव नैतिक मूल्यों का महत्व। इन्ही प्रवृत्तियों का चित्रण इस युग के साहित्य मे हुआ। राजनैतिक आन्दोलनो एवं सुधारात्मक प्रवृत्तियों की प्रमुखता के कारण समस्त साहित्य मे एक प्रकार से गत्यवरोध

---

१. गुरुमुख निहाल सिंह, भारत का वैधानिक एव राष्ट्रीय विकास (१६००-१९१९) पृ० १३२।

* कांग्रेस का इतिहास, पृ० १२०-१२१।

की स्थिति आ गई। भारतेन्दु युग में भारतेन्दु तथा उनकी मण्डली के लेखकों ने साहित्य की विविध विधाओं के क्षेत्र में जो सराहनीय कार्य किया था, उस का समुचित विकास इस युग मे न हो सका। इस युग के लेखकों ने मौलिक रचनाओं की अपेक्षा अनुवाद-कार्य में अधिक रुचि दिखाई। इस युग के नाटक साहित्य में भी यही प्रवृत्ति देखी जा सकती है। द्विवेदी युग मे मौलिक नाटक-साहित्य के अपेक्षाकृत अभाव के कई कारण थे—

१. भारतेन्दु के समान युगप्रवर्तक एवं सफल नाटककार का अभाव।
२. पारसी-शैली के रंगमंचीय नाटकों का प्रचार।
३. हिन्दी के पास अपने रंगमंच का अभाव।
४. राजनैतिक आन्दोलनों के कारण वातावरण की अशान्तता।
५. सरकार की आर्थिक शोषण की नीति के कारण जनता में असंतोष एवं निराशा का वातावरण।

उपर्युक्त विवेचन से यह अभिप्राय कदापि नहीं लिया जा सकता कि इस युग के लेखकों का ध्यान नाटक रचना की ओर नही गया। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'नाट्य-शास्त्र' नामक पुस्तक में नाटक के सिद्धान्त-पक्ष की चर्चा की, मैथिलीशरण गुप्त (चन्द्रहास, तिलोत्तमा), लोचन प्रसाद पाण्डेय (साहित्य मेवा), आदि लेखकों ने नाटक-रचना की ओर ध्यान दिया परन्तु उन्होंने अपने को असफल पाया। 'इसका यह अर्थ नही है कि यदि वे नाटक रचना में पर्याप्त परिश्रम करते तो भी सफल नाटककार न हो सकते। यह सत्य है कि कवि कर्म का प्रधान कारण प्रतिभा ही है, किन्तु उस प्रतिभा के समुचित विकास के लिए विस्तृत अध्ययन और अनवरत अभ्यास की भी आवश्यकता है। मैथिली-शरण गुप्त ने कवि बनने के लिए, रामचन्द्र शुक्ल ने आलोचक और निबन्धकार बनने या द्विवेदी जी ने युग-निर्माण करने के लिए जितना घोर परिश्रम किया उतना ही परिश्रम यदि वे नाटककार बनने के लिए करते तो नाटककार हो सकते थे। समस्या तो यह थी कि नाटक रचना के लिए नाट्यशालाओं में जाकर नाट्यकलाविशारदों की सेवा में रह कर उसका अध्ययन करना अनिवार्य था। कविता, कहानी, निबन्ध, आलोचना या युग की रचना तो अपने स्थान पर बैठे बैठे हो गई और जहां कही पथ-प्रदर्शन के सदुपदेश की आवश्यकता हुई वहां पत्र व्यवहार से भी काम चल गया।'[१]

---

१. डा० उदयभानुसिह, महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग, प्रथम संस्क-रण, पृ० ३१०-३११।

पौराणिक नाटकों में नायक

विषय-विविधता की दृष्टि से भारतेन्दु युग के समान इस युग में भी पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक नाटक लिखे गये। संख्या में ये नाटक बहुत कम हैं। पौराणिक नाटकों में युग के नाटककारों का ध्यान राम और कृष्ण चरित सम्बन्धी नाटक रचना की ओर कोई विशेष नहीं गया। हां पारसी-शैली, रामलीला-शैली अथवा रासलीला-शैली के कुछ नाटक अवश्य मिलते हैं, परन्तु साहित्यिक दृष्टि से उनका कोई महत्व नहीं है। इस युग के पौराणिक नाटकों को हम निम्नवर्गों में विभक्त कर सकते हैं :—

(क) रामचरित सम्बन्धी।
(ख) कृष्ण चरित सम्बन्धी।
(ग) अन्य चरित सम्बन्धी।

(क) राम चरित सम्बन्धी नाटकों में नायक

विवेच्य युग में राम के चरित को आधार बनाकर बहुत थोड़े नाटक रचे गये। इनमें रामनारायण मिश्र कृत 'जनक बाड़ा' (१६०६) ब्रजचन्द वल्लभ कृत 'रामलीला' (१६०८), नारायण सहाय का 'रामलीला नाटक' (१९११), राम गुलाम का 'धनुष यज्ञ लीला' (१६१२), गंगा प्रसाद का 'रामाभिषेक नाटक, (१६१०) आदि जो नाटक मिलते हैं, साहित्यिक दृष्टि से उनका कोई विशेष महत्व नहीं है। ये सभी नाटक रामलीला शैली के है। इन नाटकों के अतिरिक्त अम्बिका दत्त त्रिपाठी कृत 'सीय स्वयंवर नाटक' (१६१८), जयगोविन्द शर्मा कृत 'रामविनोद नाटक', (१६१४), गिरिवरधर वकील का 'राम-वन-यात्रा नाटक' तथा चन्दन लाल कृत 'राम जानकी चरित्र नाटक' (१६१४) भी उपलब्ध होते है। इन सभी नाटको मे नायक राम को देवता अथवा ईश्वर के रूप में ही चित्रित किया गया है। **'सीय स्वयंवर'** नाटक के मंगलाचरण में भगवान् राम की इस प्रकार स्तुति की गई है —

'सुनिये रघुनायक, जनसुखदायक, विनय करौं कर जोरी।
तव चरित अपारा, परम उदारा, बरणत शेष थको री॥
वह दनुज-निकदन, जन मन रंजन, महिमा अमित अथोरी।
द्विजदत्त अधीना, अति मति पीना, कह लीला प्रभु तोरी।''

नाटक की कथा का आधार तुलसीदास कृत राम चरित मानस का बाल-काण्ड है। स्थान-स्थान पर नाटककार तुलसी से प्रभावित है। नाटक के आरम्भ

में बन्दीजन विभिन्न राजाओं का परिचय देते है और साथ ही उनका प्रशस्ति-गान भी करते है। रावण अपनी अहंकारी-वृत्ति के कारण प्रवेश करते ही सीता तथा शिवधनुष के विषय मे इस प्रकार पूछता है —

राज कुवरि कत सोहई, कहं है हर कोदंड।
लंकाहि जाऊं लिवाइ के, चाप करौं बहु खण्ड॥[1]

बाणासुर उसके ऐसे वचनों को सुन कर उस पर व्यंग्य करता है कि तुम जिस अनुपात में अहंकार करते हो, उस अनुपात मे तुम्हारे पास शक्ति नही है। इस पर रावण क्रुद्ध हो जाता है और दोनों में वाग्युद्ध छिड़ जाता है। अन्ततः बाणासुर उसे यह चुनौती देता है कि यदि तुम धनुष तोड़ सको तो मैं तुम्हारे भुजबल को जानू। इस पर रावण उससे ये गर्वपूर्ण वचन कहता है—

'हे मूर्ख बाण ! तू बार बार समझाने पर भी कड़ी बात का कहना नही छोड़ता। क्या तुम्हारा काल समीप आ गया है। अच्छा अब मैं शिवजी का धनुप तोड़ने जाता हूं, तू व्यर्थ बकवाद करके समय नष्ट न कर और भी—

छुवतहि ताहि लचाइहौ, कोमल कमल समान।'[2]

इसके साथ ही रावण एक बात और भी कहता है— 'हां यदि कोई मेरे सेवकों को दुख देगा तो उसे निवारण करने के हेतु अवश्य ही चला जाऊंगा।'[3] इतने में ही राक्षसों की करुण पुकार सुनकर रावण वहां से धनुष तोड़ने के प्रयास के बिना ही चला जाता है। इस प्रकार रावण को राजाओं की ऐसी सभा से बाहर निकालने में नाटककार बड़ी ही कला चातुरी का परिचय देता है।

रावण के जाते ही मुनि विश्वामित्र के साथ राम और लक्ष्मण आते है। नाटककार ने राम और लक्ष्मण के वंशोचित तथा वीरोचित गुणों का उल्लेख भी रामचरित मानस के ही आधार पर किया है। जब सभी राजागण शिव धनुष की प्रत्यंचा चढ़ाने मे असफल रहते है तो राजा जनक बड़े निराश हो जाते है। उन्हें राम की शक्ति में भी संदेह होता है। लक्ष्मण इस बात को सहन नही कर पाते। वे राजा जनक से अत्यन्त विश्वासपूर्ण परन्तु क्रोध के साथ यह कहते है—

---

१. सीय स्वयंवर नाटक, पृ० ९।
२. वही, पृ० १५-१६।
३. वही, पृ० १७।

'सुनिये रघुवंश के नायक जू तेहि मध्य न ऐसा कोऊ कहैं।
जहहीं रघुवंशी विराजत हों, यहं तो कुलभूषण आपु अहैं ।।
मिथिलाधिप की सुनिकै बतियां, छतियां मम क्रोध की अग्नि दहैं।
यदि हो अनुशासन, लागहिं आसन, खेल कछु हम कीन चहैं ।।'[१]

इसी स्थल पर लक्ष्मण और परशुराम में क्रोधपूर्ण विवाद होता है। परशुराम उन्हें बारम्बार मारने की धमकी देते हैं। परन्तु निर्भीक एवं दबंग लक्ष्मण तनिक भी नहीं घबराते और उन्हें वे बड़े उचित एवं तीखे उत्तर देते हैं। उनके उत्तर परशुराम की क्रोधाग्नि में घृताहुति का काम करते हैं। परशुराम के अत्यन्त क्रुद्ध होने पर लक्ष्मण हंसते हुए कहते हैं—

'तोरेऊं कितने चाप मैं, क्रोध कबहुं नहि कीन्ह।
यहि धनु पर काहि कारने, ध्यान अधिक मुनि दीन्ह ।।'[२]

इस पर परशुराम की क्रोधाग्नि भड़क उठती है और वे कहते हैं—

'सुनु शठ भूपकुमार, समुझत धनुप समान सब।
जानत सब संसार, शम्भुशरासन कठिन अति।'[३]

तब लक्ष्मण बहुत ही साधारण शब्दों में उनसे कहते है कि यह जीर्ण-शीर्ण धनुष हाथ का स्पर्श पाकर टूट गया। फिर पुराने धनुप के भंग होने पर इतना क्रोध क्यों? इस पर परशुराम का क्रोध और भी बढ़ जाता है। वे उससे

---

१. सीय स्वयंवर नाटक, पृ० २०।
इन भावों के लिए कवि तुलसीदास के रामचरित मानस (बालकाण्ड) का ऋणी है। उदाहरणतया—
'रघुबंसिन्ह महुं जहं कोउ होई। तेहिं समाज अस कहइ न कोई ।।
कही जनक जसि अनुचित बानी। विद्यमान रघुकुलमनि जानि ।।२५२।१।

× × × ×

जौं तुम्हारि अनुसासन पावौं। कंदुक इव ब्रह्मांड उठावौं ।।२५२।२।।

२. सीय स्वयंवर नाटक, पृ० २५, देखिए रामचरितमानस (बालकाण्ड)।
'बहु धनुहीं तोरीं लरिकाई। कबहुं न असि रिस कीन्हि गोसाई ।।
एहि धनु पर ममता केहि हेतू। सुनि रिसाइ कह भृगुकुलकेतू ।।२७०।४।।

३. सीय स्वयंवर नाटक, पृ० २५, देखिए रामचरितमानस (बालकाण्ड)।
रे नृप बालक काल बस बोलत तोहि न संभार।
धनुही सम त्रिपुरारि धनु बिदित सकल संसार ।।२७१।।

कहते है कि तुम मुझे केवल मुनि ही मत समझो। मैं अत्यन्त ही क्रोधी और क्षत्रियों का शत्रु हूं। तुम्हे तो मैं केवल बालक जानकर छोड़े देता हूं। अन्यथा अपने इस फरसे से तेरा अंग अंग काट डालता।[१] इस पर लक्ष्मण उन्हे यह कहते है—'हे मुनिराज जी ! आप बड़े वीर बनते है; और मुझे मारने के लिए बार-बार कुठार उठाते हैं। परन्तु मैं आपको ब्राह्मण समझ कर छोड़े जाता हूं। क्योंकि हमारे वंश के लोग ब्राह्मण, गाय तथा तपस्वियों पर कड़ाई नहीं रखते बल्कि उनका समादर करते हैं, आपकी बातें तो वैसे ही करोड़ों वज्र के घाव के समान घात करती हैं। फिर आप नाहक धनुष और कुठार धारण किए हुए है।'[२]

परन्तु राम लक्ष्मण के समान नहीं आचरण करते। वे [illegible] के क्रोध को शान्त करने का ही प्रयास करते हैं। परशुराम जब अत्यन्त क्रुद्ध होकर धनुप भंग करने वाले अपराधी के विषय में पूछतें हैं तो वे अत्यन्त नम्रता-पूर्वक उत्तर देते है—

'धनु को खण्डनहार, सुनिये मुनि जो कोप तजि।
है कोउ दास तुम्हारा, आज्ञा क्या अब होत त्यहि ॥'[३]

वे लक्ष्मण के कटु वचनों के लिए क्षमा याचना करते हुए परशुराम से सविनय करते है—'हे मुनि जी ! आप बड़े धीर पुरुष है और यह अज्ञान बालक है इसने आपके धनुष बाण को देखकर जो अनुचित कहा है उसे आप क्षमा

---

१. भाव-साम्य के लिए देखिए, रामचरितमानस (बालकाण्ड)।
बालकु बोलि बधउं नहिं तोही। केवल मुनि जड़ जानहि मोही।
बाल ब्रह्मचारी अति कोही। बिस्व विदित छत्रिय कुल द्रोही ॥२७१।३॥
२. सीय स्वयंवर नाटक, पृ० २७, देखिए रामचरित मानस (बालकाण्ड)।
पुनि पुनि मोहि देखाव कुठारू। चहत उड़ावन फूकि पहारू ॥२७२।१॥
× × × ×
भृगुसुत समुझि जनेउ बिलोकी। जो कुछ कहहु सहउं रिस रोकी ॥
सुर महिसुर हरिजन अरु गाई। हमरें कुल इन्ह पर न सुराई ॥२७२।३॥
× × × ×
कोटि कुलिस सम बचनु तुम्हारा। व्यर्थ धरहु धनु बान कुठारा ॥२७२।४॥
३. सीय स्वयंवर नाटक, पृ० २४, देखिए रामचरितमानस (बालकाण्ड)।
नाथ संभु धनु भंजनिहारा। होइहि केउ एक दास तुम्हारा ॥
आयसु काह कहिअ किन मोही। सुनि रिसाइ बोले मुनि कोही ॥२७०।१॥

कीजिए ।[1] [illegible] हे मुनि जी ! आप बड़े दयावान् हैं । यह बालक आपका अपराधी नहीं है । मैं [illegible] दोषी हूं । कृपा कर क्रोध दूर होने का यत्न बतलाइये ।[2] इस प्रकार राम-लक्ष्मण और परशुराम के बीच काफ़ी देर विवाद चलता है । अन्त में परशुराम लक्ष्मीपति विष्णु के धनुष की प्रत्यंचा चढ़ाने के लिए कहते हैं । राम जब इसमें भी सफल रहते हैं तब परशुराम उनके वास्तविक स्वरूप को पहचान कर क्षमा-याचना करते है और उनका स्तुति-गान भी करते हैं ।

इस नाटक का कथा भाग 'मानस' के 'श्री राम-लक्ष्मण और परशुराम-संवाद' पर आधारित है । नाटक के उद्धृत अंशों की 'मानस' के साथ तुलना करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि नाटककार ने नायक राम के उन्हीं रूप-गुणो का चित्रण किया है जिनका वर्णन रामचरितमानस में मिलता है । इसके लेखक ने अपनी ओर से अथवा युग की परिस्थितियों के अनुरूप कोई भी नयी बात कहने की चेष्टा नही की है । अतः यदि हम 'सीय स्वयंवर नाटक' को रामचरितमानस के 'श्रीराम-लक्ष्मण और परशुराम-संवाद' का स्वभाषा में उल्थामात्र कह दें, तो कोई अत्युक्ति नही होगी ।

राम नाटक के धीरोदात्त नायक है जो अलौकिक गुणों से युक्त हैं । नाटककार ने राम के उदात्तत्व की यथासम्भव रक्षा की है । वीर एवं प्रतापी होते हुए भी अभिमान उन्हें छू तक नहीं गया । शान्ति की तो मानों वे साक्षात् मूर्ति हैं । अतुल बलशाली होकर भी वे बड़े विनीत एवं विनम्र है । परशुराम के क्रोधपूर्ण वचनों का वे बड़ी ही विनम्रता के साथ उत्तर देते हैं । वीर होने के साथ-साथ राम का व्यक्तित्व अत्यन्त ही मोहक एवं आकर्षक है । वे अत्यन्त सुन्दर एवं सुकुमार है ।

उन्नाव ज़िला के पाटन ग्राम निवासी पण्डित जय गोविंद शर्मा ने गद्य-पद्य में **'राम विनोद नाटक'** की रचना की ।[3] इसमें नाटककार ने दोहा, चौपाई, सोरठा, सवैया, घनाक्षरी, भुजंगप्रयात आदि छन्दों का प्रयोग किया है । इसमें

---

१. सीय स्वयंवर नाटक, पृ० २९, देखिए रामचरितमानस (बालकाण्ड)
   जौ लरिका कछु अचगरि करहीं । गुर पितु मातु मोद मन भरहीं ॥
   करिअ कृपा सिसु सेवक जानी । तुम्ह सम सील धीर मुनि ग्यानी ॥
   ॥२७६।२॥

२. सीय स्वयंवर नाटक, पृ० ३१ ।

३. संस्करण सन् १९१४, इसकी प्रति पंजाब विश्वविद्यालय के पुस्तकालय मे सुरक्षित है ।

'श्रीमती जगज्जननी जानकी जी के विवाह विषयक एवं ऋषिवर्य विश्वामित्र और धराधर श्री लक्ष्मण जी के परस्पर संलाप और जनक वाटिका में माला-कार और श्री रामचन्द्र जी का मधुर सम्भाषण, सखियों का सभ्रातृ-रामदर्शन से विह्वलत्व तथा सीता जी का गिरिजापूजन और मनोभिलषित वर प्राप्ति, जनक पुर निवासियों का धनुर्भंग देख प्रसन्नचित्त होना और श्रीमान् राजा दशरथ का समारोह से बरात लेकर आगमन आदि समस्त चरित्र हर्षप्रद और श्रीमत्परब्रह्म परमेश्वर सगुण रूप श्री रामचन्द्र जी के चरणाम्बुजों मे भक्ति मति कारक ही है।'[१]

इस नाटक में रामचन्द्र जी के जन्मचरित्र से विवाहपर्यन्त की कथा दस अंकों में वर्णित की गई है। नाटक के नायक राम है और नाटककार ने उन्हें भगवान् एवं अवतार के रूप में चित्रित किया है।[२] राम के चरित्र-चित्रण मे लेखक ने अत्यन्त श्रद्धा एवं भक्तिभाव का परिचय दिया है, वैसे नाट्य-शिल्प की दृष्टि से नाटक का कोई महत्व नहीं।

कुम्हैला निवासी बाबू गिरिवरधर वकील ने भी **'राम-बन-यात्रा नाटक'** (१६०६) की रचना की है। इस नाटक के प्रणीत करने में लेखक ने वाल्मीकि रामायण अध्यात्म रामायण तथा तुलसी के 'मानस' से सहायता ली है। नाटक रामलीला की प्रचलित शैली का है और इसका अधिकांश भाग पद्य में ही है। नाटककार ने स्वयं इसे 'गीतिरूपक की संज्ञा से अभिहित किया है।[३] चरित्र-चित्रण एवं कार्य-व्यापार की दृष्टि से नाटक बड़ी अप्रौढ़ रचना है। नाटक के सात अंकों में राम के राज्याभिषेक की तैयारी, मंथरा द्वारा कैकेयी को उक-साया जाना, परिणामतः कैकेयी का राजा दशरथ से राम के लिए चौदह वर्ष

---

१. खेमराज श्री कृष्णदास; रामविनोद नाटक का भूमिका भाग।

२. रामविनोद नाटक, प्रथम अंक, पृ० ५।

सीताराम को चरित्र विशद विचित्र अति,
सो सुनाय दास के पवित्र करौं करनौ ॥
पापताप छूटिबे की चरचा चलावै कौन,
जौन यश सुने छूटि जात जन्म मरनौ ॥
जोरि करकंज युग जै गोविन्द रावरे के,
बन्दत विनीत है पुनीत चारु चरनौ ॥
जौन काम जौन ठाम जौन धाम सीताराम,
लीन्ह्यौ अवतार सूत्रधार तौर बरनौ ॥

३. राम-बन-यात्रा नाटक, संस्करण १६१०।

का बनवास और भरत के लिए राज्य मागना तथा दशरथ की आज्ञा से राम का सीता तथा लक्ष्मण सहित वन-प्रस्थान और अन्त मे राजा दशरथ की मृत्यु तक का वर्णन है। सारे नाटक में राम के धीरोदात्त स्वरूप को उभारा गया है और उनके गुणों का सर्वत्र यशोगान किया गया है। राम को पितृभक्त, आज्ञाकारी, गुरुजनों का सम्मान करने वाले प्रजावत्सल भ्रातृ-स्नेही, सहृदय एवं विनम्र रूप में चित्रित किया गया है।

रोहतक निवासी लाला चन्दन लाल अग्रवाल कृत नाटक **'धर्म-प्रकाश** अथवा **'राम जानकी चरित्र'** नाटक (१९१४) तुलसी दास के रामचरितमानस पर आधारित है। नाटक मे सात अंक है और उनके नाम भी लगभग 'मानस' की तरह इस प्रकार हैं—'काण्ड, अयोध्याकाण्ड, वनकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड, सुन्दरकाण्ड, युद्धकाण्ड, तथा राजकाण्ड। मानस में कवि ने पहले काण्ड को बाल-काण्ड, तीसरे को अरण्यकाण्ड, छठे को लंकाकाण्ड तथा अन्तिम को उत्तरकाण्ड की संज्ञा दी है। इसके स्थान पर लाला चन्दन लाल जी ने उन्हें क्रमश: काण्ड, वनकाण्ड, युद्धकाण्ड तथा राजकाण्ड की संज्ञा से अभिहित किया है। यद्यपि नाटककार ने नाटक में मानस की सम्पूर्ण घटनाओं का विस्तार नहीं दिया, फिर भी राम चरित सम्बन्धित सभी महत्वपूर्ण घटनाओ के सकेत नाटकीय इतिवृत्त में अवश्य आ गए हैं। कहीं कहीं पर तो भाव-साम्य भी मिलता है। नाटक के चौथे अंक के दृश्य आठ में राम द्वारा वर्षा ऋतु-वर्णन मानस के किष्किंधाकाण्ड में वर्णित वर्षा ऋतु-वर्णन से पर्याप्त साम्य रखता है। इसी प्रकार नाटक के चतुर्थ अंक में जब राम के बाण से बाली घायल हो जाता है—तब वह उनसे अपने वध का कारण पूछता है। राम उससे कहते है 'देखो मूर्ख ! मै समझाता हूं, तेरा अपराध बताता हूं, जो पुत्र और छोटे भाई की स्त्री, भगिनी और कुंवारी कन्या को कुदृष्टि से विलोकता है उसके मारने का पातक नहीं होता है। मूढ़ ! तूने अपनी स्त्री का कहा न माना, यह नहीं जाना कि सुग्रीव मेरी भुजाओं के आश्रय पर युद्ध करने आया है, उसको मैंने ही पठाया है।'[1] यही प्रसंग मानस मे इस प्रकार दिया गया है—

'अनुज वधू भगिनी सुत नारी। सुनु सठ कन्या सम ए चारी ॥
इन्हहि कुदृष्टि बिलोकई जोई। ताहि बधें कछु पाप न होई ॥८।४॥
मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करसि न काना ॥
मम भुज बल आश्रित तेहि जानी। मारा चहसि अधम अभिमानी ॥८।५॥'[2]

---

१. राम जानकी चरित्र नाटक, संस्करण १९१४, पृ० ११८-१९।

२. रामचरितमानस, किष्किधाकाण्ड।

इस प्रकार के भाव-साम्य के अनेक उदाहरण 'राम-जानकी चरित्र' नाटक में उपलब्ध होते हैं।

मर्यादा पुरुषोत्तम राम नाटक में धीरोदात्त नायक हैं। राम अवतारी होते हुए भी 'नर-देह' में लोक-लीला करते है। नाटक के आरम्भ में इस प्रकार आकाशवाणी होती है—'प्रिय देवतागण ! धैर्य धरो, मेरी वाणी को श्रवण करो, मैं तुम्हारे हित कारण नर-देह धारण करूंगा, तुम्हारे सम्पूर्ण क्लेश हरूंगा, देखो मैं अयोध्यापुरी के नृपति दशरथ का पुत्र बनूंगा, अपनी
अवतरूंगा, नरलीला करूंगा, तुम सब वानर भालू की देह बनाओ, किष्किंधापुरी के पर्वतों की कन्दरा में जाओ, मैं शीघ्र ही आकर मिलूंगा और तुम से सहायता लूंगा।'[1] वे सम्पूर्ण सृष्टि के नायक, मुनि जनों का आदर करने वाले एव सुख देने वाले, माता-पिता के भक्त एवं उनकी आज्ञा का पालन करने वाले, बन्धुओं से स्नेह रखने वाले, सामाजिक एवं नैतिक मर्यादाओं की रक्षा करने वाले हैं। वे बालि-वध करके सामाजिक नैतिक मर्यादाओं की प्रतिष्ठापना करते है। रावण पर विजय प्राप्त करके संसार में आसुरी शक्तियों का नाश और दैवी शक्तियों की प्रतिष्ठा का संवर्द्धन करते हैं। नारद ऐसे ही प्रभु राम की महिमा इस प्रकार गाते हैं :—

'सियावर रामगुण गावो, भवसागर पार हो जावो।
भजो रघुनाथ रघुराई, यही फल जन्म का भाई॥
कहो जय हो सियावर की, जो मार्ग मुक्ति का पावो।
यह सब झूंठा है संसारा, यूंही, फैला है अंधियारा॥
नहीं कोई बंधू सुत दारा, क्यों फंस के मोह में भरमावो॥'[2]

राम भजन की महिमा नाटक में वाल्मीकि ने भी इस प्रकार गाई है—

'नर राम नाम गुण गा ले।
ममता तृष्णा मान इर्षा भवसागर नहीं नाले॥
लोभ मोह मद अमित भयंकर ग्राह नाग है काले॥
सुत दारा परिवार कुटुंब सब कर दे राम हवाले॥
राम भजन की अपने तिरन को नय्या जीव बना ले॥'[3]

राम स्वभाव से गम्भीर एवं शान्त है। जानकी स्वयंवर के समय जब परशुराम शिव-धनुष को टूटा हुआ देखकर क्रुद्ध होकर लक्ष्मण के साथ विवाद

---

१. रामजानकी चरित्र नाटक, पृ० १-२।
२. वही, पृ० ९१।
३. रामजानकी चरित्र नाटक, पृ० २११।

करते है तब उस समय राम बड़ी विनम्रता के साथ उन्हें शान्त करते है। वे शील, शक्ति और सौन्दर्य के अवतार है। सीता के बिछुड़ जाने पर वे साधारण मनुष्यों की तरह विलाप भी करते है। इस स्थल पर नाटककार पारसी नाटकों की शैली से पर्याप्त प्रभावित परिलक्षित होता है।

इस नाटक में गद्य की अपेक्षा पद्य भाग अधिक है। अंकों के लिए 'अक्ट' तथा दृश्यों के स्थान पर 'सीन' शब्द का प्रयोग किया गया है।

(ख) कृष्ण चरित सम्बन्धी नाटकों में नायक

रामचरित के समान कृष्णचरित पर भी इस युग में अधिक नाटक नहीं लिखे गये। जयपुर निवासी मथुरादास ने हरिऔध के 'रुक्मणी परिणय' के आधार पर '**रुक्मिणी हरण**' (१६१७) नाटक लिखा। इन दोनों नाटकों मे अन्तर केवल इतना है कि मथुरादास जी ने नाटक के आरम्भ में नारदमुनि के आशीर्वाद से राजा भीष्मक के यहां रुक्मिणी के जन्म का प्रसंग भी दिया है और हरिऔध जी ने ऐसा नहीं किया। मथुरादास जी ने हरिऔध जी के समान नायक कृष्ण को भगवान् के रूप में ही चित्रित किया है। नाटक के आरम्भ मे नटी नट से कहती है 'कृपा करके आज रुक्मिणीहरण नाटक दिखाइये भगवान् श्री कृष्ण चन्द्र के चरित्र सुनाइये।'[1] पांचवें दृश्य मे राजा भीष्मक रानी से कहते हैं—'सुनो प्राणप्यारी ! पूरण कलाधारी श्रीकृष्ण मुरारी साक्षात् पूरण-ब्रह्म अवतारी है और रुक्मिणी राज दुलारी उनकी प्यारी लक्ष्मी का अवतार दूसरे के हाथ कब जानहारी है ?'[2] कृष्ण के अलौकिक गुणों के साथ-साथ नाटक में उनके धीरललित रूप को भी उभारा गया है। विप्र हरिदास द्वारा रुक्मिणी के पत्र को पाकर वे उसे उबारने में सफल होते है और इस प्रकार अपने पराक्रम एवं साहसशीलता का परिचय देते है। रुक्मिणी की प्रार्थना पर वे रुक्म को जीवन-दान देकर अपनी सहृदयता एवं उदारता का परिचय देते है।

नाटक की भाषा-शैली पारसी नाटकों की है। नाटककार कृष्ण के संवादों को भी इस प्रभाव से नहीं बचा सका। उदाहरणार्थ ग्यारहवें दृश्य में कृष्ण रुक्म से कहते हैं—

'बक बक कातर करत है, जड़मति मंद गंवार।
तज बकवादहि कीजिये, जलदी हम पे वार।'[3]

---

१ रुक्मिणी हरण नाटक, संस्करण १६१७, पृ० ३।
२ वही, पृ० ४४।
३ वही, पृ० १३०।

नाटक में अंक के स्थान पर 'दृश्य' शब्द का प्रयोग किया गया है। नाट्य-कला की दृष्टि से यह अत्यन्त साधारण रचना ही कही जा सकती है।

कृष्ण चरित सम्बन्धी नाटकों में माखनलाल चतुर्वेदी की एक मात्र रचना **'कृष्णार्जुन युद्ध'** (१९१८) विशेष रूप से उल्लेखनीय है। विषय-वस्तु के चुनाव मे नाटककार ने विशेष रूप से सतर्कता का परिचय दिया है। चतुर्वेदी जी से पूर्व के पौराणिक नाटकों में किसी भी नाटककार ने कृष्ण-अर्जुन के युद्ध को नाटक के कथानक का आधार नही बनाया और न ही उसके बाद के नाटक-कारों ने। कृष्ण चरित को लेकर नाटक तो लिखे गये, लेकिन यह विषय अपने आप में नवीन होने के कारण बहुत ही लोकप्रिय हुआ। नाटक की सफल अभि-नयशीलता ने भी इसे अधिक ख्याति-प्रदान करने में सहायता की। नाटक के 'निवेदन' में प्रकाशक [illegible] मिश्र ने उस युग में नाटक की ख्याति के कुछ अन्य कारण भी दिये है। वे लिखते हैं—'इसके भावों की उच्चता और गहराई और इसके भाषा की निर्मलता और ओज ने सभी को मुग्ध कर लिया था और कितने ही मर्म्मज्ञ मित्रों ने उसके खेले जाने के पहिले ही दिन उसे साहित्य की 'एक चीज़' के नाम से पुकारा था।'

प्रस्तुत नाटक में चार अंक हैं। नाटक का आरम्भ मंगलाचरण से होता है। नटी तथा अन्य पात्र देव-स्तुति करते है और परम प्रभु अखिलेश से भारत के बारे में प्रार्थना करते हैं—

हो जगती तल में न निराशा पूरी हो प्यारी अभिलाषा,
भावप्रकाशा, भेद विनाशा हो बस एक राष्ट्र की भाषा,
हो दृढ़ उद्देश, जिस पर हों हम सब चाहे निःशेष।
भूलो न रमेश, जन्म कर्म की भूमि तुम्हारी भारत देश।
जय जय जय अखिलेश।[1]

मंगलाचरण के पश्चात् नटी तार निकाल कर पढ़ती है। मंच पर आकर नटी यह सूचना देती है कि 'एक समय भगवान् श्री कृष्ण और अर्जुन में युद्ध हो पड़ा था और उसका कारण बनी थी एक आश्रित निरपराधी जीव की प्राण-रक्षा। बातों में रंग आ जाने पर बड़े किस की सुनते है—वही इस घटना मे हुआ। पर उनका गर्व गिराने और दीन की प्राण-रक्षा करने में एक स्वयंसेवक ने श्रम उठाया था।'[2] वह स्वयं सेवक नारद मुनि थे। सूत्रधार नटी को बत-लाता है कि यह 'स्वयं-सेवा तो यूरोपीय पौधा है, अंग्रेज़ी राज्य ने हमारे देश

---

१. कृष्णार्जुन युद्ध नाटक, (प्रथम संस्करण) पृ० २।
२. कृष्णार्जुन नाटक, पृ० ४।

में आकर लगाया है।'[१]

एक बार गंधर्व चित्रसेन अपनी पत्नी चित्रांगी और उसकी सखी प्रेमलता के साथ विमान द्वारा गंगा तट पर उतर रहे थे, जहां गालव ऋषि ध्यान-मग्न बैठे थे। विमान में बैठे हुई चित्रांगी ने चित्रसेन को पान खाने के लिए दिये। नये पान को लेने के लिए जब वे मुंह के पान को थूकते हैं तो थूका हुआ पान ऋषि की अंजलि में आकर गिरता है और विमान आगे बढ़ जाता है। गालव अपने योगबल से उस व्यक्ति को जान लेते हैं और कहते हैं—'रे दुष्ट, मैं तुझे जानता हूं। मदान्ध चित्र-सेन गन्धर्व, तूने गालव का अपराध किया है। अब तेरी कुशल नहीं है।'[२] गालव अपने शिष्यों शंख और शशि के साथ बलराम और कृष्ण के यहां जाते हैं और उन्हें 'पान-कथा' सुनाते हैं। इस पर कृष्ण यह प्रतिज्ञा करते हैं कि 'भगवन्, आपका जिसने अपमान किया है यदि आप से वह क्षमा न किया गया तो कल संध्या तक उसे दण्ड मैं दूंगा—प्राण-दण्ड दूगा।'[३] इतने में नारद मुनि वहां आ जाते हैं और सारी कथा सुनकर कृष्ण और गालव दोनों से निवेदन करते हैं कि चित्रसेन का यह एक छोटा सा अपराध है। अतः न्याय धर्म के पालन के लिए ही आप अपनी प्रतिज्ञा को बदल डालें। परन्तु वे दोनों नहीं मानते।

वहां से नारद चित्रसेन के पास जाते है और उन्हें कृष्ण की प्रतिज्ञा की बात सुनाते हैं। इस पर चित्रांगी स्वयं गालव मुनि के पास जाकर क्षमा याचना के लिए तैयार होती है। नारद मुनि उसे इसके बारे में अपने असफल प्रयास की बात बतलाते हैं और चित्रसेन को यह सुझाव देते हैं कि वह अपने स्वामी इन्द्र के पास जाकर जीवन-भिक्षा की मांग करे। नारद के कहने पर वे इन्द्र के पास जाते है किन्तु इन्द्र उन्हें यह उत्तर देते हैं—'केवल तेरे लिए अनेकों जीवो का नाश हमें इष्ट नहीं है। × × × व्यर्थ ही मैं श्री कृष्ण से युद्ध नहीं कर सकता, जावो, अपने जीव की रक्षा का और कोई उपाय करो या मरो।'[४] वहां से निराश होकर चित्रसेन नारद के पास जाते हैं। अब वे उन्हें पाण्डवों के पास जाकर सहायता मांगने का सुझाव इसलिए देते है, क्योंकि कृष्ण का मुकाबला करने में पाण्डवो के अतिरिक्त और कौन समर्थ हो सकता है। इधर नारद अपने मन में अत्याचारी को दूर करने का दृढ़ निश्चय कर लेते हैं। वे

---

१. कृष्णार्जुन नाटक, पृ० ४।

२. वही, पृ० १६।

३. वही, पृ० २२।

४. कृष्णार्जुन युद्ध नाटक, पृ० ८३।

कहते हैं—

'जो न दुखी के दुख को बांटे ऐसे हृदयों को धिक्कार !
आश्रितों की रक्षा न करे जो ऐसे नीचों को धिक्कार !
अत्याचारों का दृढ़ होकर हटा न सकते जो अधिकार !
क्यों न इन्द्र से होवें, उनको गिर कर लाख बार धिक्कार !
मैं इस पथ से नहीं हटूंगा, अत्याचार हटाऊंगा !
नहीं डरूंगा हरि के भय से उनका गर्व गिराऊंगा !
किन्तु शीघ्रता नहीं करूंगा, धीरे से सब साधूंगा !
उन्हें हराऊंगा, पर उनके पद पंकज आराधूगा !'[१]

चित्रसेन पाण्डवों के पास जाकर सहायता मांगते हैं। भीम और सहदेव तो इनकी सहायता इसलिए करने को कहते हैं कि आश्रितों की रक्षा करना एवं अभयदान देना क्षात्र धर्म का मुख्य तत्व है। परन्तु द्रौपदी और अर्जुन इसलिए सहायता करने के पक्ष में नहीं हैं, क्योंकि अपने परम मित्र कृष्ण के साथ शत्रुता करना राजनीति की दृष्टि से उचित नहीं है। दूसरे, चित्रसेन उनकी अपनी प्रजा नहीं है और तीसरे महाराज युधिष्ठिर जाने से पहले कह गये थे 'कि जब तक मैं न लौटूं तब तक किसी से युद्ध न ठानना।' अतः द्रौपदी अपनी दासी सुलेखा द्वारा चित्रसेन को यह कहलवा भेजती है कि महाराज युधिष्ठिर की अनुपस्थिति में हम लोग आपके लिए कुछ करने में असमर्थ है।

इधर नारद को इस बात का पूर्ण विश्वास है कि पाण्डव चित्रसेन की प्राण रक्षा से पीछे नहीं हटेंगे। वे कूटनीतिज्ञ हैं और इसी नीतिचक्र के कारण वे दुखियों की रक्षा करना चाहते है, इसीलिए वे कहते हैं—

'नीति की भागीरथी में तैर लूं अब आज।
शासकों के साज तोड़ूं, कायरों की लाज तोड़ूं।
गर्वियों के राज तोड़ूं, है यही मम काज ॥आज०॥
क्यों न कर्म कठोरतर हो, क्यों न मम रिपु विश्व भर हो।
कूद जाऊंगा निडर हो, सजूंगा शुभ साज ॥तैर लूं०॥
हाय सेवा-व्रत कड़ा है, पूज्य गौरव भी बड़ा है।
उसी में यह सिर अड़ा है, छोड़ आदर लाज ॥तैर लूं०॥
दुःखितों का जग होगा; सभी तन में प्राण होगा।
उलट दूंगा विश्व भर को, नीति से मैं आज ॥तैर लूं०॥'[२]

---

१. कृष्णार्जुन युद्ध नाटक, पृ० ४५।
२. वही, पृ० ५३।

परन्तु जब चित्रसेन से उन्हें यह पता चलता है कि पाण्डव भी उसकी सहायता के लिए तैयार नहीं हैं तो वे अपने निश्चय पर अडिग रहते हुए उसे एक नये मार्ग का सुझाव देते हैं। 'संसार में तुम्हारा कोई साथी नहीं।...... पर घबराओ मत। मैं चाहता हूं यदि तुम मरो भी तो कृष्ण के चक्र सुदर्शन से नहीं। जिसने पैदा होकर शत्रुओं के हृदय में शूल न पैदा किया, उनके मन्सूबे मिट्टी में न मिलाये और उनकी व्यवस्थायें नष्ट-भ्रष्ट न कर दीं, उसकी मां को गर्भ धारण के लिए रोना चाहिए। देखो, कृष्ण के सुदर्शन चक्र से मरने के पहले ही तुम एक चिता तैयार करो और वहां जाकर अपनी स्त्री-सहित बैठ अपने शेष जीवन में दुखों के आंसू बहाओ, रोकर हृदय ठण्डा करो और जब कृष्ण मारने आवें तब अग्नि में कूद कर जल मरो। देखो, कृष्ण को पछताना पड़ेगा कि मेरी प्रतिज्ञा पूरी नहीं हुई। (कुछ सोच कर) और, हां एक बात सुनो यदि तुम से कोई दुख का कारण पूछे तो उससे कहना कि जिसमें दुःख हटाने की सामर्थ्य है उसी से हम कहते हैं, कृपा कर जावो, हमारा समय नष्ट न करो और यदि कोई अपना सामर्थ्य जतावे तो तुम उसे प्रतिज्ञाबद्ध करा लेना और सुनो, तुम अपनी चिता गंगा किनारे महाकाल घाट पर बनाना।'[1]

चित्रसेन नारद के इस सुझाव के अनुसार ऐसा ही करते हैं। इधर सुभद्रा नारद जी को साथ लेकर गंगा-स्नान के लिए आती है और चित्रांगी के करुण-विलाप को सुनकर उसके समीप जाती है और चित्रसेन की सहायता के लिए वचनबद्ध हो जाती है। परन्तु जब सुभद्रा को चित्रसेन से यह पता चलता है कि उसे अपने ही भाई कृष्ण के विरुद्ध उसकी सहायता करनी है तो वह चौंक जाती है, परन्तु प्रतिज्ञाबद्ध होने के कारण वह देवर्षि नारद से इसका उपाय पूछती है। नारद उसे कोप-भवन वाली युक्ति बतलाते हुए कहते है—'अर्जुन श्री कृष्ण के भक्त और मित्र हैं, वे तुम्हारी कहां तक मानेंगे सो तुम जानो। यदि कोप-भवन की तैयारी तीखी न रही तो चित्रसेन मरा समझो। नहीं तो गांडीवधारी श्री कृष्ण-सखा भारत जिसकी रक्षा के लिए खड़ा हो विश्व में उसे मारने की सामर्थ्य कौन रखता है।'[2]

सुभद्रा नारद के कथनानुरूप वैसा ही करती है और वह अर्जुन को बात बतलाने के पूर्व ही उनसे प्रतिज्ञा करवा लेती है। जब अर्जुन को बाद में सारी बात का पता चलता है तो वे इसलिए बड़े चिन्तित हो जाते हैं कि अपने अभिन्न सखा एवं परम सम्बन्धी कृष्ण के विरुद्ध वे कैसे युद्ध करें। उनका हृदय

---

१. कृष्णार्जुन युद्ध नाटक, पृ० ५४-५५।

२. वही, पृ० ६७।

विचलित हो जाता है। इस पर सुभद्रा उनकी वीरता को चुनौती देती हुई कहती है—'मैं जानती हूं कि आज्ञा नहीं है। किन्तु यह मैंने आज ही जाना कि धर्मकार्य के लिए भी आज्ञा की आवश्यकता पड़ती है। आप भाई की आज्ञा मान अन्याय की ओर आंख मीच घर में बैठिये और यह सुभद्रा उसी अन्याय का विरोध करने के लिए अपने भाई से लड़ेगी। पर महाराज, कृपा कर अपने शस्त्र मुझे दीजिये जिससे रणस्थल में मैं वीर पत्नी के नाम को सार्थक कर सकूं।'[1]

सुभद्रा के ऐसे चुनौतीपूर्ण वचनों को सुनकर अर्जुन कृष्ण से लड़ने के लिए उद्यत हो जाते है। नारद अपनी युक्ति सफल होते देख बड़े प्रसन्न होते है। वे कृष्ण के पास जाकर अर्जुन द्वारा की गई चित्रसेन की प्राण-रक्षा की प्रतिज्ञा की वात सुनाते हैं। इस बात को सुनकर कृष्ण को अत्यन्त ही आश्चर्य होता है। बलराम उन्हें अर्जुन को यह समझाने के लिए भेजते हैं कि वह अपने दुराग्रह को छोड़ दे। नारद शंकर और पार्वती के यहां भी जाते है और पृथ्वीलोक का समाचार सुनाते हैं। पार्वती अर्जुन को विजयी बनने का अशीर्वाद देती है। इसके बाद नारद ब्रह्मदेव के पास जाकर उन्हें कृष्णार्जुन युद्ध का प्रसंग सुनाते है। सरस्वती न्याय के सिद्धान्त पर इसे उचित बतलाती है। परन्तु ब्रह्मदेव सृष्टि का अन्त होता हुआ देखकर अत्यन्त चिन्तित हो जाते है। सरस्वती सिद्धान्त की जय के समक्ष सृष्टि के नाश को भी तुच्छ बतलाती हैं। ब्रह्मदेव स्वयं गालव के पास जाकर चित्रसेन को क्षमा कराने की बात कहते है। वे गालव मुनि के आश्रम में जाते हैं और सृष्टि के संहार की बात करते है। गालव उनके समक्ष अपराध को इस प्रकार स्वीकार करते हैं 'मैं अब अनुभव कर रहा हूं कि वह गन्धर्व निरपराध है। मुझे अपने क्रोध पर दुःख है।'[2] वे भगवान् ब्रह्मदेव के अनुरोध पर चित्रसेन को क्षमा करने के लिए तैयार हो जाते हैं।

इधर अर्जुन और कृष्ण का युद्ध छिड़ जाता है। अर्जुन घायल होकर गिर जाते हैं। कृष्ण झट से उसके पास जाकर उसके सिर को अपनी गोद में रख लेते हैं और मन ही मन बड़े दुःखी होते हैं। सचेत होने पर अर्जुन पाशुपतास्त्र का प्रयोग करने के लिए तैयार होते हैं। इतने में आकाश से भगवान् शंकर अवतरित होते है और अर्जुन को विजयी बनने का आशीर्वाद देते हैं और कृष्ण से पराजय स्वीकार कर वहां से चले जाने का आग्रह करते है। परन्तु कृष्ण ने

१. कृष्णार्जुन युद्ध नाटक, तीसरा अंक।
२. वही, चौथा अंक।

भी रणविमुख होना नहीं सीखा। युद्ध दोबारा होने को ही होता है कि इतने में गालव के साथ ब्रह्मदेव वहां आ जाते हैं। गालव आते ही कहते हैं—'इतने भयकर रक्तपात की आवश्यकता नहीं। मुझे खेद है कि मेरे ही कारण यह प्रचण्ड काण्ड घटित हुआ है। मैं चित्रसेन को क्षमा करता हूं। युद्ध बन्द हो।'[1]

गालव की ऐसी प्रार्थना पर युद्ध बन्द हो जाता है। अर्जुन और कृष्ण दोनों एक दूसरे से गले मिलते है। चित्रसेन भी अपने अपराध के प्रति पश्चाताप करता है। इस पर नारद बड़े प्रसन्न होते है और कहते है कि यदि 'अपने अपने कार्यो के लिए सब को पश्चाताप करना है तो मेरा भी नाटक समाप्त होता है।'[2]

इस नाटक के नायक कृष्ण न होकर देवर्षि नारद है। वे स्वयं-सेवक के रूप में समाज से अत्याचारो को दूर करने का बीड़ा उठाते है और उन्हें अपने इस प्रयास में सफलता भी मिल जाती है। वे नीति-निपुण हैं। अपनी बुद्धि-चातुर्य से ही वे कृष्ण और अर्जुन में युद्ध कराकर अपनी लक्ष्यसिद्धि में सफल होते है। नाटककार ने उन्हें कर्मठ समाज-सेवी के रूप मे चित्रित किया है। कर्मशीलता में उनकी आस्था है। इसलिए वे गाते है—

'कर्म तेरी मूर्ति का, अन्तःकरण में स्थान है,
भगवान् का अपमान हो, तेरा हृदय मे मान है।
क्या क्या नही करना पड़ा, तेरे लिए इस विश्व मे,
दिन-रात जीवन-रागिनी, करती सदा ही गान है।
इससे लड़ा, उससे भिड़ा, कल ही बना किस के लिए?
तेरे लिए जीवन समर्पित है, हृदय में ध्यान है।
विज्ञान-पूर्वक भक्ति-मय हो विश्व में तब स्थापना,
ससार उठ, सत्कर्म कर, उठती निरन्तर तान है।
माधव, तुम्हारी ही दया है, शिशु तुम्ही से लड़ रहा,
विश्वास है, तुम से अधिक तुमको हमारा ध्यान है।'[3]

यद्यपि नारद भगवान् कृष्ण के अनन्य उपासक है फिर भी वे उनके द्वारा होते हुए अत्याचार एवं अन्याय का विरोध करने के लिए कमर कस लेते है। नाटक के आरम्भ मे नटी सूत्रधार से नारद के गुणो का इस प्रकार उल्लेख

१. कृष्णार्जुन युद्ध नाटक, पृ० ९९।
२. वही, पृ० १००।
३. वही, पृ० ६४।

करती है—

'कहता है संसार विश्व के कर्ता का सत्पुत्र जिसे,
जगतीतल के दुखी जनों का अतिशय प्यारा मित्र जिसे।
वीणा लिए घूमता है जो रटता रहता है गोपाल,
भूल रहा अपने को जग में तोड़ रहा दुःखों के जाल।
कहते हैं कलहप्रिय पर है जिसके कार्य सुखद अत्यन्त।
नीति निपुण मुनिवर्य वही है इस घटना का नायक सन्त ॥'[1]

नाटक के कथानक में संघर्ष है और नारद इस संघर्ष को जन्म देने वाले हैं। वे घटनाओं के सूत्रधार हैं। सारे नाटक में उन्हीं का व्यक्तित्व छाया हुआ है।

नाटक पौराणिक होते हुए भी सामयिक राजनैतिक चेतना की पुट लिये हुए है। नाटक का नायक स्वयं हमारे समाज के ऐसे वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है जो सत्ताधारियों के मनमाने अत्याचारों का घोर विरोधी है। 'सत्ता का दुरुपयोग करने से क्या क्या दुर्घटनाएं होती है—यह सब को मालूम हो जावेगा'[2] इस बात को बतलाना ही नारद का उद्देश्य है। द्वितीय अंक में यमराज, कुबेर, वरुण आदि विभिन्न देवताओं के द्वारा अपने-अपने कार्यों के दिये गये विवरणों से भी सामयिक प्रभाव स्पष्ट हो जाता है। उदाहरण के लिए यमराज इन्द्र से कहता है—'मैं केवल मुख्य-मुख्य बातें ही यहां पर कह सकता हूं। क्रूरता, अत्याचार, छल, कपट, द्रोह, ईर्षा, चोरी, व्यभिचार, असत्यता इत्यादि को तो उसने अपनाया ही है किन्तु इन दुर्गुणों की सहायता से उसने अनात्मवाद का प्रचार किया है, संसार और जीवन को केवल आनन्दोपयोग की ही सामग्री बनाने में उसने अपने प्रयत्नों की पराकाष्ठा कर दी हैं। ईश्वर को भुला रक्खा है। कोई कोई तो ईश्वर को भोले-भाले मनुष्यों को डराने का हौआ मात्र मानते हैं। ऐश्वर्य की लालसा से एक राष्ट्र ने दूसरे देशों पर अधिकार जमाया है और उसका शासन इस ढंग से करता है जिसमें अपना ही उदर भरे और उस परतन्त्र देश का नाश हो। छोटी छोटी जातियों ने पृथ्वी के आवश्यकता से अधिक हिस्सों पर प्रभुत्व स्थापित किया है। कोई राष्ट्र विजय-श्री की महत्वाकांक्षा में सब संसार को अपने चरणों में झुकवाना चाहता है। फल यह होता है कि विजेता में गर्व, लोभ, क्रूरता, क्रोध इत्यादि की अधिकता होती जाती है और विजित जातियों में भीरुता, फूट, चरित्रभ्रष्टता, अनाचारिता,

१. कृष्णार्जुन युद्ध नाटक, पृ० ५।
२. वही, पृ० ८३।

कंगाली और कई प्रकार के रोग उत्पन्न होते जाते है ।'[1]

इसके अतिरिक्त नाटक के आरम्भ मे नटी के द्वारा तार निकाल कर पढ़ना, सूत्रधार का स्वयं-सेवा को यूरोपीय पौधा कहना (जिसको हमारे देश में लाने का श्रेय अंग्रेज सरकार को है), चित्रसेन का विमान-द्वारा यात्रा करना आदि बातों से भी पाश्चात्य प्रभाव स्पष्ट हो जाता है। वस्तुतः पौराणिक होते हुए भी नाटक की आत्मा सामयिक युग-चेतना मे पूर्णतः ओत-प्रोत है।

(ग) अन्य चरित्र सम्बन्धी नाटकों में नायक

राम और कृष्ण चरित सम्बन्धी नाटकों के समान अन्य पौराणिक चरित्रों के आधार पर भी बहुत कम ही नाटक लिखे गये। बदरीनाथ भट्ट, मैथिली-शरण गुप्त तथा विश्वम्भरनाथ आदि कुछ एक नाटककारो ने मौलिक पौराणिक नाटक रचना की ओर अवश्य ध्यान दिया। भट्ट जी ने संस्कृत के भट्ट नारायण के 'वेणी संहार' का 'कुरुवन-दहन' नाम से हिन्दी में रूपान्तर किया। रूपान्त-रित करते समय नाटककार ने कुछ ऐसे परिवर्तन किये हैं जिनसे इसकी गणना मौलिक नाटकों में की जाती है। नाटक की प्रस्तावना में भट्ट जी लिखते है—'संस्कृत में वेणी संहार एक वीर-रस-प्रधान नाटक है। उस में महाभारत-युद्ध की कथा है उसी की सहायता से यह कुरुवन-दहन नाटक तैयार किया गया है। इसको यदि वेणी संहार का रूपान्तर कहे तो भी अनुचित न होगा। इसे पढने पर पाठकों को मालूम हो जाएगा कि उपर्युक्त संस्कृत नाटक की सहायता से लिखे जाने पर भी इसका नाम बदलना सर्वथा उचित ही हुआ है, क्योंकि उसमे और इसमें बड़ा अन्तर है—कितने ही नये व्यक्ति, कितनी ही नई बातें इसमें सम्मिलित कर दी गई है और वेणीसंहार के कितने ही पात्र और कितनी ही बातचीत इसमें नही रक्खी गई है; उसमें छः अंक हैं; इसमें सात है, उस में द्रौपदी के केशों का भीम द्वारा बांधा जाना ही नाटक की कथा का केन्द्रबिन्दु माना गया है, इसमें यह बात नहीं है।'[2]

'उसकी और इसकी शैली मे भी बड़ा भेद है। यह अंगरेज़ी ढंग पर एक्ट (अंकों) तथा सीन (दृश्यों) में विभक्त किया गया है, जिसमें खेलने में भी सुगमता पड़े। अंगरेज़ी नाट्य-रचना-पद्धति संस्कृत नाट्य-रचना-पद्धति से कहीं उन्नत तथा समयोपयुक्त है, इसलिए उसका ही अनुसरण करना उचित समझा गया।'[3]

---

१. कृष्णार्जुन युद्ध नाटक, पृ० ३७।

२. कुरुवन-दहन नाटक, संस्करण १९१२, पृ० १।

३. वही, पृ० १।

भट्ट जी के इस वक्तव्य से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने नाटक का नाम वेणी सहार की अपेक्षा 'कुरुवन-दहन' क्यों रखा है। वैसे तो पाश्चात्य नाट्य-रचना शिल्प का प्रभाव भारतेन्दु युग के नाटकों में पड़ना आरम्भ हो गया था परन्तु इस युग में आकर वह प्रभाव और भी अधिक स्पष्ट हो गया। भट्ट जी ने स्वयं इसे 'उन्नत तथा समयोपयुक्त' बतलाया है।

'इसकी मूल कथा का प्रारम्भ महाभारत के उद्योग पर्व से होता है जबकि कंचुक द्वारा भीम को यह सूचित कराया गया है कि दुर्योधन की सभा में कृष्ण जी का सन्धि प्रस्ताव लेकर जाना निष्फल हुआ। वहां से लगाकर कौरवों के घूर्ण पराजय तथा दुर्योधन के मारे जाने तक की कथा इसमें है। इसलिए इस नाटक का नाम 'कुरुवन-दहन' रक्खा गया है।'[१]

नाटक के आरम्भ में कृष्ण कौरवों के यहां सन्धि प्रस्ताव लेकर जाते है। दुर्योधन उनको बांधने का प्रयास करता है, परन्तु कृष्ण अपने दिव्य तेज के कारण कौरवों को मूर्च्छित कर लौट आते हैं। द्रौपदी भीम से सभा के बीच में अपने केशों के खीचे जाने की बात कहती है। भीम आदि कुरुकुल के नाश के लिए जाते हैं। द्रौपदी इन सब के बारे में मंगल कामना करती है। कुरुक्षेत्र में कौरवों और पाण्डवों में घोर संग्राम होता है। भानुमती अपनी सखियों से अपने स्वप्न की बात करती है कि प्रमद वन में एक तेजवान नेउले ने सौ सर्पो को मार डाला। दुर्योधन इस कथा को छिपकर सुन लेता है। इस युद्ध में भीष्म, द्रोणाचार्य और अभिमन्यु की मृत्यु पर अर्जुन संध्या से पहले-पहले जयद्रथ वध की प्रतिज्ञा करते है। इधर दुःशासन भीम के भुजा-पाश में बन्ध जाता है और उसके द्वारा मारा जाता है। इस प्रकार भीम कृष्ण के अपमान का बदला लेता है। अब भीम दुर्योधन की जंघा तोड़ने की प्रतिज्ञा करते हैं। वीर कर्ण की मृत्यु पर दुर्योधन बड़ा दुःखी होता है। वह भय के मारे एक तालाब में छिप जाता है क्योकि वह जलस्तम्भनी विद्या जानता है। भीम उसे ललकारते हैं—'अरे धृतराष्ट्र कुल-कलंक, अपने पौरुष का मिथ्या घमण्ड करने वाले, पांचाली के केश और वस्त्र खिचवाने वाले महापापी, निर्लज्ज, चन्द्रवंश के कलंकित करने वाले! इतनी दुर्दशा होने पर भी तेरी बुद्धि ठिकाने नही आई और तू सदा दु.शासन के मारने वाले मुझे और कृष्ण को भी गालियां दिया करता है और अब मेरे डर के मारे लड़ाई से भाग कर कीचड़ में जा छिपा है!! अरे क्षत्रियाधम! ज़रा निकल तो सही बाहर; देख आज कृष्ण के क्रोध की कैसी पूर्ण उपशान्ति करता हूं। अरे मानान्ध कौरवाधम! मैंने तेरे सौ भाइयों

१. कुरुवन-दहन नाटक, पृ० २।

को मारा और दुःशासन का लोहू पिया तो भी तुझ पर मेरा कुछ न हो सका, और अब बदला लेने के समय मेंढ़कों और कछुओं में जा मिला है ! ! धिक्कार तेरे मनुष्यत्व को ।'[1]

भीम के ऐसे चुनौतीपूर्ण शब्दों को सुनकर दुर्योधन तालाब से बाहर निकल आता है । भीम और दुर्योधन में द्वन्द्व होता है । दुर्योधन मारा जाता है । भीम उसके रुधिर का चन्दन अपने शरीर पर लगाता है । पाण्डवों के विजयी होने पर अन्त में नाटककार कहता है—

'निज कर्मों का फल हुआ, जिसमें सब को प्राप्त ।
चलो आज यह हो गया, कुरु-वन-दहन समाप्त ।।'[2]

भीम इस नाटक का वीर नायक है । यद्यपि नाटक मे उसकी उपस्थिति बहुत कम दिखाई गई है फिर भी नाटककार की पृष्ठभूमि में उसके व्यक्तित्व का महत्वपूर्ण योग है । नाटक के असंख्य पात्र जब तब भीम के वीरतापूर्ण कृत्यों की सूचना देते रहते हैं । द्रौपदी के समक्ष कौरवनाश की की हुई प्रतिज्ञा तथा दुःशासन द्वारा उसके खोले गये बालों को बांधने के प्रण को भी यही पूरा करता है । इस प्रकार वह जहां नाटक की कथा का केन्द्रबिन्दु है साथ ही कथा के फल का उपभोक्ता भी है । वह संघर्षो से घबराता नहीं है । नाटकीय वस्तु में यह संघर्ष दुर्योधन के कारण ही आता है । समस्त कौरवों के नाश का एक मात्र कारण दुर्योधन का दुराग्रह ही कहा जा सकता है । उसका अपना झूठा दम्भ ही उसके पतन का कारण बनता है । नाटककार ने उसकी सभी चरित्रिक दुर्बलताओं को स्पष्ट करने की चेष्टा की है । भीम के समक्ष उसे, कायर, डरपोक परन्तु दम्भी एवं मान-लोभी सिद्ध किया है । नाटककार ने भीम के जहां वीरतापूर्ण कृत्यों एवं निर्भीक प्रकृति का चित्रण किया है, साथ ही उसे उग्र, निष्करुण, गर्वीला दृढ़प्रतिज्ञ, स्वाभिमानी तथा ईर्ष्यालु भी चित्रित किया है । वह द्रौपदी के अपमान का बदला लेने में भी सफल होता है ।

नाट्य-रचना की दृष्टि से बालकृष्ण भट्ट जी का **'दमयन्ती स्वयंवर** जितनी प्रौढ़ रचना थी, **'वेणु-संहार'**[3] उतनी ही शिथिल और अप्रौढ़ है ।

---

१. कुरुवन दहन नाटक, पृ० १०७ ।

२. वही, पृ० १३२ ।

३. डाक्टर देवर्षि सनाढ्य (हिन्दी के पौराणिक नाटक, पृ० १३६), डा० सोमनाथ गुप्त (हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास, पृ० २११), तथा डा० राजेन्द्र प्रसाद शर्मा (हिन्दी गद्य के निर्माता : पण्डित बालकृष्ण भट्ट, पृ० ४१०) के अनुसार इसका रचनाकाल सन् १९०९ है ।

इसका कथानक महाभारत पर आधारित है।[1] महाभारत में अंग नामक एक बड़े प्रतापी राजा का उल्लेख आता है। उसकी सुनीथा नाम की रानी से वेणु नाम के बालक का जन्म होता है जो बाद में राजा अंग के राज्य-शासन छोड़ने पर राजा बनता है। वेणु अपनी दुष्टता, नृशंसता एवं अत्याचारिता के लिए प्रसिद्ध था। नाटककार ने वेणु के ऐसे ही कुकृत्यों का प्रस्तुत नाटक में चित्रण किया है। भृगु, अत्रि, मैत्रावरुणि आदि ऋषिगण राजा को समझाने के लिए जाते हैं, परन्तु वह उनके प्रति इस प्रकार अपमानजनक शब्द कहता है—'ये बन के जीव सुराह सिखलाने आये हैं (हंसकर) चौदहों विद्यानिधान हमें भला क्या कोई सिखावेगा। अस्तु, हम तुम्हारा अपराध क्षमा करते हैं। किन्तु अब ऐसी धृष्टता आगे से न करना, चेत रक्खो। नहीं जानते राजा का बड़ा ऊंचा दरजा है। हमीं ईश्वर हैं प्रत्यक्ष को छोड़ परोक्ष पर दौड़ प्रजा को तुम्हीं लोगों ने बिगाड़ रखा है। लोकायत न हो लोग अदृष्ट पर दौड़ रहे हैं। बस बहुत हो गया, चले जाओ, नहीं गरदनियां दै निकलवा देंगे।'[2]

इससे ऋषिवृन्द का क्रोध बढ़ जाता है और वे इसे प्रजा के लिए हानिकारक समझ कर मन्त्रबल से नष्ट कर देते हैं।

जीवन के नैतिक मूल्यों को ध्यान में रखते हुए समाज में दो प्रकार के पात्र हो सकते हैं—सत् एवं असत्। पहले में सद्गुण और दूसरे में अवगुण अधिक रहते हैं। संस्कृत के नाटकों में सत् पात्रों को ही नायक बनने का अधिकार था। असत् पात्र तो प्रतिनायक के ही रूप में चित्रित किये जाते थे। परन्तु बीसवीं शताब्दी के विज्ञान युग में विचारकों एवं दार्शनिकों ने जीवन को आदर्श की अपेक्षा यथार्थ धरातल के अधिक निकट से देखने की चेष्टा की। साहित्य में ऐसी प्रवृत्तियों का समावेश किया जाने लगा जो हमें जीवन से दूर करने की अपेक्षा अधिक निकट लाने लगी। युग की इन नयी प्रवृत्तियों के परिणाम स्वरूप लेखकों में नायक सम्बन्धी रूढ़िवादिता के प्रति विद्रोह के स्वर उभरने लगे और उन्होंने नायक को मात्र आदर्श की अपेक्षा यथार्थ की दृष्टि से देखने का प्रयास भी किया। यही कारण है कि बीसवीं शताब्दी के अनेक

---

१. महाभारत, वनपर्व, अध्याय १९७।
मत्स्य महापुराण (अध्याय-९-१०, हिन्दी संस्करण, प्रकाशक—हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, संस्करण सं० २००३), श्री विष्णुपुराण (अध्याय-१३, गीताप्रेस गोरखपुर) तथा श्रीमद्भागवत (स्कंध ४, अध्याय-१३-१४) में भी इसका उल्लेख आता है।

२. भट्ट नाटकावली, सं० धनंजय भट्ट 'सरल', पृ० ८०।

लेखकों ने नायक सम्बन्धी पुरानी धारणा का पालन न कर उसे युगानुरूप ढालने की चेष्टा की है। इसीलिए कई नाटककारों ने अपने नाटकों में 'असत्' पात्रों को भी नायक रूप में चित्रित किया है। **"वेणु संहार"** का नायक वेणु इसी प्रकार का है। नाटक में नाटककार न तो नायक की ही चरित्रिक विशेषताओं को उभारने में सफल हो सका है और न ही अन्य पात्रों की। सारे नाटक मे नायक केवल अन्तिम अंक के अन्तिम दृश्य में ही आता है और उसमें भी वह अपने मुख से दम्भी सिद्धान्तों का ही वर्णन करता है। नाटक के अन्य पात्रों की बातचीत से ही राजा वेणु के दम्भी, क्रूर, अत्याचारी, हठी अविवेकशील एवं प्रजा-पीड़क होने का पता चलता है। वह अपने आप को देवता अथवा ईश्वर से कम नहीं समझता।

नाटक का कथानक पौराणिक होते हुए भी इसमें पौराणिकता की रक्षा पूरी तरह नहीं की जा सकी। इस में देशकाल के दोष स्थान-स्थान पर मिलते है। नाटक के पात्र न्यूटन की चर्चा करते है,[१] अंग्रेज़ी वाक्य बोलते हैं,[२] पैंट-कोट पहनकर होटलों में भोजन करने का आनन्द उठाते हैं, बेराण्डी, टी, मटन, बिस्कुट, ह्विस्की का आनन्द लेना चाहते हैं।[३] वस्तुतः भट्ट जी को वेणु के चरित्र में कुछ बातें ऐसी दृष्टिगोचर हुई जो सामयिक युग-चेतना से मेल खाती थीं। सम्भवतः इसीलिए उन्होंने महाभारत के इस आख्यान को अपने नाटक का आधार बनाया। वेणु के शासन में प्रजा दीन, हीन और उसके अत्याचारों से आतंकित थी। अंग्रेज़ों के शासन काल में भी जनता की यही दशा थी। वृद्धश्रवा के शब्दों में—'राज में जो कुप्रबन्ध फैला हुआ है उससे लोग त्राहि-त्राहि कर रहे हैं। कर के बोझ से प्रजा दबी जाती है। शासन में नरमाई

---

१. भट्ट नाटकावली, सम्पादक—धनंजय भट्ट सरल, पृ० ५८।
'कोई चिन्ता नहीं हम आकर्षण-मन्त्र जानते हैं। नहीं तो न्यूटन के आकर्षण की ईजाद कब काम आवेगी जो आपके होश को लाके न हाजिर करेगी।'

२. वही, पृ० ६०।
तरुणी कहती है—"So wise we born we call our fathers fools."

३. वही, पृ० ६१।
बनें साहब पहन कर कोट पतलू, मजा इसमें बड़ा है जिन्दगी का।
करें भोजन मज़े से होटलों में, मजा चख ले बेराण्डी और टी का।
मटन बिसकुट और ह्विस्की भी उड़ाये, नहीं इसमें इजारा है किसी का।

कैसी होती है सो यह जानता ही नहीं। सबों को दबा के हुकूमत के ज़ोर से अपने ताबे में रखना चाहता है। सो कभी संभव नहीं कि यह अपनी कुटिल-पालिसी में सदा कृतकार्य और कामयाब रहे। बढ़ई का बायां हाथ एक दिन गया ही समझो।'[1]

राष्ट्र कवि मैथिलीशरण गुप्त ने केवल तीन पौराणिक नाटक ही लिखे। उनके नाम हैं—चन्द्रहास, तिलोत्तमा तथा अनघ। इनमें अनघ प्रसाद के 'करुणालय' की भाव-नाट्य-परम्परा में आता है। शेष दोनों नाटकों का रचनाकाल सन् १९१६ है। **'चन्द्रहास'** की कथा का आधार जैमिनीय पुराण (उत्तरार्द्ध) है।● इसमें भक्त चन्द्रहास की कथा द्वारा नियतिवाद की प्रतिष्ठापना की गई है। राष्ट्रीय चेतना प्रधान काव्यधारा में गुप्त जी का महत्वपूर्ण स्थान है। महात्मा गान्धी के सत्य और अहिंसा दर्शन से ये पर्याप्त प्रभावित थे। इन्हीं सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी नाटक में किया गया है।

अनाथ बालक चन्द्रहास को कुन्तलपुर के राजपुरोहित मुनि गालव से यह वरदान मिलता है कि वह कुन्तलपुर राज्य के मन्त्री धृष्टबुद्धि का विषयाधिकारी बनेगा। धृष्टबुद्धि यह सोचता है कि मेरी सम्पत्ति का अधिकारी तो मेरा पुत्र मदन है, फिर यह कैसे उसका अधिकारी बन सकता है। केवल इसी बात के कारण उसके मन में चन्द्रहास के प्रति ईर्ष्या एवं घृणा की भावना पैदा हो जाती है। वह चन्द्रहास को मरवा डालने के लिए अपने विशेष सेवकों विरोचन तथा विमर्दन से कहता है। परन्तु वे इस निरपराध किन्तु सुन्दर बालक को न मार कर उसे वन में छोड़कर आ जाते हैं। इसी वन में चन्दनावती के राजा कुलिन्दक आखेट के लिए आते है और वे चन्द्रहास को अपने साथ ले आते हैं। अपने मन्त्री विचक्षण की सम्मति से वे उसे अपना दत्तक पुत्र बना लेते है। इधर चन्द्रहास के गुण एवं रूप की चर्चा सारे देश में फैल जाती है। धृष्टबुद्धि की पत्नी सुगामिनी अपनी पुत्री विषया का विवाह उससे करना चाहती हैं। वह धृष्टबुद्धि को उसे देखने के लिए चन्दनावती भी भेजती है। परन्तु धृष्टबुद्धि के मन में चन्द्रहास को देखकर वही पहली वाली घृणा एवं ईर्ष्या की भावना उभर आती है और वह उसे मारने की युक्ति सोचता है। वह आज्ञाकारी चन्द्रहास के हाथ अपने पुत्र मदन के लिए निम्न पत्र भेजता है—

---

१. भट्ट नाटकावली, सम्पादक—धनंजय भट्ट, सरल, पृ० ७६।

● नवल किशोर प्रेस की प्रति, संस्करण १८९१ ई०, पृ० ३८७-३९८।

'प्रिय वत्स मदन !

चन्द्रहास मेरा पत्र लेकर तुम्हारे पास आता है। तुम अविलम्ब इसे विष या कनी दे देना। किसी विशेष कारण से मैंने यह व्यवस्था की है।

धृष्टबुद्धि'[1]

चन्द्रहास यह पत्र लेकर कुन्तलपुर पहुंच जाता है। मार्ग की श्रान्ति को दूर करने के लिए वह एक उद्यान में विश्राम करने के लिए रुक जाता है। कुछ देर बाद उसकी आंख लग जाती है। इतने में विषया भी उसी उद्यान में आ निकलती है। वह चन्द्रहास के अनुपम रूप-सौन्दर्य को देखकर मोहित हो जाती है। उसके गुणों के बारे में तो उसने पहले ही सुन रखा था, अब उसके रूप को देखकर वह मन में सोचती है—

'प्रत्यक्ष भूमि पर चन्द्र-विकास होगा,
आकाश के विभव का उपहास होगा।
सौन्दर्य का प्रकट पूर्ण विलास होगा,
होंगे जहां यह वहीं वर-वास होगा।।'[2]

वह इसकी तलवार की मूंठ पर चन्द्रहास लिखा देख कर बड़ी उत्कंठित हो जाती है। चन्द्रहास के सिर के पास वह पत्र पड़ा होता है जो धृष्टबुद्धि ने उसे दिया था। विषया इस पर अपने भाई का नाम लिखा देखकर उसे उठा कर पढ़ लेती है। परन्तु 'विष या कनी दे देना'—पढ़कर वह बड़ी चिन्तित हो जाती है। वह सोचती है कि 'क्या मेरे भाग्य में विवाह के पहले ही विधवा होना लिखा है। नहीं, नही, ऐसा कभी नहीं हो सकता पिता जी ऐसा गर्हित कार्य कभी नही कर सकते'।[3] अतः वह इस निर्णय पर पहुंचती है कि पिता जी भूल से कुछ का कुछ लिख गये है। अतः वह आंख के काजल से कनी को मिटाकर केवल 'विषया' रहने देती है।

चन्द्रहास यह पत्र लेजाकर मदन को देता है। मदन पत्र पढ़ते ही विषया का विवाह चन्द्रहास से कर देता है। इधर जब धृष्टबुद्धि वापस आकर यह सब कुछ देखता है तो उसे अपने लिखे पर विश्वास नहीं होता। उसके मन में फिर चन्द्रहास को मरवा देने का विचार आता है।

इधर कुन्तलपुर का राजा कौन्तलप गालव ऋषि की सम्मति से अपना

---

१. चन्द्रहास; तृतीय अंक, पंचम सस्करण (१९३७), पृ० ८७।

२. वही, पृ० ८४।

३. वही, पृ० ८७।

सारा राज्य-भार चन्द्रहास को देने का निश्चय कर लेता है। मदन चन्द्रहास को इस बात की सूचना देता है कि महाराज उसे स्मरण कर रहे है। किन्तु चन्द्रहास उसे अपने ससुर धृष्टबुद्धि द्वारा संध्या के बाद विजनेश्वरी देवी की पूजा करने के आदेश को बतलाता है। परन्तु मदन उसे तो महाराज के पास जाने की सलाह देकर स्वयं विजनेश्वरी देवी के पूजन के लिए चला जाता है। यहां पर धृष्टबुद्धि ने चन्द्रहास को मरवा देने का प्रबन्ध किया हुआ है। धृष्टिबुद्धि कभी उसे मरवा देने के अपने निश्चय पर दृढ़ रहना चाहता है और साथ ही अपनी बेटी विषया के विधवा होने के विचार से उसके इस निश्चय में शिथिलता आ जाती है। इस स्थल पर गुप्त जी ने धृष्टबुद्धि के मानसिक अन्त-र्द्वन्द्व का बड़े ही सुन्दर ढंग से चित्रण किया है।

कौन्तलप, चन्द्रहास तथा गालव को सुलक्षण के द्वारा यह सूचना मिलती है कि धृष्टबुद्धि तथा उसका पुत्र मदन दोनों ही भगवती के समक्ष मृतप्राय पड़े हैं। दोनों के सिर फूट गये है और रुधिर बह रहा है। कौन्तलप, चन्द्रहास आदि सभी लोग विजनेश्वरी देवी के मन्दिर जाते है। भगवती की कृपा से धृष्टबुद्धि और मदन दोनों ही बच जाते है। धृष्टबुद्धि अपने किये पर प्रायश्चित करता है। कौन्तलप भी भगवती के समक्ष चन्द्रहास को राज्य का अधिकार सौंप देता है और राज्य एवं शासन का उद्देश्य समझाते हुए उसे इस प्रकार कहता है—

'प्रजा वर्ग के ही लिए राज्य है,
हमें स्वार्थ-चिन्ता सदा त्याज्य है।
इसी अर्थ है राज-सत्ता सभी,
न हो देश में दुर्व्यवस्था कभी।'[१]

चन्द्रहास इस उद्देश्य-पूर्ति के लिए प्रतिज्ञा करता है और अन्त में भरत वाक्य द्वारा नाटक समाप्त हो जाता है।

नाटक का नायक चन्द्रहास है और नाटककार ने उसे सर्वगुण-सम्पन्न ही चित्रित किया है। परन्तु व्यावहारिक रूप से उसके इन गुणों के प्रमाण का कोई अवसर नहीं मिलता। विषया को वह सुन्दर और वीर ही नही दिखाई पड़ता, अपितु वह उसे मनुष्य रूप में कोई देवता स्वीकार करती है। मदन उसके गुणों का इस प्रकार उल्लेख करता है—

श्री चन्द्रहास अवनीतल-चन्द्र ही है,
वाणी रसाल उसकी मृदु-मन्द्र ही है।

१. चन्द्रहास, पृ० १६६।

सर्वस्व है चित-चकोर उसे चढ़ाना,
त्यों प्रेम का वह नवांकुर है बढ़ाना।

'निस्सन्देह चन्द्रहास कोई अलौकिक व्यक्ति है। क्या रूप और क्या गुण, दोनों ही बातों मे वह अद्वितीय है। शील और सौजन्य, विनय और वीर्य, विद्या और बुद्धि सभी बातें उसमें विलक्षण हैं। सद्भाव का तो मानों वह स्वरूप ही है।'[1] गालव की दृष्टि मे वह बड़ा रूपवान्, गुणवान् और सुलक्षण है। वह उसे धृष्टबुद्धि की सम्पत्ति के अधिकारी बनने का वरदान देता है। धृष्टबुद्धि गालव के इन वचनों को असत्य सिद्ध करने में कोई कसर नहीं उठाता परन्तु नियति● के आगे उसे पराजित होना पड़ता है। नियति स्थान-स्थान पर चन्द्रहास की रक्षा करती है। नियति जिसकी रक्षक हो, विश्व की कोई भी शक्ति उसे हानि पहुंचाने में असमर्थ रहती है। उसका दावा है—

'है कौन भक्षक भला जब रक्षिणी मैं?
है कौन रक्षक बनू जब भक्षिणी मैं?
मेरे करस्थ रहता वह काल भी है,
मेरी कथा कलित और कराल भी है।'[2]

नियति धृष्टबुद्धि के सभी प्रयासों को विफल बना देने का निश्चय कर लेती है, और नाटक के अन्त में उसे अपने प्रयत्नों मे सफलता भी मिलती है। वस्तुतः नाटक में संघर्ष इन्हीं दोनों पात्रों के द्वारा आता है।

चन्द्रहास के जीवन की महत्वपूर्ण उपलब्धियां हैं—धृष्टबुद्धि की कन्या विषया की प्राप्ति तथा राजा कौन्तलप का राज्य प्राप्त होना। कोई भी मनुष्य अपने जीवन में इस प्रकार की सिद्धियों को बिना प्रयास एवं संघर्षरत हुए नहीं पा सकता, परन्तु चन्द्रहास को ये दोनों सिद्धियां संयोग से ही प्राप्त हो जाती है। उसके भीतर कहीं भी सचेष्ट रूप से परिवेश के प्रति प्रतिक्रिया को अभिव्यक्ति देने का प्रयास नहीं मिलता। अभिव्यक्ति तो क्या अनुभूति का भी प्रश्न नहीं उठता। वह तो नियति के हाथों कठपुतली है। कहीं भी उसे स्वतन्त्र रूप से आचरण करता हुआ नहीं पाते। मानों उसका स्वतन्त्र व्यक्तित्व है नहीं। धृष्टबुद्धि जैसा सशक्त पात्र भी नियति के समक्ष टिक नहीं पाता। स्पष्टतः लेखक का अदृष्ट में विश्वास ही सारे कथानक की आधारशिला है और इसी

---

१. चन्द्रहास, पृ० ६४।

● नाटक में नियति का प्रवेश सर्वत्र अदृश्य भाव से है। उसे केवल दर्शक ही देख सकते हैं।

२. चन्द्रहास, पृ० १७।

कारण सभी पात्र अपना व्यक्तित्व खोकर नियति की कठपुतली सा आचरण करते हुए प्रतीत होते है। चन्द्रहास इसका कोई अपवाद नहीं हैं। नाटककार ने तो चन्द्रहास को एक दुर्बल नायक के रूप में चित्रित किया है, जिसके जीवन में न तो संघर्ष है और न ही पुरुषार्थ का कोई नया स्थान। वास्तव में सारे नाटक में सर्वाधिक क्रियाशील पात्र नियति है। नाटक की समस्त कथावस्तु का संचालन उसी के संकेतों पर होता है। चरित्रों को विकास की दिशा भी उसी से प्राप्त होती है। घटनाओं की सफलता और विफलता भी उसी के भ्रू-विलास का ही परिणाम है।

गुप्त जी के '**तिलोत्तमा**' नाटक की कथा महाभारत के आदि पर्व पर आधारित है।[1] इसमें देवराज इन्द्र आदि देवताओं और सुन्द, उपसुन्द आदि दैत्यों के परस्पर युद्ध और दानवों के पराभव की कथा है। एक बार सुन्द-उपसुन्द नाम के दैत्यों ने घोर तपस्या करके पितामह ब्रह्मा से यह वरदान प्राप्त किया कि वे त्रिलोकी पर विजय प्राप्त करें और एक दूसरे को छोड़कर उन्हें अन्य किसी से मृत्यु का भय न हो। भगवान् ब्रह्मा से त्रिलोकी द्वारा अवध्य होने का वरदान पाकर उन दोनों दैत्य भाइयों ने अकाल कौमुदी नामक महोत्सव मनाया और देवताओं पर मन माने अत्याचार आरम्भ कर दिये। तदनन्तर वरुण, कुबेर, पवन आदि सभी देवगण देवराज इन्द्र के साथ भगवान् ब्रह्मा के पास गये और सुन्द, उपसुन्द के क्रूर एवं निर्मम अत्याचारों के विषय में निवेदन कर प्रार्थना करने लगे कि हे भगवन्! अब कृपा करके कोई ऐसा उपाय करें जिससे ये दोनों भाई अपने अनाचारों का फल पावें और तीनों लोकों की रक्षा हो सके। तब भगवान् ब्रह्मा ने विश्वकर्मा को बुलाकर शीघ्र ही एक विलक्षण सुन्दरी की मूर्ति बनाने की आज्ञा दी। विश्वकर्मा ने अपने अद्भुत कौशल से सारे सुन्दर पदार्थों का तिल तिल भर सौन्दर्य-सार संग्रह करके एक अपूर्व सुन्दरी की मूर्ति निर्मित की। भगवान् ब्रह्मा ने उसे तिलोत्तमा की संज्ञा दी। एक दिन जब सुन्द और उपसुन्द दोनों भाई खूब मदिरोन्मत्त हुए बैठे थे, तो तिलोत्तमा उन्हें लुभाने के हेतु उनके निकट गई। वे दोनों भाई इसके अलौकिक रूप को देखकर अत्यन्त मोहित हो जाते हैं और दोनों इससे विवाह करने का प्रस्ताव करते हैं। तिलोत्तमा उनसे अपनी यह प्रतिज्ञा कहती है—'अपने आत्मीयों की दुर्दशा देखकर मुझे विश्वास हो गया है कि संसार में शक्ति ही सब कुछ है। मैं अबला ठहरी। इसलिए मैंने प्रतिज्ञा की है कि जो सबसे शक्तिशाली पुरुष होगा उसी को यह वह वर-माला पहनाकर मैं अपना पति

१. अध्याय २०८-२११।

बनाऊंगी ।[1]

इस पर उन दोनों में युद्ध छिड़ जाता है और दोनों मर जाते हैं। तदन्तर इन्द्र आदि देवता वहां पहुंच जाते हैं और भरत वाक्य से नाटक समाप्त हो जाता है।

नाटक की कथा पांच अंकों में कही गई है। नाटक के नाम को देखकर यह भ्रांति हो जाती है कि यह नायिका-प्रधान है। परन्तु वास्तव में वस्तुस्थिति इससे नितान्त भिन्न है। तिलोत्तमा तो नाटक के केवल अन्तिम अंक में ही आती है। सर्वत्र तो इन्द्र आदि देवता तथा सुन्द-उपसुन्द ही विद्यमान रहते हैं।

नाटक के नायक देवराज इन्द्र धीरोदात्त हैं। उन्हें अपनी कार्य-सिद्धि में सफलता तिलोत्तमा के द्वारा मिलती है। नाटककार ने इन्हें आदर्श पात्र के रूप में ही चित्रित किया है। वे वीर एवं पराक्रमी हैं। उन्हें अपनी शक्ति पर गर्व है। वे कहते है—

'जब तक मेरे हाथ में है वह कुलिश कठोर।
असुर देख सकते नहीं सुर-लक्ष्मी की ओर ॥'[2]

वे देवताओं को साथ लेकर देवलोक की रक्षा के लिए भगवान् ब्रह्मा से निवेदन करते है। ब्रह्मा की कृपा से और तिलोत्तमा के द्वारा वे दैत्यराजों पर विजय प्राप्त करने में सफल होते हैं। वस्तुतः नाटककार को दानवी वृत्तियों पर दैवी शक्तियों की विजय दिखलाना ही अभीष्ट है। नाटक के प्रस्तावना भाग में लेखक ने इसी बात को स्पष्ट किया है कि नाटक का मुख्य उद्देश्य मनोरंजन के साथ-साथ शिक्षा प्राप्ति है। सुन्द और उपसुन्द के संहार और देवराज इन्द्र की विजय से ही नाटककार को अपने इस उद्देश्य में सफलता मिलती है। इसके साथ ही सुन्द के मुख से यह कहलवाकर—

'बस आपस की फूट का है यह दुष्परिणाम।
सफल-काम वैरी हुए करके इतना काम ॥
कारण है उस मोह का रमणीवन का लोभ।
और मद्य की मोहिनी मादकता का क्षोभ ॥'[3]
सुन्द और उपसुन्द का है सब से अनुरोध।
सावधान, देखो, कभी उठे न बन्धु-विरोध ॥'[4]

१. तिलोत्तमा, पंचम संस्करण, पृ० ९९।
२. वही, पृ० ३६।
३. वही, पृ० १०४।
४. वही, पृ० १०५।

नाटककार ने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि पारस्परिक फूट तथा सुरा और सुन्दरी के आकर्षण ही व्यक्ति के पतन का कारण बनते हैं। नाटककार की प्रत्यक्ष उपदेश की इस वृत्ति में युग का प्रभाव स्पष्ट है। इस युग के कलाकार शिक्षा के लिए प्रायः अभिधा का ही सहारा लेते है।

महाभारत के कथानक में देवराज इन्द्र का चरित्र विशेष महत्ता को प्राप्त नहीं कर सका। 'तिलोत्तमा' नाटक में उसे महत्व प्रदान करने का श्रेय गुप्त जी की प्रखर कल्पना को ही दिया जा सकता है। वैसे भी उन्होंने नाटक के कथानक में महाभारत की कथा की अपेक्षा आवश्यकतानुसार यत्र-तत्र परिवर्तन किये हैं।

विश्वम्भर नाथ शर्मा कौशिक का **'भीष्म'** (१९१८) चरित्र-चित्रण एवं अभिनेयता की दृष्टि से बड़ा ही सफल नाटक है। कौशिक जी ने इस नाटक को विशेष रूप से रंगमंच के लिए ही लिखा है, ऐसा उन्होंने नाटक के आरम्भ में ही स्पष्ट कर दिया है।[1] इस नाटक की कथा महाभारत से ली गई है।[2] तीन अंकों में द्योवसु द्वारा वशिष्ठ मुनि की नन्दिनी गौ का चुराया जाना, परिणाम स्वरूप मृत्युलोक में स्त्री से वंचित रहने का शाप मिलना, हस्तिनापुर के महाराजा शान्तनु का गंगा के प्रति आसक्त होना और विवाह कर लेना और उसे उसके किसी भी कार्य में बाधा न डालने का वचन देना, गंगा द्वारा अपने सात पुत्रों का गंगा के प्रति समर्पण कर देना, आठवें पुत्र के रूप में द्योवसु के अवतार के रूप में भीष्म का जन्म होना, शान्तनु का गंगा को इसका वध करने से रोकना, गंगा का अपनी प्रतिज्ञानुसार शान्तनु को त्याग कर चले जाना, शान्तनु का निषाद कन्या सत्यवत्ती के प्रति आकृष्ट होना और उससे अपनी पत्नी बनने के लिए प्रस्ताव करना, परन्तु निषादराज की कठोर शर्तों को सुनकर चिन्तित हो जाना, भीष्म द्वारा पिता की इच्छा को पूर्ण करने का प्रयास करना और

---

१. भीष्म, प्रथम संस्करण, १९१८।
'यों तो हिन्दी में नाटकों का प्रायः अभाव सा ही है किन्तु जो कुछ इने गिने नाटक दिखाई पड़ते हैं, उनमें भी अधिकांश ऐसे हैं कि जिनका नाटकपन केवल पुस्तक के पृष्ठों तक ही परिमित है, अर्थात् वह स्टेज पर खेलने योग्य नहीं। यदि नाटक स्टेज पर खेलने योग्य न हुआ तो उसमें और एक उपन्यास में बहुत कम भेद रह जाता है। इसी लक्ष्य को सामने रखकर हमने इस नाटक को स्टेज के लिए ही लिखा है···।'

२. महाभारत, आदि पर्व (अध्याय ९७-१०३) तथा भीष्म पर्व, अध्याय १०७-१२१।

उन्हें चिन्ता मुक्त करना और स्वयं आजीवन अखण्ड ब्रह्मचर्य के पालन का व्रत धारण करना, परिणामतः पिता से स्वच्छन्द मृत्यु का वरदान प्राप्त होना, अकेले ही काशिराज की तीन कन्याओं का हरण करने में समर्थ होना, अपनी प्रतिज्ञा का पालन करने के लिए गुरु परशुराम की काशिराज कन्या अम्बा के साथ विवाह करने की आज्ञा का उल्लंघन करना, कौरवों और पांडवों के युद्ध में पाण्डव भाइयों के प्रति दुर्योधन के अनीतिपूर्ण व्यवहार की निन्दा करना, तथा मृत्यु के समय शर शैय्या पर युधिष्ठिर को राजनीति का उपदेश देने तक की घटनाओं का सुनियोजित एवं कमनीय रूप से चित्रण किया है।

नाटक के नायक दृढ़ प्रतिज्ञ एवं बाल-ब्रह्मचारी देवव्रत हैं जो कठोर व्रत को धारण करने से भीष्म कहलाते हैं। नाटककार ने उन्हें एक आदर्श नायक के रूप में चित्रित किया है। उनमें धीरोदात्त नायक के सभी गुण विद्यमान है, वे अत्यन्त तेजस्वी, बलवान्, साहसी, निर्भीक, पितृभक्त, कुशल राजनीतिज्ञ, स्वाभिमानी परन्तु दयालु एवं उदार, त्यागी तथा स्पष्टवादी हैं। अस्त्र-शस्त्र विद्या में वे परम निष्णात हैं। अपने गुरु परशुराम के अम्बा के साथ विवाह करने के आदेश को न मानकर वे अपनी प्रतिज्ञा का दृढ़ता से पालन करते हैं। पिता शान्तनु को चिन्ता-मुक्त करने के लिए वे राज्य एवं स्त्री के सुख को आजीवन त्यागने के लिए तैयार हो जाते हैं इस प्रकार वे अपने धर्म का पालन करते हैं और सच्चे क्षत्रिय होने का प्रमाण देते है। निस्संदेह इस प्रकार का त्याग कोई महान् आत्मा ही करने में सक्षम हो सकती है।

धर्मशील एवं कर्तव्यपरायण होने के साथ साथ वे कुशल राजनीतिज्ञ भी है। राजा को किस प्रकार प्रजा के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए एवं उसके सुखों का ध्यान करना चाहिए, इस बात को वे अपने छोटे भाई विचित्रवीर्य से इस प्रकार कहते हैं—'राजनीति का सार प्रजा वत्सलता है, प्रजा को सुखी रखने की चेष्टा करो, प्रजा के लिए अपने सुखों की तिलांजलि दे दो। अब प्रजा को तुमसे सुख मिलेगा तो प्रजा मित्र है उसका शत्रु सहस्र भुजा रखते हुए भी उसको हानि नही पहुंचा सकता। अपने स्वार्थ में प्रजा का स्वार्थ समझना बड़ी भूल है। नाश का यही मूल है। प्रजा के स्वार्थ में अपना स्वार्थ समझना सच्ची राजनीति है, दूरदर्शियों की यही रीति है।'[1]

वे अतुल वीर, पराक्रमी, निर्भीक एवं साहसी तो हैं ही, साथ में स्वाभिमानी भी है। काशिराज द्वारा निमन्त्रित न किये जाने पर अपने अपमान का बदला उसकी तीनों कन्याओं को बलपूर्वक अपहरण करके लेते हैं। परन्तु जब

---

१. भीष्म, पृ० ५०।

काशिराज-कन्या अम्बा उनसे शाल्वराज के प्रति अपने प्रेम का निवेदन करती है तो वे उससे यह कह कर—'अम्बे ! मैं नहीं चाहता कि मैं तुम्हारे प्रेम बन्धन को अपनी स्वार्थ की तलवार से काट दूं। जलते हुए हृदयों को शीतल करना, व्यथितों को शान्त बना देना मेरा काम है, मेरा मूल मन्त्र वह है कि त्याग जिसका नाम है'[१]—अपनी दयालु एवं उदार प्रकृति का परिचय देते है।

पाण्डवों और कौरवों के युद्ध में पितामह भीष्म कौरवों की ओर से इसलिए लड़ते हैं कि वे उनकी प्रजा है और उनका अन्न खाते हैं। अतः ऐसी स्थिति में जब कि वे हृदय से इस बात का अनुभव करते है कि पाण्डवों के साथ अनीतिपूर्ण व्यवहार हो रहा है, वे कौरवों का पक्ष लेकर अपनी कर्तव्य-परायणता दिखलाते हैं। स्पष्टवादी होने के नाते वे दुर्योधन से कहते हैं—'दुर्योधन मैं तो अपना कर्तव्य पालन ही कर रहा हूं और अन्त समय तक करूंगा किन्तु मैं यह कहे बिना न रहूंगा कि तुम पाण्डवों के साथ अनीति का व्यवहार कर रहे हो।'[२]

महाभारत के युद्ध में भीष्म के अतुल पराक्रम एवं वीरता के साथ लड़ने के कारण पाण्डव सेना की अपार क्षति होती है। इस पर पाण्डव अत्यन्त चिन्तित हो जाते है। श्रीकृष्ण के समझाने पर पाण्डव उनके पास जाकर अपनी सेना की क्षति की बात करते हैं और साथ ही उनकी मृत्यु का रहस्य पूछते है। वे उन्हें अपनी मृत्यु का रहस्य शिखण्डी बतला देते हैं। संसार में ऐसे उदाहरण स्यात् ही कहीं देखने अथवा सुनने में आते है जहां व्यक्ति स्वयं ही दूसरे को अपनी मृत्यु का रहस्य भीष्म की तरह बतला दे। कोई साहसशील व्यक्ति ही ऐसा कर सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि नाटककार ने सर्वत्र भीष्म के उदात्तत्व की रक्षा की है और उनके चरित्र को आदर्श एवं अनुकरणीय रूप में ही चित्रित करने का प्रयास किया है। वे सर्वगुण सम्पन्न हैं। नाटक में केवल एक स्थान पर ही वे अपने गुरु परशुराम की आज्ञा का उल्लंघन करते दिखाई पड़ते है, परन्तु ऐसा भी वे अपनी प्रतिज्ञा का पालन करने के लिए ही करते हैं। अन्यथा उनके चरित्र में कहीं भी कोई दोष नहीं दिखाई पड़ता।

इस युग के पौराणिक नाटकों में जितनी ख्याति पण्डित राधेश्याम कथावाचक के 'वीर अभिमन्यु' नाटक ने पाई है, उतनी स्यात् ही किसी अन्य नाटक

---

१. भीष्म, पृ० ६३।

२. वही, पृ० ६१।

को मिली हो। इस नाटक का रचनाकाल १६१८ के लगभग है। नाटक की कथा का आधार महाभारत है।[1] महाभारत के इतने विशाल कथानक को नाटककार ने तीन अंकों मे संक्षिप्त कर दिया है। तीसरे अंक के पश्चात् 'उप-संहार' का संयोजन नाटककार की स्वकीयता है। इसी शैली को बाद मे सेठ गोविन्ददास जी ने अपने नाटकों मे अपनाया है। नाटक के पहले अंक में दुर्योधन गुरु द्रोणाचार्य पर यह आरोप लगाता है कि आप पाडवों के साथ पक्षपातपूर्ण व्यवहार कर रहे है। इससे वे अपने को अपमानित समझ कर क्रुद्ध होकर सेनापति पद को त्यागने के लिए उद्यत हो जाते है। तब दुर्योधन अपने इस अपराध की क्षमायाचना करता है। इसी समय दुर्योधन के संताप-निवारण के लिए आचार्य प्रतिज्ञा करते है कि आज पाडवों के किसी वीर की अवश्य ही मृत्यु होगी। इसके लिए वे ऐसे चक्रव्यूह की योजना बनाते है जिसे अर्जुन के अतिरिक्त और कोई भेदन नहीं कर सकता, और चूकि अर्जुन संसप्तकों से युद्ध करने के लिए गया हुआ है, इसलिए निश्चित रूप से किसी न किसी पांडव वीर का आज मरण होगा। इधर अर्जुन की अनुपस्थिति में चक्रव्यूह की रचना सुनकर युधिष्ठिर बड़े चिन्तित हो जाते है। अभिमन्यु उनको सात्वना देता है और चक्रव्यूह तोड़ने की प्रतिज्ञा करता है। अभिमन्यु युद्ध मे जाने से पूर्व अपनी पत्नी उत्तरा और माता सुभद्रा से मिलने जाता है। वीर अभिमन्यु चक्रव्यूह तोड़ने में सफल हो जाता है। परन्तु दुर्योधन दुःशासन आदि सात व्यक्ति उसे धोखे मे पकड़कर एक साथ उस पर आक्रमण करते है और उसे मार देते है।

दूसरे अंक में अर्जुन अपने वीर अभिमन्यु की मृत्यु का बदला लेने के लिए जयद्रथ-वध की प्रतिज्ञा करता है। श्री कृष्ण अपने सखा अर्जुन की प्रतिज्ञापूर्ति के लिए उसके साथ कैलाश पर्वत पर भगवान् शिव से पाशुपतास्त्र लाने के लिए जाते है। तीसरे अंक मे अर्जुन और कौरवों की सेना में घोर युद्ध होता है। वह भगवान् कृष्ण तथा उनके द्वारा निर्मित योगमाया की सहायता से संध्या से पूर्व ही जयद्रथ का वध करके अपनी प्रतिज्ञा-पूर्ण करने मे सफल होता है। उपसंहार मे युधिष्ठिर आदि के अनुरोध पर वीर अभिमन्यु के पुत्र परीक्षित् के राज्याभिषेक से नाटक समाप्त हो जाता है।

भारतेन्दु तथा द्विवेदी युगीन समस्त नाटक साहित्य में नायक-परिकल्पना की दृष्टि से राधेश्याम के 'वीर अभिमन्यु' नाटक का विशेष महत्व है। 'वीर

---

१. महाभारत, द्रोणपर्व (अभिमन्युवध पर्व, अ० ३३-५१, प्रतिज्ञा पर्व, अ० ७२-८४, जयद्रथ वध पर्व, अ० ८५-१५०)।

अभिमन्यु में नायक किसे माना जाये—अभिमन्यु अथवा अर्जुन को अथवा इन दोनों को ?—यह प्रश्न अपने आप में अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है। नाटक के नामकरण को ध्यान में रखें अथवा नाटककार की दृष्टि से नाटक-निर्धारण करने की चेष्टा करें तो नायक 'वीर अभिमन्यु' को ही माना जा सकता है। नाटक के मंगलाचरण में नट नटी से 'वीर अभिमन्यु' नाटक को अभिनीत करने के लिए इस प्रकार सुझाव देता है—

'हां, वही अर्जुन का कुमार अभिमन्यु ! उत्तरा का भर्त्तार अभिमन्यु—
अमर नाम जिसने किया, रण में देकर प्रान।
उसी वीर बलवान् का, आज करो गुण-गान ॥'[1]

स्पष्ट है कि नाटककार को अभिमन्यु की वीर गाथा कहना ही अभीष्ट है। नाटककार इसी नायक की चरित्रिक गरिमा के द्वारा भारतीयों में कायरता, आलस्य और उन्माद को दूर कर हिन्दू जाति की प्रतिष्ठा को बढ़ाना चाहता है, अपने देश और समाज का उपकार करना चाहता है।

परन्तु यदि नाटक के कथानक पर दृष्टिपात करें, तो अभिमन्यु की अपेक्षा अर्जुन को नायक मानना चाहिए। नाटक के पहले अंक की कथा का सम्बन्ध अभिमन्यु से है और शेष दोनों अंकों का घटना-तन्त्र अर्जुन से सम्बन्धित है। अभिमन्यु की तो पहले अंक में ही मृत्यु हो जाती है। यदि नाटककार अभिमन्यु को ही नाटक बनाना चाहता था तो उसे नाटक को अभिमन्यु की मृत्यु के साथ ही समाप्त कर देना चाहिए था, परन्तु वह ऐसा नहीं करता। वह नाटक के घटनाचक्र को आगे बढ़ाता है, अर्जुन द्वारा जयद्रथ-वध की प्रतिज्ञा करवाता है जिसे वह तीसरे अंक में पूर्ण करने में सफल भी होता है। इस प्रकार वह अभिमन्यु के समान नाटक के घटना-तन्त्र में अर्जुन के चरित्र को भी समान महत्व ही प्रदान कर रहा है। नाटक के कथानक का अधिकांश भाग भी उसी से सम्बन्ध रखता है। इस दृष्टि से एक तो नाटक का नाम 'वीर अभिमन्यु' न होकर 'जयद्रथ-वध' या 'अर्जुन-प्रतिज्ञा' रखा जाना चाहिए था और दूसरे फिर नाटक का नायक अभिमन्यु न होकर अर्जुन होना चाहिए था। नाटक की भूमिका में श्री जियाराम नायक के विषय में चर्चा करते हुए लिखते हैं—'इस नाटक का नायक 'जूलीयस सीज़र' की तरह नाटक के पहले ही भाग मे समाप्त हो जाता है। नाटक जयद्रथ वध तक जाता है। ऐसी अवस्था में भी इस नाटक का नाम जयद्रथ-वध न रख कर 'वीर अभिमन्यु' ही रखना ठीक मालूम होता है, क्योंकि मरने के पश्चात् भी अभिमन्यु की आत्मा नाटक में जीवित है और

१. वीर अभिमन्यु, संस्करण १९५०, पृ० ३।

जब तक जयद्रथ-वध नहीं हो जाता, वही पर प्रस्तुत है, क्योंकि जयद्रथ-वध का कारण वही है।'

शेक्सपियर के 'जूलियस सीज़र' के नायक के बारे में भी विद्वानों के परस्पर मतभेद है कई विद्वान् सीज़र को नायक मानते है,[१] और कई उसकी प्रेतात्मा को। कई आलोचक ब्रूटस को भी नायक का स्थान देते है।[२] वेरेटी ब्रूटस को नायक तो मानते हैं, परन्तु साथ ही वे सीज़र को नाटक के सारे घटना-तन्त्र की मुख्य शक्ति अथवा धुरी के रूप मे भी स्वीकार करते है जिसका सारे कथानक के कार्य-व्यापार पर भी विशेष प्रभाव पड़ता है। इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि सीज़र की मृत्यु के बाद भी उसकी प्रेतात्मा उसके भौतिक शरीर से अधिक महत्वपूर्ण एवं प्रभावशाली रूप में नाटक के घटना-तन्त्र का संचालन करती है। वस्तुतः समूचे नाटक मे सीज़र की शारीरिक रूप से ही मृत्यु होती है परन्तु उसकी आत्मा नाटक के अंत तक विद्यमान रहती है और यदि हम यह कहे कि उसकी प्रेतात्मा स्वयं सीज़र से भी अधिक शक्तिशाली एवं प्रभा-वक है तो कोई अत्युक्ति नही होगी। ऐसी स्थिति मे केवल सीज़र को ही नाटक का नायक माना जा सकता है, ब्रूटस, कासियस अथवा एण्टोनी को नहीं और इस दृष्टि से शेक्सपियर के इस नाटक का नाम 'जूलियस सीज़र' होना उचित ही है।

राधेश्याम के 'वीर अभिमन्यु' नाटक के बारे में भी कुछ ऐसी ही स्थिति है। जहां तक नाटक में दो नायकों का प्रश्न है भारतीय नाट्याचार्य इसका समर्थन करते हुए दिखाई नहीं देते, यद्यपि पाश्चात्य नाट्य सिद्धान्तों के अनुसार यह स्थिति संभाव्यता की सीमा के सर्वथा बाहर नही है।* भारतीय नाट्य-

---

१. T. S. Dorsch, Julius Caesar, edition 1961, Introduction page 27.

"Caesar is the titular hero, Brutus the dramatic hero."

२. A. W. Verity, Julius Caesar, Ed. 1955, Introduction, page 16.

"Brutus is the 'hero' of Julius Caesar, the character who stands out most prominently in its action. Caesar himself appears in only three scenes, nor in these does he present an impressive figure. Yet the play is rightly called Julius Caesar, not Brutus, for the personality of Caesar is the real motive-spring of the whole plot, and influence which creates and dominates the action."

* देखिए अलार्डिस निकल, दी थ्यूरी आफ ड्रामा पृ० १५४।

सिद्धान्तों के अनुसार नाटक का नायक एक ही हो सकता है क्योंकि नाटक में केवल एक ही आधिकारिक कथा रहती है जिसका नाटक के मुख्य पात्र से ही सम्बन्ध रहता है। इतर पात्र तो मुख्य पात्र के कथा-वृत्त के विकास में सहायक बनते है और उनका व्यक्तित्व नायक की अपेक्षा कम महत्वपूर्ण एवं प्रभावक रहता है। यद्यपि 'वीर अभिमन्यु' की मृत्यु पूर्वार्द्ध में हो जाती है, फिर भी सीज़र के समान वह नाटक के उत्तरार्ध भाग की प्रेरणा-शक्ति बना रहता है। अर्जुन की प्रतिज्ञा-पूर्ति की शक्ति एवं प्रेरणा अभिमन्यु ही है। यदि अभिमन्यु की मृत्यु न होती, तो स्यात् अर्जुन अपने पुत्र की मृत्यु का बदला लेने के लिए जयद्रथ वध की इतनी भीषण प्रतिज्ञा न करता। अभिमन्यु की मृत्यु के बाद भी अभिमन्यु स्वयं नाटक के क्रिया-व्यापार एवं घटना-विकास की प्रेरक शक्ति बनता है। वस्तुतः अर्जुन की जयद्रथ-वध की प्रतिज्ञा को पूर्णता प्रदान करने में अभिमन्यु की मृत्यु प्रेरक-शक्ति बनती है, इसके अभाव में अर्जुन की प्रतिज्ञा-पूर्ति में न ही बल एवं गौरव रहता और न ही घटनाओं का समुचित विकास हो पाता। इस दृष्टि से नाटककार ने नायक का नाम जो 'वीर अभिमन्यु' रखा है, वह नितान्त युक्ति संगत है।

नाटक के फल एवं क्रिया-व्यापार की दृष्टि से नाटक का नायक अभिमन्यु ही माना जा सकता है। अभिमन्यु द्रोणाचार्य द्वारा निर्मित चक्रव्यूह को तोड़ने में सफल होता है। यह बात अलग है कि दुर्योधन, दुःशासन आदि उसे धोखे से मार देते है। अर्जुन की फल-प्राप्ति की प्रेरणा भी अभिमन्यु की मृत्यु ही बनती है। उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं माना जा सकता। अर्जुन की सभी चेष्टाएं भी अभिमन्यु की मृत्यु द्वारा चालित अथवा प्रेरित हैं और नाटककार तो अभिमन्यु को नायक मानता ही है। नायक का निर्णय करते समय अन्य बातों के साथ नाटककार के दृष्टिकोण की अपेक्षा नहीं की जा सकती।

नाटककार ने अभिमन्यु को एक आदर्श नायक के रूप में चित्रित किया है। उसमें धीरोदात्त नायक के गुण तो हैं ही, परन्तु वह मुख्यतः वीर, साहसी एवं निर्भीक योद्धा है। सोलह वर्ष की आयु में ही वह चक्रव्यूह को तोड़ कर अपने अनुपम पराक्रम एवं साहसशीलता का परिचय देता है। युधिष्ठिर जब अर्जुन की अनुपस्थिति में गुरु द्रोणाचार्य की प्रतिज्ञा एवं उनके द्वारा चक्रव्यूह निर्माण से चिन्तित हो जाते है, तब वह युधिष्ठिर को चिन्तामुक्त करने के लिए इस प्रकार सांत्वनापूर्ण वचन कहता है—'देव, जब तक भगवान् वासुदेव के हाथ में सुदर्शन है, जब तक महावीर भीम के हाथ में गदा है, जब तक मेरे पिता के हाथ में गाण्डीव है, जब तक चाचा नकुल और सहदेव के पास खड्ग है और जब तक आपके इस सेवक— षोडशवर्षीय बालक—अभिमन्यु की मुष्टिका में

बल है, तब तक आपका चिन्ता करना व्यर्थ है—'[1] नकुल उसे बतलाता है कि इस चक्रव्यूह को अर्जुन के अतिरिक्त और कोई नहीं तोड़ सकता और चूंकि अर्जुन भगवान् कृष्ण के साथ संसप्तकों से युद्ध करने गये हैं, इसीलिए द्रोणाचार्य ने जान बूझ कर किसी पाण्डव-वीर को मारने के लिए अर्जुन की अनुपस्थिति मे चक्रव्यूह की रचना की है। उस समय वह सदर्प शब्दों में कहता है—'द्रोणाचार्य ने विचारा होगा—'आज अर्जुन की अनुपस्थिति में चक्रव्यूह रचाएं और पाण्डवों को हराएं।' परन्तु उनको यह विदित नहीं—

'कायर कभी न होगा, जो क्षत्री का वंश है।
अर्जुन अगर नहीं है, तो अर्जुन का अंश है।'[2]

कितना गर्व है उसे अपनी वीरता पर और अर्जुन के पुत्र होने पर। अर्जुन का पुत्र अर्जुन के समान ही पराक्रमी होगा। उसके इस प्रकार के शब्द किसी भी कायर हृदय में उत्साह का संचार करने के लिए पर्याप्त हैं।

अभिमन्यु अपने पराक्रम का परिचय चक्रव्यूह-भेदन के समय देता है। मुख्य द्वार पर सर्वप्रथम जयद्रथ के साथ उसका युद्ध होता है। अभिमन्यु उसे पृथ्वी पर पटक देता है। वह मूर्च्छित हो जाता है। अभिमन्यु यदि चाहता तो उस समय वह जयद्रथ का बड़ी सरलता से वध कर सकता था, परन्तु वह ऐसा नहीं करता, क्योंकि मूर्च्छित पड़े योद्धा का शीश काटना महापाप है। इस प्रकार एक सच्चे वीर योद्धा के समान निःशस्त्र एवं अचेत व्यक्ति पर आक्रमण न कर अपनी उदारता का परिचय देता है उसके चले जाने के पश्चात् जयद्रथ को जब चेतना आती है तो उस समय वह अपने हृदय में ऐसे वीर की प्रशंसा किये बिना नहीं रहता—'हैं! मैं मूर्च्छित हो गया! एक नादान बालक मुझे मूर्च्छित करके व्यूह में चला गया! यदि वह चाहता तो इस मूर्च्छित अवस्था में मेरा सर काट लेता, परन्तु नहीं, आखिर अर्जुन का पुत्र है, पांडु का पवित्र रक्त है, आर्य जाति का गौरव है। धन्य उस कोख को जिसने ऐसा लाल जाया! धन्य है उस पिता को जिसने ऐसा पुत्र पाया! धन्य है उस देश को जहां ऐसा कर्म-वीर जन्म लेकर आया! हा! मैं सिन्धुराज होकर, महान् वीर होकर, एक बालक से पराजित हुआ! पाषाण पानी में गलित हुआ!'[3]

द्रोणाचार्य को पितृ गुरु समझ कर अभिमन्यु उनका उचित सम्मान करता

---

१. वीर अभिमन्यु, पृ० २४।
२. वही, पृ० २७।
३. वही, पृ० ६८।

है। द्रोणाचार्य उसे बालक समझकर व्यूह में से निकल जाने पर परामर्श देते हैं तो उस समय वह विनम्र परन्तु दृढ़ शब्दों में कहता है—'क्या लौट जाऊं? अर्जुन-कुमार होकर उल्टा चला जाऊं? नहीं, आचार्य नहीं, यदि तुम्हें मेरी अवस्था पर कुछ विचार हो, तो तुम्हीं मेरे आगे से हट जाओ। मेरे निर्दोषी धनुष को गुरुहत्या, ब्रह्महत्या वृद्धहत्या का दोष न लगाओ। यह हाथ अन्यायी कौरवों के लिए है, आचार्य के लिए नहीं, अधर्मियों के लिए हैं, आर्य के लिए नहीं।'[1] और जब अभिमन्यु के बार बार अनुरोध करने पर भी द्रोणाचार्य आगे से नहीं हटते, तब अभिमन्यु उन पर बाण-वर्षा करता है। अभिमन्यु चक्रव्यूह-भेदन में सफल हो जाता है और पाण्डव-सभा में की हुई अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण करता है। जब दुर्योधन, दुःशासन आदि अभिमन्यु को निःशस्त्र कर छल से पकड़ लेते हैं, उस समय भी वह अपने अपूर्व साहस एवं निर्भीकता का परिचय देता है। वह अन्तिम समय में भी दुर्योधन से अपने प्राणों की भीख न मांग कर उन लोगों से युद्ध करने के लिए अपनी तलवार वापस मांगता है। वास्तव में अभिमन्यु का चरित्र एक वीर नायक का आदर्श चरित्र है। उसे अपनी असाधारण वीरता पर अभिमान है और अपनी सफलता में दृढ़ एवं अटल आस्था।

अभिमन्यु वीर ही नहीं, एक सहृदय प्रेमी भी है। चक्रव्यूह-भेदन के लिए जाने से पूर्व वह अपनी पत्नी उत्तरा से मिलने जाता है। उत्तरा उसे इस प्रकार एकाकी युद्ध में जाने से रोकती है। वह उसकी बात को नहीं मानता, क्योंकि प्रतिज्ञा-पालन अथवा मान की रक्षा का उसकी दृष्टि में अधिक महत्व है, अन्यथा जीवित रह कर वह संसार को मुंह दिखाने के योग्य नही रहेगा। वह उत्तरा से कहता है—'तो यह मेरे हाथ की बात नहीं है कि युद्ध में न जाऊं। पिता जी संसप्तकों की ओर हैं, व्यूह मेरे अतिरिक्त कोई तोड़ नही सकता। क्या मैं अपनी पराजय कराऊं? अपने भाल पर कलंक का टीका लगवाऊं?—

नहीं, यह हो नहीं सकता जो, लड़ने को न जाऊं मैं।
यहां तुम नारियों में बैठकर, नारी कहाऊं मैं॥
अगर जीवन में अपने, आन अपनी यूं गंवाऊं मैं—
तो किस तरह संसार को फिर मुंह दिखाऊं मैं॥'[2]

इस पर उत्तरा उसे धर्म की प्रतिष्ठा एवं रक्षा करने के लिए जाने की आज्ञा दे देती है। इस प्रकार अभिमन्यु पत्नी-प्रेम के समक्ष कर्तव्य-भावना को अधिक

---

१. वीर अभिमन्यु, पृ० ७०।
२. वही, पृ० ४२।

महत्व देता है।

अभिमन्यु कर्तव्य-परायण तो है ही, मातृभक्त भी है। माता सुभद्रा से आशीर्वाद लेकर ही वह युद्ध के लिए जाता है और अपनी प्रतिज्ञा की पूर्ति में सफल होता है।

नाटककार ने अभिमन्यु के चरित्र को निर्दोष एवं आदर्श रूप में चित्रित किया है। नाटक का अभिमन्यु महाभारत के अभिमन्यु से कोई भिन्न नहीं है। महाभारत के अभिमन्यु के समान ही वह वीर, कर्तव्यपरायण एवं मातृभक्त है।

राधेश्याम कथावाचक ने **'श्रवण कुमार'** नाटक में (१६१६) श्रवण की मातृ-पितृ भक्ति के आदर्श रूप को चित्रित किया है। नाटक के कथानक में पौराणिक अंश कम और काल्पनिक अधिक है। नाटककार थोड़े-बहुत पौराणिक अंश के लिए रामायण का ऋणी है। नाटक का नायक श्रवण माता-पिता का भक्त, आज्ञाकारी, सेवक तथा सदाचारी है। माता-पिता को तो वह भगवान् समझकर पूजता है। उसे हर क्षण अपने माता-पिता के अंधेपन की ही चिन्ता रहती है, जिसे दूर करने के लिए वह सब प्रकार का पुरुषार्थ करने को तैयार है। वह माता-पिता की तीर्थ-यात्रा सफल करने के निमित अपना मकान, बाग़, आभूषण आदि सर्वस्व इसलिए दान कर देता है कि ऐसा अवसर जीवन में बार-बार नहीं आता। वह अपनी माता से कहता है—

'मिलें पदारथ चार, मिलें सेवक सुत नारी।
मिलें भूमि; धन धाम, अश्व गज आदि सवारी॥
चक्रवर्ति पद मिले मिले सम्पत भी सारी।
ऐसी सुन्दर घड़ी नहीं मिलती महतारी॥
ब्रह्मा विष्णु महेश भी, तप करने से आ मिलें।
ऐसे उत्तम समय तो बार बार फिर न मिलें॥'●

नाटककार ने श्रवण के ऐसे ही त्याग और सेवा से पूर्ण आदर्शचरित को नाटक में बड़े ही सुन्दर ढंग से चित्रित किया है।

प्रेम वल्लभ जोशी कृत **'द्रौपदी स्वयंवर'** नाटक (१६०६) का आधार महाभारत का 'आदिपर्व' है। इसमें ब्राह्मण वेश में पाण्डवों का पांचाल नगर में राजा द्रुपद की कन्या द्रौपदी के स्वयंवर में जाना, दुर्योधन, शकुनि, शल्य, सौबल, कर्ण, शिशुपाल, जरासंध, उत्तर आदि सभी योधाओं का, राजा द्रुपद द्वारा निर्धारित द्रौपदी के स्वयंवर-सम्बन्धी शर्तों को पूरा करने में असफल

● श्रवण कुमार (प्रथम अंक) संस्करण १६२६, पृ० ५७।

होना, द्रुपद का भरी सभा में राजाओं की शक्तिहीनता पर निराशा प्रकट करना,[1] इस पर अर्जुन का क्रुद्ध होना और अग्रज युधिष्ठिर की आज्ञा से उसका लक्ष्य बींधने में सफल होना, रुक्म, सुनीथ, कर्ण, दुर्योधन आदि का राजा द्रुपद को ललकारना, अर्जुन, भीम आदि का वीरतापूर्वक लड़कर उन सभी को पराजित करना, द्रौपदी को साथ लेकर माता कुन्ती के पास जाना और कुन्ती का असावधानता के कारण पांचों भाइयों को मिलकर उसका उपभोग करने को कहना और तत्पश्चात् इन सभी भाइयों का द्रौपदी के साथ विवाह होने आदि की कथा दस अंकों में दी गई है ।

अर्जुन नाटक का धीरोदात्त नायक है । वह वीर, पराक्रमी, साहसी, आज्ञाकारी, क्षमाशील एवं स्वाभिमानी है । वह राजा द्रुपद की प्रतिज्ञा को पूर्ण कर द्रौपदी को पाने में सफल होता है । यद्यपि नाटक के अन्त में कुन्ती की असावधानता के कारण द्रौपदी पांचों भाइयों की पत्नी बनती है, तो भी नाटक की कथा के फल का उपभोक्ता अर्जुन ही माना जाएगा । नाटक का मुख्य पुरुष पात्र भी वही है और नाटक का क्रिया व्यापार भी उसी से सम्बन्धित है ।

लेखक त्रय नंदकिशोर त्रिवेदी, पंडित मोहनदास तथा मुंशी ईश्वरीप्रसाद ने '**श्री नारद गर्व प्रहार**' नाटक अथवा '**विश्वमोहिनी स्वयंवर**' नाटक की रचना १९०९ में की । नाटक उपदेशात्मक है । अभिमान का मद धारण करने से व्यक्ति की दशा देवर्षि नारद जैसी होती है, ऐसा दिखलाना ही इस नाटक का प्रयोजन है । नाटक की कथा तुलसीदास के रामचरित मानस पर आधारित है ।[2] लेखक त्रय ने इस नाटक रचना में मौलिकता का परिचय नहीं दिया । कामदेव, मेनका, रम्भा, तिलोत्तमा आदि अप्सराओं के प्रसंग को छोड़कर जहा कि नाटक पारसी शैली से प्रभावित है, अन्य अनेक स्थलों पर मानस के साथ

---

१. द्रौपदी स्वयंवर नाटक, अंक ४ संस्करण १९०६, पृ० १९-२० ।

नृपन कह लाज जरा नहिं आई ।।टेका।
सहज सुभट योधा सव हारे । बैठे मन पछताई ।।नृपन०।।१।।
देश देश के भूपति आये । सुनि हमरो प्रण भाई ।।नृपन०।।२।।
वीरविहीन महि हम जानी । जो नहि चाप चढ़ाई ।।नृपन०।।३।।
आशा तजो निज निज गृह जाओ । कहूं मैं सत्य पुकारी ।।नृपन०।।४।।
क्षत्रिय होय जो प्रण को त्यागूं । पातकी होऊं भाई ।।नृपन०।।५।।

२. बालकांड, ।।१२३-१३८।४ ।।

भाव साम्य ही नहीं, शब्द-साम्य भी देखा जा सकता है।[1]

एक बार देवर्षि नारद घोर तप करके काम पर विजय प्राप्त करते हैं। इससे उनके मन में बड़ा अभिमान आ जाता है। वे शिव से अपने कामजयी होने की बात कहते है। शिव उन्हें समझाते हैं कि कहीं वे भगवान् विष्णु से भी यह बात न कह दें, परन्तु नारद उनके रोकने पर भी विष्णु से अपनी काम पर विजय पा लेने की बात कर देते हैं। इस पर विष्णु उनके अभिमान को तोड़ने के लिए मायापुरी की रचना करते हैं। नारद इस मायापुरी के राजा शीलनिधि की रूपवती कन्या विश्वमोहिनी के रूप पर आसक्त हो जाते हैं और वे विष्णु से सुन्दर रूप पाने की प्रार्थना करते हैं ताकि वे विश्वमोहिनी को स्वयंवर में जीत सकें। विष्णु उन्हें कपि-आकार प्रदान कर विदा करते हैं। स्वयंवर के दिन विप्र वेश में शिव गण उनका उपहास करते हैं। विश्वमोहिनी भी जयमाला राजा वेश में विष्णु के गले में डालकर नारद का अपमान करती है। वे शिव गणों के कहने पर जल-मुकुर में अपना कपि रूप देखकर बड़े क्रुद्ध होते हैं और शिव गणों को शाप देते हैं। तब वे भगवान् विष्णु को भी अपनी इस जग-हंसाई एवं अपमान के कारण स्त्री-वियोग होने का शाप देते हैं और कहते हैं कि आपने मुझे वानर रूप प्रदान किया है, ये ही वानर आपकी सहायता करेंगे। तदनन्तर भगवान् अपनी माया को हटा देते हैं। नारद उनसे अपने पाप का प्रायश्चित पूछते है। विष्णु उन्हें अपने भक्त शंकर जी के शतनाम का जाप करने के लिए कहते है। शिव गण भी उनसे निवेदन करते हैं कि हम ब्राह्मण नहीं अपितु शिव गण है अतः हमारे शाप को दूर कीजिए। वे उन्हें अतुल बल-

---

१. श्री नारद गर्व प्रहार नाटक, संस्करण १९०९, पृ० १८-१९।

शिव—नारद शाप दीन इक बारा। कल्प एक तेहि लग अवतारा॥
पार्वती—मैं अति चकित भई सुनि बानी। नारद भक्त विष्णु मुनि ज्ञानी॥
कारण कौन शाप मुनि दीन्हा। का अपराध रमापति कीन्हा॥
यह प्रसंग मोहि कहौ पुरारी। मुनि मन मोह सो अचरज भारी॥

रामचरितमानस, बालकाण्ड

नारद श्राप दीन्ह एक बारा। कलप एक तेहि लगि अवतारा॥
गिरिजा चकित भई सुनि बानी। नारद बिष्नु भगत मुनि ग्यानी॥१२३।३॥
कारन कवन श्राप मुनि दीन्हा। का अपराध रमापति कीन्हा॥
यह प्रसंग मोहि कहहु पुरारी। मुनि मन मोह अचरज भारी॥१२३।४॥

भाव एव शब्द-साम्य के इस प्रकार के अनेक उद्धरण इस नाटक में उपलब्ध होते हैं।

शाली राक्षस हो जाने का वर देते हैं और इस प्रकार भगवत्-स्तुति से नाटक समाप्त हो जाता है।

नाटक का अंगी रस भक्ति है, शृंगार तो उसका अंग बनकर आया है। नारद तपस्वी ब्राह्मण हैं और धीरशान्त नायक है। कामजयी बन जाने पर उनमें अभिमान आ जाता है। भगवान् विष्णु उनके गर्व को चूर्ण कर उन्हें वास्तविकता से परिचित करवाते हैं। यथार्थ का ज्ञान होने पर तो वे भगवान् से क्षमा याचना करते हैं—और शिव गणों को भी क्षमा प्रदान करते हैं।

नाटक में छोटे छोटे १४ अंक हैं। इसमें दृश्य-विभाजन की योजना नहीं है।

इस युग में भक्त सन्तों की जीवनियों को आधार बनाकर भी कुछ एक नाटककारों ने नाटक रचना की है। यद्यपि वे भक्त इतिहास प्रसिद्ध व्यक्ति हैं फिर भी उनका विवेचन ऐतिहासिक नाटकों में न कर पौराणिक नाटकों में इसलिए किया जाना चाहिए क्योंकि उनके कथानक के इतिहास पर आधारित होने पर भी उनका वातावरण सर्वथा पौराणिक है और उनकी घटनाओं एवं चरित्रों में अलौकिकता का अंश अधिक है। डाक्टर गोपीनाथ तिवारी ने अपने प्रबन्ध 'भारतेन्दुकालीन नाटक साहित्य' में गोपीचन्द तथा भर्तृहरि आदि सन्तों की जीवनियों से सम्बन्धित नाटकों का विवेचन पौराणिक धारा के अन्तर्गत ही किया है।

मथुरादास कृत **'नरसी मेहता का नाटक'** (१९१५) के दो भाग हैं। पहले भाग में पांच दृश्य है। इसमें भक्त नरसी तथा उसकी पत्नी की कृष्ण-भक्ति का चित्रण किया गया है। दूसरे भाग में चार दृश्य हैं और नाटककार ने इसे 'नरसी जी का माहिरा नाटक' संज्ञा दी है। इसमें नाटककार ने यह दिखलाने की चेष्टा की है कि किस प्रकार नरसी भक्त की दोनों कन्याएं धर्मिष्ठा और सुशीला संसार के प्रति वैराग्य धारण कर भगवत्-प्रेम में लीन हो जाती हैं। नाटक का नायक नरसी भक्त धीरशान्त है। भगवद्-भजन और साधु-सन्तों की सेवा करना ही उसके जीवन का ध्येय है।

ऐतिहासिक नाटकों में नायक

पौराणिक नाटकों के समान विवेच्यकाल में मौलिक ऐतिहासिक नाटक भी परिगणना में बहुत ही कम लिखे गये। इनमें से भी कुछ नाटक आज उपलब्ध नहीं होते। प्राप्य नाटकों में प्रसिद्ध है—गोपालराम गहमरी कृत 'बनवीर नाटक' शालिग्राम वैश्य कृत 'पुरु विक्रम नाटक,' बदरी नाथ भट्ट कृत 'चन्द्रगुप्त', सुदर्शन कृत दयानन्द नाटक तथा हरिदास माणिक का संयोगिता हरण या पृथ्वीराज नाटक।

गोपालराम गहमरी कृत '**बनवीर नाटक**' (१९१३) का आधार बंगला के प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटककार बाबू राज कृष्णराय की लिखी पुस्तक है।[1] इसमें बनवीरसिंह से राजधानी पन्ना द्वारा कुंवर उदय सिंह के प्राणों की रक्षा मे अपने पुत्र के बलिदान देने की रोमांचकारी एवं मर्मस्पर्शी घटना बड़े ही सुन्दर ढंग से तीन अंकों में वर्णित की गई है। मेवाड़ के महाराणा संग्रामसिंह के पुत्र विक्रमजित अपने सरदारों—सेनापति जगमल राव, जयसिंह, जैमूसिह का अपमान करते है और परिणामस्वरूप वे सरदार विक्रमजित के विरुद्ध हो जाते हैं। जगमल के पिता तथा प्रधान सेनापति कर्मचन्द राव उन्हे महाराणा के विरुद्ध न होने के लिए समझाते हैं। परन्तु जगमल अपने पिता के प्रति राजा के द्वारा कहे गये अपमानजनक शब्दों को बतलाते है। राजभक्त कर्मचन्द राव फिर भी उसे समझाने का प्रयास करते हैं। महाराणा विक्रम स्वयं कर्मचन्द की राजभक्ति के प्रति अविश्वास-भावना प्रकट करते है और उन्हे पशु, कपटी कह कर धक्का देकर निकाल देते हैं। जगमल अन्य सरदारों के साथ पिता के इस अपमान का बदला लेना चाहता है। ये लोग इसे बन्दी बनाकर इसके ही 'जातिभाई' बनवीर को राजा बनाने का निश्चय करते है। बनवीर इनके प्रस्ताव को अस्वीकार कर देता है, परन्तु माता शीतलसेनी के अनुरोध पर वह राजा की अपेक्षा राज-प्रतिनिधि बनने के प्रस्ताव को मान जाता है। विक्रमजित बन्दी बना लिए जाते हैं। कुंवर उदयसिंह कर्मचन्द की सहायता से जेल में उसे मिलते है। विक्रमजित कर्मचन्द से क्षमा-याचना करता है और साथ ही उदयसिंह की प्राण-रक्षा के लिए निवेदन करता है।

इधर राजप्रतिनिधि बनने के बाद बनवीर का मन बदल जाता है। जिस राज गद्दी को वह एक दिन पाप समझता था उसे ही अब वह लुभावनी शक्ति समझता है। इधर शीतलसेनी शिकरबल के साथ मिलकर विक्रमजित और उदय सिंह को मार देने का षड्यन्त्र रचती है ताकि बनवीर महाराणा बन सके और वह स्वयं राजमाता। दूसरी ओर जगमल द्वारा पन्ना, उदय सिंह और पन्ना का पुत्र चन्दन बन्दी बना लिए जाते है। शीतलसेनी द्वारा रचे गये षड्-यन्त्र के परिणाम-स्वरूप बनवीर विक्रमजित को मार कर उदय सिंह को मारने

१. नाटक के 'निवेदन' में लेखक लिखता है—
'इस नाटक के लिखने में हम बंग साहित्य के सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक नाट्य-कार स्वर्गवासी बाबू राजकृष्ण राय के बहुत ऋणी है। उन्ही की लिखी पुस्तक पढ़ने पर हमको इसके लिखने की इच्छा हुई और उसी पुस्तक के आधार पर यह तैयार भी किया गया है।'

के लिए जाता है। राजधात्री पन्ना उदयसिंह को फलों वाले खोंचे में डालकर बाहर भिजवा देती है और उसके बदले में वह अपने पुत्र चन्दन को उदय कहकर मरवा देती है। इस स्थल पर उसके मानसिक द्वन्द्व का चित्रण नाटककार ने बड़े सुन्दर ढंग से किया है। पन्ना ऐसी स्त्री के विश्व में राजभक्ति के उदाहरण स्यात् ही उपलब्ध होते हों। नाटक के 'निवेदन' में लेखक ने स्वयं उसकी राजभक्ति की प्रशंसा करते हुए कहा है—'कभी कभी कुछ नासमझों की नादानी और अनुचित करनी पर जो लोग कृतज्ञता प्रधान भारतवर्ष की राजभक्त प्रजा पर कलंक देने का विफल प्रयास किया करते हैं वे देखें और विचारें कि यहां की स्त्रियों तक में राजा की कितनी भक्ति है और एक हिन्दू रमणी राजकुमार की जान बचाने के लिए कैसे अपने प्राण-प्रिय बच्चे को भी बलि दे सकती है।'

अब शीतलसेनी अपने सभी षड्यन्त्रपूर्ण-कृत्यों के ज्ञाता एवं कर्ता शिकरबल को मिठाई में विष मिलाकर इस विचार से मारने की योजना बनाती है ताकि उसके पुत्र बनवीर को इन सब षड्यन्त्रों के बारे में कुछ भी ज्ञात न हो सके। परन्तु शीतलसेनी अपने इस षड्यन्त्र में सफल नहीं होती, क्योंकि वह मिठाई मे विष की अपेक्षा धतूरे के बीज को मिला देती है। इससे शिकरबल मरने की अपेक्षा पागल हो जाता है और रुपये-रुपये की रट लगाता फिरता है। इसी वेश में उसकी बनवीर से भेट हो जाती है। उसकी जेबो की तलाशी लेने पर शीतलसेनी द्वारा उसे इनाम देने का इकरारनामा बनवीर के हाथ लग जाता है। वह अपनी माता के समक्ष आकर उसके ऐसे कुकर्म की निन्दा करता है और स्वयं प्रायश्चित भी करता है। शीतलसेनी अपने षड्यन्त्र को असफल हुआ देखकर लोक-निन्दा के भय से विष खाकर आत्महत्या कर लेती है। बनवीर अपने पाप का प्रायश्चित करने की भावना से राजपाट छोड़कर वन में चला जाता है। वहा पर इसकी भेंट उदयसिह से होती है। कर्मचन्द राव, जगमल गव, जयसिंह और जैमू आदि सरदार भी उदयसिंह को ढूढते हुए वहा पहुंच जाते हैं। वनवीर स्वय अपनी तलवार जगमल की ओर फेंक कर उससे कहता है कि इससे मेरी हत्या कर मुझे आत्महत्या के पाप से बचाओ। उसके हृदय म प्रायश्चित की भावना देखकर कर्मचन्द राव उसे यह सुझाव देते है—'अपने अपराध का उचित दण्ड तुमने पा लिया है। लोभ, मोह, दुनिया मे रहने की अभिलाषा, विश्वासघात, नरहत्या महापातक है यह तुम जान गये हो। बस इतना ही बम है। अगर परलोक का भय हो तो इसी दम यहां मुह छिपा जावो ! किसी पवित्र तीर्थ में जाकर सदा अनुताप के आंसू से दिल की मैल धोओ ! करुणानिधान क्षमा-सिन्धु अनाथ-नाथ पापियों के भगवान् तुम को

शान्ति देंगे ।'[1] और तदनन्तर वे सभी लोग मिलकर उदयसिंह को मेवाड़ का महाराणा घोषित कर देते हैं ।

यद्यपि नाटक के कथानक में बनवीर का चरित्र अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है और नाटककार ने उसके मन का संघर्ष, उतार-चढ़ाव, सबलताओं एवं दुर्बलताओं का मनोवैज्ञानिक ढंग से विवेचन किया है, तथापि नाटक का नायक बनवीर न होकर उदयसिंह है। वैसे नाटककार ने नाटक का नाम 'बनवीर' रखकर उसे ही नायक मानने का प्रयास किया है, परन्तु नाटकीय इतिवृत्त के संघर्ष एवं फल-प्राप्ति की दृष्टि से बनवीर की अपेक्षा उदयसिंह को ही नायक मानना अधिक समीचीन प्रतीत होता है । बनवीर को जब माता शीतलसेनी के सभी षड्यन्त्रों का पता चल जाता है तब उसका हृदय आत्म-ग्लानि और अनुताप की भावना से विक्षुब्ध हो जाता है । वह माता के सभी कुकृत्यों की निन्दा करता है और स्वयं आत्मघात करने की भी सोचता है परन्तु कर्मचन्द के सुझाव पर वह आत्मघात न कर चित्तौड़ छोड़ पवित्र तीर्थों की यात्रा के लिए चला जाता है । वस्तुतः नाटककार को तो नाटक के अन्त में बनवीर जैसे खल व्यक्तियों का हृदय-परिवर्तन दिखलाना ही अभीष्ट प्रतीत होता है, उसे नायक बनाना नहीं । नाटक के अन्त में उदयसिंह ही मेवाड़ का राजा बनता है और नाटक का सारा संघर्ष भी इसी राजपद की प्राप्ति के लिए होता है जिसका उपभोक्ता उदयसिंह ही बनता है और इस दृष्टि से नाटक का नायक बनवीर की अपेक्षा उदयसिंह को ही मानना चाहिए ।

इस युग के ऐतिहासिक नाटकों में शालिग्राम वैश्य कृत **'पुरु विक्रम नाटक'** (१६०५) विशेष रूप से उल्लेखनीय है ।[2] नाटक में वीर तथा करुण रस का अद्भुत संगम हुआ है । देश प्रेम एवं स्वाधीनता की रक्षा का जितना रूप इस नाटक में स्पष्ट हो पाया है उतना अभी तक के लिखे हुए ऐतिहासिक नाटकों में नही उपलब्ध होता । नाटककार ने प्रणय-गाथा के आश्रय से जहां पुरुराज के ऐतिहासिक वीर-चरित्र को विश्वजयी सिकन्दर के समक्ष उभारा है, वहां साथ ही तक्षशील की स्वार्थपूर्ण एवं देश-द्रोही गतिविधियों से देश की स्वाधीनता कैसे खतरे मे पड़ सकती है, इसे भी स्पष्ट किया है । एक ओर राजकुमारी इलविला का प्रेम पुरुराज जैसे वीरों के लिए दायित्व एवं कर्मठता की प्रेरक-शक्ति बनता है, और दूसरी ओर तक्षशील की भगिनी अम्बालिका

---

१. बनवीर नाटक, संस्करण १६१३, पृ० १३० ।

२. डाक्टर सोमनाथ गुप्त ने अपने प्रबन्ध 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास', पृ० ६२ मे इसका रचना काल १६०६ दिया है जो गलत है ।

स्वार्थवश अपने भाई को उकसा कर सिकन्दर से सन्धि करने के लिए प्रेरित करती है। नारी पुरुष के लिए जहां प्रेरक-शक्ति है, वहां उसके लिए विघातक भी सिद्ध हो सकती है। उसका प्रणय जहां पुरुष के लिए वरदान सिद्ध हो सकता है, वहां उसकी ईर्ष्या और घृणा न केवल पुरुष के ही लिए अपितु समस्त देश के लिए अभिशाप भी बन सकती है। इलविला और अम्बालिका ऐसी ही दो विरोधी चारित्रिक विशेषताओं की प्रतीक हैं। इलविला पुरुराज से प्रणय करती है और अम्बालिका सिकन्दर से। इलविला पुरुराज की प्रेरक-शक्ति है। उसे पुरुराज की शक्ति, वीरत्व एवं साहसशीलता पर विश्वास है। वह अपनी सखी सुशोभिना से कहती है—'मुझ को भलीभांति निश्चय है कि कोई राजकुमार संसार में पुरुराज को वीरत्व में अतिक्रम नहीं कर सकता, उसके समान वीरपुरुष भारत भूमि में और दूसरा दृष्टि नहीं आ सकता, मैंने जिस प्रकार प्रतिज्ञा करी है उसमें मेरे आंतरिक प्रेम का कुछ भी परिवर्तन नहीं होगा, वरन् सम्पूर्ण राजकुमारगण उत्साहित होकर मातृभूमि की रक्षा के लिए एकत्रित होंगे, और जब सब राजकुमार एकत्रित हुए तो सिकन्दर बादशाह की असंख्य सेना के ऊपर जयलाभ की किंचितमात्र भी सम्भावना नहीं है।'[१]

इसी मातृभूमि की रक्षा के हेतु और देश के समस्त राजकुमारों को एक-सूत्र में बांधने के लिए ही इलविला अपने मन में यह प्रतिज्ञा करती है कि 'जो राजकुमार यवनों के साथ सर्वापेक्षा युद्ध में वीरत्व प्रकाश करेगा उस ही के संग मैं पाणिग्रहण करूंगी।'[२] यद्यपि उसे पुरुराज की वीरता पर विश्वास है, और उसे यह भी आशा है कि एक दिन हम दोनों का यह प्रणय-व्यापार परिणय के पवित्र बन्धन में बदल जाएगा, फिर भी वह मातृ भूमि की रक्षा के हेतु अपनी व्यक्तिगत प्रेम भावना का बलिदान कर समस्त राजकुमारों को संगठित करने के लिए और अपने स्वप्न को साकार करने के लिए ही एक ऐसी प्रतिज्ञा कर लेती है, जहां उसके लिए यह भी प्रत्याशित हो सकता है कि वह अपने प्रेमी पुरुराज को न प्राप्त कर सके। निस्सन्देह इलविला की यह प्रतिज्ञा उसके महान् त्याग एवं आदर्श की प्रतीक है।

तक्षशील भी इलविला के रूप-सौन्दर्य पर मुग्ध है और पुरुराज का प्रतिद्वन्द्वी है। इसीलिए वह मन में उसके प्रति ईर्ष्या-भाव रखता है। यद्यपि उसे अपने वीरत्व पर विश्वास नहीं है, फिर भी इलविला को पाने की इच्छा

---

१. पुरुविक्रम नाटक, संस्करण १६०५, पृ० १४।

२. वही, पृ० १४।

के कारण ही वह उसकी प्रतिज्ञा को सुन कर ही अपने हाथ में शस्त्र धारण करने के लिए विवश हो जाता है। वह अपनी बहन अम्बालिका के समक्ष इसी बात को स्वीकार करता है—'भगिनी ! मैं तुमसे कुछ नहीं छिपा सकता, अपने मन का सत्य सत्य भेद कहे देता हूं, कुल्लूक पर्वत की रानी इलविला के प्रेम-पाश में फंस कर मैं इस महायुद्ध के करने को उपस्थित हुआ हूं, भगिनी ! पूर्ण विश्वास तो मुझ को भी नहीं होता कि सिकन्दरशाह से मैं युद्ध में जय पाऊं परन्तु रानी इलविला की प्रतिज्ञा सुनकर मुझको भी अस्त्र धारण करने पड़ते है, उसने हमें यह वचन दिया है कि जो राजकुमार जन्म भूमि की रक्षा करने में सब से अधिक वीरता करेगा मैं उसके साथ अपना विवाह करूंगी, अब तू ही विचार कर देख बहन ! मैं किस प्रकार राजकुमारी इलविला के प्रेम की आज्ञा को तिलांजली दे सिकन्दर से सन्धि करूं।"[1] परन्तु अम्बालिका के द्वारा बार-बार उकसाये जाने एवं अनुरोध करने पर वह सिकन्दर के साथ मित्रता-भाव रखने के लिए तैयार हो जाता है। जब सिकन्दर और पुरुराज की सेनाओं में परस्पर युद्ध होता है, तो उस समय वह इलविला को किसी न किसी प्रकार बन्दी बनाने में सफल होता है। बन्दी इलविला को वह अपने वश में करने के लिए हर सम्भव युक्ति को प्रयोग में लाता है।

अम्बालिका उसके हस्ताक्षर करके तक्षशील के नाम पर प्रेमपत्र लिखकर अपने दूत के द्वारा पुरुराज को पहुंचा देती है, ताकि उसके मन में इलविला के प्रति किसी प्रकार, सन्देह, घृणा एवं ईर्ष्या पैदा हो जाये। उसे अपने इस उद्देश्य में सफलता भी मिलती है। दूत जब यह प्रेमपत्र घायल पुरुराज को देता है तब वह इसे पढ़कर अचेत हो जाता है। सचेत होने पर उसके मन मे अन्तर्द्वन्द्व जन्म लेता है। वह सोचता है—'अब और नहीं सही जाती, मैं जिस बात से डरता था वही हुवा ! हाय ! मैंने क्यों इस काली नागिनि को इतने दिनों से अपने हृदय में पाल रक्खा था ? मैं यह नहीं जानता था कि यह सर्पिणी मेरे ही डसने को उपस्थित है ? हा ! जो मेरा परम शत्रु उसको इस दुरात्मा ने अपना मित्र समझा उस विश्वामघातिनी को फिर मैं अपना समझूं। इस दुष्टात्मा के पीछे मुझे इतने कष्ट सहने पड़े। × × × हा ! मेरे प्राण क्यों नहीं निकल गए ? इस महारणक्षेत्र में मैं कैसे बच गया ! मेरी सब सेना मारी गई—जन्मभूमि की स्वाधीनता जाती रही,—मेरा राज्य सिंहासन छिन गया। हाय ! क्या मेरे प्रेम का सोता भी सूख गया, परन्तु क्यों मैं स्त्रियों के समान वृथा विलाप करता हूं, हे हृदय ! वीर पुरुषों के समान धीर धर, उस

---

१. पुरु विक्रम नाटक अंक-१, पृ० २५-२६।

कपट रूप सर्पिणी को भूल जा ।'[1]

पुरुराज के मन में कायरता के ऐसे विचार थोड़ी देर ही रहते हैं । एसफे-ष्टियन के सेनापतित्व में जब यवन सैनिक उसे पकड़ कर सिकन्दर के पास ले जाना चाहते हैं, तब वह और उसके सैनिक वीरता पूर्वक लड़ते है । परन्तु शीघ्र ही वह बन्दी बना लिया जाता है । वहीं पर तक्षशील भी आ जाता है । क्रोध-वश पुरुराज उसे अपने खड्ग से मार देता है । वह सिकन्दर के समक्ष ले जाया जाता है । तक्षशील की मृत्यु का समाचार सुनकर सिकन्दर को बड़ा क्रोध आता है । वह उससे कहता है 'अब तुम्हारा आखीर वक्त है, जो कुछ दिल में ख्वाहिश हो कहिये, कि किस तरह की मौत आप पसन्द करते है ? जलदी बताइये कि मैं आपके साथ इस वक्त कैसे पेश आऊं ?'[2] सिकन्दर के ऐसे वचन सुनकर पुरुराज भयभीत नहीं होते । वे अपना साहस और स्वाभिमान नहीं त्यागते । वे बड़ी निर्भकता से उसे उत्तर देते हैं—'क्षत्रिय वीर जैसे मृत्यु की कामना करते हैं वैसी मृत्यु और राजा राजा के साथ जैसा व्यवहार करते है, वैसा ही व्यवहार चाहता हूं ।'[3] पुरुराज के ऐसे वीरोचित उत्तर को सुनकर वह बड़ा आश्चर्य चकित हो जाता है । राजा के अनुरूप व्यवहार करने के लिए वह अपने सेनापति एसफेष्टियन से पुरुराज को तलवार देने के लिए कहता है । परन्तु सिकन्दर उससे द्वन्द्व युद्ध न कर कहता है—'अय बहादुर राजपूत ! तुमको जिस सजा का हुक्म होता है वह सुनो—आपने जो अपने प्राणों को बचाने के लिए बदिलो जान से कोशिश की है—और अव्वल से आखिर तक बराबर अपनी बहादुरी दिखलाते आये हो—इतने डराने पर भी आपने कुछ डर नहीं माना इस वास्ते मैं बड़ा तआज्जुब कर रहा हूं, और दिल-दिल मे आपसे निहायत खुश हुवा हूं, मैं खूब जानता हूं कि आपसे जो मैंने फतह पाई है उसका नाम असली फतह नहीं है, अपना राज आप ले लें मैं इसको नहीं चाहता, लोहे की जंजीरों से आप अभी छूट गये, अब राजकुमारी इलविला की जजीरे मुहब्बत में बन्धकर आपस में मुहब्बत से रहो, और अपना राज्य और अपना कारखाना दुरुस्त करो । बस यही सजा आपको दी जाती है ।'[4] सिकन्दर स्वयं वीर है, और उसे वीरों का सम्मान करना आता है । वह हृदय से पुरुराज की वीरता, साहसशीलता स्पष्टवादिता एवं निर्भीकता से बड़ा प्रसन्न है । इन

१. पुरु-विक्रम नाटक, अंक ५, पृ० १००-१०१ ।
२. पुरु-विक्रम नाटक, अंक ५, पृ० ११४ ।
३. वही, पृ० ११४ ।
४. वही, पृ० ११५ ।

गुणों से प्रसन्न होकर ही तो वह पुरुराज को उसका राज्य वापस लौटा देता है।

पुरुराज सच्चे अर्थों में क्षत्रिय वीर हैं। जब युद्ध में सिकन्दर के हाथ से तलवार छूट जाती है तब वह नि:शस्त्र सिकन्दर पर आक्रमण नहीं करता, क्योंकि ऐसा करना क्षत्रिय वीर के लिए उचित नहीं है। वह युद्ध में शत्रुपक्ष से लड़ना जानता है, भयभीत होकर सन्धि करना नहीं जानता। इसीलिए वह तक्षशील के सिकन्दर के साथ सन्धि कर लेने के प्रस्ताव को अस्वीकार कर देता है। वह प्रजा-पोषक एवं प्रजा-रक्षक है। वह देश भक्त है और देश की स्वाधीनता की रक्षा के लिए वह अपने प्राणों तक को बलिदान करने के लिए तैयार है। वह इलविला से कहता है—'मैं यह बात कहता हूं कि जो हमारा कोई भी सहायक न होय, और यदि सब लोग परित्याग करें, तो क्या मैं हाथ सकोड़ कर बैठ रहूं ? कभी ऐसा न होगा, स्वदेश की स्वाधीनता के लिए उस असंख्य यवन सैन्य से मैं अकेला ही संग्राम करूंगा इस संग्राम में मेरे प्राण भी जायं तो कुछ सन्देह नहीं, परन्तु यवन लोगों की यह बात मुझ से न सुनी जायगी कि भारतवासी क्षत्रियगणों को भेड़ के समान बिना प्रयास वशीभूत कर लिया।'[1]

नाटक का नायक पुरुराज रोमाण्टिक गुणों से युक्त है। प्रेमी होने के साथ-साथ वह देशभक्त, [illegible] निर्भीक, आत्म-विश्वासी, दृढ निश्चयी एवं साहसी योद्धा है। उसके हृदय में इलविला के प्रति प्रेम-भावना देश के प्रति उसके कर्तव्य एवं दायित्व-भावना को शिथिलता की अपेक्षा बल, शक्ति एव प्रेरणा प्रदान करती है। नाटककार ने यथासम्भव उसके वीर ऐतिहासिक चरित्र की रक्षा करने का सफल प्रयास किया है।

बदरीनाथ भट्ट का **'चन्द्रगुप्त'** १९१५ में लिखा गया। इसमें पांच अंक हैं। नाटककार ने इस नाटक में महाराज चन्द्रगुप्त के समय की झलक दिखलाने का प्रयत्न किया है, परन्तु उसे इस दिशा में कोई विशेष सफलता नहीं मिल सकी। नाटक के प्रथम अंक में नाटककार ने जार्ज पंचम के प्रति स्वामिभक्ति प्रकट की है जो देश काल की दृष्टि से असंगत है। नाटक का नायक चन्द्रगुप्त अपने चतुर गुरु तथा मन्त्री कौटिल्य की सहायता से अपने पिता महानन्द की हत्या करके राज्य सिंहासन प्राप्त करता है, परन्तु सेना का एक पुराना 'कप्तान' रणधीर राज्य में चन्द्रगुप्त के विरुद्ध प्रचार करके महानन्द की प्रशंसा करते हुए अराजकता फैलाता है। चन्द्रगुप्त गुप्तचरों के द्वारा उसे पकड़ कर मृत्यु दण्ड देता है, किन्तु रणधीर एक मास की अवधि मांग कर अपने गांव

---

१. पुरु विक्रम नाटक, अंक १, पृ० ४०।

जाकर स्त्री-बच्चों को देख आने तथा उनकी व्यवस्था करने के लिए इस शर्त पर चला जाता है कि वह स्वयं एक मास की अवधि पूर्ण होने तक अवश्य लौट आयेगा। उसका मित्र एक यवन व्यापारी महेन्द्र चन्द्रगुप्त को इस बात का आश्वासन दिलाता है कि यदि किसी कारणवश रणधीर निश्चित समय तक न लौट सके तो उस स्थिति में वह स्वयं उस दण्ड को सहर्ष स्वीकार करेगा। रणधीर यह प्रण भी करता है कि यदि वह किसी प्रकार जीवित रहा तो वह भविष्य में कदापि राजद्रोह नहीं करेगा। रणधीर गांव से ठीक उस समय लौटता है जबकि फांसी का फन्दा महेन्द्र के गले में पड़ने वाला होता है। चन्द्रगुप्त विदेशी महेन्द्र की सच्ची मैत्री तथा रणधीर की प्रतिज्ञापालन मे सच्ची निष्ठा देखकर उन दोनों को मुक्त कर देता है और रणधीर को सेना में उसके 'कप्तान' वाले पद पर पुनः प्रतिष्ठित कर देता है। इधर सिल्यूकस बड़ी शक्ति के साथ भारत पर आक्रमण करता है। भारत में स्थित यवन-सेना का सेनापति अलकविद्युत प्रत्यक्ष में चन्द्रगुप्त की सहायता करने का दम भरता है परन्तु विश्वासघात करता है और पकड़ लिया जाता है। सिल्यूकस भी युद्ध में पराजित होता है और परिणामतः चन्द्रगुप्त तथा सिल्यूकस दोनों में सन्धि हो जाती है जिसके अनुसार चन्द्रगुप्त उसे पांच सौ हाथी भेंट देता है और सिल्यूकस उसके बदले में उसे राज्य का कुछ भाग तथा अपनी पुत्री आथेना* भेंट करता है।

चन्द्रगुप्त नाटक का धीरोदात्त नायक है। वह प्रजाप्रिय तथा प्रजारक्षक है। उसके शासन में सुख, शान्ति एवं समृद्धि है। प्रजा प्रसन्न है। चन्द्रगुप्त की वर्षगांठ के उपलक्ष्य में हर्ष मनाते हुए एक नागरिक चन्द्रगुप्त के शासन के बारे में अपने हृदयोद्गार प्रकट करता है—

'आमद भी है बढ़ी, फौज भी बढ़ी हुई है,
सुख स्मृद्धि में जाति सदा से चढ़ी हुई है,
है आर्यों में मेल, फूट का नाम नहीं हैं,
वृथा द्रोह उत्पात, कलह का काम नहीं है।
फिर क्यों न प्रजा फूले फले, दुःख-अंधकार का नाश हो,
जब चन्द्रगुप्त का प्रकट यों शुभ फैला पुण्य-प्रकाश हो?'[१]

चन्द्रगुप्त चतुर, नीति-निपुण तथा कर्मठ राजा है। वह केवल आदेश

---

* प्रसाद जी ने अपने नाटक 'चन्द्रगुप्त' में इसका नाम कार्नेलिया तथा द्विजेन्द्र लाल राय ने अपने 'चन्द्रगुप्त' में इसका नाम 'हेलेन' दिया है।

१ चन्द्रगुप्त नाटक, संस्करण १९१५, पृ० ३।

करना ही नहीं जानता, अपितु स्वयं खड़ा होकर काम देखना और करवाना जानता है। वह युद्ध-सचिव विक्रम को स्वयं सब प्रकार का परामर्श और आदेश देता है। वह एक जागरूक शासक है। उसे इस बात का ज्ञान है कि यद्यपि अराजकता की आग दब चुकी है, फिर भी 'रणधीर' जैसी अभी कतिपय चिंगारियां अवशिष्ट हैं जो किसी समय भी सुलग कर बड़े अलाव का रूप धारण कर सकती है। नीति-निपुण होने के कारण वह यवन सेना की राजभक्ति पर न तो पूर्ण विश्वास ही करता है और न ही उन्हें इस बात की आशंका ही होने देता कि चन्द्रगुप्त को उनकी स्वामिभक्ति पर सन्देह है। यवन-सेना की भक्ति के विषय में उस की आशंका अलक विद्युत के दुष्टाचरण से साकार हो जाती है और चूंकि वह पहले से ही इस स्थिति के लिए तैयार था, अतः अलक विद्युत उसे हानि पहुंचाने में सफल नहीं होता।

चन्द्रगुप्त में एक कुशल मनोवैज्ञानिक की बुद्धि है। वह रणधीर की सच्चाई और महेन्द्र की आदर्श मित्रता की भावना को पहचान लेता है और उन्हें मुक्त कर अपनी उदारता का परिचय देता है। वह रणधीर से कहता है—'वीर रणधीर! सच्चे आर्य! मैंने तुझे विना मांगे ही जीवनदान दिया। आज से तुम मुझे अपना मित्र बनाओ।'[1] इस प्रकार वह उसके अपराध को क्षमा कर उसे सुधरने का अवसर प्रदान करता है। विश्वासघाती यवन सेनापति अलक विद्युत के मर जाने पर उसका दाह संस्कार किसी यवन द्वारा करवाकर वह अपनी उदार वृत्ति का परिचय देता है। उसमें अहंकार तो नाममात्र को भी नही है। वह युद्ध में विजय को अपनी विजय न मानकर उसका श्रेय अपने वीरों को देता है। वह कहता है—'नहीं विक्रम तुम भूलते हो, और हम भी! यह विजय तो सारी आर्य जाति की यवन जाति पर हुई, आर्यावर्त की यवनावर्त पर हुई, पूर्व की पश्चिम पर हुई, अथवा स्वतन्त्रता की परतन्त्रता पर हुई।'[2]

चन्द्रगुप्त को शक्ति और साम्राज्य दिलवाने का श्रेय चाणक्य को है। सत्तारूढ़ हो जाने पर भी चाणक्य के प्रति उसकी पूर्व जैसी प्रेम एवं सम्मान की भावना बनी रहती है।

नाटककार ने चन्द्रगुप्त के चरित्र को अपने युग के अनुरूप आदर्श रूप में ढालने का प्रयास किया है। रणधीर को क्षमा प्रदान कर वह अपनी उदारता का परिचय देता है। सिल्यूकस की पुत्री आयेना से विवाह कर वह दो

१. चन्द्रगुप्त, पृ० ६५।
२. वही, पृ० ७२।

देशों के पारस्परिक सम्बन्धों में अधिक घनिष्ठता और मैत्री भाव को बढ़ाता है।

वस्तु-गठन, चरित्र-चित्रण तथा भाषा-शैली की दृष्टि से सुदर्शन कृत **'दयानंद नाटक'** (१९१७) अत्यन्त ही साधारण रचना है। इस नाटक में नाटककार न तो ऐतिहासिकता की पूर्ण रक्षा करने में समर्थ हुआ है और न ही ऋषि दयानन्द के चरित्र को भलीभान्ति चित्रित करने में। भाषा भी हिन्दी-उर्दू मिश्रित है। संस्कृत के प्रकांड विद्वान् तथा हिन्दी के प्रबल समर्थक स्वामी जी द्वारा हिन्दी-उर्दू मिश्रित भाषा का प्रयोग करवाना पारसी रंगमंचीय शैली के तो अनुकूल था परन्तु प्रभाव की दृष्टि से इसे सराहनीय प्रयास नहीं कहा जा सकता। नाटक के प्रथम अंक में भारत माता तथा श्री कृष्ण की बातचीत से नाटककार ने पौराणिकता लाने का प्रयास किया है। जब भारत माता श्रीकृष्ण के समक्ष भारतीयों की दुर्दशा का चित्रण करती है तब श्रीकृष्ण उसे सांत्वना-पूर्ण शब्दों में इस प्रकार समझाते हैं—

'जगत में जिस समय पर रौशनी का नाश होता है।
वहीं बिजुली चमकती है वहीं प्रकाश होता है॥
इसी प्रकार जब जब पाप का प्रचार होता है।
जहां में धर्म्म जब रुस्वा सरे बाज़ार होता है॥
यह हालत देखते ही दयाल वह कर्त्तार होता है।
इशारे से किसी इन्सान का अवतार होता है॥
उसी के हाथ से संसार का उद्धार होता है॥'[1]

मानव वेश में अवतार लेने वाले ये ऋषि दयानन्द ही हैं।

यद्यपि स्वामी जी संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान्, शास्त्रज्ञाता, तर्कशास्त्री एवं हिन्दी के प्रबल समर्थक थे, परन्तु नाटककार नाटक में कहीं भी उनके इन गुणों का चित्रण नहीं करता। वे समाज सुधारक थे। उन्होंने समाज को धार्मिक रूढियों, अन्ध-विश्वासों एवं संकीर्णताओं से बाहर निकालने का सफल प्रयास किया था, परन्तु नाटक में कहीं भी उनके व्यक्तित्व का यह रूप नहीं उभारा

---

१. दयानन्द नाटक, संस्करण १९१७, पृ० १७-१८।
नाटककार ने प्रस्तुत भाव श्रीमद्भगवद्गीता से ग्रहण किया है —
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥४।७॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥४।८॥

गया। नाटक के दयानन्द भगवद् भक्त, वैदिक ग्रन्थों में ग्रास्था रखने वाले ग्रौर वेद मत के प्रचारक, दृढ़ निश्चयी, गुरू के प्रति श्रद्धा भाव रखने वाले, प्रेम एवं ब्रह्मचर्य की महिमा को प्रकट करने वाले, स्पष्टवादी सत्यप्रिय, निर्भीक एवं दयालु व्यक्ति हैं। पान में विष मिलाकर देने वाले घातक को वे उपदेश देते हुए ग्रपने जीवन दर्शन को इस प्रकार प्रकट करते हैं—'दोनों काल संध्या करो, परमात्मा का पूजन करो, पापों से बचो, मानसिक, शारीरिक ग्रौर ग्रात्मिक उन्नति करो, मांस मदिरा से घृणा करो, संस्कृत पढ़कर वेदों का स्वाध्याय करो ग्रौर प्राचीन काल को फिर लाने का यत्न करो, जो ग्रशुद्ध विचार ग्रार्य्यावर्त के लोगों के दिलों पर ग्राच्छादित हैं उनको दूर करो।

सौ सौ यह भूल करते है एक एक बात में।
काली दिखाई देती है हर चीज़ रात में।'[१]

यही घातक इन्हें विषैला पान खिलाता है। सिपाही उसे पकड़ लेते हैं, परन्तु वे उन्हें इसे छोड़ देने के लिए कह देते हैं। जगन्नाथ रसोइया भी इन्हें दूध में विष मिला कर देता है ग्रौर वह ग्रपने इस ग्रपराध को इनके समक्ष स्वीकार भी कर लेता है। फिर भी वे उसकी रक्षा के हेतु ग्रपनी ग्रोर से कुछ रुपये देकर नेपाल भाग जाने के लिए कहते है, ताकि उनके ग्रपने मरने के बाद उसके प्राणों की रक्षा हो जाये। उनमें ऋषि का हृदय है। इसलिए वे सहृदय एवं उदार हैं। नाटककार ने एक-दो स्थान पर उन्हें तर्क करते दिखाया है, परन्तु उनका यह रूप उचित रूप से नहीं उभर सका। नाटककार को उन्हें शांत, संयमी एवं उदार रूप में ही चित्रित करना ग्रभीष्ट है, जो उसकी श्रद्धा का परिचायक है।

हरिदास माणिक के **'संयोगिता हरण'** या **'पृथ्वीराज'** (१९१५) नाटक का कथानक इतिहास प्रसिद्ध पृथ्वीराज तथा संयोगिता स्वयंवर की कथा पर ग्राधारित है। पृथ्वीराज का चरित्र इतिहास सम्मत है ग्रौर वह धीरोदात्त नायक है।

सामाजिक नाटकों में नायक

भारतेन्दु युग में पौराणिक ग्रौर ऐतिहासिक नाटकों के साथ-साथ सामाजिक नाटकों की प्रवृत्ति भी ग्रंकुरित हुई थी परन्तु द्विवेदी युग में ग्राकर उसका भी सम्यक् विकास न हो पाया। इसका मुख्य कारण यही माना जा सकता है कि सुधारयुग होने के कारण इस युग के नाटककारों का ध्यान वर्तमान की

---

१. दयानन्द नाटक, पृ० ८६-८७।

अपेक्षा अतीत की ओर ही अधिक रहा। दूसरे, भारतेन्दु के समान प्रबल व्यक्तित्व के अभाव के कारण इस युग के नाटककारों को नाटक रचना की ओर प्रेरणा देने वाला कोई नहीं था। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ही एक मात्र ऐसे व्यक्ति थे, जिन्होंने अनेक लेखकों को साहित्य रचना की ओर प्रेरित किया, परन्तु उनका अपना क्षेत्र केवल आलोचना एवं भाषा सुधार का रहने के कारण नाटक रचना की ओर न तो वे स्वयं ही प्रवृत्त हुए और न ही वे अन्य लेखकों को इस दिशा में प्रवृत्त कर सके। वैसे भी इस युग के लेखकों की प्रवृत्ति मूलत: आदर्शवादी थी। अत: ऐसी स्थिति में सामाजिक नाटक-रचना की ओर नाटककारों का ध्यान न जाना समीचीन ही प्रतीत होता है।

इस युग के सामाजिक नाटकों में केवल चार नाटक ही उल्लेखनीय हैं—आनन्द प्रसाद खत्री का 'कलियुग', बदरीनाथ भट्ट का 'चुंगी की उम्मीदवारी', मिश्रबन्धुओं का 'नेत्रोन्मीलन' तथा प्रेमचन्द का 'संग्राम'।

मनुष्य की अर्थलिप्सा, कृतघ्नता एवं स्वार्थपरता का रोमांचकारी चित्रण आनन्दप्रसाद खत्री ने अपने **'कलियुग'** नाटक (१९१२) में किया है। यह नाटक शेक्सपियर के 'किंग लियर' के कथानक पर आधारित है। नाटक की भूमिका में नाटककार लिखता है—'मुझ से पहिले बहुत से मेरे अथवा हिन्दी प्रेमी यही कहते थे कि कोई ऐसा नाटक हिन्दी में लिखो जो सर्व सज्जन को प्रिय हो। परन्तु मैं सदा इस बात को सोचता रहा कि आजकल तो पारसी ढर्रा चला है फिर हिन्दी नाटक लोगों को कैसे प्रिय होगा। थोड़े दिनों पश्चात् मैंने यही विचारा कि ऐसा नाटक कोई अवश्य लिखना चाहिए जिसकी भाषा तो हिन्दी हो पर उसकी शैली पारसी की हो। उसी समय मेरे एक मित्र ने इंगलैंड के विख्यात कवि गुरु शेक्सपियर के किंग लियर नामक नाटक का स्मरण कराया मैंने तत्काल ही उसको लिखना आरम्भ कर दिया। नागरी नाटक मण्डली उसी नाटक को खेलना चाहती थी इस कारण मैंने बड़ी शीघ्रता से इस कार्य को पूरा किया और आज आप लोगों के सामने रखता हूं। यह नाटक पारसी स्टाइल पर लिखा गया है परन्तु हिन्दी में है।'

यद्यपि नाटक का कथानक शेक्सपियर के किंग लियर से लिया गया है, फिर भी नाटककार ने पात्रों के नाम भारतीय दिये है। नाटक का आरम्भ भी सस्कृत नाटकों की तरह मंगलाचरण, सूत्रधार आदि से होता है। परन्तु वातावरण किंग लियर जैसा ही है। माधवी और तारा अपने पिता राजा सुरेन्द्र सिंह का राज्य पाने के लिए उसके प्रति चाटुकारितापूर्ण स्नेह दिखाती हैं और बाद में उसके साथ उपेक्षा एवं क्रूरता का व्यवहार करती है। ऐसी स्थिति में सुरेन्द्र सिंह की तीसरी बेटी कमला ही उसकी सहायक बनती है, जिसे उसने एक दिन

प्रतिनिधित्व करता है। वह व्यक्तिगत स्वार्थ एवं आर्थिक लाभ के लिए चुनाव लड़ता है। उसकी दृष्टि में चुनाव लड़ने के लिए केवल 'चिट्ठी पत्तरी लिख वांच सकने' की योग्यता ही पर्याप्त है। वह पैसे देकर वोट खरीदने के लिए भी तैयार हो जाता है। अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए वह लोगों के घर-घर घूमता है, दूर-पास की रिश्तेदारियां खोजता है और जात बिरादरी की दुहाई देता है। अफसरों को घूंस और उपहार देता है। इस प्रकार नाटककार ने सामाजिक यथार्थ के धरातल पर नायक सुगनलाल की चारित्रिक विशेषताओं को उभारा है।

अभी तक अदालत सम्बन्धी [illegible] को किसी भी नाटककार ने नाटक का विषय नहीं बनाया था। पण्डित श्याम बिहारी मिश्र तथा पण्डित शुकदेव विहारी मिश्र पहले नाटककार हैं जिन्होंने 'नेत्रोन्मीलन' नाटक (१९१४)[1] की रचना कर नाट्य-जगत् को एक नया विषय प्रदान किया। इस नाटक में पुलिस अधिकारियों की घूंस खोरी, वकीलों के छल-छिद्रपूर्ण व्यवहार तथा अदालत की अन्य गतिविधियों का लेखक ने अपने अनुभवों के आधार पर चित्रण किया है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से यह नाटक अत्यन्त ही साधारण रचना है। पांच अंकों के इस नाटक में पात्रों की संख्या साठ से अधिक है। नाटक का आरम्भ डिगरी और दखल-दिहानी की कारवाई से होता है, जिसका निर्णय अन्त में हाईकोर्ट में होता है। नाटककार ने किसी भी पात्र को प्रधान पात्र के रूप में नहीं लिया। चरित्र-चित्रण की अपेक्षा उमका ध्यान अदालत की गतिविधियों पर ही अधिक केन्द्रित हुआ है। गोपाल राम गहमरी कृत 'देश दशा' नाटक के समान यह नाटक भी नायक विहीन है। इसके पात्र हिन्दू और मुसलमान दोनों है। नाटक में हिन्दी की अपेक्षा अदालती उर्दू का ही अधिक प्रयोग हुआ है।

प्रेमचन्द का **'संग्राम'** नाटक (१९१८) वस्तु तत्व एवं चरित्र-चित्रण की दृष्टि से अत्यन्त ही शिथिल रचना है। नाटक में पात्रों की इतनी बहुलता है कि नाटक के नायक किसान हलधर का चरित्र भी ठीक ढंग से चित्रित नहीं हो पाया।

प्रेम प्रधान नाटकों में नायक

सामाजिक चेतना से अनुप्राणित इस युग में स्वच्छन्द प्रेम की समस्या को

---

१. डाक्टर सोमनाथ गुप्त ने अपने प्रबन्ध 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास' (पृ० ९५) में इसका रचनाकाल गलती से १९१५ दे दिया है।

लेकर केवल कन्हैया लाल कृत **'रत्नसरोज नाटक'** (१९०७)[1] ही उपलब्ध होता है। कला की दृष्टि से इस नाटक में नाटकीयता की अपेक्षा औपन्यासिक तत्वों की प्रधानता है। नाटक का घटना तन्त्र तो घटना-प्रधान औपन्यासिक शिल्प के अधिक अनुकूल है।

सूर्यपुर के राजा सूर्यकान्ति का पुत्र सरोजकुमार अपने सखा वीरसेन के साथ शिकार के लिए वन में जाता है। इसी वन में कुसुमपुरी के राजा विश्वसेन का एक अधिकारी चन्द्रकीर्ति की बेटी रत्नकुमारी को बलपूर्वक विश्वसेन के पास ले जाना चाहता है। सरोज रत्नकुमारी को उससे मुक्त करवाता है। दोनों एक दूसरे के प्रति आसक्त हो जाते हैं। इसी वन में चन्द्रकीर्ति के कुछ व्यक्ति सरोज को बन्दी बनाकर ले जाते हैं। रत्नकुमारी की सखी श्रृंगारवती उसकी विरहाग्नि को शान्त करने के लिए सरोज को किसी न किसी प्रकार उससे मिला देती है। उसी समय राजा विश्वसेन के सैनिक आक्रमण कर देते हैं। सरोज रत्नकुमारी तथा उसकी सखी को सुरंग के मार्ग से भगा देता है और स्वयं उन सैनिकों का मुकाबला करता है। वे सरोज, रत्नकुमारी के पिता चन्द्रकीर्ति तथा माता चम्पादेवी को बन्दी बना लेते हैं। इधर वन में अचेत हुई रत्नकुमारी तथा श्रृंगारवती को पांच डाकू उठा ले जाते हैं। रत्नकुमारी बड़ी युक्ति से उनमें परस्पर युद्ध करा देती है और स्वयं कुएं में कूद कर आत्महत्या कर लेना चाहती है। उसी समय वीरसेन तथा भद्रसेन के वहां आ जाने से सभी डाकू भाग जाते हैं। वीरसेन रत्नकुमारी को कुएं से बाहर निकाल उसे अपने घर ले आता है और कुछ दिनों बाद उसे अपने साथ विवाह करने के लिए विवश करता है। श्रृंगारवती की सहायता से वह वहां से पुरुष वेश में भाग निकलने में सफल होती है। वह राजा विश्वसेन के यहां अपने माता-पिता तथा प्रेमी को छुड़वाने के विचार से जाती है जो पहले से ही जयदेव की सहायता से वहां से भाग निकलने में सफल होते हैं। विश्वसेन उसके गुणों से मोहित होकर उसे अपना मन्त्री नियुक्त कर लेता है और अपनी पुत्री मनोरमा के साथ उससे विवाह करने के लिए प्रार्थना करता है और प्रतिज्ञा करता है कि विवाह के उपरान्त मैं अपना राज्य भी तुम्हें सौंप दूंगा। रत्नसेन (रत्नकुमारी) विश्वसेन से बदला लेने का सुअवसर जानकर इस शर्त पर मनोरमा से विवाह करने को तैयार हो जाता है कि छः मास तक वह उससे रतिदान नहीं मांगेगी। दोनों का

---

१. इस पुस्तक का रचनाकाल १९०७ तथा प्रकाशनकाल १९०९ है। डाक्टर सोमनाथ गुप्त ने अपने प्रबन्ध 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास' में इसका रचनाकाल भूल से १९१० दे दिया है—देखिए पृ० ९५।

विवाह हो जाता है और रत्नसेन को राज्य मिल जाता है। अवधि पूरी होने के दिन ही सूर्यकान्ति की सेना कुसुमपुर पर आक्रमण कर देती है। रत्नसेन मनोरमा को उनसे सन्धि करने के लिए तैयार कर लेता है। मनोरमा और उसके पिता विश्वसेन भी सूर्यकान्ति से मिलने के लिए जाते हैं। वहां पर विश्वसेन अपने अपराध को स्वीकार करता हुआ चन्द्रकीर्ति का राज्य उसे वापस लौटा देता है। रत्नसेन अपने पुरुष वेश को उतारकर रत्नकुमारी के रूप में अपने वृद्ध माता-पिता से मिलती है। मनोरमा को उसके इस छल पर बड़ा शोक होता है। उस समय उसे सांत्वना देती हुई रत्नकुमारी कहती है—'बहन सावधान ! क्षमा करौ ! क्षमा करौ ! मैंने तुमको बड़ा धोखा दिया है क्षमा करौ— निराश मत हो। मुझसे भी अधिक सुन्दर कुंवर जी आपका पाणिग्रहण करेंगे—और मैं इन सर्व सज्जनों के समक्ष प्रतिज्ञा करती हूं कि आपकी बहन होकर रहूंगी।'[1] इसके पश्चात् सूर्यकान्ति तथा अन्य उपस्थित व्यक्तियों की अनुमति से मनोरमा और रत्नकुमारी का विवाह सरोज से हो जाता है। नाटक के अन्त में रत्नकुमारी की अनुमति से श्रृंगारवती का विवाह वीरसेन से हो जाता है।

इस नाटक में स्वच्छन्द प्रेमजनित दो समस्याओं को उठाया गया है—अधेड़ उम्र के विश्वसेन का रत्नकुमारी के साथ विवाह करने की लालसा का नाटककार ने विरोध किया है और दूसरे पुरुष द्वारा बहु विवाह का समर्थन। सामाजिक जीवन की सुख-समृद्धि के लिए ये दोनों ही बातें अच्छी नहीं कही जा सकतीं। अधेड़ उम्र के पुरुष का युवा लड़की के साथ विवाह करने से भी अनेक दोष पैदा हो जाते हैं। पारिवारिक एवं यौन सुख के लिए इस प्रकार के बेमेल विवाह दुःख एवं विपत्तियों का ही कारण बनते हैं। इसी प्रकार पुरुष द्वारा बहु-विवाह की प्रथा भी कोई स्वस्थ सामाजिक एवं नैतिक परम्परा नहीं मानी जा सकती। नाटक के घटना तन्त्र में भी कई अस्वाभाविक एवं हास्यास्पद घटनाएं देखी जा सकती हैं—यथा वीरसेन का श्रृंगारवती को ही रत्नकुमारी के रूप में ग्रहण करना, रत्नकुमारी का पुरुष वेश में विश्वसेन के यहां जाकर मन्त्रित्व पद को ग्रहण करना तथा उसकी बेटी मनोरमा से विवाह करना, रत्नकुमारी का पुरुष वेश में अपने माता-पिता तथा सरोज से मिलना और उन सब का उसे न पहचानना, नाटक के अन्त में सरोज द्वारा रत्नकुमारी तथा मनोरमा को स्वीकार कर लेना आदि।

सरोज नाटक का रोमांटिक नायक है। वह वीर, पराक्रमी, साहसी एवं

---

१. रत्नसरोज नाटक, अंक ५, संस्करण १६०६; पृ० ६८।

निर्भीक है। विकट से विकट परिस्थिति में भी वह अपने धैर्य को नहीं छोड़ता। वह रत्नकुमारी को विश्वसेन के अधिकारी से मुक्त करवाता है। विश्वसेन के व्यक्ति जब चन्द्रपुर पर आक्रमण करते है, उस समय वह अकेला उनका मुकाबला करता है, डर कर भाग नहीं जाता। उसमें प्रेमी का हृदय भी है। रत्नकुमारी के प्रति प्रथम भेंट में ही आसक्त हो जाता है। वह अपने मित्र वीरसेन को, जिसकी स्त्रियों के प्रति अरुचि है, समझाता है कि गृहस्थ सुख स्त्री से ही प्राप्त हो सकता है। वह कहता है—'मालूम होता है कि अभी तुमको इस विषय में पूरा ज्ञान नहीं है। स्त्री ही घर की मूल है, यदि स्त्री पुरुष में परस्पर प्रीतिभाव रहे और पातिव्रत का पालन किया जाय तो स्वर्ग का सुख भी गृहस्थाश्रम से बढ़कर नही है। 'नष्टे मूले नैव वृक्षो न शाखा' जब जड़ ही नहीं तो वृक्ष और शाखा कैसे रह सकते है फल तो मिले ही कहां से ? गृहस्थाश्रम सुख के लिए है और वह सुख स्त्री से ही प्राप्त होता है। उस मनुष्य का जीवन क्षुद्र है जिसने मनुष्य जन्म पाकर पवित्र प्रेम से लाभ नहीं उठाया। हे मित्र ! दूसरे की आत्मा से निज आत्मा को मिला देना जिसने नहीं सीखा वह मनुष्य नहीं और जिसने जन्म लेकर यह नहीं जाना कि प्रीति क्या वस्तु है, वह पशु से भी बढ़कर है। विशुद्ध प्रेम का कोई मूल्य नहीं बड़े-बड़े जौहरी भी उसका मूल्य नहीं कर सकते। संसार में स्त्री पुरुष का जोड़ा स्वभाव से ही उसकी वृद्धि के लिए उत्पन्न हुआ है। इसके विरुद्ध करना स्वभाव के नियम से विरुद्ध चलना है।'[1]

सरोज निरुद्यमी नहीं है। रत्नकुमारी से बिछुड़ जाने पर भी वह उसकी खोज में प्रयत्नशील रहता है। उसका यह विश्वास है कि 'उद्योगी के पास असम्भव भी अपना आकार छोड़ देता है।'[2] यही कारण है कि संकट की स्थिति मे भी वह निराश नही होता। वह बड़ों का सम्मान करने वाला एवं माता-पिता का आज्ञाकारी है। वह रत्नकुमारी के माता-पिता को अपने माता-पिता सदृश ही सम्मान देता है। पिता की आज्ञा से ही वह रत्नकुमारी की प्रार्थना पर मनोरमा को स्वीकार करता है। यद्यपि उसकी प्रेमिका रत्नकुमारी है, परन्तु विवाहोपरान्त वह दोनों पर एक सा प्रेमभाव रखता है और सुखी जीवन व्यतीत करता है।

नाटक में पांच अंक हैं। आरम्भ में नान्दी-पाठ भी है। वस्तु-तत्व अधिक जटिल है। स्थान-स्थान पर नाटककार ने अन्य कवियों के पद्यांशों से उद्धरण

---

१. रत्नसरोज नाटक; अंक १ संस्करण १६०६, पृ० ११।

२. वही, अंक ४, पृ० ८१।

उद्धृत किये हैं ।[1]

वर्तमान समाज के धनी लोगों एवं फकीरों की दशा दिखाने हेतु श्री १०८ पण्डित केशवानन्द स्वामी ने १९११ में **'लीला विज्ञान विनोद नाटक'** लिखा जो १९१२ में मुरादाबाद से प्रकाशित हुआ । इसमें आठ अंक हैं और लेखक ने नान्दी-पाठ प्रथम अंक के पूर्व न देकर उसी के अन्तर्गत ही दे दिया है। नाट्यशिल्प की दृष्टि से यह नाटक अत्यन्त ही साधारण रचना है—नाटक का नायक विज्ञान है—जो जरा, मरण, मान, अपमान, हर्ष-शोक, क्षुधा, पिपासादि रोगों से रहित है । मल-मूत्र से रहित उसकी शुद्ध देह है । उसकी पत्नी लीला भी जन्म-रहित है इसीलिए उसे अजा भी कहते है । सारे संसार की उत्पत्ति उसी से होने के कारण उसे प्रकृति भी कहते हैं । नाटककार ने विज्ञान को शुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप निर्विकल्प चैतन्य मन कहा है । नाटक वेदान्त दर्शन पर आधारित है। नाटक के अन्त में सूत्रधार नटी से कहता है—'प्यारी ! मैं आपका धन्यवाद करता हूं । आपने बड़ा अद्भुत वेदान्त का अत्युत्तम नाटक किया । आज तक ऐसा नाटक किसी नाट्यशाला में नहीं हुआ । 'लीला-विज्ञान-विनोद नाटक' उपदेशरूप परम रमणीय है । देखिये कैसी अनोखी रचना की है इसकी कि—शुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप निष्क्रिय निर्विकल्प चैतन्य रूप विज्ञान घन है । उसकी अनादि शक्ति माया अभिन्नरूपता से विज्ञान के आश्रित है । जैसे अग्नि की दाहशक्ति अग्नि में अनिवर्चनीय रूप से स्थित है अर्थात् है भी और नहीं भी । यदि कहा जाय कि अग्नि में दाहशक्ति है सो सर्वगत सामान्य अग्नि काष्ठादिकों को दाह क्यों नहीं करती । और जो कहा जाय कि नहीं है तो अग्नि के स्पर्श से दाह न होना चाहिए सो होता है । इस कारण अग्नि में दाहशक्ति अनिवर्चनीय है इसी प्रकार ब्रह्म में माया अनिवर्चनीय है । यदि कहा जावे कि है तो ब्रह्म शुद्ध स्वरूप निर्विकार चैतन्यधन, उसमें माया को अवसर कहां ? और जो कहा जाय कि नहीं है तो उसका कार्य संसार प्रत्यक्ष प्रतीत हो रहा है । इससे अनिवर्चनीय है। जिस पूर्ण ब्रह्म में माया नहीं सो मन वाणी से परे है । और जिस किसी किंचित् अंश में माया आरोपित रूप है सो वहां लीला के निमित्त लीला देवी रूप से प्रकट हुई और ब्रह्म विज्ञान रूप है।

---

१. वही अंक २, पृ० २४ । ये दोनों दोहे विहारी के हैं—

रत्नकुमारी —'जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सो बीत बहार ।
अब अलि रही गुलाब की, अपत कटीली डार ।।

सरोजकुमार—'इहि आशा अटक्यो रहै, अलि गुलाव के मूल ।
ऐहैं फेर बसन्त ऋतु, इन डारन वे फूल ।।'

उन दोनों से दो वंश चले—एक दैवी रूप दूसरा, आसुरी रूप; लीला देवी लीला के निमित्त विज्ञान देव से सत्ता लेने को क्षुब्ध चित्त होने के कारण प्रथम आसुरीय वंश को उत्पन्न करती भयी। फिर उस विज्ञान घन के सम्बन्ध से परम पावन हुई २ दैवी वंश को उत्पन्न करती भयी। प्रथम आसुरीय वंश की बल्ली अमीरी (प्रवृत्ति) को उत्पन्न किया। पश्चात् दैवी वंश की बल्ली फ़कीरी (निवृत्ति) को उत्पन्न किया।

'प्रवृत्ति ने धन देव के सम्बन्ध से संसार पुत्र को उत्पन्न किया और वह संसार कुसंग के प्रभाव से कुनारी ख्वारी नारी के साथ सम्बन्ध कर निर्वंश हुआ। और फकीरी देवी ने मन देव के साथ सम्बन्ध कर विचार पुत्र को उत्पन्न किया। सो विचार सत्संग के प्रभाव से सुन्दर नारी आरामदारी के साथ सम्बन्ध कर अपने वंश को अटल करता भया कि—जिस विचार देव का प्रभाव वर्तमान है और सदैव रहेगा और सो आसुरी वंश अपने प्रकृति गुण के प्रभाव से अत्यन्त दुःखित होकर दैवी वंश का आश्रय ले, सत्संग के प्रभाव से आसुरी भाव को त्याग, दैवी वंश में लय हो गया। सो दैवी वंश अपना प्रभाव धर्मात्माओं में बीजारोपण कर लीला मात्र विज्ञान में लय हो गया और लीला भी अपनी लीला को समेट, विज्ञान घन में लय हो गई। विज्ञान घन स्वयं सिद्ध निराधार है।

'हे दर्शक वृन्द ! देखिये, कैसा गहर गम्भीर आशय इस नाटक में है। धन्य है, श्री मद्विद्यादिवाकर महानुभाव को कि जिसने अपनी कारुण्य दृष्टि से प्राकृत पुरुषों पर परमोपकारार्थ यह नाटक उपदेश किया कि जो आप लोगों के सम्मुख हुआ।'[1]

इसके अतिरिक्त परमेश्वर कृत **रूपवती** (१९०७), हरिनारायण चतुर्वेदी कृत कामिनी कुसुम (१९०७) तथा हरिहर प्रसाद जिजल कृत **कामिनी मदन** (१९०७) नाटक भी लिखे गये, परन्तु नाटकीयता की दृष्टि से वे कोई विशेष महत्व नहीं रखते।

उपसंहार

भारतेन्दु युग में नाटक साहित्य का जिन नयी दिशाओं में आविर्भाव हुआ था, उनका सम्यग् विकास इस युग में अभीप्सित था, परन्तु ऐसा नहीं हुआ। न केवल नाटक के क्षेत्र में अपितु साहित्य की अन्य विधाओं के क्षेत्र में भी गत्यवरोध की सी स्थिति आ गई। हिन्दी साहित्य के इस अभाव काल में नाटककारों का ध्यान मौलिक रचना की अपेक्षा अनुवाद कार्य की ओर ही

---

१. लीला-विज्ञान विनोद नाटक, अंक ८, संस्करण १९१२ पृ० १३९-१४३।

अधिक गया। इस युग में सामाजिक नाटकों की अपेक्षा पौराणिक तथा ऐतिहासिक नाटक संख्या में अपेक्षाकृत अधिक उपलब्ध होते हैं। पौराणिक नाटकों में अधिकांश नाटक रामलीला तथा रासशैली के हैं। रामचरित सम्बन्धी नाटकों में पण्डित जयगोविन्द शर्मा कृत 'राम विनोद नाटक' तथा गिरिधर वकील कृत 'राम वन यात्रा नाटक' तो पूर्व-भारतेन्दु युग की नाटकीय-काव्यों की परम्परा में आते है। राम चरित सम्बन्धी इन नाटकों में राम को अवतार अथवा धीरोदात्त रूप में ही चित्रित किया है केवल चन्दन लाल अग्रवाल कृत 'नाटक धर्म प्रकाश' अथवा राम जानकी चरित्र में मर्यादा पुरुषोत्तम राम अवतारी होते हुए भी नर देह में लोक लीला करते हैं। इन सभी नाटकों का आधार रामचरितमानस अथवा अध्यात्म रामायण है। भावसाम्य की दृष्टि से 'सीय स्वयंवर' नाटक का लेखक स्थान-स्थान पर तुलसी के 'मानस' का ऋणी है।

कृष्णचरित सम्बन्धी केवल दो नाटक ही उपलब्ध होते हैं—मथुरादास का 'रुक्मिणी हरण' तथा माखनलाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन युद्ध'। पहले नाटक का आधार हरिऔध का 'रुक्मिणी परिणय' है। इसमें नायक कृष्ण को जहां 'पूर्ण ब्रह्म अवतारी' रूप में चित्रित किया गया है वहां साथ ही उनके धीरललितत्व स्वरूप को भी उभारा गया है। फिर भी नाटक के नायक कृष्ण पारसी प्रभाव से नहीं बच सके। नाटक के ग्यारहवें दृश्य में वे रुक्म से कहते हैं—

'बक बक कातर करत हैं, जड़मति मंद गंवार।
तज बकवादहि कीजिये, जलदी हम पे वार।।

वर्ण्य विषय-वस्तु एवं चरित्र-चित्रण की दृष्टि से 'कृष्णार्जुन युद्ध' बड़ी महत्वपूर्ण कृति है। अभी तक कृष्ण और अर्जुन सम्बन्धी जितने भी नाटक लिखे गये, उनमें अर्जुन को कृष्ण के भक्त एवं अनन्य सखा के रूप में ही चित्रित किया गया था। कृष्ण और अर्जुन में कभी युद्ध भी संभव हो सकता है, हिन्दी-प्रेमियों एवं भक्तों के लिए यह बड़ी विचित्र एवं औत्सुक्य की बात थी। परन्तु ऐसा हुआ और इसका श्रेय देवर्षि नारद को दिया जा सकता है जो नाटक के नायक हैं। नारद एक कर्मठ समाज-सेवी के रूप में सामाजिक अन्याय एवं अत्याचारों को दूर करने का बीड़ा उठाते हैं और इस प्रकार सामाजिक एवं नैतिक भावनाओं का परिष्कार करते हैं। यह विषय द्विवेदी युग की सुधारवादी प्रवृत्ति एवं राजनैतिक चेतना के पर्याप्त अनुकूल एवं सामयिक था। इसके अतिरिक्त नटी द्वारा तार निकालना, सूत्रधार का स्वयं सेवा को 'योरोपीय पौधा' कहना जिसको लाने का श्रेय अंग्रेज़ सरकार को है, चित्रसेन का विमान द्वारा यात्रा करना आदि बातें पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव स्वरूप नाटक में

समाविष्ट हो गई हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि युग का नाटककार अपने पौराणिक नाटकों में पौराणिकता की केंचुल को उतार कर सामयिक प्रभाव को ग्रहण कर रहा है।

इस युग के अन्य पौराणिक नाटकों में दो प्रकार के नायक मिलते हैं। पहली कोटि के नायक भारतीय-नाट्यशास्त्र के नियमानुकूल धीरोदात्त एवं धीरशान्त और आदर्श हैं। 'वीर अभिमन्यु' का अभिमन्यु, 'भीष्म' का भीष्म तथा 'नारद गर्व प्रहार' नाटक का नारद इसी कोटि के नायक हैं। दूसरी प्रकार का नायक सर्वगुण सम्पन्न होता हुआ भी आदर्श पात्रों की कोटि में नहीं आता। नाटककार ने उसे दुर्बल नायक के रूप में चित्रित किया है। 'चन्द्रहास' नाटक का चन्द्रहास इसी कोटि का है, जिसे नाटक का अभीप्सित फल संयोग से प्राप्त हो जाता है और जिस पर नियति की अनुकम्पा बराबर बनी रहती है। संघर्ष और पुरुषार्थ ये दोनों ही गुण उसके जीवन में नहीं हैं। भारतेन्दु तथा द्विवेदी युग के समस्त नाटकों में 'वेणुसंहार' के समान 'चन्द्रहास' नाटक भी एक अपवाद है, जिसमें नाटककार ने नायक सम्बन्धी परम्परा एवं रूढ़ि का पालन न कर उसे सामयिक जीवन के अनुरूप नयी दृष्टि से चित्रित करने का प्रयास किया है। हमें अपने समाज में ऐसे अनेक व्यक्ति देखने को मिलेंगे, जो अपने व्यावहारिक जीवन में नितान्त निष्क्रय एवं निश्चेष्ट हैं, परन्तु देव की कृपा से वे जीवन के सभी प्रकार के सुखोपभोग भोगते हैं। उनका न तो कोई व्यक्तिगत चिन्तन एवं आचरण होता है और न ही उनके हृदय में सामाजिक परिवेश की प्रतिक्रिया स्वरूप किसी प्रकार की अनुभूति जाग्रत होती है। वे तो मात्र मिट्टी के माधो बन कर ही समाज में विचरते हैं। ऐसे दुर्बल चरित्रों को भी नाटक का नायक बनाकर आज का नाटककार उसे संकीर्णता के वृत्त से निष्कासित कर जीवन के व्यापक एवं सामान्य धरातल पर खड़ा कर अपनी उदारता का परिचय दे रहा है। इस दृष्टि से गुप्त जी के 'चन्द्रहास' का विशेष महत्व है।

अभी तक नाटकों में सत् पात्रों को ही आदर्श नायक के रूप में चित्रित किया जाता था, लेकिन वेणु संहार का लेखक इस परम्परा का पालन न कर राजा वेणु को नायक रूप में चित्रित करता है जो बाद में ऋषियों के द्वारा अपनी अविवेकशीलता एवं प्रजा के प्रति आततायी एवं अत्याचारी प्रवृत्ति के कारण विनाश को प्राप्त होता है। 'वेणु' जैसे पात्र को नाटक का नायक बनाकर नाटककार यही दिखलाना चाहता है कि प्रजा-पीड़क एवं अत्याचारी राजा अथवा शासक वर्तमान समाज में भी सह्य नहीं है। बंग-भंग के आन्दोलन ने समस्त भारतीय जनता को अंग्रेज़ सरकार के प्रति असंतुष्ट एवं विक्षुब्ध बना दिया था। राजा अथवा शासक को अपने राजपद एवं सत्ता को बनाये रखने

के लिए यह अनिवार्य है कि वह अपनी प्रजा को प्रसन्न रखे। क्योंकि प्रजा से ही राजा अथवा शासक का पद बना रहता है, अतः उसके सुख-दुःख का बराबर ध्यान रखना एक अच्छे शासक का कर्तव्य बन जाता है और जो शासक प्रजा के सुख-दुःख एवं उसकी भावना को उपेक्षित दृष्टि से देखता है उसका परिणाम अन्ततोगत्वा वेणु जैसा ही होगा। यही इस नाटक का संदेश है।

यद्यपि भारतेन्दु युग के अधिकांश ऐतिहासिक नाटकों में लेखकों का ध्यान ऐतिहासिक वातावरण की निर्मिति की अपेक्षा नायक की चारित्रिक उदात्तता की ओर अधिक गया, फिर भी कई एक नाटककारों ने नायक की सबलताओं एवं दुर्बलताओं का चित्रण कर उसे मानव जीवन के अधिक निकट लाने की चेष्टा की है। 'योबन योगिनी' के पृथ्वीराज तथा 'महाराणा प्रताप' के प्रताप के चरित्र इसी कोटि के हैं। नाटककार ने पृथ्वीराज को तो दुर्बल नायक के रूप में चित्रित किया है। द्विवेदी युग में आकर यह प्रवृत्ति विशेष रूप से उभरी और नाटककारों ने यथासम्भव ऐतिहासिक वातावरण के निर्माण में भी ध्यान दिया। 'दयानन्द' नाटक इस बात का अपवाद माना जा सकता है जिसमें नाटककार को ऐतिहासिक वातावरण को बनाने में सफलता नहीं मिल सकी। इस युग में देश-प्रेम एवं राष्ट्रीय चेतना से अनुप्राणित 'पुरु-विक्रम' जैसे नाटक लिखे गये। इलविला का सिकन्दर के विरुद्ध देश के राजकुमारों को संगठित करने का प्रयास, पुरुराज की देश भक्ति और देश की स्वतन्त्रता को स्थिर रखने के प्रयत्न निस्सन्देह स्तुत्य हैं परन्तु इस नाटक में लेखक ने यह दिखलाने की चेष्टा ही नहीं की, अपितु सभी भारतवासियों को सतर्क किया है कि हम लोग विश्व के किसी भी विदेशी शत्रु का सामना करने में असमर्थ नहीं है, यदि हमारे ही देश में तक्षशील और अम्बालिका जैसे देशद्रोही न पैदा हों। भारतेन्दु युग के ऐतिहासिक नाटकों के नायक आदर्श (धीरोदात्त आदि), यथार्थ और दुर्बल चरित्र के थे परन्तु इस युग में वे धीरोदात्त, रोमांटिक तथा प्रगतिशील प्रकार के हैं। 'बनवीर नाटक' का बनवीर, 'चन्द्रगुप्त' का चन्द्रगुप्त धीरोदात्त नायक हैं परन्तु पुरु-विक्रम' का 'पुरुराज रोमांटिक तथा 'दयानन्द' नाटक के नायक दयानन्द समाज सुधारक होने के कारण प्रगतिशील हैं। यहां एक बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि द्विवेदी युग से पूर्व सामयिक महान् व्यक्तित्व को आधार बनाकर नाटक-रचना की ओर लेखकों का ध्यान नहीं गया था। सुदर्शन कृत 'दयानन्द' स्यात् ऐसी प्रथम रचना है जिसमें नाटककार ने अपने युग के महान् व्यक्तित्व, तर्कशास्त्री, प्रकाण्ड पण्डित एवं समाज सुधारक को नाटक का नायक बनाया और अन्य लेखकों को इस प्रकार की नाटक-रचना के लिए प्रोत्साहित किया।

इस युग में सामाजिक नाटक बहुत ही कम मिलते हैं। प्रेम प्रधान नाटकों में 'रत्नसरोज' और समस्याप्रधान नाटकों मे 'कलियुग', 'चुंगी की उम्मीदवारी' तथा 'नेत्रोन्मीलन' ही मिलते है। 'रत्नसरोज' का नायक सरोज रोमांटिक है। 'कलियुग' का आधार किंग लियर है। 'चुंगी की उम्मीदवारी' के नायक सुगन-लाल में नाटककार ने मानवी दुर्बलताओं का अच्छा चरित्रांकन किया है। 'नेत्रोन्मीलन' में नाटककार नाटक की समस्या के चित्रण में ही इतनी रुचि दिखा गया है, कि नाटक के किसी भी पात्र के चरित्र को वह उचित ढंग से उभारने में असफल रहा है। इस युग का यह अकेला ऐसा नाटक है जिसमें नाटककार ने नायक अथवा अन्य पात्रों के चरित्र चित्रण की अपेक्षा समस्या को अधिक महत्व दिया है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि इस युग का नाटककार भारतेन्दु युग के नाटककार की अपेक्षा नायक को सामान्य जीवन के अधिक निकट लाने के लिए प्रयत्नशील दिखाई पड़ता है। यद्यपि पौराणिक नाटकों में नायक को आदर्श रूप में चित्रित करने की प्रवृत्ति बनी रही है, फिर भी अन्य नाटकों में नायक का स्वरूप विविधता को प्राप्त हुआ है।

आठवां अध्याय

प्रसाद युग के नाटकों में नायक

सामयिक पृष्ठभूमि

युग चेतना की दृष्टि से प्रसाद का युग राष्ट्रीय आन्दोलनों का युग था। इस युग में देश की सभी शक्तियां सामूहिक रूप से 'स्वराज्य-प्राप्ति' के लिए ही प्रयत्नशील दिखलाई पड़ती हैं। अंग्रेज़ सरकार की आर्थिक शोषण एवं दमन की नीति ने भारतीय जनता के हृदयों को विक्षोभ एवं असन्तोष की भावनाओं से भर दिया था जिसके परिणामस्वरूप स्वतन्त्रता आन्दोलन उत्तरोत्तर बल और वेग प्राप्त करता चला गया। इधर प्रथम महायुद्ध के परिणामस्वरूप देश में औद्योगीकरण की प्रवृत्ति बढ़ रही थी। इस औद्योगीकरण के भारतीय जनता को दो लाभ हो सकते थे। एक तो इससे देश की निर्धनता और बेकारी दूर हो सकती थी और दूसरे वैज्ञानिक साधनों के प्रयोग से खाद्योत्पादन को बढ़ाया जा सकता था। यद्यपि पहले सरकार ब्रिटिश स्वार्थों के कारण भारत के औद्योगीकरण की नीति के विरुद्ध थी, तो भी बाद में विवश होकर उसे सूती कपड़े, सीमेंट, दियासलाई आदि छोटे उद्योग धन्धों के विकास में अपना सहयोग देना पड़ा। परन्तु अंग्रेज़ सरकार ने प्रायः ऐसे ही उद्योग-धन्धों को अधिक प्रोत्साहन दिया जिनमें ब्रिटिश पूंजी अधिक लगी थी ताकि उनका आर्थिक लाभ अधिक से अधिक उनके अपने देश को ही हो। द्वितीय महायुद्ध के समय सरकार को विवश होकर युद्ध का सामान तैयार करने के लिए कई नये उद्योग खोलने पड़े। परन्तु उनकी प्रायः सभी योजनाओं के आधार में भारतीय हितों की चिन्ता की मात्रा कम ही रहती थी। स्पष्टतः सरकार की इस स्वार्थमयी नीति से जनता परितोष एवं आश्वासन का अनुभव नहीं कर सकती थी।

ऐसी आर्थिक परिस्थितियों का देश की समस्त राजनैतिक, सामाजिक और

साहित्यिक गतिविधियों पर बहुत प्रभाव पड़ा। वस्तुत: १९२० से १९४२ तक की राजनैतिक गतिविधियों ने स्वतन्त्रता आन्दोलन को उग्रता एवं तीव्रता प्रदान की। यद्यपि कांग्रेस द्वारा चालित इन आन्दोलनों को पूर्ण सफलता कभी भी नहीं मिली। तो भी प्रत्येक आन्दोलन ने सरकार की दमन-शक्ति को उत्तरोत्तर कमज़ोर करने में सहायता दी। प्रत्येक आन्दोलन पहले की अपेक्षा अधिक सफल होता गया और अन्त में सन् १९४७ में भारत पूर्णत: स्वतन्त्र हुआ।

सन् १९२० में बाल गंगाधर तिलक का देहान्त हो गया। उस के बाद राजनैतिक आन्दोलनों का संचालन-सूत्र महात्मा गान्धी के हाथ में आया। गान्धी जी ने अंग्रेजों की भौतिक शक्ति का सामना करने के लिए जनता के हृदय में आत्म-बल के महत्व की प्रतिष्ठा की और इस प्रकार विदेशी आतंक और भय की भावना को दूर करने का प्रयत्न किया। इसके लिए उन्होंने सत्य और अहिंसा के दो अमोघास्त्रों का आश्रय लिया। यद्यपि आरम्भ में कांग्रेस के अनेक नेताओं को गान्धी जी की अहिंसात्मक नीति में विश्वास नहीं था परन्तु धीरे-धीरे उन्होंने उनकी शक्ति को पहचाना और उनके नेतृत्व को स्वीकार किया। गांधी जी के सौम्य परन्तु प्रभावशाली व्यक्तित्व का प्रभाव सामान्य जनता पर आश्चर्यजनक था। जब जब भी उन्होंने सरकार की किसी नीति का विरोध करने के लिए जन-आन्दोलन का आरम्भ किया, जनता की ओर से उन्हें पूर्ण सहयोग मिला।

इधर सरकार एक ओर तो शासन-सुधार का ढोंग कर रही थी और दूसरी ओर बर्बरतापूर्ण ढंग से दमन की नीति अपना रही थी। सन् १९१९ की जलियांवाला बाग के अमानुषिक हत्याकाण्ड ने समस्त भारतीयों के हृदयों को झकझोर डाला था जिससे अंग्रेज़ों के प्रति उनका विश्वास सदा के लिए उठ गया था। देश के सभी वर्गों के लोगों ने सरकार की ऐसी दमनकारी नीति का विरोध किया। अत: इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप सन् १९२१ में गांधी जी ने असहयोग आन्दोलन आरम्भ किया। इस आन्दोलन के कार्यक्रम में सरकार द्वारा दी गई उपाधियों तथा सरकारी सेवाओं का बहिष्कार, सरकारी अदालतों का बहिष्कार, गांवों में पंचायतों की स्थापना, सरकारी शिक्षालयों का बहिष्कार, विधान परिषदों का बहिष्कार, विदेशी कपड़े का बहिष्कार और स्वदेशी खादी का प्रयोग, करों का विरोध, सरकार के दमनकारी कानूनों की सविनय अवज्ञा, हिन्दू-मुस्लिम एकता, मद्य-निषेध तथा दलित-वर्ग के उद्धार आदि के कार्यक्रम सम्मिलित थे।

गांधी जी की इस योजना से स्पष्ट है कि उन्होंने सरकार की दमनकारी नीतियों का एकमात्र विरोध ही नहीं किया वरन् देश की सामाजिक एवं

राजनैतिक प्रगति की सहायक-शक्तियों के संचय पर भी विशेष बल दिया। इस आन्दोलन के परिणामस्वरूप देश के अनेक नेताओं—पण्डित मोतीलाल नेहरू, मौलाना आज़ाद, लाला लाजपत राय, चितरंजन दास आदि को जेल जाना पड़ा। जनता ने हज़ारों की संख्या में अपने आपको जेल जाने के लिए प्रस्तुत किया। इन्हीं दिनों भारत सरकार के निमन्त्रण पर प्रिंस आफ़ वेल्स को भारत में लाया गया। गांधी जी ने युवराज के सम्मान में किये जाने वाले सभी समारोहों के बहिष्कार की नीति अपनाई। किन्तु ४ फरवरी को गोरखपुर ज़िले के चौरी चौरा नामक गांव में एक हिंसात्मक घटना हो गई, जिसके परिणाम स्वरूप गांधी जी ने एक दम असहयोग आन्दोलन को वापस ले लिया।

सन् १९२३ में सरकार ने नमक पर चुंगी-कर दुगुना कर दिया। इससे भी धनता में असन्तोष बढ़ा। १९२७ में देश की शासन-व्यवस्था को सुधारने के लिए साईमन कमीशन की नियुक्ति की जिसमें एक भी भारतीय को न रखा गया। इससे कांग्रेस के नेताओं का विक्षोभ बढ़ा और उन्होंने इसके बहिष्कार की नीति अपनाई। स्थान-स्थान पर इसके विरुद्ध प्रदर्शन हुए। सरकार ने दमनकारी ढंग से इन प्रदर्शनों को कुचलने का यत्न किया। लाहौर में साइमन कमीशन के पहुंचने पर उसका काले झण्डों से स्वागत किया गया। पुलिस ने प्रदर्शनकारियों पर लाठी चलाई। पंजाब केसरी लाला लाजपतराय इसी प्रदर्शन में हताहत हुए थे। १९२९ में लाहौर में पंडित जवाहरलाल नेहरू के सभापतित्व में एक बड़ा ही महत्वपूर्ण कांग्रेस का अधिवेशन हुआ जिसमें पूर्ण स्वराज्य का प्रस्ताव पारित किया गया। १९३० में क्रांतिकारी भगतसिंह ने असैम्बली पर बम फेंककर अंग्रेज़ सरकार की दमनकारी नीति के विरुद्ध जनता के आक्रोश एवं असन्तोष को प्रकट किया। इसी वर्ष गांधी जी ने नमक कानून को भंग करने के लिए डांडी यात्रा की, सविनय अवज्ञा आन्दोलन आरम्भ किया और इसके साथ ही विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का आन्दोलन भी चलाया। सरकार ने इस आन्दोलन को भी कुचलने के लिए दमनकारी उपायों को ही अपनाया। कई स्थानों पर गोलियां चलाई गई। हज़ारों की संख्या में लोगों को बन्दी बनाया गया। सन् १९३० के नवम्बर मास में लन्दन में प्रथम गोल मेज कांफ्रेंस हुई। इसमें कांग्रेस ने भाग नहीं लिया, लेकिन सरकार कांग्रेस के साथ समझौता करना चाहती थी। फलतः गांधी इरविन समझौता हुआ। इस समझौते के अनुसार गांधीजी ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन स्थगित कर दिया। पुलिस द्वारा जनता पर किये गये अत्याचारों की जांच की मांग को त्याग दिया और दूसरी गोलमेज़ कांफ्रेंस में भाग लेना स्वीकार कर लिया। सरकार की ओर से वाइसराय ने इस आन्दोलन में बन्दी बनाये गये सभी व्यक्तियों को

रिहा कर दिया। अध्यादेशों को समाप्त करने की बात भी स्वीकार कर ली। समुद्र के तट पर बसे हुए लोगों को समुद्र से नमक बनाने अथवा संचित करने का अधिकार दे दिया गया और इस आन्दोलन के समय में लोगों से छीनी हुई सम्पत्ति वापस लौटा दी गई।

गांधी जी द्वारा सरकार के साथ किये गये समझौते की प्रतिक्रिया उनके अपने ही दल के वामपक्षीय नेताओं पर विपरीत पड़ी। चूंकि इस समझौते से कांग्रेस की कोई विशेष मांग पूर्ण नहीं हुई थी, अतएव कांग्रेस के वामपक्षीय नेताओं ने इसकी बड़ी आलोचना की और इसे ब्रिटिश कूटनीति की विजय बतलाया। मार्च १९३१ में सरदार पटेल की सभापतित्व में कराची में कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ उसमें इस समझौते की कड़ी आलोचना हुई और ब्रिटिश सरकार से पूर्ण स्वराज्य की मांग को फिर दुहराया गया।

उस समय के राष्ट्रीय आन्दोलनों की असफलता में मुख्यतया ये दो बातें उत्तरदायी कही जा सकती हैं—एक तो सरकार की साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व (Communal representation) की नीति जिसका मूल मन्त्र था 'विभाजन करो और शासन करो' और दूसरे देशी रियासतों के शासकों का अंग्रेज़ सरकार को सहयोग एवं समर्थन। पहली नीति ने साम्प्रदायिकता को बढ़ावा दिया जिससे राष्ट्रीय जीवन के विकास के मार्ग में आगे चलकर बड़ी अड़चनें पैदा हुईं। देशी शासकों के समर्थन ने भी स्वतन्त्रता संग्राम में बाधाएं उपस्थित कीं।

सन् १९४२ में क्रिप्स योजना के असफल हो जाने पर दोनों देशों के सम्बन्धों में घृणा एवं कटुता की भावना और बढ़ी। इसी समय गांधी जी ने ब्रिटिश सरकार को भारत छोड़ने के लिए ललकारा। 'भारत छोड़ो' के इस आन्दोलन में देश के मजदूरों, किसानों, राष्ट्रवादी मुसलमानों आदि सभी ने भाग लिया। सरकार ने इस आन्दोलन को भी अत्यन्त क्रूरता से दबा दिया। पर इस आन्दोलन ने भी सरकार की शक्ति को खोखला कर दिया और उसे अब विश्वास हो गया कि अब भारत में उसके पांव अधिक देर तक नहीं टिक सकते। अन्ततः सन् १९४७ में भारत स्वतन्त्रता प्राप्त करने में सफल हुआ। इस प्रकार सन् १९२० से सन् १९४२ तक का सारा समय भारतीय राजनीति के इतिहास में कठोर संघर्ष का समय है।

साहित्य पर प्रभाव एवं प्रतिक्रिया

सरकार की आर्थिक शोषण एवं राजनैतिक दमन की नीति के परिणाम स्वरूप जनता में निराशा, असन्तोष और विद्रोह की जो भावनाएं उदित हुई

उनका युग-साहित्य पर स्वाभाविक तौर पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। इसके अतिरिक्त उत्तरोत्तर बढ़ती हुई वैज्ञानिक उन्नति ने भी साहित्यकार की जीवन-दृष्टि को नया दिशा-संकेत प्रदान किया। यूरोप की मार्क्सवादी विचारधारा के प्रभाव की स्पष्ट छाप भी इस युग के साहित्य पर देखी जा सकती है। इसके प्रभावस्वरूप लोगों का ईश्वर, धर्म और अनेक प्राचीन रूढ़ियों एवं आस्थाओं के प्रति विश्वास डगमगाने लगा। प्राचीन तथ्यों की युग की परिस्थितियों के अनुरूप नये दृष्टिकोण से व्याख्या की जाने लगी। आध्यात्मिकता का स्थान भौतिकता तथा श्रद्धा एवं भावना का स्थान बौद्धिकता एवं तर्कशीलता ने ग्रहण किया।

द्विवेदी युग की तरह इस युग के साहित्यकार का ध्यान भी भारत के प्राचीन गौरव की झांकी प्रस्तुत करने की आवश्यकता की ओर गया, परन्तु उसने प्राचीनता के परिप्रेक्ष्य में सामयिक विचारों एवं समस्याओं की ओर संकेत करना भी उचित समझा है। इस युग के पौराणिक एवं ऐतिहासिक नाटकों में सम-सामयिक राष्ट्रीय चेतना के स्वर स्पष्ट सुनाई दे रहे हैं। जयशंकर प्रसाद और हरिकृष्ण प्रेमी के नाटक इस बात के प्रमाण हैं।

मानव की प्रायः दो प्रकार की समस्याएं होती हैं—बाह्य तथा आभ्यान्तरिक। पहले प्रकार की समस्याओं का सम्बन्ध सामाजिक विषमता के कारण उत्पन्न होने वाली बेकारी, निर्धनता, भूख, वस्त्र आदि की समस्याओं से है और दूसरी का सम्बन्ध अन्तर्मन की ग्रन्थियों एवं कुण्ठाओं से है। पुरुष और नारी के यौन आकर्षण की समस्याएं भी इसी के अन्तर्गत आ जाती हैं। इनमें पहली मार्क्स की चिन्तन दृष्टि तथा दूसरी फ्रायड की विचारधारा से पर्याप्त प्रभावित थी। भारतेन्दु तथा द्विवेदी युग के नाटकों में व्यक्ति की आन्तरिक समस्याओं पर इतना बल नहीं दिया गया परन्तु इस युग के सामाजिक समस्या प्रधान नाटकों में इस प्रकार की अनेक समस्याओं का चित्रण हुआ है।

प्रसाद के नाटकों में नायक

प्रसाद इस युग के सबसे सशक्त कलाकार है। उन्होने अपने नाटकों के कथानक प्रायः इतिहास से लिए है। महाभारत युद्ध के बाद से लेकर सम्राट हर्षवर्धन तक का समय उनका उपजीव्य है। प्रसाद ने अपने नाटकों में इतिहास को जैसा पाया वैसा ही प्रस्तुत नही कर दिया है। पुरातत्व की गम्भीर खोज के आधार पर उन्होंने इतिहास की कई पुरानी भ्रान्तियों का निवारण किया हैं। उदाहरणार्थ, यूनानी इतिहासकारों की गलती से चन्द्रगुप्त मौर्य को शूद्र समझा जाता रहा है। प्रसाद ने प्राचीन इतिहास के मूल स्रोतों से प्रमाण जुटा

कर उसे क्षत्रिय प्रमाणित किया। उनके नाटकों की भूमिकाएं उनके इतिहास-परक वैदुष्य की परिचायक हैं। प्रसाद भारतीय संस्कृति के परम भक्त हैं। इतिहास को उपजीव्य बनाने का उनका मुख्य उद्देश्य प्राचीन भारतीय संस्कृति के महत्व की प्रतिष्ठा करना है। वास्तव में यह युग की मांग थी। पश्चिमी सभ्यता के चिक्य चैक्य से अभिभूत युग के नवयुवकों को देश की प्राचीन संस्कृति के गौरव से परिचित कराना ज़रूरी था। उनके हृदयों में से बढ़ती हुई हीनता की ग्रन्थि को शिथिल करने का यह एक उपाय था। इस युग का कलाकार समाज के प्रति अपने दायित्व को भली प्रकार समझता था। इनके अतिरिक्त प्रसाद के नाटकों की एक और प्रमुख विशेषता है उनकी राष्ट्रीय चेतना। यह भी पूर्णतः युगानुरूप ही है। जैसे पहले कहा जा चुका है प्रसाद का युग स्वतन्त्रता के लिए आन्दोलनों का युग था। इतिहास के परिप्रेक्ष्य में प्रसाद ने समसामयिक चेतना को सशक्त स्वर दिया है। स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त (मौर्य तथा गुप्तवंशीय) आदि नायक देश की अखण्डता और स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए निरन्तर उद्योगशील दिखाई देते है।

नाट्य-शिल्प की दृष्टि से प्रसाद के नाटक नाट्य-शास्त्र के प्राचीन तन्त्र की अपेक्षा नवीन पश्चिमी प्रभावों से अधिक प्रभावित है। स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति (Romanticism) का प्रभाव उनकी कला पर स्पष्ट है। रूढ़ परम्पराओं का त्याग, नवीन जीवन-दर्शन का ग्रहण, सौन्दर्य चेतना के प्रति एक अभिनव आकर्षण कुतूहल, प्रेम की मानवीय संवेदना, अतीत के प्रति रहस्यात्मक मोह, प्रकृति तथा मानव का भावुकतापूर्ण तादात्म्य, उच्चादर्शों के प्रति उत्कट अनुराग और शैली-शिल्प की स्वच्छन्दता आदि तत्व प्रसाद की कला को असंदिग्ध रूप से स्वच्छन्दतावादी अथवा रोमांटिक श्रेणी में समादृत स्थान की अधिकारिणी बनाते हैं। फलतः प्रसाद के नाटकों में नायक के स्वरूप के विकास का अध्ययन भी इसी दृष्टि से होना चाहिए।

प्रसाद जी के '**विशाख**' (१९२१) नाटक का नायक अथवा मुख्य पात्र विशाख है। वैसे प्रसाद जी ने नाटक के आरम्भ में दिये गये 'परिचय' में राजा नरदेव का प्रधान पात्र के रूप में उल्लेख किया है, परन्तु यदि नाटक की मुख्य कथा की ओर ध्यान दिया जाये तो उसका सम्बन्ध विशाख से ही सिद्ध होता है। विशाख और चित्रलेखा का प्रणय और परिणय ही नाटक की वास्तव में मुख्य कथा है। नाटक की अन्य भी सभी प्रमुख घटनाओं से उसका सम्बन्ध है और नाटक के अन्य प्रमुख पात्र सत्यशील, नरदेव, महापिंगल, सुश्रवा, प्रेमानन्द आदि उसके चरित्र के विकास में योग देते हैं। नाटक की अपनी संज्ञा भी असंदिग्ध रूप से उसी ओर संकेत करती है।

प्रसाद जी के अपने अनुसार 'विशाख' का कथानक कल्हण की राजतरंगिणी की एक ऐतिहासिक घटना पर आधारित है जो उनके अनुमान से ईसा की पहली शताब्दी अथवा उसके एक या आधी शताब्दी और पीछे की हो सकती है। परन्तु वह इतिहास इतना अस्पष्ट एवं धूमिल है कि उससे विशाख के असंदिग्ध व्यक्तित्व के निर्माण में उस प्रकार की कोई सहायता नहीं मिलती जैसी कि चन्द्रगुप्त मौर्य, चन्द्रगुप्त (गुप्तवंशीय) एवं स्कन्दगुप्त आदि ऐतिहासिक पात्रों के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में तद्युगीन इतिहास से उपलब्ध होती है। वैसे भी मूल आधार के ऐतिहासिक प्रारूप को प्रसाद जी ने स्थूल रूप से ही स्वीकार किया है, उसके सभी तथ्यों को वैसा का वैसा ग्रहण नही किया है। उदाहरण के तौर पर मूल में राजा नरदेव प्रजा की क्रोधानल में प्राण खो बैठता है परन्तु प्रसाद जी ने प्रभाव की दृष्टि से प्रेम और करुणा के प्रसार के महत्व की प्रतिष्ठा करने के लिए प्रेमानन्द पात्र के द्वारा उसकी प्राण-रक्षा की है। नाटककार की आदर्श-प्रियता ने इतिहास में अनुकूल परिवर्तन कर दिया है। सारांशतः विशाख का व्यक्तित्व शुद्ध रूप से ऐतिहासिक नहीं कहा जा सकता।

'विशाख' रोमांटिक नायक है। समाज-सेवा, परोपकार ऐसे उच्चादर्शों के प्रति उसकी गहरी रुचि है। इस रुचि के निर्माण में प्रेमानन्द ऐसे गुरुजनों से प्राप्त शिक्षा का योग है। उसके मानस मे अबाध प्रेम का भाव ठाठें मार रहा है। उसके चरित्र की क्रियाशील धर्मभावना की मूल प्रेरणा भी इसी में निहित है। इसे उसने स्वयं स्वीकार किया है।[1] कर्त्तव्य एवं धर्म-भावना के आधार में वासना का यह विलास विशाख के चरित्र को अपेक्षाकृत सामान्य धरातल पर ला पटकता है, पर इस से एक महान् मनोवैज्ञानिक सत्य की पुष्टि होती है। वैसे विशाख की प्रेम-भावना की एकनिष्ठता से इन्कार नही किया जा सकता। वस्तुतः इसी मे उसके पुरुषार्थ का सूत्र निहित है। यह दूसरी वात है कि इस प्रेम-भावना की अभिव्यक्ति का विधान कुछ अधिक गम्भीर प्रतीत

. विशाख, पंचम संस्करण,

(क) मैं तो (इस झंझट) में कभी न पड़ता यदि इस संसार में पदार्पण करने की प्रतिपदा तिथि में यह चन्द्रलेखा न दिखाई पड़ती। (पृ० १६)

(ख) अच्छा हम जो इस पचड़े में पड़े तो हमको क्या। परोपकार! ना बाबा! झूठ बोलना पाप है। चन्द्रलेखा को यदि न देखता तो सम्भव है कि यह धर्म भाव न उपजता। (पृ० ३२)

नहीं होता। प्रसाद जी के आरम्भिक काल की कृति होने के कारण इस प्रकार की गम्भीरता अथवा परिष्कार की हमें आशा नहीं करनी चाहिए।

प्रकृति-प्रेम, गुरु-भक्ति एवं आत्म-गौरव की भावनाएं उसके चरित्र की सामान्य विशेषताएं है। निर्भीक वीरता उसके व्यक्तित्व में बल भरती है। तीसरे अंक का चौथा दृश्य इसके प्रमाण में प्रस्तुत किया जा सकता है। इसी अंक के दूसरे दृश्य में आत्म-सम्मान की रक्षा के लिए वह राजा नरदेव के सहचर महापिंगल को मौत के घाट उतार देता है। इस पर जब चन्द्रलेखा राजदण्ड के भय से भविष्य के प्रति आशंका की अभिव्यक्ति करती है तो वह अपमान भरे जीवन को धिक्कारता हुआ कहता है—

'मरण जब दीन जीवन से भला हो,
सहें अपमान क्यों फिर इस तरह हम।
मनुज होकर जिया धिक्कार से जो,
कहेंगे पशु गया बीता उसे हम।'[1]

'अजातशत्रु' नाटक (१९२२) का नायक अजातशत्रु है। विशाख की अपेक्षा अजातशत्रु का ऐतिहासिक व्यक्तित्व निश्चित रूप से अधिक स्पष्ट है। बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों मे उसके विषय में प्रचुर सामग्री उपलब्ध है, यद्यपि साम्प्रदायिक दृष्टि को अधिक महत्व देने के कारण दोनो के साक्ष्य मे थोड़ा-बहुत अन्तर है। प्रसाद जी ने नाटकीय आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए नायक के व्यक्तित्व के निर्माण के लिए इस साक्ष्य का उपयोग किया है।

बौद्ध परम्परा के अनुसार भगवान् बुद्ध के प्रतिद्वन्द्वी देवदत्त के प्रभावाधीन अजातशत्रु ने अपने पिता बिम्बसार की हत्या करने की चेष्टा की थी, परन्तु यह घातक प्रयत्न जैसे-तैसे विफल रहा। इसके बाद बिम्बसार ने स्वयं अजातशत्रु के पक्ष मे शासन का अधिकार त्याग दिया। अजात ने अधिकार प्राप्त कर पिता को बन्दीगृह में डाल दिया और निराहार रख कर मृत्यु की अवस्था तक पहुंचा दिया। जब उसके अपने यहां पुत्र का जन्म हुआ और उसने स्वय पिता के स्नेह के गौरव का अनुभव किया तो पिता को कारागार से मुक्त करने के लिए गया, परन्तु उस समय तक बिम्बसार के प्राण-पखेरु उड़ने की तैयारी कर चुके थे। 'सामंजञ्ज फल सुत्त' (दीर्घनिकाय) के अनुसार अजात ने भगवान् बुद्ध के समीप इस पितृ-हत्या के पाप के लिए प्रायश्चित किया था और भगवान् बुद्ध ने उस की पश्चाताप की भावना और आत्मग्लानि को निश्छल और सच्ची जान कर 'जाओ, अब और पाप मत करना' कहकर उसे क्षमा किया था। अनेक प्राचीन

---

१. विशाख, पंचम संस्करण, पृ० ७५।

एवं स्वतन्त्र जैन लेखकों ने इस मत की पुष्टि की है ।[१]

प्रसाद जी ने बिम्बसार के जीवन का अन्त उनकी दुःखद परिस्थितियों के आकस्मिक परिवर्तन और सुखानुभूति के अतिरेक से दिखाया है—

'बिम्बसार' तो फिर शीघ्र चलो (उठ कर गिर पड़ता है) ओह ! इतना सुख एक साथ मैं सहन न कर सकूंगा । तुम सब बहुत बिलम्ब करके आये ।'[२]

अधिकारच्युत होने के अनन्तर अज्ञात की क्रूर-यातनाओं ने उसके मन और शरीर को अत्यन्त दुर्बल बना दिया था । अब जब अजात और छलना दोनों एक साथ अपनी कुटिलता का परित्याग कर निष्कपटता से अपने दुर्व्यवहार के लिए क्षमा-याचना करते हैं तो उसके आश्चर्य की सीमा नहीं रहती । इसी समय बेटी पद्मा द्वारा पौत्र-जन्म का शुभ समाचार भी प्राप्त होता है और पुत्रवधू वाजिरा के पधारने की सूचना भी मिलती है । बिम्बसार का दुर्बल हृदय इस आकस्मिक प्रसन्नता से घबरा उठता है । सुखोद्रेकजन्य यही उत्तेजना उसके दुर्बल जीवन के अन्त का कारण बनती है । इस प्रकार प्रसाद जी ने अपने नायक की पितृ-हत्या के आरोप से रक्षा की है और भगवान् बुद्ध और उनकी शिष्या मल्लिका के व्यक्तित्व के प्रभाव की प्रतिष्ठा की है ।

प्रसाद जी का '**जनमेजय का नागयज्ञ**' (१९२६) एक पौराणिक नाटक है । आर्य एवं नाग इन दो जातियों का दीर्घकालीन संघर्ष ही इसके कथानक का आधार है । परीक्षित का ज्येष्ठ पुत्र जनमेजय ही इस नाटक का नायक है । जनमेजय इन्द्रप्रस्थ का सम्राट है । वह परम तेजस्वी, पराक्रमी, धैर्यवान्, उदार, विनम्र एवं पापभीरु है । उसकी पाप-भीरुता का हमें उस समय परिचय मिलता है जब कि अनजाने उसके हाथों यायावर वंश के जरत्कारु ऋषि की हत्या हो जाती है । घायल ऋषि के पास जाकर सम्राट जनमेजय अत्यन्त विनम्र कातरता से पुकारता है—'अनर्थ हो गया ! हाय रे भाग्य! आये थे मृगया खेलकर हृदय को बहलाने, यहां हो गया ब्रह्म-हत्या का महापातक ! तपोनिधे ! मेरा अपराध कैसे क्षमा होगा ? आप कौन हैं ? आपकी अन्तिम आज्ञा क्या है ?'[३] और उसके बाद उससे क्षमा-याचना करता हुआ कहता है—'तपोधन, मेरा हृदय मुझे धिक्कार की ज्वाला में भस्म कर रहा है । मैं ब्रह्म-हत्या का अपराधी हुआ हूं । भगवन्, क्षमा करें ।'[४] इसी ब्रह्म-हत्या के दण्डस्वरूप जनमेजय

१. Hem Chander Ray Chaudhary, Political History of India. edition, 1932, page 139.

२. अजात शत्रु, तीसरा अक (नौवां दृश्य), पृ० १४५

३. जनमेजय का नाग-यज्ञ, पंचम संस्करण, पृ० ४३

४. वही, ४४ ।

अश्वमेध करने के लिए प्रस्तुत हो जाता है। जनमेजय में जातीय अभिमान की भावना प्रचुर है। वह आर्य जाति को सबसे पवित्र और श्रेष्ठ मानता है। नागों के प्रति उसका व्यवहार अत्यन्त क्रूर है। नागों के द्वारा उसके पिता की हत्या हुई थी, इस बात को वह कभी भूल नहीं सका। उसी का बदला चुकाने के लिए वह उनके साथ अकल्पनीय बर्बरता का व्यवहार करता है। उसके सैनिकों की क्रूर बर्बरता का वर्णन करती हुई मनसा तक्षक से कहती है—

'जनमेजय की सेना फिर तक्षशिला में पहुंच गई है। भाई वासुकि नागसेना एकत्र करके यथाशक्ति उन्हें रोक रहे हैं। आर्यों का यह आक्रमण बड़ा भयानक है। वे तुम लोगों से भी बढ़कर बर्बरता दिखला रहे हैं। जो लोग बन्दी होते है, वे अग्निकुण्ड में जला दिये जाते है। गांव के गाव दग्ध हो रहे है। नाग जाति बिना रक्षक की भेड़ों के समान भाग रही है। आर्यों की भीषण प्रतिहिंसा जाग उठी है। जनमेजय कहता है कि पिता को जलाकर मारने का प्रतिफल इन नागों को उसी प्रकार जलाकर दूंगा। हाहाकर मचा हुआ है।'[1]

परन्तु जनमेजय की यह क्रूरता शत्रु जाति के दमन के कारण पराक्रम ही समझी जायेगी। बर्बर शत्रुओं का कठोर दमन न्याय ही कहा जायेगा और फिर यह तो हिंसा न होकर प्रतिहिंसा है। पिता की हत्या का प्रतिशोध है। वीरता, कठोरता और साहस के अतिरिक्त जनमेजय के हृदय में सौन्दर्य के प्रति आकर्षण भी है। नाग कन्या मणिमाला के रूप-सौन्दर्य के प्रथम दर्शन से ही प्रभावित होकर वह कह उठता है—'मैं तो तुम सी नागकुमारी की प्रजा होना भी अच्छा समझता हूं।'

इस प्रकार जनमेजय के हृदय में प्रेम की सी कोमल भावनाओं के लिए भी स्थान है। यह भावना अपने और पराये मे भेद-भाव नहीं रखती। साहसी और पराक्रमी होते हुए भी जनमेजय भाग्यवादी है। उसके अनुसार 'मनुष्य प्रकृति का अनुचर और नियति का दास या उसकी क्रीड़ा का उपकरण' मात्र है।' इस प्रकार की भाग्यवादिता उसके सक्रिय चरित्र के अनुरूप नहीं कही जा सकती। स्यात् इस प्रकार की भाग्यवादिता तद्युगीन राजनैतिक असफलताओं की देन है।

शास्त्रीय दृष्टि से जनमेजय का चरित्र धीरोदात्त नायक की श्रेणी में ही आयेगा परन्तु प्रसाद जी की नाट्य-शिल्प की समूची विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए उसे रोमांटिक ही स्वीकार करना चाहिए। प्रसाद जी ने अपनी कला में शास्त्रीय दृष्टिकोण का सर्वथा पालन नही किया है। पश्चिम की स्वच्छन्दतावादी

---

[1] जनमेजय का नागयज्ञ, पंचम संस्करण पृ० ६३-६४

प्रवृत्ति की उनकी कला पर अमिट छाप है ।

'स्कन्दगुप्त' (१९२८) नाटक के नायक स्कन्दगुप्त का व्यक्तित्व अत्यन्त मोहक एवं आकर्षक है । वह वीर है, पराक्रमी है, उदार और त्यागशील है । राष्ट्र-प्रेम की भावना उसकी नस-नस में व्याप्त है । विदेशी आक्रमणकारियों—शक, हूणों से गुप्त साम्राज्य की रक्षा करना तथा गृह-कलह की शान्ति-ये दो ही उसके जीवन के मुख्य ध्येय हैं । प्राणों का उसे मोह नहीं । उसके निर्भीक पराक्रम का लोहा शत्रु मानते हैं, परन्तु रण-कुशल होने पर भी व्यर्थ की हिंसा में उसकी रुचि नही है । वह प्रकृति से युद्ध प्रिय नहीं है । उसके अनुसार मानव जीवन का युद्ध ही उद्देश्य नहीं है, कोई और भी निगूढ़ रहस्य है, चाहे उसे मानव स्वयं न समझ सकता हो । इसलिए स्कन्द जब शस्त्र उठाता है तो केवल कर्त्तव्य-भावना से विवश होकर, स्वार्थ से प्रेरित होकर नहीं । वह अधिकार-लिप्सा से सर्वथा मुक्त है । उसे अपने लिये सिंहासन नहीं चाहिए, साम्राज्य नहीं चाहिए । सत्ता की प्राप्ति के लिए वह झगड़ा करना नहीं चाहता, बल्कि प्राप्त हुई राज्य-सत्ता को भी तृणवत् त्याग कर पुरगुप्त को सौंप देता है और इस प्रकार गृह-कलह को सदा के लिए शान्त करता है । अतः उत्साहपूर्ण पराक्रम के साथ-साथ उसके अन्तःकरण में निरुत्साहित करने वाली वैराग्य की तीव्र भावना भी विद्यमान रहती है जिसके प्रभावाधीन वह कर्म-क्षेत्र से ऊब कर बौद्धो के निर्वाण, योगियों की समाधि और पागलों की सी सम्पूर्ण विस्मृति की कामना करने वाला है । लौकिक वैभव उसे बन्धन प्रतीत होने लगता है । उसके शब्दों में—'इस वैभव की जितनी कड़ियां टूटती हैं, उतना ही मनुष्य बन्धनों से छूटता है ।' अतः भारतीय संस्कृति के उच्चादर्शों के अनुकूल प्रसाद ने स्कन्द को एक कर्मयोगी की भांति चित्रित किया है ।

शास्त्रीय दृष्टि से स्कन्द का चरित्र धीरोदात्त नायक के गुणों से सम्पन्न है, यद्यपि उसमें शास्त्रीय संगति का अभाव है । पराक्रमी होते हुए भी उसके हृदय में एक विचित्र उचाट और कलान्ति की भावना बार-बार उठती है जो उसके महान् व्यक्तित्व के अनुरूप नहीं कही जा सकती । अधिकारों के प्रति उदासीन होते हुए भी बन्धुवर्मा की प्रार्थना पर मालव का सिंहासन बिना किसी प्रकार के मनःसन्ताप के स्वीकार कर लेता है । योगियों की सी समाधि की कामना करता हुआ भी देव-सेना से एकान्त जीवन विताने की प्रार्थना करता है । 'उसके स्नेह-सम्बन्ध भी उलझे हुए हैं और मनोविश्लेषण द्वारा उनका समझना कठिन है ।'

वास्तव मे स्कन्द के चरित्र में भारतीय धीरोदात्त नायक की अपेक्षा पाश्चात्य नाटकों के रोमांटिक नायक के चरित्र की रेखाएं अधिक स्पष्ट दिखाई

देती हैं। 'स्कन्दगुप्त' नाटक में भारतीय नाट्य-सिद्धान्तों की अवहेलना के स्पष्ट प्रमाण देखे जा सकते हैं। उसमें न तो नान्दी है, न प्रस्तावना और न ही भरत-वाक्य। आलोचकों ने इसमें शास्त्रीय दृष्टि से कार्यावस्थाओं, अर्थ प्रकृतियों एवं सन्धियों की व्यवस्था ढूंढने का यत्न किया है, परन्तु यह प्रयास सर्वथा कठिनाई से मुक्त नहीं कहा जा सकता। उदाहरणार्थ कार्यावस्थाओं को ही लीजिए। नाटक के पहले और दूसरे अंक में क्रमशः आरम्भ और प्रयत्न की अवस्थाओं का विकास तो देखा जा सकता है परन्तु तीसरे और चौथे अंक में क्रमशः प्राप्त्याशा तथा नियताप्ति के स्पष्ट दर्शन नहीं होते। इस के विपरीत यदि पाश्चात्य सिद्धान्तों की दृष्टि से विचार करें तो इन दोनों में चरम सीमा (Climax) तथा निगति (Catastrophe) का रूप स्पष्ट दिखाई देता है। संस्कृत नाटकों की परम्परा के प्रतिकूल आत्महत्या, युद्ध अथवा रक्तपात के अनेक दृश्य दिखाये गये हैं। पृथ्वीसेन, महाप्रतिहार, दण्डनायक, बन्धुवर्मा, देवकी आदि पात्रों की मृत्यु मंच पर ही दिखाई गई है। बाह्य संघर्षों के साथ सारा नाटक अन्तःसंघर्षों से भी भरा पड़ा है। स्कन्दगुप्त, देवसेना, भटार्क विजया आदि सभी प्रमुख पात्र अन्तर्द्वन्द्व से ही पीड़ित हैं। नाटक का अन्तिम दृश्य भी इसी तथ्य की पुष्टि करता हुआ दिखाई देता है। शुद्ध भारतीय नाट्य-सिद्धान्तों के विचार से वह रस में व्याघात उत्पन्न करने वाला और इसीलिए सर्वथा निरर्थक है। समूचे तौर पर नाटक की समस्त योजना पाश्चात्य पद्धति पर ही आधारित जान पड़ती है। नायक स्कन्द गुप्त की एकान्त आदर्शनिष्ठता उसकी अपूर्व देश-प्रेम की भावना, उसका अतुल साहस एवं अपूर्व आत्म-त्याग, रहस्यमय अलौकिक शक्ति अथवा नियति में दृढ़ विश्वास, बीच-बीच में पलायन की प्रवृत्ति-उसे रोमांटिक नायकों के भावुक एवं आदर्शनिष्ठ व्यक्तित्व से अलंकृत करती है।

'चन्द्रगुप्त' (१९३१) नाटक का नायक चन्द्रगुप्त एक सशक्त तेजस्वी, निर्भीक और पराक्रमी युवा है। राष्ट्र-प्रेम की भावना में तो उसके क्रियाशील जीवन की सम्पूर्ण प्रेरणा-शक्ति निहित है। नाटक के आदि से लेकर अन्त तक उसके समूचे प्रयास आर्यावर्त के सम्मान और गौरव की रक्षा के लिये ही आयोजित है। तक्षशिला के गुरुकुल में ही वह आचार्य चाणक्य के चरणों की शपथ पूर्वक प्रतिज्ञा करता है कि 'यवन यहां कुछ न कर सकेंगे' और आजीवन वह इस प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है और सफल होता है। अन्त में सिल्यूकस के पराजय के साथ मेघ-मुक्त चन्द्र की तरह हर प्रकार की विघ्न-बाधाओं से मुक्त होकर आर्यावर्त के निष्कण्टक साम्राज्य का अधिकारी होता है।

चन्द्रगुप्त निर्भीक, वीर और साहसी है। अपने विश्वासों की रक्षा, आत्मीयों की सहायता एवं विपद्ग्रस्त अबलाओं के कष्ट निवारण के लिए वह सदैव तैयार

रहता है। पहले अंक के पहले ही दृश्य में जब आम्भीक खड्ग से सिंहरण पर प्रहार करने वाला होता है तो वह तुरन्त बीच में पड़ कर उसकी रक्षा करता है। चौथे दृश्य में सरस्वती-मन्दिर के उपवन के पथ में वह एक अहेरी चीते से राजकुमारी कल्याणी की रक्षा करता है। सातवें दृश्य में जिस साहस के साथ वह बन्दीगृह के प्रहरियों को मौत के घाट उतार कर अपने गुरुदेव चाणक्य को मुक्त करवाने में सफल होता है, वह उसकी अनुपम वीरता के ही अनुरूप है। दूसरे अंक के प्रथम दृश्य में जब कार्नेलिया कामुक फिलिप्स के आक्रमण से रक्षा के लिए पुकारती है तो वह उसी क्षण पहुंच कर उसे (फिलिप्स को) दबोच विदेशी अबला के सतीत्व की रक्षा में सहायक होता है। इसी दृश्य के अन्त में जिस निर्भीकता से वह सिकन्दर और आम्भीक, फिलिप्स तथा एनिसाक्रेटीज़ के उस पर आक्रमण करने पर जिस असाधारण वीरता से वह तीनों को घायल करता हुआ निकल जाता है वह भी सराहनीय है। इसी अद्भुत पराक्रम के परिणामस्वरूप वह क्षुद्रकों और मालवों की सम्मिलित सेना का महाबलाधिकृत नियुक्त किया जाता है। उसके बाद जिस वीर कुशलता के साथ युद्ध में वह उन का नेतृत्व करता है वह उसके भावी उज्ज्वल भविष्य का प्रतीक है। फिलिप्स द्वारा द्वन्द्व-युद्ध के लिए ललकारे जाने पर वह उसकी चुनौती को स्वीकार करता है और विजयी होता है। अन्त में मगध की प्रजा के विद्रोह का सफल नेतृत्व कर वह सिंहासन का अधिकारी बनता है और उसके बाद वह एक सबल, सुनियन्त्रित और न्यायशील शासक के रूप में हमारे सामने आता है। उसकी न्यायशीलता एवं कर्त्तव्यपरायणता का प्रमाण हमें उस समय मिलता है जब कि दण्डायन के आश्रम में आचार्य चाणक्य पर खड्ग से आक्रमण करने के अभियोग में वह अपने पिता मौर्य को दण्ड देने के लिए तैयार हो जाता है।

वीरत्व के साथ-साथ उसमें देश-गौरव और आत्म-सम्मान की भावना अद्वितीय है। आत्म-सम्मान के लिए मर मिटने को ही वह दिव्य जीवन समझता है। दूसरे अंक के प्रथम दृश्य में जब सिकन्दर मगध सम्राट नन्द के विरुद्ध चन्द्रगुप्त को सैनिक सहायता देने का प्रस्ताव करता है तो वह निर्भीकता से किसी प्रकार की भी सहायता लेने से इन्कार कर देता है। वह कहता है—'मुझे आपसे सहायता नहीं लेनी है।···मैं यवनों को अपना शासक बनने को आमन्त्रित करने नहीं आया हूं।'[1] 'मुझे लोभ से पराभूत गान्धारराज आम्भीक समझने की भूल न होनी चाहिए। मैं मगध का उद्धार करना चाहता हूं, परन्तु यवन लुटेरों की

१. चन्द्रगुप्त, संस्करण सं० २००७, पृ० ११७।

सहायता से नहीं ।'[1] निस्सन्देह उसके एक-एक शब्द से स्वाभिमान प्रकट होता है । वीरता और साहस के अतिरिक्त मानवता के गुण भी चन्द्रगुप्त में प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं । वह अत्यन्त विनयशील, कृतज्ञ और उदार है । सिल्यूकस ने एक बार अचेतावस्था में पड़े चन्द्रगुप्त की एक व्याघ्र से रक्षा की थी । इसके लिए उसने अनेक बार सिल्यूकस के प्रति कृतज्ञता का प्रमाण दिया है । क्षुद्रकों एवं मालवों के युद्ध में घायल सिकन्दर को यवन-सेनापति के हाथ सौंप कर सुरक्षित निकल जाने की अनुमति देकर उसने अपनी उदारता का परिचय दिया है । इसी प्रकार उस के हृदय में कोमल भावनाओं के लिए भी अवकाश है । उसके रूप-यौवन-सम्पन्न एवं वीर व्यक्तित्व से प्रभावित होकर कार्नेलिया, मालविका तथा कल्याणी समय-समय पर उसकी ओर आकृष्ट होती है और वह भी उनके लिए अपने हृदय में मधुर भावना रखता है, यद्यपि उसने प्रेम की भावना को कभी भी वासना के स्पर्श से रंजित होने नहीं दिया । प्रेम की कोमलता वीरत्व के तेज के सामने प्रायः मुरझाई हुई सी प्रतीत होती है । इस पर भी वह कला प्रेमी है । उसे संगीत से प्यार है और रणभेरी के पहले मधुर मुरली की एक तान सुनने का अभिलाषी है ।

इसके अतिरिक्त चन्द्रगुप्त गुरु-भक्त भी है । गुरुदेव चाणक्य के प्रति उसे अपार श्रद्धा है । उसके मन में पूर्ण विश्वास है । गुरुदेव का अपमान उसे असह्य है । वास्तव में नन्द वंश के उन्मूलन के हेतु चन्द्रगुप्त की प्रयत्नशीलता में नन्द द्वारा राज-सभा में किया गया चाणक्य का कठोर अपमान ही मुख्य कारण है । चन्द्रगुप्त के जीवन संग्राम की प्रायः प्रत्येक घटना में चाणक्य की प्रेरणा निहित दिखाई देती है । परन्तु नाटककार ने चन्द्रगुप्त को चाणक्य से सतत प्रेरणा ग्रहण करते हुए दिखलाकर उसे सर्वथा उसकी कठपुतली मात्र नहीं बनाया है, उसके व्यक्तित्व में स्वातन्त्र्य भी है । स्थिति के अनुसार स्वतन्त्र रूप से आचरण करने की भी उसमें क्षमता है । वास्तव में स्वावलम्बन की भावना की उसमे कमी नहीं । दायित्व स्वीकार करने से वह कभी नहीं घबराता । जब आर्य चाणक्य अमात्यत्व का संपूर्ण अधिकार त्याग कर चले जाते है तो वह चाहे विरक्ति भाव से ही सही कहता है—'पिता गये, माता गई, गुरुदेव गये, कन्धे से कन्धा भिड़ा कर प्राण [illegible] सिंहरण गया । तो भी चन्द्रगुप्त को रहना पड़ेगा और वह रहेगा ।'[2] इसी प्रकार जब सिंहरण ने बलाधिकृत के पद से मुक्त होने के लिए पत्र भेजा था तो चन्द्रगुप्त पत्रवाहक से कहता है—'आज

---

१. चन्द्रगुप्त संस्करण सं० २००७, पृ० ११८ ।

२. चन्द्रगुप्त, पृ० २२५ ।

से मैं ही बलाधिकृत हूं। मैं आज सम्राट नहीं सैनिक हूं। चिन्ता क्या ? सिंहरण और गुरुदेव न साथ दें, डर क्या।....यह तो मुद्रा और सिंहरण को छुट्टी दो। कह देना कि तुम दूर खड़े होकर देख लो सिंहरण। चन्द्रगुप्त कायर नहीं है।"[१] निस्सन्देह चन्द्रगुप्त मनोबल एवं स्वावलम्बन की जीवन्त प्रतिमूर्ति है। शास्त्रीय दृष्टि से चन्द्रगुप्त का चरित्र धीरोदात्त कोटि का ही कहा जायेगा; परन्तु प्रसाद का नाट्य-शिल्प सम्बन्धी दृष्टिकोण शुद्ध शास्त्रीय नही है; स्वच्छन्दतावादी अथवा रोमांटिक है। डा० नगेन्द्र, डा० नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० बच्चन सिंह, डा० रामेश्वर लाल खाण्डेलवाल आदि प्रमुख आलोचकों का यही अभिमत है। प्रसाद के महान् एवं स्वतन्त्र व्यक्तित्व ने अपने आप को जर्जरित रूढ़ियों से आबद्ध कभी स्वीकार नहीं किया। साहित्य की प्रत्येक धारा में उनका स्वच्छन्दतावादी स्वर गूंज रहा है। इसी प्रकाश में उनकी सर्जना का मूल्यांकन होना चाहिए। चन्द्रगुप्त के नायक के अनुरूप ही देश-प्रेम, साहस, शौर्य आदि का आदर्शोन्मुख निरूपण हुआ है। राष्ट्रीय चेतना उसका मूल स्वर है। इसी चेतना से अनुप्राणित एक विशिष्ट उल्लास आदि से लेकर अन्त तक उसमें देखा जा सकता है। चन्द्रगुप्त का सारा जीवन संघर्षों से भरा पड़ा है। संघर्ष प्रायः बाह्य है। आन्तरिक संघर्षो का प्रायः अभाव ही है। अस्तित्व भर को हिला देने वाले तीव्र एवं गम्भीर आन्तरिक संघर्ष उसमें नही है। उसके मन में कहीं किसी ऐसी विरोधी भावना का विस्फोट देखने में नहीं आता जो उसे देश-प्रेम के पूर्व निश्चित ध्येय से क्षण भर के लिए भी विचलित करने का स्वांग भी भर सके। उसमें प्रेम का अकुर तो है परन्तु वीरत्व से अभिभूत उसके हृदय की भूमि में उसे पनपने का पूर्ण अवसर प्राप्त नहीं हुआ। अतः प्रेम और कर्तव्य में भी कहीं संघर्ष प्रस्फुटित नहीं हुआ। मानव-प्रेम, प्रकृति-प्रेम सभी कुछ उसके देश-प्रेम की भावना से अभिभूत है। प्रमुख रूप से इसी भावना का उसके चरित्र में एकच्छत्र विकास हुआ है।

'ध्रुवस्वामिनी' (१९३३) नाटक का नायक चन्द्रगुप्त रोमांटिक नायक के समुचित गुणों से सम्पन्न है। वह वीर है, धीर है, साहसी और उदार है। राष्ट्र और कुल की मर्यादा की रक्षा का उसे पूरा-पूरा ध्यान है। इसी मर्यादा की भव्य-भावना से प्रेरित होकर उसने बड़े भाई रामगुप्त के सत्तारूढ़ होने का विरोध नहीं किया था, यद्यपि मरने से पूर्व उसके पिता आर्य समुद्रगुप्त ने, उसके ज्येष्ठ राजकुमार न होने पर भी, वैयक्तिक गुणों एवं चारित्र्य बल के कारण उसे ही अपने उत्तराधिकारी के रूप में वरण किया था।

---

१. चन्द्रगुप्त, पृ० २४२।

चन्द्रगुप्त प्रकृति से विनयशील एवं धैर्यवान् है, परन्तु नारी के सम्मान अथवा कुल के गौरव पर प्रहार होते हुए देखकर चुप रहना उसके लिए असम्भव है क्योंकि वह क्लीव और कातर नहीं है। इसीलिए जब उसे ध्रुवस्वामिनी से पता चलता है कि राम गुप्त ने उसे (ध्रुवस्वामिनी को) शकराज को सौंपना स्वीकार कर लिया है, तो उसके आवेश की सीमा नहीं रहती—'यह नहीं हो सकता ! महादेवि ! जिस मर्यादा के लिए जिस महत्व को स्थिर रखने के लिए, मैंने राजदण्ड ग्रहण न करके अपना मिला हुआ अधिकार छोड़ दिया, उसका यह अपमान। मेरे जीवित रहते आर्य समुद्रगुप्त के स्वर्गीय गर्व को इस तरह पद-दलित होना न पड़ेगा। (ठहरकर) और भी एक बात है। मेरे हृदय के अन्धकार में प्रथम किरण-सी आकर जिसने अज्ञात भाव से अपना मधुर आलोक ढाल दिया था, उसको भी मैंने केवल इसीलिए भूलने का प्रयत्न किया'।[1]

और जब शिखर स्वामी मानसिक उद्वेग एवं उत्ताप से भरे कुमार को रामगुप्त के समक्ष विनय ग्रहण करने के लिए इसलिए अनुरोध करता है क्योंकि 'विनय गुप्त कुल का सर्वोत्तम गृह-विधान है,' तब उसकी मर्यादा और धैर्य का बान्ध ही टूट जाता है। तीखे व्यंग्य भरे शब्दों में अमात्य को सम्बोधित करते हुए कहता है—'अमात्य, तभी तो तुमने व्यवस्था दी है, कि महादेवी को देकर भी सन्धि की जाय। क्यों, यही तो विनय की पराकाष्ठा है। ऐसा विनय प्रवंचकों का आवरण है, जिसमें शील न हो। और शील परस्पर सम्मान की घोषणा करता है। का पुरुष ! आर्य समुद्रगुप्त का सम्मान······।'[2]

इसके बाद वह स्त्री वेष में ध्रुवस्वामिनी के साथ शकराज के दुर्ग में जाता है और उसे मौत के घाट उतार कर अपने नैतिक साहस एवं पराक्रम का परिचय देता है।

चन्द्रगुप्त सच्चे प्रेमी का हृदय रखता है। ध्रुवस्वामिनी को जो कि उसकी वाग्दत्ता पत्नी थी, उसने प्रथम साक्षात्कार से ही अपनी सम्पूर्ण भावना से प्यार किया है। सच्चे प्रेमी की तरह वह उसके सम्मान की रक्षा के लिए प्रत्यक्ष काल के मुंह में प्रवेश करने से भी संकोच नहीं करता।

वैसे समूचे तौर पर नाटक में चन्द्रगुप्त की अपेक्षा ध्रुवस्वामिनी के चरित्र की रेखाएं अत्यधिक स्पष्ट और प्रभावक दिखाई देती हैं। एक प्रकार से उसका ओजस्वी और सशक्त व्यक्तित्व सम्पूर्ण नाटक में व्याप्त है। इसी कारण स्वाभाविक तौर पर कुछ एक विद्वान् 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक को नायिकाप्रधान

---

१. ध्रुवस्वामिनी, ग्यारहवां संस्करण, पृ० २६।

२. वही, पृ० २६।

नाटक मानते हैं। परन्तु चन्द्रगुप्त का चरित्र सर्वथा नायकोचित है, इसमें सन्देह नहीं। उसका व्यक्तित्व भी कम सशक्त एवं आकर्षक नहीं। शौर्य, धैर्य, सहृदयता, त्याग, प्रेम और पराक्रम आदि सभी नायकोचित गुण उसमें विद्यमान हैं। उद्देश्य अथवा फल प्राप्ति की दृष्टि से भी यही उचित है। नाटक के अन्त में उसे ही सम्पूर्ण नाटकीय फल-राज्य और नाटक की नायिका ध्रुवस्वामिनी की प्राप्ति होती है।

२. प्रसाद युगीन अन्य नाटकों में नायक

प्रसाद विशुद्ध रूप से भारतीय थे और भारतीयता से उन्हें लगाव था। यही कारण है कि उन्होंने अपने नाटकों के कथानक भारत के गौरवमय अतीत से लिए जिसका प्रभाव उसके समकालीन नाटककारों पर भी पड़ा। परन्तु इस युग के अन्य नाटककारों ने ऐतिहासिक नाटकों के साथ-साथ पौराणिक तथा सामाजिक नाटकों की परम्परा का भी पालन किया। बुद्धिवाद के प्रभाव स्वरूप इस युग में समस्या नाटक भी लिखे गये। इस युग के पौराणिक नाटकों को निम्न वर्गों में विभक्त किया जा सकता है :—

(क) रामचरित सम्बन्धी (ख) कृष्णचरित सम्बन्धी (ग) अन्यचरित सम्बन्धी।

(क) रामचरित सम्बन्धी नाटकों में नायक

द्विवेदी युग के समान इस युग में भी रामचरित नाटकों का अभाव ही रहा। इस धारा के नाटक हैं—दुर्गादत्त पाण्डे, कृत 'राम नाटक' (१९२४), कुंदनलाल शाह कृत 'रामलीला नाटक', (१९२७), माता बदलगिरि कृत 'राम रहस्य नाटक' (१९३३), दुर्गाप्रसाद गुप्त कृत 'श्री रामलीला' नाटक तथा गोविन्ददास कृत कर्तव्य (पूर्वार्ध) 'नाटक' (१९३५)। इनमें से पहले चारों नाटक बहुत ही साधारण हैं। माता बदलगिरि कृत **रामरहस्य नाटक**' का कथानक रामचरित मानस पर आधारित है।[1] इसमें नारद गर्व मोचन से परशुराम लक्ष्मण संवाद तक की कथा पांच अंकों में वर्णित की गई है। वर्ण्य विषय तथा चरित्र-चित्रण की दृष्टि मे यह नाटक अत्यन्त ही साधारण है। नायक राम का चरित्र भी अत्यन्त ही साधारण है। भाषा-शैली भी बड़ी शिथिल है। नाटककार पौराणिकता की रक्षा भी नहीं कर पाया। नाटक के पांचवे अंक के सीता-स्वयंवर के दृश्य में लेखक ने पार्सिक, इंगलैण्डीय आदि अन्य देशों के व्यक्तियों को भी नाटक का

---

१. रामचरित मानस (बालकाण्ड) अध्याय ३५-५८।

पात्र बनाया है। इंगलैण्डीयन तो अंग्रेजी में बात करता ही है, राजा जनक के दरबार का बन्दी भी इंगलैण्डियन से अंग्रेज़ी में इस प्रकार बात करता है—

'एटेन्शन ! एटेन्शन !! एटेन्शन !!! प्लीज़। ओ महाराजाज़ ! लेट अस डिक्लयर दैट हिज़ मजेस्टी महाराज जनक हैज़ सैटिंग एसाइड आल अदर कन्सीड्रेशन डिटरमिण्ड टू मेरी सीता। टू हिम डू औट आफ दिस एसेम्बली आफ़ महाराजाज़ शुड बैक दिस शिवाजीज़ इस्टपेण्ड्स बाऊ टू-डे। × × ×'[1]

'राम रहस्य' की तरह दुर्गाप्रसाद गुप्त का **'श्री रामलीला नाटक'** भी अत्यन्त ही साधारण रचना है। नाटक के तीन अंकों में रामकथा की मुख्य घटनाओं का चित्रण किया गया है। प्रथम अंक में राम-जन्म से सीता स्वयंवर तक तथा दूसरे अंक में राम के वनवास से लेकर सीता के अशोक वाटिका पहुंच जाने तक की कथा का वर्णन है। तीसरे अंक में राम रावण युद्ध, राम की विजय तथा सीता की अग्नि-परीक्षा तक की घटनाएं है। नाटक का कथानक अत्यन्त ही विक्षिप्त एवं अव्यवस्थित है और चरित्र-चित्रण की शैली रामलीला नाटकों के सदृश है। नाटक के नायक राम हैं। नाटक के आरम्भ में ही नाटककार यह स्पष्ट कर देता है कि इस पृथ्वी पर रावण आदि राक्षसों के अत्याचारों एवं अन्यायपूर्ण शासन व्यवस्था को समाप्त करने के लिए भगवान् विष्णु राम के रूप में अवतार लेते है। अतः राम का चरित्र शान्त, सौम्य, धैर्यशील और मर्यादाशील है। वे ऋषि-मुनियों का सम्मान करने वाले तथा पितृ-भक्त है। पिता के प्रसादन के लिए अयोध्या क्या बैकुण्ठ के राज्य को भी त्याग देने के लिए तैयार है। वे प्रेम की अपेक्षा कर्तव्य पालन को अधिक महत्व देते है और उसी में सच्ची शान्ति को अनुभव करते है। नाटक के अन्त में राम रावण को मारकर सीता को मुक्त कराने के लिए इसलिए स्वयं नहीं जाते क्योंकि उन्होंने चौदह वर्ष तक किसी भी नगर में पाव न धरने की प्रतिज्ञा की हुई है। अतः वे इस कार्य के लिए विभीषण को भेजते हैं। सीता आ जाती है लेकिन वे सीता को लोकाचार की मर्यादा के कारण उसे अंगीकार करने में इसलिए संकोच करते है कि वह पर पुरुष के यहां एक वर्ष के लगभग रही है। इस स्थल पर नाटककार ने कर्तव्य की प्रेम पर विजय दिखलाई है। राम सीता से कहते है—'केवल तुम्हारे लिए ही नही बल्कि अपने कुल-मर्यादा की लाज के लिए। अपने धर्म और कर्तव्य के लिए और कर्तव्य से विवश होकर आज सब कुछ समझते हुए भी मुझे अपने हाथों ही अपने हृदय को तोड़ना पड़ता है।

१. राम रहस्य नाटक, संस्करण १६३३, पृ० १०६।

अमृत में विष मिलाना, सुख को दुख से बदलना, संयोग को वियोग से परिवर्तन करना यानि अपनी धर्मपत्नी का प्रेम बन्धन तोड़ कर उसे छोड़ना पड़ता है।'[1]

मर्यादा पुरुषोत्तम राम के चरित्र के लिए ऐसा ही उचित है। यद्यपि नाटककार राम की चारित्रिक अलौकिकता की रक्षा करने में समर्थ हुआ है, फिर भी कहीं-कहीं पर उसमें सामयिक प्रभाव भी देखा जा सकता है। शबरी के प्रसंग में राम ऋषिकुमार से छुआछूत की भावना को मन से निकालने के लिए कहते है। उनकी दृष्टि में व्यक्ति अपने कर्मो द्वारा समाज में श्रेष्ठता और मान को प्राप्त करता है। वे कहते हैं—

> 'इस छूत अछूत विचार विरोध को अपने मन से दूर करो।
> पावन बनता है प्राण औ पण से शुद्ध-प्रेम भरपूर करो॥
> क्यूं छोटे बड़े के झगड़े में पड़ अपना समय गंवाते है।
> वह घट घट का व्यापी हर घट में है क्यों भूले जाते हैं॥
> प्राणी का कर्म प्रधान है जैसा करता है फल पाता है।
> यह कर्म ऊंच को नीच करै और नीच को ऊंच बनाता है॥'[2]

इसके अतिरिक्त अयोध्या नगरी को छोड़ते समय राम को जन्म भूमि की स्तुति करते हुए चित्रित किया गया है जो युग के प्रभाव के अनुरूप है।

जहां तक पौराणिकता का प्रश्न है—नाटककार उसकी रक्षा करने में समर्थ नहीं हुआ। भीमसिंह, लक्ष्मीदास, रोहिनी, रमेश आदि कई अपौराणिक पात्रों को नाटक में स्थान दिया गया है। नाटककार ने रोहिनी और रमेश के द्वारा तो आज के भारतीय किसान की समस्या को उभारने का प्रयास किया है। नाटक के आरम्भ में नाटककार ने रावण की प्रजा को करों का विरोध करते हुए ही नहीं दिखलाया, वरन् स्वाधीनता की मांग करते हुए दिखलाया है जो युग के प्रभावानुरूप है।

सेठ गोविन्ददास जी का '**कर्तव्य**' (पूर्वार्द्ध) (१९३५) नाटक रामरचित सम्बन्धी सभी नाटकों में विशिष्ट स्थान रखता है। राम-वनवास, सीता-हरण, बालि-वध, लंका विजय-तथा सीता की अग्नि-परीक्षा, लोकापवाद के भय से सीता त्याग तथा शम्बूक वध और अन्त में कुश-लव तथा सीता का राम से मिलन और सीता, लक्ष्मण, राम की ऐहिक लीला का संवरण-आदि राम जीवन की ये प्रमुख घटनाएं नाटक के पांच अंकों में चित्रित की गई है। नाटक के

---

१. श्री रामलीला नाटक; पृ० ९५।
२ वही; पृ० ७२।

अन्तिम अंक में नाटककार ने नायक राम के अवतारी होने का संकेत दिया है। परन्तु व्यवहार में उसने उन्हें आदर्श गुण सम्पन्न एक असाधारण मानव के रूप में ही चित्रित किया है। यदि उन्हे अवतार माना भी जा सकता है तो केवल कर्तव्य और मर्यादा के क्षेत्र में। इसीलिए तो वे मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। इसी मर्यादा एवं कर्तव्य परायणता के लिए उन्होंने अपने जीवन तक को समाप्त कर दिया। राम राजा होते हुए भी सर्वप्रथम प्रजा के सेवक हैं। अतः प्रजा का सुख उनका अपना सुख है। इसीलिए राम हर क्षण प्रजा के हित की चिन्ता में रहते हैं। इसी प्रजा के लिए वे अपनी प्राण-वल्लभ गर्भवती सीता तक को इसलिए त्याग देते हैं चूंकि राम यह सोचते हैं—'हां, लक्ष्मण, अन्तिम, सर्वथा अन्तिम। राजा का कर्तव्य प्रजा-पालन ही न होकर प्रजा-रंजन भी है। जिस राजा के लिए प्रजा में इस प्रकार का अपवाद हो वह राजा न राज्य के योग्य ही है और न राज्य ही कर सकता है।'[१]

समाज से व्यक्ति को तो सुख मिलता ही है, परन्तु अकेला व्यक्ति भी निस्स्वार्थपरता एवं त्याग-भावना से सामाजिक सुख-समृद्धि एवं नैतिक मर्यादाओं के पालन का श्रेष्ठ साधन वन सकता है और वह व्यक्ति कोई राम जैसा ही महापुरुष हो सकता है जिसे केवल प्रजा-सेवा का ही व्यसन है। राम का जीवन तो अलौकिक घटनाओं से भरा पड़ा है, जिसे आज का बुद्धिवादी एवं भौतिक समाज उसी रूप में स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है, इसीलिए लेखक ने अपनी विशेष प्रतिभा, चातुरी द्वारा ऐसी घटनाओं को सम्भाव्य और स्वाभाविकता के अधिक निकट ला दिया है। यही कारण है कि नाटक में राम भगवान् के अवतार न बन केवल महापुरुष बनकर रह जाते हैं।

भारतीय संस्कृति धर्मप्रधान है जो नैतिक मर्यादा एवं कर्तव्यशीलता के बन्धन से जकडी हुई है। धर्म में श्रद्धा और भावना की प्रधानता रहती है और विज्ञान में बुद्धि और तर्क की। अधुनातन युग में विज्ञान की प्रधानता है इसलिए आज के मानव को सामाजिक एवं नैतिक मान्यताओं का मूल्यांकन श्रद्धा और भावना की अपेक्षा बौद्धिक तर्कशीलता के धरातल पर करना अधिक रुचिकर लगता है। यही कारण है कि कई बार कर्तव्य और मर्यादा की सीमाएं आज के बुद्धिजीवी मानव के हृदय में द्वन्द्वात्मक भावनाओं को जन्म देती हैं। नायक राम के चरित्र में भी आज के मानव की द्वन्द्वात्मक वृत्तियों का जीवन्त स्पन्दन है। लक्ष्मण की मृत्यु पर जब राम का हृदय उद्वेलित हो जाता है और उनकी आंखों में आंसू छलक आते हैं तब वसिष्ठ उन्हें इस प्रकार सांत्वनापूर्ण शब्द कहते हैं—

---

१. कर्तव्य (पूर्वार्द्ध), पृ० ८०।

'शोक नहीं, राम, शोक नहीं। तुमने तो संसार के सम्मुख मनुष्य-जीवन का ऐसा आदर्श उपस्थित किया है जैसा आज पर्यन्त किसी ने नहीं किया। कर्तव्य के लिए तुमने राज्य छोड़ा, परम प्रिय सती-साध्वी पत्नी का चिर-वियोग सहा और अन्त में प्राणों से प्यारे भ्राता को भी खो दिया। अगणित स्वार्थों को त्याग तुमने प्रजा को कर्तव्य का मार्ग दिखाया है। ××× इतिहास में तुम्हारा चरित्र सदा दूसरे सूर्य के समान तेजस्विता के संग चमकता हुआ संसार को आलौकिक रखेगा। लक्ष्मण शोक के योग्य नहीं है। राम, उनका यह शरीर, जो नाशवान है, चाहे न रहा हो, परन्तु उनकी कीर्ति सदा के लिए भूमण्डल में स्थिर रहेगी। राम, तुम्हारा शोक करना शोभा-जनक नहीं है, तुम शोक करते हो, राम, तुम शोक !'[१]

वसिष्ठ के ऐसे वचनों को सुनकर राम का वेदनापूर्ण हृदय संयम के बांध को तोड़ इस प्रकार प्रस्फुटित हुआ—'प्रभो, मैंने लक्ष्मण के अतिरिक्त किसी के सम्मुख आज तक अपना शोक प्रकट नहीं किया, परन्तु आज उनके न रहने पर यह शोक प्रकट हो गया। मेरे निज का संसार न रहने से आज यह इस संसार में सामने आ गया है। मेरे सम्बन्ध में आपने जो कहा वह ठीक हो सकता है देव, परन्तु मैंने यह सब स्वयं को खोकर पाया है। ताड़का की स्त्री-हत्या की ग्लानि अब तक मेरे मन में है, बालि को अधर्म से मारने की लज्जा से अब तक मेरा हृदय लज्जित है, निःशस्त्र और निर्दोष शम्बूक के वध से अब तक मेरा अन्तःकरण व्यथित है, फिर पिता की मृत्यु का मैं ही कारण हूं, पत्नी को मेरे कारण क्लेश भोगना पड़ा, अन्त में इस भ्राता ने भी, कैसे भ्राता ने, प्रभो जैसा भ्राता आज-पर्यन्त किसी ने नहीं पाया था, मेरे ही कारण अपने प्राण त्याग किये, मेरी कृति के ही फलस्वरूप यह वधू उर्मिला मेरे सम्मुख, मेरे जीवित रहते सती होने जा रही है। आर्य, मैं समझता था कि कर्तव्य-पालन से संसार को सुखी करने के संग मनुष्य स्वयं भी सुखी होता है, पर नहीं, यह मेरा भ्रम ही निकला, मैं तो सदा दुःख से ही परिवेष्टित रहा, भगवन्।'[२] राम की ऐसी वेदनापूर्ण अनुभूति से यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्तव्य और मर्यादा की सीमाओं में बन्धी आज मानव-आत्मा किस प्रकार सिसक रही है ? राम गुरु वसिष्ठ की आज्ञा से तप कर रहे शूद्र शम्बूक का वध करने के लिए जाते है। वे शम्बूक को तप छोड़ देने के लिए अनुरोध करते हैं परन्तु शम्बूक अपने संकल्प को न छोड़ना ही अपना कर्तव्य समझता है। वह आज के साधारण मानव के समान

---

१. कर्तव्य (पूर्वार्द्ध), पृ० ११४।

२. वही, पृ० ११४-११५।

अपने अधिकार को पाने के लिए विद्रोह करता है। वह मर्यादा पुरुषोत्तम राम के प्रति इस प्रकार तीखा व्यंग्य करता है—

'ब्राह्मण यह मानते है कि हम शूद्रों को तप का अधिकार नहीं है। मैंने यह तप इसी मत के खण्डन के लिए किया है। यदि मेरे तप से कोई शूद्र का बालक मरता तो मेरे तप का कुफल हो सकता था, पर ब्राह्मण-बालक मरा। इससे यह स्पष्ट हो गया कि वे ही भूल में हैं। परमात्मा उनको जता देना चाहते हैं कि उनके द्वारा उत्पन्न किये हुए किसी भी व्यक्ति पर अत्याचार नहीं हो सकता। यदि ब्राह्मण किसी समुदाय-विशेष को सदा नीच बनाये रखने का उद्योग करेंगे तो वह इसी प्रकार सिर उठावेगा। इससे उन्हीं का संहार होगा। वसिष्ठ ने यह तो अपने योगबल से जान लिया कि मेरे तप के कारण ब्राह्मण पुत्र की मृत्यु हुई, पर उन्होंने यह नहीं जाना कि इस प्रकार की मृत्युओं का निवारण मेरी अकेले की हत्या से न होकर उनके मत के परिवर्तन से ही सम्भव है। पर, राम, यह विवाद निरर्थक है। मैं योगबल के कारण जानता हूं कि तुम से इस जन्म में समाज की अनुचित मर्यादाएं भी न टूटेंगी। तुम्हारा यह जन्म मर्यादाओं की रक्षा के निमित्त हुआ है, तोड़ने के लिए नहीं। मैं अपना संकल्प न छोड़ूंगा, तुम अपना काम करो, इस हत्या के पश्चात् भी मुझे तो मोक्ष ही मिलेगा।'[1]

शम्बूक के ऐसे वचन सुनकर राम अपने मन में एक बार तो उसकी सत्यता को जान लेते हैं, फिर भी कर्तव्य-विमुखता और मर्यादा-भंग के भय से वे तलवार से उसकी हत्या कर देते हैं।

राम के चरित्र में आत्म-ग्लानि और परिस्थितिजन्य विद्रोह का अंश है, परन्तु उसका यह व्यष्टिगत वैशिष्ट्य समष्टिगत चेतना के समक्ष पराभव को प्राप्त होता है। लंका में राम सीता की अग्नि-परीक्षा का प्रश्न लोकापवाद के भय से उठाते हैं और सीता-त्याग के समय तथा अश्वमेध यज्ञ के समय सभी लोगों के समक्ष उसे स्वीकार करते हुए जब वे दोबारा उससे शुद्धता का प्रमाण मांगते है, उस समय भी उनके चेतन मन में सामाजिक लोकापवाद का भय होता है। ताड़का-वध को भी वे अधर्म मानते हैं, बालि वध भी, और शम्बूक का वध तो वे अपनी आत्मा के विरुद्ध करते हैं और अपने भाई लक्ष्मण की मृत्यु का कारण भी तो वे स्वयं ही बनते हैं। मर्यादा पुरुषोत्तम के चरित्र की कितनी विडम्बना है कि वे केवल लोक-मर्यादा की रक्षा के लिए कितने ही अमानवीय

१. कर्तव्य (पूर्वार्द्ध), पृ० ६२।

कृत्यों को करने के लिए बाध्य होते हैं।

(ख) कृष्ण चरित सम्बन्धी नाटकों में नायक

राम चरित्र के समान इस युग में कृष्ण चरित सम्वन्धी नाटकों का भी प्राय: अभाव ही है। वियोगी हरि कृत **'छद्म योगिनी'** (१९२३), पं० राधेश्याम कथावाचक कृत **'श्री कृष्णावतार'** (१९२६) तथा **'रुक्मिणी कृष्ण'** (रुक्मिणी मंगल) (१९२७) तथा जमुना दास मेहरा कृत **'रुक्मिणी हरण'** (१९३५) नाटक नायक के चरित्र-विकास की दृष्टि से साधारण रचनाएं हैं। 'छद्मयोगिनी में कृष्ण प्रेम की परीक्षा लेने के लिए छद्मयोगिनी का रूप धारण करते हैं। नाटक में प्रेम-भक्ति की प्रधानता है। कृष्ण का चरित्र धीर-ललित नायक के गुणों से युक्त है।

राधेश्याम के दोनों ही नाटक पारसी रंगमंचीय शैली से प्रभावित है। **'श्री कृष्णावतार'** में कंस जैसे अत्याचारियों का नाश करने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण के अवतार लेने की कथा है। कंस का वध भी इसी में ही दिखाया गया है। 'रुक्मिणी कृष्ण' में इसके बाद की कथा को तीन अंकों में बढ़ाया गया है। प्रथम में कृष्ण उद्धव को गोपियों के पास ज्ञान और योग का उपदेश देने के लिए भेजते हैं परन्तु मुंह की खाकर वापस लौट आते है। इसी अंक में कई बार जरासंध का कृष्ण से युद्ध होता है, लेकिन हर बार परास्त होना पड़ता है। दूसरे अंक में कृष्ण रुक्मिणी को बल-पूर्वक उठा लाते हैं। रुक्म युद्ध के लिए कृष्ण को ललकारता है, परन्तु परास्त होता है। रुक्मिणी की अभ्यर्थना पर कृष्ण उसे क्षमा कर देते हैं। तीसरे अंक में प्रद्युम्न द्वारा शम्बरासुर का वध दिखाया गया है।

नाटक के नायक कृष्ण अवतारी हैं। संसारवासियों को कर्तव्य का ज्ञान कराने के हेतु ही कृष्ण अवतार लेते हैं। वे अतीव पराक्रमी, साहसी और अलौकिक गुणों से युक्त है। उनका विश्वास है कि मनुष्य अपने अतुल साहस एवं आत्मिक बल से संसार-सागर में सदैव विजयी रह सकता है। सुलेखा के चरित्र द्वारा नाटककार ने आज की नारी की स्वातन्त्र्य-भावना का बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया है।

रुक्मिणी-कृष्ण की कथा पर जमुनादास मेहरा ने **'रुक्मिणी हरण'** (१९३५) नाटक लिखा। राधेश्याम कथावाचक के 'रुक्मिणी कृष्ण' तथा इनके 'रुक्मिणी हरण' नाटक के कथानक में यह अन्तर है कि 'रुक्मिणी कृष्ण' में राजा भीष्मक तथा माता प्रभा रुक्मिणी का विवाह कृष्ण से करना चाहते हैं, परन्तु 'रुक्मिणी हरण' में जब भीष्मक को यह पता चलता है कि कृष्ण दल-बल सहित बिना

आमन्त्रण के आ रहे है तो वे राजा दन्तवक्र के सुझाव पर स्वयंवर को स्थगित कर देते हैं, जिससे कृष्ण वापस लौट जाते है। इधर रुक्मिणी हृदय से कृष्ण का पति रूप में वरण कर लेती है और जब उसे इस बात का पता चलता है कि उसके पिता शिशुपाल के टीका भिजवा रहे हैं तो वह अपनी सखियों के अनुरोध से लोचन मित्र के हाथ प्रेम पत्र भेजती है। तब कृष्ण उसके निर्देशानुसार गौरी पूजन के लिए गई हुई रुक्मिणी को बलपूर्वक हर लाते है।

नाटक के नायक कृष्ण धीरोदात्त गुणों से युक्त हैं। वे वीर एव निर्भीक तो हैं ही, साथ ही न्याय और नीति के भी ज्ञाता हैं। नारद के शब्दों में वे भगवान् के साकार स्वरूप हैं:—'इसमें क्या संदेह है। जहा परमात्मा का निवास है, वह तो स्वर्ग ही है। परमात्मा के साकार स्वरूप को यदि हम श्री कृष्ण के नाम से सम्बोधित करते है तो यथार्थ ही है।'

सेठ गोविन्द दास का '**कर्तव्य (उत्तरार्द्ध)**' (१९३५) द्वापर के नायक कृष्ण के आदर्श चरित पर आधारित है। कर्तव्य (पूर्वार्द्ध) के राम के समान इसमें भी कृष्ण लोक रक्षा के हेतु कर्तव्य पालन के लिए अपने जीवन को समाप्त कर देते है। परन्तु दोनों के दृष्किोण एक दूसरे से नितान्त भिन्न है। जहा राम लोक-मर्यादा एवं कर्तव्य-पालन के हेतु शास्त्रों के समक्ष झुक जाते हैं, वहा कृष्ण अपने व्यक्तिगत वैशिष्ट्य एवं प्रभावोत्पादक व्यक्तित्व के कारण शास्त्रोचित मर्यादा को केवल झुकाने मे ही समर्थ नही होते, अपितु उसे परिस्थिति के अनुरूप नया अर्थ एवं नया दृष्टि विन्दु देने में भी सक्षम होते है। नाटक के तीसरे अंक में वे उद्धव से कहते हैं—'समाज की अनुचित मर्यादा को को तोड़ना ही धर्म है। मैंने इसी को तो अपना जीवन-कार्य बनाया है।'[1] यद्यपि राम और कृष्ण दोनों के प्रभावशाली व्यक्तित्व में आज की सुधारवादी चेतना का जीवन्त स्पन्दन है फिर भी राम की आत्मा शास्त्रोचित मर्यादाओं की सीमा के परिवेश में जकड़ी हुई है और कृष्ण की आत्मा ऐसे बन्धनों से मुक्त होने के कारण विद्रोही है। इसीलिए तो उन्हे समाज की अनुचित रूढ़ियां एवं परम्पराएं मान्य नहीं है। और वे स्वयं समाज-विरोधी ऐसी मान्यताओं को विद्रोहात्मक नेतृत्व प्रदान करते है। रुक्मिणी के प्रेम-संदेश को पाकर वे इसलिए उसका हरण करते है कि उसका विवाह शिशुपाल से उसकी स्वेच्छा से नहीं किया जा रहा है। वे उद्धव से कहते है—'वर-वधू को जन्म भर परस्पर संग रहना पड़ता है। उनके भाग्य का इस प्रकार निर्णय करने का बान्धवों को कोई

१. कर्तव्य (उत्तरार्द्ध) पृ० १६२।

अधिकार नहीं है।'[1] भौमासुर को मारकर सोलह राजकुमारियों को उससे बन्धन मुक्त कर वे इसलिए उनके साथ विवाह करने के लिए तैयार हो जाते हैं, कि आज का क्रूर समाज उनको सती-साध्वी, शुद्ध एवं पवित्र रूप में ग्रहण नहीं करेगा और इनका जीवन नष्ट हो जायेगा। वे उन राजकुमारियों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं—'मैं जानता हूं कि आज का समाज तुम्हें उचित विधि से ग्रहण करने को प्रस्तुत न होगा। यदि तुमने प्राण ही दे दिये तो फिर भीमासुर के और इतने प्राणियों के संहार से क्या लाभ हुआ। तुम्हारी इच्छा भी मैंने सुन ली है। सुन्दरियो, मेरी इच्छा एक विवाह करने की भी न थी, पर मैं देखता हूं कि एक के स्थान पर न जाने मुझे कितने विवाह करने पड़ रहे हैं। जो कुछ हो, लोक-हितार्थ, लोक सुखार्थ जो कुछ भी सम्मुख आयेगा, शक्ति के अनुसार किये बिना मन ही न मानेगा। मैं जानता हूं कि तुम सब शुद्ध हो, समाज की टीका की मुझे चिन्ता नहीं है, तुम्हारी इच्छानुसार मैं तुम सबों को ग्रहण करने के लिए प्रस्तुत हूं।'[2]

इसके विपरीत कर्तव्य (पूर्वार्द्ध) के राम सीता को हृदय से शुद्ध एवं पवित्र जानते हुए भी लोकापवाद के भय से पहली बार तो लंका में उसकी शुद्धि-परीक्षा लेते हैं और दूसरी बार भी इसी भय से वे उसे वनवास देकर त्याग देते हैं। वस्तुतः दोनों की तुलना में राम की अपेक्षा कृष्ण का दृष्टिकोण आज के बुद्धि-जीवी समाज को अधिक युक्ति-युक्त एवं समीचीन प्रतीत होता है।

कृष्ण के जीवन का आदर्श है धर्म, न्याय और सत्य का रक्षण और इन्हीं आदर्शों का वे आजीवन पालन भी करते हैं। बलराम अर्जुन के द्वारा सुभद्रा-हरण को केवल अनुचित ही नहीं मानते बल्कि कुल-मर्यादा के विपरीत भी मानते हैं और इसीलिए वे अपने इस अपमान का बदला लेने के लिए अर्जुन का वध करने की भी सोचते हैं। कृष्ण उन्हें अनेक युक्तियों से समझाते हैं और इस घटना की स्वय अपने द्वारा रुक्मिणी-हरण की घटना के साथ तुलना करने को कहते हैं—'मैंने भी क्या किसी के कुल का अपमान किया है? क्या किसी के कुल में कलंक लगाया है? अर्जुन ने ठीक वही किया है जो मैंने किया था। यदि अर्जुन का कृत्य निन्दनीय है तो मेरा भी, यदि अर्जुन दण्ड पाने के योग्य है, तो मैं भी हूं। आप मुझ से बड़े हैं और अर्जुन से भी, पहले मेरा सिर काट दीजिए, तब इन्द्रप्रस्थ पर आक्रमण कीजिएगा।'[3] इस पर बलराम कृष्ण के इस कृत्य को भी पाप

---

१. कर्तव्य (उत्तरार्द्ध), पृ० १६२।

२. वही, तीसरा अंक, पृ० १७२-१७३।

३. वही, पृ० १६६।

बतलाते हैं। कृष्ण उनकी इस बात का युक्तिपूर्ण ढंग से इस प्रकार का उत्तर देते हैं—'रुक्मिणी आपकी भगिनी न थी और उसका हरण आपके भ्राता ने किया था, आपकी दृष्टि से भ्राता का वह कर्म पापमय होने पर भी आपने उस कर्म में इसीलिए सहायता दी कि वह आपके भ्राता ने किया था। सुभद्रा आपकी भगिनी है और उसे हरण करने वाला एक अन्य व्यक्ति है अतः आप उसे दण्ड देना चाहते हैं। आर्य, इस भेद-बुद्धि से ही तो दुःख होता है, यही तो स्वार्थ है, यही तो दुःख की जड़ है। आपकी दृष्टि से यदि किसी ने पाप किया है तो आप को उसे दण्ड देने का अवश्य अधिकार है, पर यदि वही पाप दो मनुष्यों ने किया है और उसमें से एक आपका भ्राता है तो आपको अपने भ्राता को भी वही दण्ड देना होगा, जो आप अन्य व्यक्ति को देना चाहते हैं।'[1] इस पर बलराम उनसे यह कहते हैं कि ऐसी बातों से समाज की मर्यादा भंग होती है। तब कृष्ण कहते हैं कि 'समाज की अन्यायपूर्ण मर्यादाओं से समाज को उल्टा क्लेश होता है अतः इन्हें भंग करना ही होगा।'[2]

इस उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि कृष्ण के हृदय में अन्याय के प्रति कितनी घृणा और विरोध है और न्याय एवं मर्यादा की रक्षा के प्रति कितनी निष्ठा एवं दृढ़ विश्वास।

नाटक में कृष्ण को कहीं भी शास्त्रोचित धर्म का पालन करते हुए नहीं दिखाया गया। धर्म का काम लोक-रक्षा है, इस बात को कृष्ण स्वीकार करते हैं। वे लोक-रक्षा का भार अपने कन्धों पर वहन भी करते है और उसमें उन्हें सफलता भी मिलती है परन्तु उनकी लोक-रक्षा धर्म के मानदण्ड शास्त्रसम्मत न होकर परिस्थिति के अनुरूप बदलते रहते हैं। जरासंध जब अट्ठारहवीं बार कालयवन को साथ लेकर कृष्ण पर आक्रमण करता है, तब कृष्ण युद्ध स्थल से इसलिए पलायन नहीं कर जाते कि वे कायर हैं, वरन् इसलिए कि वे 'शूरसेन देश की रक्षा का, इस रक्त-पात और मार-काट के निवारण का, अपार जन और धन के बचाने का और कोई इससे अच्छा उपाय नहीं समझते। और दूसरे वे अपनी इस युक्ति से मुचकुंद के द्वारा कालयवन का नाश करने में भी सफल होते है।

नाटक के नायक कृष्ण अवतारी न होकर असाधारण मानव के गुणों से युक्त है। उनमें धीरोदात्त एवं धीरललित दोनों नायकों के गुण विद्यमान है। वे धीर, वीर, निश्चिन्त, कला एवं सगीतप्रिय, ब्राह्मणों का सम्मान करने

---

१. कर्तव्य (उत्तरार्द्ध), तीसरा अंक, पृ० १६७-१६८।

२. वही, पृ० १६९।

कर्तव्यपरायण तथा शील गुणों से युक्त हैं।

नाटक में पांच अंक है। पहले अंक में कृष्ण राधा तथा अन्य गोप-गोपियों को छोड़ कर मथुरा चले जाते हैं। दूसरे में कृष्ण का जरासंध तथा कालयवन के साथ युद्ध; तीसरे में रुक्मिणी-हरण, सुभद्राहरण, भौमासुर का वध तथा सोलह राजकुमारियों का पाणि-ग्रहण, चौथे में रुक्मिणी-द्रौपदी संवाद और अन्तिम में कुरुक्षेत्र में राधा-कृष्ण मिलन, और इन दोनों के लीला-संवरण का चित्रण हुआ है। इसी अंक में कृष्ण के परब्रह्म परमात्मा के पूर्णावतार होने का सकेत दिया गया है।

(ग) अन्य चरित सम्बन्धी नाटकों में नायक

इस युग में राम और कृष्ण चरित सम्बन्धी नाटकों की अपेक्षा अन्य पौराणिक पात्रों को आधार बनाकर लिखे गये नाटकों की संख्या अधिक है अधिकांशतः ये पौराणिक नाटक युग-चेतना से अनुप्राणित हैं। बदरीनाथ भट्ट ने बालकृष्ण भट्ट के 'वेणु-संहार' की कथा के आधार पर सन् १९२१ में **'वेन चरित्र'** अथवा **'राज परिवर्तन नाटक'** लिखा। नाटककार ने सामयिक राजनैतिक उथल-पुथल को वेन के अत्याचारी चरित्र के माध्यम से दिखलाकर राज्यतन्त्र के स्थान पर प्रजातान्त्रिक शासन प्रणाली की उत्कृष्टता को प्रतिपादित किया है। नाटक के 'निवेदन' में भट्ट जी ने अपने इस उद्देश्य को इस प्रकार स्पष्ट किया है—'इस नाटक में अराजकता के भीषण परिणाम तथा बेरोक राजसत्ता की भयानक अठखेलियों और फिर उसका अन्त दरसाने की चेष्टा की गई है। आजकल संसार में राजनैतिक उथल-पुथल की धूम है। इसीलिए हिन्दी पाठकों के मनोरंजनार्थ इस पुरानी कहानी को नयी पोशाक में रखने का साहस मैंने किया है।'

बालकृष्ण भट्ट के 'वेणु संहार' तथा बदरीनाथ भट्ट के 'वेन चरित्र' के कथानक में यह अन्तर है कि पहले में वेन के पुत्र पृथु का प्रसंग नहीं है, परन्तु दूसरे में नाटक के अन्त में सभी प्रजागण पृथु को सरपंच के रूप में स्वीकार करते हैं। इस प्रकार नाटककार ने आज के युग के अनुरूप प्रजातन्त्र-शासन प्रणाली को राजतन्त्र प्रणाली की अपेक्षा अधिक मान्यता दी है। आज विश्व के प्रायः सभी देशों में प्रजातन्त्र प्रणाली को मान्यता दी जा रही है और जनता में राजा को अवतार या ईश्वरांश मानने की भावना की अपेक्षा प्रजा ही ईश्वर है, यह भावना अधिक बल पकड़ रही है।

नाटक का नायक वेन अपनी क्रूरता एवं अत्याचारिता के लिए पुराण-प्रसिद्ध है। समस्त प्रजा के साथ नृशंसतापूर्वक व्यवहार करना उसे बड़ा प्रिय है।

वह राजनीति की विशेषता इसी बात में समझता है कि 'प्रजा की भलाई में राजा की हानि और राजा की भलाई में प्रजा की हानि समाई हुई है।'[1]

वेन स्वभाव से बड़ा उद्दण्ड एवं धृष्ट है। ऋषि-मुनि तथा अन्य बन्धुजनों के साथ उसका व्यवहार अत्यन्त ही असहनीय है। अंग से जब शासन की बाग-डोर वेन के हाथ में आ जाती है तो प्रजा का शोषण करना ही उसका धर्म बन जाता है। वह अपने पिता से कहता है—'अब धर्म यह है कि तरह तरह से खूब प्रजा का खून चूसा जाय और मज़े में गुलछर्रे उड़ाये जाएं। प्रजा में से कुछ आदमियों को जो बदमाश और गुण्डे हों अपनी तरफ़ मिला लिया जाय और उनके ज़रिये से भले आदमियों को खूब तंग किया जाय।'[2]

वेन को अंग्रेजों के समान प्रजा पर भेद-नीति में शासन करना अभीष्ट है। इसीलिए वह द्विजातियों तथा शूद्रों में परस्पर फूट डलवा देता है। वह स्वभाव से अहंकारी, मूर्ख, ज़िद्दी एवं क्रोधी है। वेन को जब इस का पता चलता हैं कि उसे सर्वसम्मति से राजा बनाया जा रहा है तब वह मुनिजनों के आदर की भी उपेक्षा करता हुआ इस प्रकार कहता है—'मैं तो राजा बना बनाया हूं, मुझे कौन बना सकता है और कौन उतार सकता है।'[3] अहंकारी इतना है कि वह अपने आप में ईश्वरांश समझता है और चाहता है कि लोग ईश्वर की अपेक्षा उसकी पूजा करें और वह क्रूर, निर्दयी एवं मूर्ख इतना है कि पशुओं को आराम करने और उनके स्थान पर आदमियों को काम करने की आज्ञा देता है। वह कहता है—'खेत के गोड़ने में, गाड़ियों के खींचने में और बोझा ढोने वगैरह के कामों में गूंगे और बहरे पशुओं को बड़ा कष्ट होता है। हमारा धर्म है कि सब के साथ एक सा सलूक करें। जाओ आज से सब लोग जानवरों को छुट्टी दे दो, उन्हें आराम करने दो, और बैलों, गधों, घोड़ों और खच्चरों वगैरह का काम बेगारियों से ही लो।'[4] और भी 'आज से हमारे शेरों और बघर्रो को जानवरों का मांस न खिलाया जाय, बल्कि जो औरतें, बच्चे और बूढ़े बेगार में पकड़े हुए आवें उनको जिन्दा ही पिंजड़े में डाल दिया जाय, और सब से पहले इस बूढ़े को डाला जाय जो इतनी देर से बकबक कर रहा है। भेड़-बकरियां दूध देती हैं इसीलिए उनकी रक्षा करना हमारा धर्म है......'[5] और जब प्रजा

१. वेनचरित्र, प्रथम संस्करण, पृ० १३।
२. वही, पृ० १६।
३. वेन चरित्र, पृ० ६१।
४. वेन चरित्र, पृ० ७८।
५. वही, पृ० ८०।

इसके ऐसे नृशंसता एवं क्रूरतापूर्ण अत्याचारों से तंग आ जाती है तब वे संगठित होकर इसके विरुद्ध विद्रोह करती है और उसे सूली पर चढ़ा देती है। नाटककार ने वेन के चरित्र से इस बात को स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि राजा प्रजा का सेवक है, इससे बढ़कर और कुछ नहीं और यदि राजा अपने अधिकारों का गलत ढंग से प्रयोग करेगा तो उसका अन्त वेन के समान ही होगा।

भारतेन्दु युग में कन्हैया लाल ने जैन कथा के आधार पर '**अंजना सुन्दरी**' की रचना की जिसमें पवनजय और अंजना की प्रेम कथा तथा हनुमान के जन्म की कथा का वर्णन किया गया है। सुदर्शन कृत '**अंजना**' (१९२२) का कथानक भी इसी कथा पर आधारित है। यह नाटक 'अंजना सुन्दरी' की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ है। घटनाओं और चरित्र-चित्रण में अधिक स्वाभाविकता है। पवन द्वारा अंजना का दी गई मुद्रिका में हस्ताक्षर वाला कागज़ छिपा रहने का प्रसंग 'अंजना सुन्दरी' नाटक में नहीं है। उसमें तो केवल मुद्रिका देने की घटना है। सुखदा ललिता के नाम से अंजना के यहा दासी का काम करती है, और अंजना के विरुद्ध सारे षड्यन्त्र का कारण बनती है। इसी के कारण ही नायक पवन को अंजना को वियोग और मानसिक यातना सहन करनी पड़ती है। परन्तु नाटककार ने अंजना का हृदय परिवर्तन करवा के नाटक में उत्पन्न सभी समस्याओं का समाधान गांधीवादी ढंग से प्रस्तुत किया है। वही सुखदा जो अंजना के एक दिन प्राण लेने तक के लिए और पवन को पाने के लिए षड्यन्त्र रचती है, आज वही विद्युत्प्रभ की कैद में पड़े हुए जीवन के अन्तिम क्षणों को गिनते हुए पवन को कारामुक्त कर और अपने प्राणों को संकट में डालकर उसके प्राणों की रक्षा करती है और इस प्रकार अपने पाप और दुष्कृत्यों का प्रायश्चित करती है। नारी में कितनी महान् शक्ति है। वह यदि किसी को प्रेम की दृष्टि से देखती है तो उसके लिए सर्वस्व न्यौछावर करने के लिए तैयार हो जाती है और यदि किसी को अपनी घृणा का पात्र बनाती है, तो उसके लिए चण्डी का रूप धारण कर लेती है। सुखदा के ये शब्द उसके ऐसे ही चरित्र को चरितार्थ करते है—'स्त्री के लिए कोई बात विचित्र नहीं। वह जो चाहती है कर सकती है, और जो चाहती है करा सकती है। केवल उसके हृदय में किसी बात के आने की देर है।'[१]

यद्यपि नायक पवन में धीरोदात्त और धीरललित नायक के गुण हैं, फिर भी नाटककार ने उसमें मानव-सुलभ दुर्बलताओं का परिस्थितियों के अनुरूप चित्रण कर उसके चरित्र को अधिक स्वाभाविक एवं यथार्थ बना दिया है।

---

१. अंजना, संस्करण १९५२, पृ० ११०।

गोविन्द बल्लभ पन्त के '**वरमाला**' नाटक (१९२५) का आधार मार्कण्डेय पुराण है।[1] नाटक में तीन अंक है। भूमण्डल के महाराजा करंधम का पुत्र अवीक्षित विदिशा की राजकुमारी वैशालिनी के स्वयंवर के एक दिन पूर्व उससे प्रणय का प्रतिदान मांगने के लिए जाता है, परन्तु वह इस प्रकार चोरों की तरह उस उपवन में प्रवेश करने वाले राजकुमार की उपेक्षा करती है। अगले दिन राजकुमार अवीक्षित बलपूर्वक उसका हरण कर लेता है। मार्ग से नदी के तट पर ज्यों ही अवीक्षित जल लेने के लिए जाता है, कि इतने में एक नक्र उसे निगलने लगता है। वह रक्षा के लिए पुकारता है। वैशालिनी बाण द्वारा उस नक्र को मारकर राजकुमार की प्राण-रक्षा करती है। इतने में विदिशा के महाराज विशाल अपनी सेना सहित अवीक्षित पर आक्रमण करते है और उसे बुरी तरह से घायल कर देते हैं, परन्तु वैशालिनी के अनुरोध से जिसके हृदय में अब उस के प्रति प्रेमांकुर प्रस्फुटित हो चुका है, वे अवीक्षित को अपने साथ विदिशा ले जाते हैं। इधर जब करंधम को यह सूचना मिलती है कि अवीक्षित विशाल के द्वारा बन्दी बना लिया गया है, तो वह उस पर आक्रमण कर देता है। परन्तु जब दोनों को वास्तविकता का ज्ञान होता है तो दोनों संधि कर अवीक्षित और वैशालिनी का विवाह करने के लिए तैयार हो जाते हैं। परन्तु जब अवीक्षित युद्ध में पराजय के भाव से आजन्म अविवाहित रहने की प्रतिज्ञा कर लेता है। दूसरे अंक में वैशालिनी राज-वैभव को छोड़कर संन्यासिनी के वेष में अपने प्रियतम को ढूंढने जाती है और तीसरे अंक में अवीक्षित वैशालिनी की एक राक्षस को मार कर प्राण-रक्षा करता है और इस प्रकार क्षात्र-धर्म का पालन करता है और अन्त में दोनों एक दूसरे को पति-पत्नी के रूप में स्वीकार कर लेते हैं।

नाटक का नायक अवीक्षित रोमांटिक गुणों से युक्त है। वह रूपवान्, सुन्दर, वीर, साहसी, निर्भीक एवं पराक्रमी है। वैशालिनी को वह बलपूर्वक हर ले जाता है। नाटककार ने परिस्थितियों के अनुरूप उसके मानसिक द्वन्द्व को भी स्पष्ट किया है। उसमें एक प्रेमी का हृदय है। उसमें क्षत्रियोचित वीर भाव है। राक्षस से वैशालिनी को बचाकर क्षात्र धर्म का पालन करता है। उसमें प्रायश्चित की भावना भी है। युद्ध में परास्त होने पर उसके मन में आत्मग्लानि की भावना आती है। वह अपने पिता के कहने पर भी वैशालिनी को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं होता, वरन् अनुताप-भावना से उन्हें इस प्रकार कहना है—'नहीं पिता जी, धृष्टता क्षमा हो। मैं वीर कुल-कलंक हूं, स्वयं स्त्री हूं।

---

१. मार्कण्डेय पुराण, अध्याय, ११९-१२५।

एक स्त्री का एक स्त्री के साथ कैसे विवाह हो सकता है ? जो प्रतिज्ञा वैशालिनी के ग्रहण से आरम्भ हुई थी, वह मेरे आजन्म अविवाहित रहने पर समाप्त हुई। यही मेरी कायरता का प्रायश्चित है। परमेश्वर मेरी आत्मा को बल दे। पिता जी ! आप आशीर्वाद दें।'[१]

इस युग में नल-दमयन्ती की प्रसिद्ध कथा के आधार पर दो नाटक लिखे गये। दुर्गाप्रसाद गुप्त कृत '**नल-दमयन्ती**' तथा डाक्टर लक्ष्मण स्वरूप कृत '**नल-दमयन्ती**' (१९४१)। दुर्गाप्रसाद गुप्त के नाटक की कथा तो बालकृष्ण भट्ट कृत 'दमयन्ती स्वयंवर' नाटक पर आधारित है और उसमें कोई विशेष नवीनता नहीं है।

परन्तु डाक्टर लक्ष्मण स्वरूप ने अपने नाटक में कई ऐसी नवीन एवं मौलिक उद्भावनाएं की हैं जिनसे नाटक की घटनाओं में अधिक स्वाभाविकता और चरित्र-चित्रण में यथार्थता आ गई है। नाटक की भूमिका में डाक्टर साहब लिखते हैं—'महाभारत में वर्णित नल-दमयन्ती की कथा में कुछ ऐसी घटनाएं हैं जो आजकल के शिक्षित-समुदाय को खटकती हैं और उनको अप्राकृतिक या अस्वाभाविक प्रतीत होती हैं, जैसे पक्षिराज हंस का नल और दमयन्ती के साथ संस्कृत में वार्तालाप करना। इस नाटक में ऐसी घटनाओं को नहीं रखा गया। महाभारत में दूत का कार्य पक्षी हंस करता है। अपने नाटक में दूत का कार्य मैंने एक व्यापारी द्वारा करवाया है और महाभारत की कथा का अध्यास रहने देने के विचार से उस व्यापारी का नाम हंस रख दिया है।

'महाभारत में चार देवता, इन्द्र, अग्नि, यम और वरुण दमयन्ती के रूप पर मोहित हो जाते हैं, उसके साथ विवाह करने के इच्छुक हैं, इसीलिए स्वयंवर में जाते है। दमयन्ती को धोखा देने के लिए वे नल का रूप धारण कर लेते हैं। इससे देवताओं का चरित्र बहुत उज्ज्वल वा उत्कृष्ट प्रतीत नहीं होता। वे रूपलोलुप, कामी और कपटी दिखलाये गये हैं। इस नाटक में केवल तीन ही देवताओं को लाया गया है। उनका स्वयंवर में सम्मिलत होना, और नल का रूप धारण करना चण्ड के घोर तप का परिणाम बतलाया गया है। इस प्रकार मेरे विचार में देवताओं के चरित्र से कलंक का टीका मिटा दिया गया है। एक आधुनिक नाटक में देवताओं को नाटक के पात्र बनाना अनुचित समझा जायगा। पहले मेरा भी विचार था कि देवताओं को स्वर्ग में ही रहने दिया जाय और नाटक के पात्र बनाकर उनको रंगमंच पर न लाया जाय। देवताओं को नाटक से निकाल देने में दो बाधाएं उपस्थित हो जाती हैं। एक तो दमयन्ती की कथा

---

१. वरमाला, संस्करण १९२५, पृ० ३९।

का देवताओं के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है कि उनको निकाल देने से जनता को कथा कुछ अधूरी सी प्रतीत होगी। दूसरे देवताओं की अपने प्रति आसक्ति को को जानते हुए भी, दमयन्ती का मरणधर्मा मनुष्य को वरना और अमर देवों को छोड़ देना, नल के प्रति उसके अगाध और अलौकिक प्रेम को सिद्ध करना है। दमयन्ती की प्रेम-परीक्षा के लिए यह एक भीषण कसौटी है। दमयन्ती इसमें पूरी उतरती है। मैं समझता हूं, भारत के इतिहास मे किसी भी युवती के प्रेम की ऐसी भीषण परीक्षा नहीं ली गई। देवताओ को निकाल देने मे दमयन्ती के अगाध प्रेम की इस अलौकिक कसौटी को छोड़ना पड़ता, इसीलिए देवताओं को नाटक में स्थान देने के लिए मैं विवश हुआ हू। पर देवताओ की संख्या घटा दी गई है क्योंकि संख्या घटाने से दमयन्ती की प्रेम-परीक्षा में कोई न्यूनता नहीं आती।

'महाभारत में कलियुग को एक देवता माना गया है। कलियुग का देवता ईर्ष्या और अकारण क्रोध से निरपराध नल को अनेक कष्ट देता है। मेरे विचार में इस प्रकार का आचरण एक देवता को शोभा नही देता। इसीलिए नल की विपत्ति का कारण मैंने कलियुग के देवता को न बना कर, ईर्ष्या आदि भावों से प्रेरित, एक प्रतिस्पर्धी सरदार चण्ड को बनाया है।'[1] इस प्रकार नाटक के कथानक में उन्होंने कई परिवर्तन किये है।

बालकृष्ण भट्ट तथा डाक्टर साहब के नाटको में अन्तर यह है कि भट्ट जी का कथानक नैषध महाकाव्य तथा महाभारत की कथा पर आधारित है डाक्टर साहब ने अपने नाटक के लिए केवल महाभारत (वनपर्व, अध्याय ५३-७९) की कथा को ही आधार माना है। नाटक की भूमिका मे डाक्टर साहब ने नल-दमयन्ती के उपाख्यान पर लिखे गये अपने इस नाटक को हिन्दी का पहला नाटक माना है।[2] यहां इस बात को स्पष्ट कर देना चाहिए कि इसी विषय पर डाक्टर साहब से पूर्व बालकृष्ण भट्ट द्वारा 'दमयन्ती स्वयंवर', सुदर्शनाचार्य द्वारा 'अनर्घ नल चरित्र', तथा दुर्गाप्रसाद गुप्त द्वारा 'नल-दमयन्ती' नाटक लिखे गये थे। अतः डाक्टर साहब का यह दावा कि 'इस विषय पर यह हिन्दी में पहला नाटक है गलत है। सम्भव है कि डाक्टर साहब की दृष्टि हिन्दी के इन नाटकों पर न पड़ी हो। भट्ट जी के नाटक का नायक नल धीरललित है परन्तु इस नाटक का नल धीरोदात्त नायक गुणों से युक्त है। वह तेजस्वी, महारथी, पराक्रमी, साहसी एवं निर्भीक है विकट मे विकट परिस्थिति में भी वह

---

१. नल-दमयन्ती नाटक (भूमिका), पृ० ३-४।

२. वही, पृ० २।

धैर्य को नहीं छोड़ता । स्वयंवर के बाद जब नल दमयन्ती के साथ वन में से गुजर रहे होते है तब पुष्पपुरी का राजा अपने सैनिकों के साथ उन पर आक्रमण कर देता है । नल बड़ी वीरता के साथ उन सब को धराशायी कर देता है और अपनी वीरता एवं अद्भुत साहस का परिचय करा देता है । नल कहीं भी आत्म-सम्मान एवं स्वाभिमान की भावना नष्ट नहीं होने देता । द्यूत में राज्य के हार देने पर जब दमयन्ती उन्हें अपने पिता के यहां चलने के लिए इस विचार से कहती है कि वे हमारी सहायता करेंगे तब वह उसे उत्तर देता है—'दूसरों की सहायता से सिंह अपना शिकार नहीं मारता । मैं अपने ही भुज-बल से अपना हारा हुआ राज्य प्राप्त करूंगा ।'

वह वीर तथा रूपवान् होने के साथ उदार हृदय भी है । विद्रोही चण्ड के सभी अपराधों को क्षमा कर उसे पुष्पपुरी का राज्य दे देता है । सम्भवतः नाटककार का विश्वास है कि व्यक्ति के हृदय परिवर्तन से हम अपने समाज की तथा निजी समस्याओं का समाधान ढूंढ सकते है ।

'नल-दमयन्ती' के अतिरिक्त दुर्गाप्रसाद गुप्त ने **'गौतम अहिल्या'** नाटक भी लिखा । एक बार मुनि विश्वामित्र घोर तप से ब्रह्मत्व की प्राप्ति करते है । इससे उनमें अभिमान आ जाता है । राजा जनक उन्हें इस प्रकार समझाते हैं—'महर्षि इस भांति अहंकार न कीजिए । आपने यदि ब्राह्मणत्व पाया है, तो वह ब्राह्मण जाति के विनय से अपने गुण से नहीं । और फिर यह याद रखिये कि यद्यपि आप ब्राह्मण हो चुके है, परन्तु आपका आसन ब्राह्मण के बहुत नीचे है:—

क्रोध और लोभ से ब्राह्मण सदा अज्ञान है ।
क्षमा और दया से ब्राह्मण का जग में मान है ।।
विश्व का उपकार जो कर्ता है, है धर्मात्मा ।
जीत ले जो इन्द्रियों को है बली वह आत्मा ।।
ब्रह्म को पहिचानने से विप्र समान है ।
आप में तो क्षत्रियों सा क्रोध है अभिमान है ।।'[१]

राजा जनक के इस कथन का प्रमाण लेने के लिए विश्वामित्र मुनि गौतम के पास जाते हैं और वे गौतम तथा अहिल्या के सुखी दाम्पत्य जीवन को देखकर अतीव प्रसन्न होते हैं । इधर गौतम एकाग्रता के लिए वन में जाकर तप करने का निश्चय करते हैं । अहिल्या उनसे सविनय निवेदन करती है कि आप मुझे भरे यौवन मैं इस प्रकार अकेले छोड़ कर न जायें । परन्तु वे नहीं मानते और अपने शिष्य घोंघा बसन्त तथा उसकी पत्नी मालती को अहिल्या की देख-

---

१. गौतम अहिल्या नाटक, संस्करण दूसरा, पृ० ८ ।

भाल के लिए छोड़ जाते हैं। इधर इन्द्र रति तथा मदन की सहायता से अहिल्या को अपने छद्म प्रेम-जाल में फंसाने में समर्थ होते हैं। अहिल्या इन्द्र के साथ भागने से पूर्व अपने पुत्र शतानंद का गला घोट देती है, परन्तु वह बच रहता है। बाद में इन्द्र अहिल्या को धोखा देकर स्वर्ग चले जाते हैं। गौतम जब पीछे से वापस लौटते हैं तो मालती से सारा वृतान्त जानकर अपने तपोबल से अहिल्या को इन्द्र के साथ एक पर्वत शिखर पर देखते है। उनका मन इस घटना से अत्यन्त ही विक्षुब्ध हो जाता है। वे शतानन्द को राजा जनक के यहा छोड़कर स्वयं विरक्त हो कैलाश पर्वत पर भगवद् भजन के लिए जाते है। वहीं पर उन्हें राजा जनक के एक दूत द्वारा सीता-विवाह का निमंत्रण मिलता है। राम और लक्ष्मण भी विश्वामित्र के साथ सीता-स्वयंवर में जाते हैं। मार्ग मे शिला के रूप में पड़ी हुई अहिल्या का राम के चरण-स्पर्श से उद्धार होता है। राम के ही कहने पर वह पति से अपने पापों की क्षमा याचना के लिए राजा जनक के दरबार में जाती है। अहिल्या अपने आपको कलंकिनी, पापिनी, दुष्टा, और अभागिन कहती है। गौतम उसके अपराध को क्षमा कर उसे हृदय से लगा लेते है। यह सब देख कर मुनि विश्वामित्र उससे कहते हैं—'तुम इतने उच्च हो? इतने पवित्र और महान् हो? इतने क्षमाशील हो? इतने उदार हो? ब्राह्मण! मैं तुम्हारे आगे सिर झुकाता हूं। राजर्षि जनक! तुमने बहुत ठीक और सच बात कही थी। आज मैं समझ गया कि ब्राह्मणत्व पाकर भी मैं यथार्थ ब्राह्मण नहीं हो सका हूं। जान गया मैं ब्राह्मणत्व के बहुत नीचे पड़ा हूं!

क्षमा दया सहिष्णुता यह विप्र का शृंगार है।
सत्य ब्राह्मण ही जग में ब्रह्म का अवतार है।'[३]

नाटक के नायक मुनि गौतम गुणों से धीरशान्त हैं। वे सहृदय, दयाशील, सहिष्णु और क्षमाशील है। वे अपने तपोवन से ही अपनी पत्नी अहिल्या के दुष्कृत्य को जान लेते है और बाद में उसके द्वारा अपने पाप कृत्य की क्षमा-याचना पर उसे क्षमा भी कर देते हैं। यही उनकी उदारता है।

भारतेन्दु युग में लाला श्रीनिवास दास आदि कई लेखकों ने प्रह्लाद चरित्र पर नाटक लिखे और नाटककारों ने यथासम्भव उनमें पौराणिकता की रक्षा करने का प्रयास भी किया। इस युग मे भी भक्त प्रह्लाद के चरित्र पर दो नाटक लिखे गये, जिनमें लेखकों ने पौराणिकता के साथ-साथ सामयिक चित्रण को भी महत्व दिया। इसे युग-चेतना का प्रभाव ही माना जा सकता है। गांधी जी द्वारा संचालित सत्याग्रह एवं स्वराज्य-प्राप्ति के आन्दोलनों ने जहां देश के

---

३. गौतम अहिल्या नाटक, पृ० ११६-११७।

लोगों में देश-प्रेम की भावना तथा राष्ट्रीय चेतना को जाग्रत किया, साथ ही उनमें अंग्रेज़ी शासन के अन्याय एवं कठोरता के प्रति विद्रोहात्मक भावना को भी जन्म दिया। ऐसे ही विरोध के स्वर हमें बलदेव प्रसाद खरे के **'सत्याग्रही प्रह्लाद'** (१९२२) तथा राधेश्याम कथावाचक के **'परम भक्त प्रह्लाद'** (१९२५) के नाटकों में मिलते हैं। इन दोनों ही नाटकों में बालक प्रह्लाद अपने पिता हिरण्यकशिपु की स्वार्थपरता, अन्यायपूर्ण शासन-नीति का विरोध करता है और देश के लोगों में भगवद्-भक्ति, देश-सेवा, सदाचार, दया, धर्म, न्याय और नीति तथा सत्य-पालन की भावना का प्रचार करता है। चूंकि हिरण्यकशिपु को अपनी अहंकारी एव दम्भी वृत्ति के कारण ये सब बातें पसन्द नहीं थीं, इसीलिए वह प्रह्लाद को मरवाने के लिए अनेक प्रकार के साधनों का प्रयोग करता है परन्तु हर बार वह परम प्रभु की अनुकम्पा से वच जाता है। इससे उसके क्रोध की सीमा नहीं रहती और वह स्वयं अपने हाथों उसका वध करने लगता है, उसी समय भगवान् नृसिंह वेश में अवतरित होकर हिरण्यकशिपु का वध कर देते हैं। इस प्रकार देश में अन्यायपूर्ण शासन का अन्त होता है।

बलदेव प्रसाद खरे के नाटक का आधार 'नरसिंह चम्पू'[1] है तथा राधे श्याम कथावाचक के नाटक का श्रीमद्भागवत।[2] यही कारण है कि इन दोनों नाटकों की घटनाओं में थोड़ा अन्तर आ गया है। राधेश्याम के नाटक में एक शूद्र सेवक वक्रमूर्ति प्रह्लाद को विष मिला दूध पिलाता है और खरे के नाटक में उसकी माता स्वयं दूध पिलाती है। राधेश्याम के नाटक में हिरण्यकशिपु स्वयं नृसिंह द्वारा स्वप्न में अपना वध देखता है और खरे के नाटक में यह स्वप्न प्रह्लाद की माता देखती है। राधेश्याम के नाटक में सभी दरबारी नाटक के अन्त में हिरण्यकशिपु के प्रति विद्रोह करते हुए और प्रह्लाद को राजा के रूप में स्वीकार करते हुए दिखाये गये है परन्तु इस प्रकार की घटना किसी भी अन्य प्रह्लाद सम्बन्धी नाटक में नहीं मिलती।

दोनों नाटकों में नाटक का नायक बालक प्रह्लाद है। वह भगवान् का भक्त तो है ही, साथ ही अपने पिता के अन्यायपूर्ण शासन के प्रति विद्रोह भी करता है। परन्तु यह विद्रोह शान्तिपूर्ण ढंग से ही होता है।

नायक के चरित्र-चित्रण की दृष्टि से राधेश्याम कथावाचक का **'ऊषा-अनिरुद्ध'** नाटक (१९२५) अत्यन्त ही शिथिल रचना है। नाटक की कथा

---

१. सत्याग्रही प्रह्लाद, वक्तव्य, पृ० ख।

२. परम भक्त प्रह्लाद, पृ० ३।

श्रीमद्भागवत पर आधारित है और ऊषा तथा अनिरुद्ध की प्रेम कथा के माध्यम से शैव और वैष्णवों का परस्पर संघर्ष दिखलाना और अन्त में उनका समन्वय दिखाना ही नाटककार को अभीष्ट है। भारतेन्दु युग में भी इसी कथानक को लेकर कार्त्तिक प्रसाद खत्री तथा कुंवर पाल सिंह ने नाटक लिखे थे और उन नाटकों में नायक अनिरुद्ध था, परन्तु राधेश्याम के नाटक में नाटककार ने अनिरुद्ध को बहुत गौण महत्व दिया है। इस नाटक का नायक अनिरुद्ध न होकर बाणासुर है जो भगवान् शिव का भक्त है लेकिन वैष्णवों का कट्टर शत्रु। इसीलिए वह अपने राज्य में वैष्णव भक्तों को अनेक प्रकार के दुःख देता है। इस प्रकार वह भगवान् शिव द्वारा दिये गये 'अजेय शक्ति' के वरदान का अनुचित रूप से प्रयोग करता है। जब उसे नारद मुनि से यह पता चलता है कि उसकी कन्या ऊषा किसी वैष्णव के साथ विवाही जायगी तो उसके क्रोध की सीमा नहीं रहती। नारद उसे इस घटना के शोचनीय भवितव्य की ओर भी संकेत करते है। इस पर वह नारद से अभिमानपूर्ण वचन कहता है—'मैं शिवजी का अनन्य भक्त हूं। शैव सम्प्रदाय का प्रचारक हूं। जब तक पृथ्वी पर मेरा यह पांव है, इस पांव के ऊपर यह छाती है, इस छाती के ऊपर यह हाथ है, इस हाथ में यह जबरदस्त गदा है, तब तक कौन ऐसा माई का लाल है जो युद्ध में मुझे परास्त कर सकता है।'[१] इस प्रकार बाणासुर अपनी कन्या ऊषा का किसी वैष्णव के साथ विवाह न करने का निश्चय कर लेता है और अपनी ओर से उसके लिए सभी सम्भव प्रयास भी करता है। परन्तु भावी की अटलता के समक्ष उसे झुकना पड़ता है। भगवान् शिव तथा कृष्ण की कृपा से ऊषा अनिरुद्ध का विवाह हो जाता है। नाटक के अन्त में कृष्ण उसे इस प्रकार आशीर्वाद देते हैं—'वीर बाणासुर ! हम और शिव वास्तव में एक हैं, वे मूर्ख हैं जो दोनों में भेद समझते हैं। यह तो एक होनहार बात थी जो होकर रही किन्तु अब हमारा आशीर्वाद है कि तुम्हारा राज्य अटल रहेगा, और तुम्हारे हृदय से अज्ञान का पर्दा हट कर ज्ञान का स्रोत बहेगा।'[२]

नाटककार ने नायक बाणासुर के वीर, दम्भी, अहंकारी एवं ईर्ष्यालु गुणों को ही नाटक में उभारने का प्रयास किया है।

उदयशंकर भट्ट इस युग के सशक्त नाटककार हैं। इन्होंने अपने नाटकों के कथानक पुराणों तथा इतिहास के अतिरिक्त वर्तमान समाज से भी लिए हैं। समाज की जीर्ण-शीर्ण रूढ़ियों एवं परम्पराओं के प्रति भट्ट जी ने सदा ही

---

१. ऊषा-अनिरुद्ध नाटक, संस्करण १९५०, पृ० २९।

२. वही, पृ० १२०।

विद्रोह किया है और यह प्रवृत्ति न केवल उनके सामाजिक नाटकों में ही देखी जा सकती है, वरन् पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों में भी। इस युग के भट्ट जी के चार पौराणिक नाटक हैं— विद्रोहिणी अम्बा (१९३५), सगर विजय (१९३७), मत्स्य गंधा (१९३७) तथा विश्वामित्र (१९३८)। इनमें अन्तिम दो गीति नाट्य है।

'विद्रोहिणी अम्बा' की कथा महाभारत पर आधारित है।[1] इसमें नाटककार ने भीष्म द्वारा काशिराज की तीनों कन्याओं—अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका के हरण कर लेने की प्रतिक्रिया स्वरूप अम्बा की प्रतिकार एवं प्रतिशोध की भावना का बड़े ही सुन्दर ढंग से चित्रण किया है। स्वयंवर के कुछ दिन पूर्व काशिराज स्वप्न में अपनी इन तीनों कन्याओं का किसी भीमकाय व्यक्ति द्वारा बलपूर्वक हरण देखते है। इससे वे बड़े चिंचित हो जाते हैं। अम्बा इस स्वयंवर में काशिराज भीष्म के भाइयों को धीवर कन्या के पुत्र समझ कर आमन्त्रित नहीं करते। इस पर भीष्म माता सत्यवती के कहने पर इस अपमान का बदला लेने के लिए स्वयंवर के दिन काशिराज की इन तीनों कन्याओं को बलपूर्वक हर ले आते हैं। चूंकि अम्बा स्वयंवर के पूर्व ही हृदय से सौभराज शाल्व को पति रूप में वरण कर लेती है इसलिए भीष्म उसे उसके पास जाने की अनुमति दे देते हैं परन्तु अब शाल्व उसे अपनाने से इंकार कर देता है। अम्बा इसके लिए भीष्म को अपराधी एवं उत्तरदायी समझती है। अतः वह भीष्म से इस अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए परशुराम से सहायता की भिक्षा मांगती है। परशुराम अपने शिष्य भीष्म को अम्बा के साथ विवाह कर इस पाप का प्रायश्चित करने के लिए कहते हैं, परन्तु भीष्म आजीवन ब्रह्मचारी रहने के प्रण के कारण गुरु की आज्ञा सविनय अस्वीकार कर देते है। इस पर परशुराम उन्हें अपने साथ युद्ध करने के लिए प्रेरित करते हैं। भीष्म अपने गुरु के साथ युद्ध करना स्वीकार नहीं करते। परन्तु परशुराम के अनुरोध पर वे उससे युद्ध करते है और उन्हें पराजित करते हैं। वे उन्हें 'अजेय' होने का आशीर्वाद देते है। तदनन्तर अम्बा परशुराम के कहने पर भगवान् शिव को अपनी तपस्या से प्रसन्न करती है और उनसे भीष्म के नाश का वरदान मांगती है। शिव उसे इस जन्म में तो नहीं परन्तु अगले जन्म में शिखण्डी बनकर भीष्म का नाश करने में समर्थ होने का वरदान देते है। नाटक के अन्तिम दृश्य में नाटककार ने महाभारत के युद्ध के दृश्य में भीष्म की मृत्यु दिखाई है जिसका कारण शिखण्डी के रूप में अम्बा बनती है।

---

१. महाभारत (आदिपर्व) अध्याय ३४-३५।

नाटककार ने इस नाटक में वर्तमान नारी की परवशता तथा उससे मुक्त होने की अदम्य आकांक्षा का सफल चित्रण किया है। अम्बा आज के ऐसे ही नारीवर्ग का प्रतिनिधित्व करती है जो नारी परतन्त्रता और सामाजिक रूढ़ियों एवं कुरीतियों के प्रति विद्रोह करती है। नाटककार ने अधेड़ आयु के पुरुषों द्वारा तरुणियों के साथ विवाह करने की सामाजिक कुरीति का प्रबल विरोध किया है। विचित्रवीर्य तथा चित्रांगद में कायरता, दुर्बलता एवं भीरुता की भावना इसी सामाजिक कुरीति के परिणाम की सूचक है।

नाटक के नायक भीष्म अभिमानी पुरुषत्व के प्रतीक हैं जो अपनी शक्ति और विवेक के बल पर नारी वर्ग पर अधिकार रखने की सामर्थ्य रखते हैं। सत्यवती के शब्दों में वे सुधी भी हैं और बली भी। अकेले ही स्वयंवर से बल-पूर्वक काशिराज की तीनों कन्याओं का हरण कर लाना, गन्धर्व चित्रसेन तथा उसकी सेना को पराजित करना उनकी निर्भीकता एवं पराक्रम का परिचायक है। वीर और सत्यव्रती होने के साथ-साथ वे दयालु एवं कर्त्तव्यनिष्ठ भी हैं। भीष्म में इतने गुण होते हुए भी नाटककार ने उनके द्वारा काशिराज की कन्याओं के अपहरण के अपराध को क्षम्य नहीं किया। यद्यपि भीष्म अपने पौरुष के बल पर अम्बा आदि का अपहरण कर लाये, चित्रसेन तथा उसकी सेना को पराजित कर आये, अपने गुरु परशुराम को परास्त करने में समर्थ हुए, परन्तु नाटककार ने अन्त में विजय श्री तो मानसिक तथा शारीरिक रूप में अम्बा को ही प्रदान की है। यही नहीं उन्होंने तो स्वयं भीष्म को भी इस पापाग्नि में अनुताप करते हुए दिखाया है। प्राण त्यागने से कुछ ही क्षण पूर्व वे कहते हैं—'गोविन्द, समझा, सब समझा। अम्बा ने मुझ से मेरे वंश से पूरा बदला लिया। एक स्त्री के अनादर का परिणाम देश का नाश हुआ। और दूसरी...जाता हूं—जाता हूं।"[1]

'विद्रोहिणी अम्बा' के समान **'सगर विजय'** (१९३७) में भी भट्ट जी ने बर्हि के चरित्र द्वारा नारी की प्रतिशोध-भावना एवं भयानक क्रूरता का चित्र खींचा है। इसके ठीक विपरीत राजा बाहु की दूसरी गर्भवती रानी विशालाक्षी सौहार्दपूर्ण, श्रद्धामय एवं साक्षात् दया की प्रतिमा है जो पति की मृत्यु के उप-रान्त और्व ऋषि की आज्ञा को मान कर वंश-रक्षा के हेतु सती न होना स्वीकार करती है। इस प्रकार भट्ट जी ने नारी के दोनों रूपों का परिस्थि-तियों के परिपार्श्व में बड़े ही सुन्दर ढंग से उद्घाटन किया है।

नाटक का आधार पौराणिक है परन्तु उसमें सामयिकता का जीवन्त स्पन्दन

---

१. विद्रोहिणी अम्बा, पृ० १०१।

मिलता है। अंग्रेज़ों के कठोर एवं क्रूर शासन के विरुद्ध समस्त भारतीय जनता ने विद्रोह किया था। 'सगर विजय' में भी सभी अयोध्यावासी हैहयवंशी दुर्दम के अन्याय एवं अत्याचारपूर्ण शासन के प्रति गुरु वशिष्ठ के नेतृत्व में विद्रोह करती है। यहां तक कि दुर्दम की सेना भी प्रजा के साथ मिल जाती है और दुर्दम को जनता की आवाज़ के समक्ष अपनी पराजय को स्वीकार करना पड़ता है। सगर विजयी बनता है और इस प्रकार वह दुर्दम द्वारा अपने पिता के छीने हुए राज्य को फिर से प्राप्त करता है। जनता एक स्वर से उसे अपना राजा स्वीकार करती है। सगर की यह विजय अनीति पर नीति की, नृशंसता पर मानवता की विजय की प्रतीक है।

सगर नाटक का धीरोदात्त नायक है। वह वीर, पराक्रमी और निर्भीक है। नाटक के अन्त में जब वह दिग्विजयी होकर लौटता है तो मार्ग में ही त्रिपुर द्वारा राजमाता विशालाक्षी की मृत्यु का दुखद समाचार मिलता है। इस वज्रपात के कारण एक क्षण तो उसके मन में उदासीनता, दुर्बलता और विरक्ति की भावना आती है और वह सब कुछ छोड़कर जाने के लिए तैयार होता है, परन्तु दूसरे ही क्षण उसे देश के प्रति अपने कर्तव्य का ध्यान आता है जहां 'राष्ट्र के आगे व्यक्ति का, जाति का, नगर का और प्रान्त का कोई मूल्य नहीं है।' राजा का व्यक्तित्व भी तो उसके समक्ष कुछ नहीं है। वह तो प्रजा की इच्छा और राष्ट्र की धरोहर है। वह तो उसका केवल साधन मात्र है, साध्य तो प्रजा और राष्ट्र का सुख है। यह राष्ट्र ही उसकी माता, उसका पिता, उसका गुरु और उसका सर्वस्व है। इस प्रकार वह राष्ट्र और प्रजा के प्रति अपनी कर्तव्य-भावना को पहचान कर उसकी सेवा का व्रत लेता है। कर्तव्य की इसी प्रकार को सगर त्रिपुर से इस प्रकार कहता है—'तुमने ठीक कहा—'जीवन एक संग्राम है। कर्तव्य की जागरूकता उस संग्राम की महत्ता है।' स्वर्गीय महाराज और प्रजा की छोटी-सी इच्छा पूर्ण हो जाने पर मेरे कर्त्तव्य की 'इति' नहीं हो जाती। मेरे सामने कर्तव्य का महासागर लहरा रहा है। राष्ट्र के उनींदे प्राण मुझे पुकार रहे हैं। नहीं, अब मैं कहीं न जाऊंगा। (सोचकर दुहराते हुए) नहीं जाना था कि पर्वत की चट्टानें भी पानी पड़ते ही बालू की तरह बैठ जायेंगी ? ओह, मैं क्या कर रहा था ? कितनी भूल थी ? नहीं अब नहीं ! यह सम्पूर्ण वसुमती, जिसने मेरा लालन किया, माता विशालाक्षी की प्रतिमा बनकर मेरी ओर देख रही है। ये सरिताएं और वे महासागर उस मां के मन्दहास हैं, उसकी प्रतिध्वनि है, उसे अट्टहास में बदलना होगा। ये भूधर उसकी इच्छाएं हैं उन्हें और भी ऊंचा उठाना होगा। मेरी सारी साध मां के आंसू पोंछने को होगी। मैं मां की धूलि मस्तक पर चढ़ाकर

प्रतिज्ञा करता हूं कि मेरा रोम-रोम उनकी सेवा के लिए होगा।"[1] स्पष्टतः सगर के इन शब्दों में सामयिक युग की राष्ट्रीय चेतना साकार हो रही है।

संस्कृत में भट्ट नारायण के 'वेणी-संहार' के आधार पर द्विवेदी युग में बदरीनाथ भट्ट ने 'कुरुवन-दहन' नाटक लिखा और इस युग में डाक्टर कैलाश नाथ भटनागर ने उसी के आधार पर **'भीम प्रतिज्ञा'** (१६३४) की रचना की। कई एक स्थलों पर नाटककार ने वेणी संहार के कुछ एक प्रसंगों का अक्षरशः अनुवाद ही कर दिया है। भावानुवाद तो प्रायः अनेक स्थानों पर देखा जा सकता है।

नारी की प्रतिहिंसा की अग्नि का प्रचण्ड स्वरूप हम भट्ट जी के 'विद्रोहिणी अम्बा' और 'सगर-विजय' नाटकों में देख चुके है। भट्ट जी की अम्बा भीष्म से अपने अपमान का बदला लेने के लिए इसीलिए आत्महत्या करती है ताकि दूसरे जन्म में वह शिखण्डी बनकर इसका बदला ले सके। और दूसरी ओर भटनागर जी के नाटक 'भीम-प्रतिज्ञा' में दुःशासन और दुर्योधन द्वारा किये गये द्रौपदी के अपमान के प्रतिशोध की भावना महाभारत के युद्ध का कारण बनती है। धर्मराज युधिष्ठिर दुर्योधन से संधि करना चाहते है, परन्तु द्रौपदी के अपमान की प्रतिहिंसा की ज्वाला में जलते हुए भीम को संधि की नीति स्वीकार नहीं है। वह उनसे कहता है—'धर्मराज ! आप बड़े भाई है, आपकी आज्ञा से ही मैं अपने जलते हुए हृदय को रोक रहा हूं। अवधि समाप्त होने पर······ अवधि समाप्त होने पर कृष्णा का अपमान करने वाले दुर्योधन और दुःशासन के रक्त से उसके खुले जूड़े को बांधूगा। मैं जग-मद-मर्दनकारी अपनी गदा से दुर्योधन की जांघ को अवश्य चूर-चूर करूंगा।'[2] अपनी इस प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिए नायक भीम धर्मराज की आज्ञा का भी उल्लंघन करने के लिए तैयार हो जाता है। भीमकाय भीम अपने अतुल पराक्रम और साहस के द्वारा दुःशासन और दुर्योधन को मारने में सफल होता है और उसकी प्रतिज्ञा-पूर्ति के साथ ही नाटक समाप्त हो जाता है।

बदरीनाथ भट्ट के 'कुरुवन-दहन' के भीम के समान इस नाटक के नायक भीम में भी वीरोचित गुण है। वह अतुल पराक्रमी और योद्धा तो है ही, क्रोधी आत्मश्लाघी भी है। वह द्रौपदी के अपमान और प्रतिहिंसा की ज्वाला में जलता है। अपने दोनों शत्रुओं दुःशासन और दुर्योधन को मारकर ही वह इस ज्वाला को शान्त करता है।

---

१. सगर-विजय, पृ० ११०-१११।
२. भीम प्रतिज्ञा, संस्करण १६३४, पृ० १६।

डाक्टर कैलाश नाथ भट्टनागर के 'श्रीवत्स' (१६४१) की कथा शनैश्चर-माहात्मय' पर आधारित है। इसमें नाटककार ने प्राग्ज्योतिषपुर के राजा श्रीवत्स की धर्मशीलता, दानशीलता तथा न्याय-परायणता का चित्रण किया है। एक बार लक्ष्मी और शनि में 'हम दोनों में से कौन बड़ा है'—इस बात को लेकर कलह हो जाता है। वे दोनों इस बात का निर्णय कराने के लिए इन्द्र के पास जाते हैं, परन्तु वे इन दोनों के साथ पूर्व परिचय होने के कारण पक्षपात के भय से अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं और इन दोनों को श्रीवत्स के पास भेजते हैं जो अपनी न्यायप्रियता के कारण प्रसिद्ध है। लक्ष्मी और शनि दोनों श्रीवत्स के पास जाकर अपने आने का कारण बताते हैं। वे उन्हें अगले दिन आने के लिए कहते हैं। अगले दिन शनि स्वतः ही श्रीवत्स के दरबार में आकर चांदी के सिंहासन पर बैठ जाता है और लक्ष्मी सोने के। इस प्रकार इन दोनों के आचरण से ही 'लक्ष्मी और शनि में कौन बड़ा है'—इस बात का निर्णय हो जाता है। शनि इसे अपमान समझता है। परन्तु श्रीवत्स बड़े ही विनम्र शब्दों से उसे समझाते है—'देव ! निर्णय में मेरा कुछ हाथ नहीं। मेरे कहने से आप इस सिंहासन पर नहीं बैठे। आप दूसरे सिंहासन पर बैठ सकते थे, परन्तु जगत् का धर्म है कि अपने से ऊंचे के आगे सिर झुकाया जाय। आपने भी इसी धर्म का पालन किया है।'[1]

श्रीवत्स के इन वचनों से शनि सन्तुष्ट नहीं होता और वह अपने इस अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए तैयार हो जाता है। इधर लक्ष्मी श्रीवत्स की न्याय-बुद्धि पर प्रसन्न होकर उसे शनि के प्रकोप से बचाने के लिए अपना सहयोग देने का वचन देती है। शनि के प्रकोप से श्रीवत्स तथा उसकी पत्नी चिन्ता को बारह वर्ष तक अनेक प्रकार के कष्ट सहने पड़ते हैं। श्रीवत्स राज्य को छोड़ देते हैं। पत्नी का वियोग भी सहन करना पड़ता है फिर भी वे अपने साहस और धैर्य को नहीं त्यागते। अन्त में बारह वर्ष की अवधि के पूर्व होने पर श्रीवत्स के सब कष्ट समाप्त हो जाते हैं और शनि देवता श्रीवत्स की कर्तव्य-परायणता एवं धैर्यशीलता से बड़े प्रसन्न होते हैं। उन्हें उनका खोया हुआ राज्य और पत्नी भी मिल जाती है। अन्त में नारद उन्हें कहते हैं—'तुम्हारी उदारता और न्यायपरता पर इन्द्र भी मुग्ध हैं। यह घटना संसार में सदा अमर रहेगी। कष्ट में पड़े हुए मानव तुम्हारा नाम स्मरण कर धीरज पायेंगे। पुत्री चिन्ता ! तुम्हारा नाम नारी जाति के लिए पति-प्रेम और सहनशीलता का आदर्श स्थापित

---

१. श्रीवत्स, संस्करण १६४६, पृ० २७।

करेगा। तुम पर लक्ष्मी की सदैव कृपा रहे।"[1]

नाटक के नायक श्रीवत्स आदर्श एवं उदात्त गुणों से युक्त है। सत्कर्म उन के जीवन का आदर्श है। वे अपनी दानवीरता, धर्मशीलता एवं न्यायप्रियता के लिए प्रसिद्ध है। वे स्वभाव से विनीत, शान्त, साहसी, धैर्यशील और अतिथिजनों का आदर-सत्कार करने वाले है। संकट के समय भी वे भगवान् से यही प्रार्थना करते है कि वे उसे 'सत्पथ' पर चलने की सामर्थ्य दें। उन पर शनि का प्रकोप बारह वर्ष रहता है, और इस लम्बी अवधि में वे अपनी धैर्यशीलता एव कर्तव्य-परायणता से समस्त भूलोक एवं देवलोक को आश्चर्य चकित कर देते है। संसार में ऐसे महान् व्यक्तियों का आदर्श चरित्र सर्वदा अनुकरणीय है।

रामकथा में अभी तक सभी लेखकों ने राम के आदर्शचरित पर ही दृष्टि डाली है, उसके दिव्य एवं लोकोत्तर चरित को ही श्रद्धावश चित्रित किया है और रावण, मेघनाद आदि पात्रो की गणना असत् पात्रों मे की है। परन्तु बगला के प्रसिद्ध कवि एवं नाटककार माइकेल मधुसूदन दत्त ने 'मेघनाद-वध' महाकाव्य में कथानक की इस परम्परागत रूढ़ि के प्रति विद्रोह दिखाया है। इसमे रावण और मेघनाद आदर्श चरित्रों के रूप में चित्रित हुए है और कवि ने लक्ष्मण द्वारा छल से मेघनाद-वध के कृत्य की निन्दा की है। यही नहीं राम और लक्ष्मण के चरित्र में भीरुत्व और आत्महीनता की भावना दिखाकर कवि ने रूढ़िगत राम-चरित के प्रति विद्रोह किया है। इसी 'मेघनाद-वध' महाकाव्य के आधार पर आचार्य चतुरसेन ने **'मेघनाद'** (१९३६) नाटक की रचना की। इसमें नाटक-कार ने राम और लक्ष्मण को मायावी मानव के रूप में चित्रित किया है। नाटक में रावण और मेघनाद के अजेयत्व को प्रतिष्ठापित करते हुए नाटककार ने इस बात का वर्णन किया है कि रामादि दैवशक्ति के प्रभाव के कारण ही इन अतुल पराक्रमी वीरों को पराजित करने में समर्थ हुए हैं।

नाटक का नायक मेघनाद राक्षस नहीं मानव है और उसमे वीरोचित सभी गुण विद्यमान हैं।

जमुनादास मेहरा के **'विश्वामित्र'** (१९२१) तथा **'कृष्णसुदामा'** नाटक (१९२४) पारसी रंगमंचीय शैली से प्रभावित है। 'विश्वामित्र' में विश्वामित्र और वशिष्ठ के संघर्ष तथा विश्वामित्र के अभिमान-मर्दन की कथा वाल्मीकि रामायण पर आधारित है।[2] नाटक के नायक विश्वामित्र वशिष्ठ को नीचा दिखाने के लिए घोर तप करके भगवन् ब्रह्मा से 'ब्रह्मर्षि' का पद तो पा लेते है--

---

१. श्रीवत्स, पृ० १६८।

२. वाल्मीकि रामायण, अध्याय, ५१-६३।

परन्तु उनमें ब्राह्मणत्व के विशिष्ट गुण दया, क्षमाशीलता तथा अभिमान का त्याग आदि नहीं आ पाते। इसी कारण उन्हें बड़ी आत्म-ग्लानि भी होती है और वे वशिष्ठ से क्षमा याचना करते हैं। नाटक के अन्त में वे वशिष्ठ से कहते हैं—'बस, बस, मुझ में इसी शक्ति का अभाव है। मैं बार-बार यही देख रहा हूं, कि मैं ही अभिमानी हूं। मुझ में जो त्रुटि है वह मेरा हृदय स्वयं प्रकाश कर रहा है। मैं क्षमाहीन और कठोर हृदय हूं। इतने तप करने पर भी मेरा तम दूर न हुआ। एक बार अप्सराओं को अभिशाप देकर आया तो दूसरी बार हत्या पर उद्यत हूं। धिक्कार है मेरी तपस्या पर ! धिक्कार है मेरे ब्रह्मर्षि पर ! और शतबार धिक्कार है मेरी ब्रह्मर्षित्व लाभ की आकांक्षा पर ! उस क्रोध ने मेरा मान अभिमान भंग कर दिया, इस बाह्मण के महत्व जानने के योग्य मैं कदापि नहीं हो सकता। (वशिष्ठ से) क्षमा करो। ब्रह्मर्षि ! क्षमा करो ! अब आहुति प्रदान न करो।'[1]

वशिष्ठ बिश्वामित्र के हृदय में अनुताप-भावना देखकर उसे क्षमा कर देते हैं और उसे 'ब्रह्मर्षि स्वीकार कर लेते है।

'कृष्ण सुदामा' नाटक में भगवान् कृष्ण द्वारा अपने सखा एवं भक्त सुदामा के दारिद्र्य-मोचन की प्रसिद्ध कथा है। नाटक के नायक सुदामा दरिद्र ब्राह्मण हैं। द्ररिद्रता के कारण उनमें आत्महीनता की भावना प्रबल है। भाग्यवाद में उनकी आस्था है। विकट से विकट परिस्थिति में भी वे भगवद्भजन को नहीं छोड़ते।

आनन्दप्रसाद कपूर कृत **'परीक्षित'** नाटक की कथा महाभारत पर आधारित है। इसमें महाभारत के युद्ध में पाण्डवों के विजयी हो जाने के बाद अभिमन्यु के स्मारक रूप परीक्षित के राज्याभिषेक, श्रृंगी ऋषि के शाप तथा सर्पराज तक्षक द्वारा उनके काटे जाने की कथा है। राजा परीक्षित धीरोदात्त नायक हैं। वे आखेट प्रिय, वीर, धर्म-रक्षक गौ तथा ब्राह्मणों की रक्षा करने वाले हैं। एक बार कलि के प्रभाव से वे ऋषि भिंडी के गले में मृत सांप को डाल कर उसका अपमान कर देते हैं, उसी का दण्ड वे उनके पुत्र ऋषि श्रृंगी के शापवश तक्षक नाग से डसे जाने पर प्राण-त्याग कर भोगते हैं।

इस बात का विवेचन पिछले अध्याय में किया जा चुका है कि सन्त-जीवन पर आधारित ऐतिहासिक नाटकों का विवेचन उनके जीवन की अलौकिक एवं चमत्कारपूर्ण घटनाओं के कारण पौराणिक नाटकों के अन्तर्गत ही किया जाना चाहिए। इस युग में इस प्रकार के ये नाटक उपलब्ध होते है—पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' कृत 'महात्मा ईसा' (१९२२) बदरीनाथ भट्ट कृत 'गोस्वामी

---

१. विश्वामित्र, पृ० ८४-८५।

तुलसीदास (१९२२) कृष्ण कुमार मुखोपाध्याय कृत 'तुलसीदास नाटक' (१९२९) तथा वियोगी हरि कृत 'प्रबुद्ध यामुन'।

किंवदन्ती है कि महात्मा ईसा एक बार भारत आये थे। इसी धारणा के आधार पर उग्र जी ने '**महात्मा ईसा**' नाटक की रचना की है। नाटक में ईसा जिस रूप में चित्रित किये गये हैं, नाटककार की दृष्टि में उनका ऐसा व्यक्तित्व भारतीय संस्कृति का बहुत ऋणी है। वे यहां पर बारह वर्ष के लगभग रहे हैं और उन्होंने यहां के धर्म एवं संस्कृति के विभिन्न तत्वों का गम्भीर चिन्तन भी किया था। सज्जनता, दया, उदारता, मित्रता, त्याग और सेवा आर्य-संस्कृति की कुछ विशेषताएं हैं और ईसा आर्यों के इन गुणों से पर्याप्त प्रभावित भी हुए थे। इसके विपरीत जब वे अपने देश की दूषित वायु के बारे में सोचते थे, तब उन्हें बड़ा दुःख होता था और वे अपने देश में जाकर ऐसे विषैले एवं दूषित वातावरण को समाप्त करना चाहते थे। नाटक के प्रथम अंक में अपने पिता से संदेश पाकर जब वे अपने देश को लौटने के लिए शान्ति से विदा लेने के लिये आते हैं, उस समय उनके मुखारविन्द से निकला हुआ एक-एक शब्द देश के प्रति उनके कर्तव्य की पुकार को व्यक्त करता है। वे कहते हैं—'शान्ति! इस समय मैं कर्तव्य के भार से दबा हूं, नहीं तुमसे विदा मांगना मेरे लिए भी 'असम्भव' ही होता। ऋणी मनुष्य को बिना ऋण-परिशोध किये सुख-विलास-रत होने का कोई अधिकार नहीं है। मुझ पर मेरी जन्मभूमि का बहुत बड़ा ऋण है। उसे भरने के लिए स्वदेश जाना ही पड़ेगा।'[1]

ईसा मूलतः धर्म सुधारक थे परन्तु नाटककार ने इनके साथ ही उन्हें राजनैतिक सुधारक के रूप में भी चित्रित किया है। वे अपने देश के अभिमानी एवं दर्पी सम्राट हेरोद, जो अपने आप को ईश्वर से कम नहीं समझता, के अत्याचारों एवं उसके बर्बर कृत्यों से प्रजा को मुक्त कराना चाहते थे। वे पीटर से कहते है—'अभी पूछते हो पीटर? तुम्हें अपना काम ही नहीं दिखलायी पड़ रहा है? तुम्हारे देश में सत्ताधारी दल अत्याचार का डमरू बजा कर तांडव नृत्य कर रहा है—उसे कौन रोकेगा? देवता के नाम पर मन्दिरों में जीव, धर्म, दया और मनुष्यता का बलिदान किया जा रहा है—इस पर कौन आंसू बहायेगा?—'चुप रहो। सब तुम्हारे भले के लिए किया जा रहा है।' कह कर प्रजा पर जो वज्रपात हो रहा है उससे सब की रक्षा कौन करेगा?'[2] वे प्रजा को शासकों के अत्याचारों से मुक्त करना अपना धर्म समझते थे। 'आत्म-

---

१. महात्मा ईसा नाटक, संस्करण १९४८, पृ० ५५।

२. वही, पृ० ८१।

स्वातन्त्र्य' ही उनके जीवन का उद्देश्य था जिसके वे प्रबल समर्थक एवं प्रचारक थे। इसीलिए देश में हर प्रकार के सुधार के लिए वे व्यक्ति की भीतरी पवित्रता पर अधिक बल देते थे वे इस बात का अनुभव करते थे कि 'सुधार पहले अपने घट का करना पड़ेगा। पहले भीतरी पवित्रता पर ध्यान दो फिर तो बाहरी संसार उसकी ज्योति के सम्मुख मस्तक झुका देगा। तुम पहले इस्रायलियों के पास जाओ और उनसे कहो कि वे अत्याचार के प्रतिकार के लिए आत्म-सुधार के लिए, तैयार हो जाएं।'[1]

त्याग और सेवा ईसा के जीवन के मूल मन्त्र थे। अपने इन दो गुणों के कारण उन्होंने समस्त जनता के हृदयों को मुग्ध कर लिया था। यहां तक कि जनता उन्हें भगवान् का अवतार समझने लगी थी। वे देश में अहिंसा के शान्तिमय उपायों से क्रान्ति लाने में विश्वास रखते थे। इसीलिए वे फिलिप से कहते हैं—'पशु-बल को यदि पशु-बल दबायेगा तो वह महापशु-बल हो जायगा जिससे किसी को भी सुख न मिल सकेगा। अत्याचार के प्रतीकार के लिए धैर्य, आत्मदमन और अहिंसा ही सर्वश्रेष्ठ साधन है—अस्तु, यदि कोई तुम्हारे कपोल पर प्रहार करे, तो उसके सम्मुख हंस कर दूसरा गाल भी कर देना, तुम देखोगे विजय तुम्हारी होगी। फिर वह, तुम्हारे मारने के लिए हाथ न उठा सकेगा।'[2] हेरोद की आज्ञानुसार जब सेनापति शावेल ईसा को शान्ति-भंग करने, राज-विद्रोह तथा ईश्वर-निन्दा के अभियोग में पकड़ कर फांसी देता है, उस समय स्टिफ़ेन शावेल के ईसा के प्रति अपमानजनक अत्याचार को न सहन कर उसके मुँह पर लात मारता है। ईसा उस समय स्टिफ़ेन को ही शान्त रहने को कहते हैं। वस्तुतः ईसा का व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली है कि देश का कुख्यात डाकू बरब्बा भी महारानी हेरोदिया को मार कर धर्म-पिता योहन की हत्या का बदला लेता है। और मेरीना जो धर्म-पिता की हत्या का मूल कारण थी, वह भी आत्महत्या कर अपने पापों का प्रायश्चित करने के लिए बाध्य हो जाती है। नाटक के अन्त में तो वह सम्राट् हेरोद के समक्ष ईसा के गुणों की प्रशंसा करती है। शावेल के नीचता एवं नृशंसतापूर्ण कृत्यों की व्यंग्यात्मक ढंग से निन्दा करती है।

ईसा में प्रगतिशील नायक के गुण विद्यमान हैं। अहिंसा, प्रेम, शान्ति, दया, क्षमा, त्याग, और संतोष ईसा के चारित्रिक आभूषण हैं। वे समाज-सेवी, धर्मनिष्ठ एवं कर्तव्यपरायण हैं। मानवता एवं देश की सेवा करना उनके जीवन का परम उद्देश्य हैं। गीता की 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' की

---

१. महात्मा ईसा नाटक, पृ० ८३।
२. वही, पृ० १४६।

विचारधारा में उनकी अटूट आस्था है। वे समाज और धर्म की प्राचीन मान्यताओं के प्रति अहिंसापूर्ण ढंग से विद्रोह करते हैं और उन्हें अपने उद्देश्य में सफलता मिलती है।

बदरीनाथ भट्ट कृत **'गोस्वामी तुलसीदास'** एक अत्यन्त ही साधारण रचना हैं। इसमें न घटनाओं में सम्बद्धता हैं और न चरित्र-चित्रण का विकास। इसमें नाटककार ने तुलसीदास के जीवन सम्बन्धी प्रचलित अनेक किंवदन्तियों एवं अलौकिक घटनाओं को नाटकीय रूप प्रदान किया है। नाटक भक्ति रस प्रधान है। तुलसीदास धीरशान्त नायक है।

कृष्णकुमार मुखोपाध्याय का **'तुलसीदास नाटक'** भी भक्ति रस प्रधान है। इसमें तुलसीदास के जन्म से लेकर उनकी मृत्यु तक की घटनाओं का बड़ी द्रुतगति से चित्रण हुआ है। स्थान-स्थान पर अलौकिक वर्णन मिलते हैं। भट्ट कृत 'गोस्वामी तुलसीदास' की तरह यह भी एक साधारण रचना है। इसके नायक तुलसीदास भी धीरशान्त कोटि के ही नायक हैं।

'प्रबुद्ध यामुन' वियोगी हरि का भक्तिरस प्रधान नाटक है । यामुनाचार्य वैष्णव भक्त थे और श्रीरंग जी की उपासना करते थे। कापालिकों और वाममार्गियों के वे कट्टर विरोधी थे। मदुरा नरेश राजा वीरसेन के अभिमानी राज पण्डित विद्वज्जन कोलाहल को वे बारह वर्ष की अवस्था में ही शास्त्रार्थ में परास्त कर अपने पाण्डित्य एवं विद्वत्ता की धाक जमा देते हैं। वीरसेन इनकी प्रतिभा-चातुरी से प्रसन्न होकर इन्हें अपना युवराज बना लेते हैं। इनका विवाह सौदामिनी से हो जाता है। वह भी इनके समान ही सुशील और गुणवती थी। युवराज बन जाने के बाद ये राज-कार्य को बड़ी कुशलता से चलाते हैं। नीलाचल की यात्रा में भक्ति से इनकी भेंट होती है, जिससे इनका मन राज्य-सुखोपभोग से उदासीन हो जाता है और एक दिन वे राज प्रसाद को छोड़कर संन्यासी बन श्रीरंगनाथ जी के प्रधानाचार्य वृद्ध श्रीराम मिश्र के साथ श्रीरंगपत्तन चले जाते हैं जहां वे इन्हें वैष्णव संस्कारों से सुसंस्कृत कर 'आचार्य' पद पर प्रतिष्ठित करते हैं और स्वयं अन्तर्धान हो जाते हैं। इधर इनकी माता और इनकी पत्नी वैरागिनी के वेष में इन्हें ढूंढने निकलती हैं और अन्त में दो किरातों की सहायता से वे यामुनाचार्य से मिल पाती हैं। यहीं पर यामुनाचार्य अपने हस्त-स्पर्श से अपनी अन्धी माता की आंखों की ज्योति लौटाते हैं।

नाटक के नायक यामुनाचार्य वैष्णव-भक्त हैं। बाल्यावस्था में ही वे राजपण्डित विद्वज्जन कोलाहल को शास्त्रार्थ में परास्त कर अपनी विद्वत्ता का परिचय देते हैं। वस्तुतः राजपण्डित द्वारा 'पण्डित-कर' के लगाये जाने के अत्याचार को न सहन कर सकने के कारण ही वे उसे शास्त्रार्थ के लिए ललकारते हैं।

वे स्वभाव से शान्त और विनयशील हैं। वीरसेन भी उसकी अध्ययनशीलता, बहुज्ञता, शालीनता और विनम्रता से अत्यन्त प्रभावित होता है और उसे अपना युवराज बना कर 'आलंबदार' की उपाधि से विभूषित करता है। परन्तु वे महायोगी नाथ मुनि के वंशधर होने के कारण मूलतः भक्त थे, इसी लिए वे समस्त राज्यैश्वर्य को धूल के समान त्याग कर श्रीरंग जी की उपासना में लीन हो जाते हैं।

ऐतिहासिक नाटकों में नायक

पौराणिक नाटकों के समान इस युग के नाटककारों का ध्यान भारतीय इतिहास के उज्ज्वल एवं गौरवमय अतीत की ओर भी आकृष्ट हुआ। इन नाटककारों ने ऐसे ही [illegible] चरित नायकों को अपने नाटकों का आधार बनाया जो वर्तमान युग में जनता के लिए आदर्श बनकर उनका मार्ग प्रशस्त करते और उनमें देश-सेवा, सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय चेतना तथा स्वाधीनता की भावना को जागृत करते। इस धारा के उल्लेखनीय नाटक हैं—चन्द्रराज भण्डारी 'विशारद' कृत 'सम्राट अशोक' (१९२३), जगन्नाथप्रसाद 'मिलिंद' कृत 'प्रताप प्रतिज्ञा' (१९२९), उदय शंकर भट्ट कृत 'विक्रमादित्य' (१९३३) तथा 'दाहर अथवा सिंध पतन' (१९३४), सेठ गोविन्दास कृत 'हर्ष' (१९३५), 'कुलीनता' (१९४१) तथा 'शशिगुप्त' (१९४२), चन्द्रगुप्त विद्यालंकार कृत 'अशोक' (१९३५) तथा 'रेवा' (१९३८), हरिकृष्ण प्रेमी कृत 'रक्षाबन्धन' (१९३४), 'शिवासाधना' (१९३७), 'प्रतिशोध' (१९३७) तथा 'स्वप्न भंग' (१९४०), गोविन्द वल्लभ पन्त कृत 'राजमुकुट' (१९३५) तथा 'अन्तःपुर का छिद्र' (१९४०), डाक्टर कैलाश नाथ भटनागर कृत 'कुणाल' (१९३७), उपेन्द्रनाथ अश्क कृत 'जय-पराजय' (१९३७), [illegible] मिश्र कृत 'अशोक' (१९३९), चतुरसेन शास्त्री कृत 'अजितसिंह', कंचनलता सब्बरवाल कृत 'आदित्यसेन गुप्त' (१९४२), दुर्गाप्रसाद कृत 'हम्मीर हठ' (१९३१), तथा जमुनादास मेहरा कृत 'पंजाब केसरी' (१९२८)।

चन्द्रराज भण्डारी 'विशारद' कृत **'सम्राट अशोक'** का कथानक बालचंद नानचंद शाह द्वारा लिखित तथा हरिभाऊ उपाध्याय द्वारा अनुवादित 'सम्राट अशोक' पुस्तक पर आधारित है।[1] नायक के चरित्र-विकास की दृष्टि से यह नाटक साधारण है। नाटककार को नायक अशोक के चरित्रांकन में कोई विशेष सफलता नही मिली है। नाटक की भूमिका में इस बात को स्वीकार किया गया है कि अशोक का चरित्र आंशिक रूप में ही स्पष्ट हो पाया है। इस नाटक की

---

१. सम्राट अशोक, संस्करण १९२३, 'आभार प्रदर्शन।'

मुख्य घटनाएं हैं—अशोक की कलिंग विजय, युद्ध में भीषण नर-संहार को देखकर उसका हृदय-परिवर्तन तथा भविष्य में युद्ध न करने का निश्चय, कलिंग के राजा मृगेन्द्र को उसका राज्य लौटाकर तथा उसकी बेटी प्रणयिनी से विवाह कर हिन्दू तथा बौद्ध धर्म में समन्वय भावना को लाना। नाटक के अन्त मे नाटककार बौद्धाचार्य मोग्गलीपुत्र तिष्य द्वारा इसी उद्देश्य को इस प्रकार स्पष्ट करता है—'ये विवाह बहुत ही शुभ हैं। इन विवाहों के कारण दो जातियों के बीच में हमेशा से बहती हुई युद्ध की आंधी थम गई। इन विवाहों के कारण दो जातियों के बीच में बहती हुई खून की नदी सूख गई। यह विवाह अशोक और प्रणयिनी एवं जितेन्द्र और इन्दिरा का नहीं है, यह विवाह शान्ति और कर्म का, अहिंसा और धर्म का है। यह जातीयता के साथ मनुष्यत्व का विवाह है। त्याग के साथ कर्मण्यता का विवाह है। स्वर्गलोक के साथ मर्त्यलोक का विवाह है। इस स्पर्श से विश्वास उज्ज्वल हो गया है। कर्तव्य और भी सुन्दर हो गया है। प्रेम ने अपूर्व रूप धारण कर लिया है।'[1]

अशोक वीर, पराक्रमी और बौद्धधर्मानुयायी है बौद्धधर्म में अहिंसा वृत्ति का विशेष महत्व है परन्तु बौद्ध धर्म के प्रचार हेतु बौद्ध धर्माचार्य सम्पुष्टाचार्य के कहने पर अशोक ने न जाने कितने देशों के राजाओं से युद्ध किये और उन्हें परास्त कर बलपूर्वक बौद्ध धर्म के अनुयायी बनाने का प्रयास किया परन्तु कलिंग युद्ध के समय उसकी सुप्त सत्प्रवृत्ति जागृत हो उठती है और उसे अपनी ही तलवार के बल पर धर्म-प्रचार की नीति पर ग्लानि होती है। धर्म का मूल तत्व तो अहिंसा, प्रेम और सौहार्द्र की भावना को बढ़ाना है फिर ऐसे 'अहिंसा धर्म का प्रचार करने के लिए इतना हिंसा काण्ड!!! कैसा अन्याय है ?—यही नहीं भगवान बुद्ध के 'अहिंसा' शब्द का क्या यही अर्थ है ? जिन महात्मा ने सारे संसार को साम्यवाद का पवित्र संदेश सुनाया है, उन्हीं के उपासक होकर आज हम दूसरों को गुलाम मनाने के निमित्त, हजारों मनुष्यों का बलिदान कर रहे हैं। इसी प्रेममय धर्म का प्रचार करने के निमित्त हम तलवार से काम ले रहे हैं।'[2] यह विचार आते ही वे कलिंग देश के राजा मृगेन्द्र से सन्धि करने के लिए तैयार हो जाते हैं, परन्तु सम्पुष्टाचार्य के यह आश्वासन देने पर कि हम चार मास में न होने वाली कलिंग विजय दो दिन में सम्पन्न कर देंगे। तो वे एक मानव होने के नाते विजयाकांक्षा के लोभ का संवरण न कर सके। परन्तु जब उन्हें यह ज्ञात होता है कि किस प्रकार दुष्टता के साथ कलिंग युद्ध में

१. सम्राट अशोक, पृ० १६८।

२. वही, पृ० २२।

विजय मिली है; तब उनके कोमल हृदय पर बड़ी ठेस पहुंचती है और वे भविष्य में युद्ध न करने का निश्चय कर लेते हैं।

नाटककार ने अशोक जैसे उदात्त चरित्र में मानव-सुलभ दुर्बलताओं का चित्रण भी बड़े सुन्दर ढंग से किया है। मोर और मोरनी को एक साथ नृत्य करते देखकर अशोक के हृदय का प्रेम जागृत होता है। वह भी अपने जीवन के सूनेपन को दूर करने के लिए विह्वल हो उठता है और अपना जीवन सार्थक बनाने के लिये जितेन्द्र के वेश में प्रणयिनी को देखकर ठीक उस जैसी प्रणयिनी की आवश्यकता अनुभव करता है। यह प्रणयिनी अशोक की सिंह से रक्षा करती है और वह मानव-जगत् में क्षमा के महत्व को पहचान लेता है और उसी दिन वह यह राजकीय आदेश निकलवा देता है कि आगे से कोई भी व्यक्ति 'शिकार के हत्याकाण्ड' को न करे। इसी क्षमा और दया की भावना के कारण वह अपनी सौतेली माता प्रमिला तथा सम्पुष्टाचार्य के नीचतापूर्ण व्यवहार को देखकर भी उन्हें क्षमा कर देता है। उसे यह बात भली प्रकार से मालूम होते हुए भी कि सौतेली मां, प्रमिला और सम्पुष्टाचार्य उसके अपने, उसकी बहन इन्दिरा के तथा प्रणयिनी के प्राणों के पीछे पड़े हुए हैं, वह उनको दण्ड देने में असमर्थ रहता है। वस्तुतः राजनीति में दया और क्षमा की भावना का कोई मूल्य नहीं है। चूंकि अशोक राजनीतिज्ञ से पहले मानव है, अतः लेखक ने उसके ऐसे ही मानवी पक्ष को नाटक में सर्वोपरि महत्व दिया है।

जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिंद' कृत **'प्रताप प्रतिज्ञा'** बाबू राधाकृष्णदास कृत 'महाराणा प्रतापसिंह' नाटक की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ रचना है। इसमें नाटककार ने प्रताप के चरित्र द्वारा स्वाधीनता एवं देश-प्रेम की भावना को उभारने का प्रयास किया है। देश को स्वाधीन बनाने के लिए समाज को जगमल जैसे विलासी, मदांध तथा अकर्मण्य व्यक्तियों की अपेक्षा प्रताप जैसे वीर, पराक्रमी तथा देश के सच्चे सेवक, अधिकार-लिप्सा से सर्वथा मुक्त तथा त्यागी व्यक्तियों की आवश्यकता है—यही 'प्रताप प्रतिज्ञा' के नाटककार को दिखाना अभीष्ट है। प्रताप ऐसे पराधीन देशों की आकांक्षाओं के प्रतीक है जो विदेशी सत्ता से अपने को मुक्त करना चाहते हैं। जन-प्रतिनिधि चन्दावत इसीलिए मेवाड़ का राजमुकुट जगमल से लेकर प्रताप के सिर पर रखना चाहता है क्योंकि वह अनुभव करता है कि इस संकट के समय केवल प्रताप ही मातृ-भूमि की दासता के बन्धनों को तोड़ सकता है तथा देश के गौरव को बढ़ा सकता है। राजमुकुट पहनने के बाद प्रताप यह प्रतिज्ञा करता है—'(तलवार खींचकर) भवानी ! तू साक्षी है। जनता-जनार्दन ने आज मुझे अपना सेवक चुना है। मैं आज तुझे छूकर प्रतिज्ञा करता हूं कि जन्म-भर मातृभूमि मेवाड़ के हित में, तन, मन, धन,

सर्वस्व अर्पण करने से मुंह न मोड़ूंगा। सागर मर्यादा, हिमालय गौरव, सूर्य तेज और वायु वेग भले ही छोड़ दे, यह प्रताप प्राण छोड़कर भी प्रण न छोड़ेगा। भाइयो, जब तक चितौड़ का उद्धार न कर लूंगा, सत्य कहता हूं, कुटी में रहूंगा, पत्तल में खाऊंगा और तृणों पर सोऊंगा। × × × चित्तौड़ के सपूतो, मेवाड़ के वीरो, आज यदि तुम्हारे उष्ण रक्त में कुछ भी उबाल आता है, तो मेरी प्रतिज्ञा में सहायक बनो। आओ, आज से हमारे हृदय में खाते-पीते, सोते-जागते, उठते-बैठते, लड़ते-भिड़ते, आठों पहर, स्वाधीनता की प्रबल आकांक्षा प्रलयाग्नि बनकर भड़का करे। उसकी एक-एक चिनगारी गुलामी के विकट वन को भस्म करती रहे। चित्तौड़ के उद्धार के पहले हमें पृथ्वी तो क्या, स्वर्ग में भी शांति न मिले।"[1]

प्रताप अपनी इस प्रतिज्ञा-पूर्ति के लिये जीवन के अन्तिम क्षणों तक प्रयत्न-शील रहता है। मरने से पूर्व भी वह साथियों के समक्ष अपनी अन्तिम कामना इन शब्दों में प्रकट करता है—'मैं क्या चाहता हूं, जानते हो सामन्त? मैं चाहता हूं कि इस पीड़ित भारत वसुन्धरा पर कभी कोई ऐसा माई का लाल पैदा हो, जिसके हृदय रक्त की अन्तिम बूंदें उसके स्वाधीनता-पक्ष में पूर्णाहुति दें, इसे सदा के लिए स्वाधीन कर दे, जिसके इंगित पर, बरसों के बिछुड़े हुए कोटि-कोटि भारतीय एक सूत्र में बन्धकर सर्वस्व बलिदान करने मातृ-मन्दिर की ओर दौड़ पड़ें। मेरी प्रतिज्ञा तो अधूरी रह गई सामन्त! हृदय में अतृप्ति की एक आग छिपाये जा रहा हूं! उफ़!'[2]

प्रताप को अपनी वीरता, पराक्रम, जातीय गौरव और देश के सच्चे सैनिक होने का अभिमान है। वह मानसिंह से इसलिए मिलना तक नहीं चाहता क्योंकि वह देश-द्रोही है। देशहित के समक्ष प्रताप भ्रातृ-प्रेम को भी तुच्छ समझता है। भाई शक्तिसिंह की उद्दण्डता एवं राज्यद्रोह को देखकर उसका हृदय क्रोध से भर जाता है और वह तलवार खींचकर दण्ड देने के लिए तैयार हो जाता है और बाद में यही शक्तिसिंह जब प्रताप की दो मुगल सैनिकों से प्राण-रक्षा करता है तब एक क्षण तो उसे शक्तिसिंह की प्रतिहिंसा की भावना का स्मरण आता है, लेकिन दूसरे ही क्षण उसके सच्चे भ्रातृभाव को देखकर उसका हृदय प्रेम से विभोर हो जाता है। निस्सन्देह प्रताप की सी अक्षय देशभक्ति, उसका स्वाधीनता-प्रेम और वीरत्व, स्वाभिमान एवं त्याग समस्त भारतीयों के लिये अनुकरणीय आदर्श है।

नाट्यकला की दृष्टि से उदयशंकर भट्ट का **'विक्रमादित्य'** नाटक अत्यन्त ही शिथिल रचना है। इस नाटक का कथानक विल्हण कृत 'विक्रमांक देव चरित्र' पर आधारित है जिसमें लेखक ने अठारह सर्गों में राजा विक्रमादित्य के गुणों का सविस्तार वर्णन किया है। भाई की भाई के प्रति प्रतिस्पर्धा एवं प्रति-हिंसा की भावना अपने कुल और देश के लिये कितनी घातक सिद्ध हो सकती है, यही नाटककार को इस नाटक में दिखलाना अभीष्ट है। कल्याण राज्य के आहवमल्लदेव का सबसे बड़ा पुत्र सोमेश्वर अपने छोटे भाई विक्रमादित्य के अद्भुत पराक्रम एवं वीरता के प्रति प्रतिस्पर्धा की भावना रखता है और यह भावना एक दिन उसके हृदय में इतना उग्र और भयंकर रूप धारण कर लेती है कि वह अपने समस्त राज्य में इस बात की घोषणा कर देता है कि जो व्यक्ति उसके राज्य में विक्रम अथवा विक्रमादित्य शब्द का उच्चारण मात्र भी करेगा वह दण्डनीय समझा जायेगा। इस प्रकार प्रतिहिंसा की ज्वाला में जलते हुए सोमेश्वर का जीवन में 'विक्रमादित्य का विनाश' ही एक मात्र ध्येय बन जाता है। वह अपने इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये हर सम्भव प्रयास करता है परन्तु उसे सफलता नहीं मिलती वरन् वह विक्रमादित्य की पत्नी चन्द्रलेखा के द्वारा जो छद्मवेश में सिंहल का राजकुमार बनी हुई है, मारा जाता है। विक्रमादित्य अपने भाई के घातक पर आक्रमण करता है और उसे मार देता है। इस प्रकार धोखे में चन्द्रलेखा की मृत्यु भी उसके अपने ही पति विक्रमादित्य द्वारा हो जाती है। सोमेश्वर की मृत्यु के बाद विक्रमादित्य चोल का शासन वहीं के मन्त्री साम्ब को दे देता है और स्वयं कल्याण जाकर राज्य करने लगता है।

नाटक का नायक विक्रमादित्य धीरोदात्त गुणों से युक्त है। वह अद्भुत धनुर्धारी, वीर, पराक्रमी, विनीत, सहृदय, उदार, आत्म-श्लाघाहीन तथा शालीनता आदि गुणों से युक्त सुन्दर युवक है। यहां तक कि सोमेश्वर भी अपने अन्तर्मन में भाई के इन गुणों की सराहना किये बिना नहीं रहता। विक्रमादित्य के व्यक्तित्व का दूसरा पहलू उसके दार्शनिक रूप का है। वह इस बात को भली प्रकार अनुभव करता है कि यदि वह चाहे तो अपनी वीरता एवं पराक्रम के बल पर समस्त भूमण्डल को जीतकर चक्रवर्ती सम्राट् बन सकता है, परन्तु उत्कट काम-वासना के समान वह राज्य-लिप्सा को घृणा की दृष्टि से देखता है। वह अपने हृदय में सोचता है—'युद्ध पर युद्ध हत्या के बाद हत्या। संहार के बाद संहार। क्या इसी पिशाची तृष्णा का कुछ अन्त है ? ओह, जीवन का यह पाशविक रूप हम क्षत्रियों के ही पल्ले क्यों पड़ा ? धिक्कार है इस मानव-जीवन को ! पशु-पक्षी भी एक-दूसरे का नाश करते हैं किन्तु वे केवल आहार

के लिये ? व्यवस्था के लिये नहीं । एक प्राणी दूसरे प्राणी का आहार बनता है यह स्वाभाविक है किन्तु वे तो पशु है । उनमें विवेक नहीं है । और एक हम है जो विवेक बुद्धि रखते हुए भी नर-नाश पर उतारू हैं । अच्छा, तो अब कर्तव्य की वह्नि में जल कर कर्तव्य की रक्षा करनी होगी । अधर्म की दारुण विषमयी नदी में स्नान करके धर्म की रक्षा का स्वप्न देखना होगा । हां, ठीक, पर वह धर्म ही किसने देखा है—नहीं, धर्म के सम्बन्ध में विचार करने का अधिकार हमें नहीं है । धर्माधर्म विवेचन हमारा काम नहीं, हमारा जीवन तो क्षत्रियत्व का पालन करना है । यह इस समय पालन करना ही होगा ।"[1]

इस प्रकार विक्रमादित्य राज्य-सुखोपभोग एवं ऐश्वर्य के प्रति उदासीन होने पर भी देश के प्रति कर्तव्य का पालन करने के लिये विद्रोह को दबाने के लिये तत्पर हो जाता है । दूसरी ओर जब उसे भाई की प्रतिहिंसा की भावना का ध्यान आता है तब उसका हृदय आत्म-ग्लानि से भर जाता है । वह सोचता है—'सोमेश्वर भाई, तुमने भाई के नाते पर कुठाराघात करके दुष्ट चेंगी का साथ दिया । भाई का भाई से भयंकर युद्ध—भ्रातृ-विद्रोह, क्या इस विद्रोह-वह्नि में मैं स्वयं नही जल रहा हूं । मुझ से पूछा तक नहीं । चेंगी के साथ मिल कर करहाट और मेरे सर्वनाश का काण्ड उपस्थित किया । भाग्य ने मुझे बचा क्यों लिया । वहीं शत्रुओं के षड्यन्त्र में मैं पिस क्यों न गया ।'[2]

'विक्रमादित्य' की अपेक्षा भट्ट जी का **'दाहर अथवा सिन्ध-पतन'** प्रौढ़ रचना है । जातीय तथा प्रान्तीय भेद-भाव किस प्रकार एक देश के विनाश का कारण बन सकते है, यही इस नाटक में दिखलाया गया है । नाटक की भूमिका में भट्ट जी ने इसी भाव को इस प्रकार स्पष्ट किया है—'परन्तु इतना तो मानना पड़ेगा कि देश, काल और अवस्था के भेद से योरोप का व्यक्तित्व सिंध के व्यक्तित्व से भिन्न था । यदि एक जाति देश-प्रिय थी तो दूसरी आलस्य-प्रिय, रूढ़ि-प्रिय । यदि एक का समाज संगठित था तो दूसरी असंगठित, उच्छृं-खल, आडम्बरपूर्ण; भारत के हिन्दुत्व-नाश का कारण इतिहासज्ञ चाहे जो कुछ कहें मुझे तो इनका रूढ़िग्रस्त, विवेचनाशून्य अध्यात्मवाद ही मालूम होता है । इसी स्वार्थपूर्ण परलोकवाद ने हिन्दू और बौद्धों के जातीय अंगों में यक्ष्मा का रूप धारण कर उन्हें किसी काम का न छोड़ा । हमारी जातीयता में धर्मवाद की निकम्मी, थोथी रूढ़ियों ने हमें विवेक से गिरा दिया, मनुष्यत्व से खींचकर दासता, भ्रातृ-विद्रोह, विवेक-शून्यता के गढ़े में ले जाकर पीस दिया, मार

डाला ।'[१]

नाटक का नायक सिन्ध का राजा दाहर स्वाधीन देश की आकांक्षा का प्रतीक है । अरब के खलीफ़ा का सेनापति मुहम्मद बिन कासिम दाहर को परास्त कर सिन्ध पर विजय पाने के लिए इस कारण नहीं सफल हुआ कि मुसलमान भारतीयों से अधिक वीर थे, वल्कि इसलिए कि भारतवासी स्वयं एक दूसरे के प्रति प्रतिस्पर्धा, फूट, वैमनस्य तथा प्रतिहिंसा की ज्वाला में जल रहे थे । दाहर अनेक बार मुहम्मद बिन कासिम की सेना को युद्ध में परास्त करता है परन्तु अपने ही देश-द्रोहियों के कारण एक दिन उसे स्वयं पराजय का मुंह देखना पड़ता है । वह वीर युद्ध में मारा जाता है । उसकी बेटियां सूर्यदेवी तथा परमाल बन्दी बनाकर बगदाद के खलीफ़ा के पास भेज दी जाती हैं । खलीफ़ा उनके रूप-सौन्दर्य को देखकर आसक्त हो जाता है परन्तु उसकी कामुकता का शिकार होने से पहले वे दोनों बहनें एक-दूसरे के खंजर भोंक कर मर जाती हैं ।

दाहर इस बात को भली-भांति समझता है कि देश की एकता और स्वाधीनता को स्थिर रखने के लिये हमें जातीयता एवं प्रान्तीयता की भावना को दूर करना होगा और वह इस सामाजिक विकृति को दूर करने का प्रयास भी करता है । वह देश-भक्त और वीर सेनानी है । वह क्षत्रिय वीर है और युद्ध से मुंह मोड़ना उसने नही सीखा है । वह मन्त्री क्षपाकर से कहता है—'आर्य लोग युद्ध से कभी नहीं ड़रते । युद्ध तो उनकी घुटी का रस है जो कड़ुवा होते हुए भी अन्त में लाभदायक है । एक नहीं हजार बार अरबी लोग आएं । दाहर युद्ध से मुख न मोड़ेगा ।'[२]

दाहर अतुल पराक्रमी होने के साथ-साथ निर्भीक, साहसी, दयाशील, क्षमाशील, दानी, प्रजारक्षक और शरणागत धर्म का पालन करने वाला है । अरबी अलाफ़ी को वह अपने यहां शरण ही नहीं देता वरन् उसे अभयदान भी देता है जब अलाफ़ी के देश-द्रोही कृत्यों का उसे पता चलता है तब उस समय वह देश प्रति कर्तव्य-भावना से बाध्य होकर उसे केवल राज्य से बाहर निकल जाने की आज्ञा देता है । वह उसे प्राणदण्ड इसलिए नहीं देता कि आर्य धर्म में शरणागत के लिये सर्वथा अभयदान लिखा है ।

विकट से विकट परिस्थितियों में दाहर अपने धैर्य और साहस को नहीं छोड़ता । दूत से जब उसे यह सूचना मिलती है कि शत्रु अरोर की ओर बढ़

---

१. दाहर अथवा सिंध पतन, संस्करण १९६२, भूमिका, पृ० २ ।
२. वही, पृ० ९ ।

रहा है तब वह इस चुनौती को स्वीकार करता हुआ मन्त्री से कहता है :—'मैं स्वयं युद्ध के लिए प्रस्थान करूंगा। आज क्षत्रियत्व के विकास द्वारा, धनुर्दण्ड की टंकार द्वारा, पराक्रम के प्रकाण्ड ताण्डव द्वारा अरबियों को नये शासन, नये विधान और नयी युद्ध कला का पाठ पढ़ाऊंगा। कृतघ्नता के क्रूर अग्नि-कुण्ड में नर-रक्त-रंजित विभीषणों की आहुति दूंगा अथवा स्वयं मृतप्राय मातृ-भूमि के वक्षःस्थल पर गिर कर स्वर्ग लाभ करूंगा। मन्त्री, प्रासाद की स्त्रियों को युद्ध और मृत्यु के लिए तैयार होने की सूचना दो।'[1]

नाटक की भूमिका में भट्ट जी ने 'दाहर अथवा सिन्ध पतन' को हिन्दी का प्रथम दुखान्त नाटक माना है। परन्तु उनका यह दावा ठीक नहीं है। श्रीनिवासदास कृत 'रणधीर प्रेम मोहिनी' असंदिग्ध रूप से 'दाहर' से पहले की रचना है।[2]

डाक्टर सोमनाथ गुप्त ने अपने 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास' में भट्ट जी के एक और ऐतिहासिक नाटक 'चन्द्रगुप्त मौर्य' (१६३१) का उल्लेख किया है।[3] इस सम्बन्ध में डाक्टर जयनाथ नलिन ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी नाटककार' में भट्ट जी के पत्र को इस प्रकार उद्धृत किया है—'प्रियवर ऐसा कोई नाटक मैंने नहीं लिखा।'[4] भट्ट जी के अपने इस साक्ष्य के प्रकाश में डा० गुप्त के उपर्युक्त उल्लेख की सत्यता स्पष्टतः संदिग्ध है।

उग्र के 'महात्मा ईसा' के सदृश सेठ गोविन्ददास जी ने अपने नाटक 'हर्ष' में इस मत को प्रतिपादित करने की चेष्टा की है कि शक्ति अथवा शस्त्र के बल पर किसी भी देश की जनता पर विजय नहीं पाई जा सकती। वास्तविक विजय तो हृदय परिवर्तन है। अपने भाई राज्यवर्द्धन की मृत्यु के बाद हर्ष (शिलादित्य) केवल कर्तव्य-भावना से प्रेरित होकर ही राजा बनना स्वीकार करता है। वह देश में प्रजातन्त्र शासन प्रणाली को लागू करने का समर्थक है। वह अपने को और अपने वंश को राज्य का स्वामी और राज्य को अपनी सम्पत्ति नहीं मानता, अपितु अपने को राज्य का संरक्षक मात्र मानता है और राज्य को अपने पास प्रजा की धरोहर। हर्ष समाज में स्त्रियों को उचित अधि-कार देने का भी समर्थक है। अपनी बहन राज्यश्री के विरोध करने के बावजूद भी वह उसका राज्याभिषेक करता है। वह स्वयं बौद्ध-धर्म का अनुयायी है

१. दाहर अथवा सिन्ध पतन, पृ० ८४।

२. देखिये भूमिका भाग, पृ० ७।

और बौद्ध-धर्म पुरुष और स्त्रियों को समान अधिकार प्रदान करता है।

राज्य को राजा की सम्पत्ति न मानने के कारण ही वह आजन्म अविवाहित रहता है। वह सच्चरित्र, वीर और पराक्रमी है। जीवन भर वह समस्त भारत को एक सूत्र में बांधने के लिए प्रयत्नशील रहता है। युद्धों के द्वारा वह शत्रु-राष्ट्रों पर विजय पाता है परन्तु एक दक्षिण की पराजय उसे युद्ध-विमुख कर देती है और वह स्नेह, सौहार्द सौजन्य एवं मैत्री भाव से ही शत्रुओं के हृदय पर विजय पाने के लिये प्रयत्नशील होता है। इसीलिये नाटक के अन्त में राजद्रोही आदित्यसेन को क्षमा कर अपने हृदय की उदारता एवं विशालता का परिचय देता है। वह आर्य और बौद्ध-धर्म के एकीकरण के लिये शिव, सूर्य और बुद्ध की प्रतिमाओं के एक सार्वजनिक पूजन की योजना बनाता है। इसे वह यज्ञ का रूप देता है और आर्यावर्त्त के समस्त राजाओं, धार्मिक संस्थाओं और प्रजावर्ग को इसमें सम्मिलित होने का निमन्त्रण देता है।

हर्ष नाटक का धीरोदात्त नायक है। नाटककार ने उसकी वीरता, सच्चरित्रता, निःस्वार्थता, क्षमाशीलता, दानवीरता, धार्मिक उदारता आदि गुणों का बड़े सुन्दर ढंग से उद्घाटन किया है।

सेठ गोविन्ददास जी ने **'कुलीनता'** में समाज की जाति-पांति तथा ऊंच-नीच की व्यवस्था पर तीखा प्रहार किया है। नाटक का नायक यदुराय कुलीन समाज द्वारा तिरस्कृत अकुलीनता की सिसकती हुई आत्मा का प्रतीक है। कलचुरि राजवंश का अन्तिम नरेश विजयसिंह देव एक गोंड सैनिक यदुराय को जो उसकी पुत्री रेवा सुन्दरी से विवाह करने का इच्छुक है, उसकी अकुलीनता के कारण अपने राज्य से निर्वासित कर देता है और वह अपने मित्र मंडाला के गोंड राजा नागदेव के यहां शरण लेता है। कुलीनता-अकुलीनता की समाज की ऐसी घातक एवं हानिकारक व्यवस्था को देखकर उसका हृदय बड़ा दुःखी होता है। वह अपने मित्र नागदेव से कहता है—'किसी भी कारण जिन्हें उच्च पद प्राप्त है, या जो संयोगवश उच्च-कुल में उत्पन्न हो जाते हैं, वे अपने से निम्न, या निम्न कहे जाने वाले, व्यक्तियों को, चाहे वे निम्न व्यक्ति संयोग से ही निम्न हों, विचारों, और कृतियों में, उन उच्च और कुलीन कहे जाने वालों से कितने ही उच्च हों, हेय दृष्टि से देखते हैं। यह ऊंच-नीच भावना मानव-समाज के रुधिर में बहुत गहरी प्रविष्ट हो गई है।'[१]

यदुराय विजयसिंह देव द्वारा अपमान का प्रतिशोध लेने के लिये कलचुरियों की कुलीनता की अभिमान-भावना को चूर-चूर करने की प्रतिज्ञा करता

---

१. कुलीनता, संस्करण १९४१, पृ० ४८।

है और नाटक के अन्त में वह अपने इस उद्देश्य में सफल भी होता है। इसके साथ ही वह कुतुबुद्दीन ऐबक को परास्त कर महाकोशल की रक्षा कर देश की स्वाधीनता की रक्षा करता है। यदुराय के अद्भुत पराक्रम, साहस और वीरत्व को देखकर विजयसिंह देव के ज्ञान-चक्षु उन्मीलित हो जाते हैं और वह प्रसन्न होकर महाकोशल के राजा के रूप में उसका राज्याभिषेक करता है तथा अपनी पुत्री रेवा सुन्दरी का उसके साथ विवाह भी कर देता है। वह कहता है—'जिसने देश को विदेशियों से स्वतन्त्र किया है, जिसने आज वह कर्म करके बताया है जो बड़े-बड़े कुलीन भी न कर सके थे, वही इस राज्य का सच्चा अधिकारी है और आप सबकी सम्मति से उसी को मैं महाकोशल का राज-तिलक कर यह राज-मुकुट, राज-दण्ड तथा समस्त राजचिह्न अर्पण करता हूं।"[1] यही नहीं वह इस बात को भी हृदय से अनुभव करने लग जाता है कि संसार मे कर्म ही मुख्य है और व्यक्ति की कुलीनता उसके कर्मों पर ही निर्भर रहती है।

यदुराय में रोमांटिक नायक के गुण विद्यमान हैं। वह दृढ़ प्रतिज्ञ, देश-भक्त, प्रेमी, वीर, पराक्रमी, साहसी और स्वाभिमानी है। रेवा सुन्दरी को वह हृदय से प्रेम करता है परन्तु उसकी कुलीनता का ध्यान आते ही उसके हृदय में प्रतिहिंसा की टीस उठती है किन्तु दूसरे ही क्षण उसका प्रेमी हृदय कोमल बनकर पसीज उठता है। रेवा सुन्दरी के हृदय में अपने पिता की कुलीनता-अकुलीनता की कलुषित भावना पर बड़ा रोष है और वह युद्ध के समय अपने पिता के कृपापात्र तथा अपने प्रतिद्वन्द्वी प्रेमी चण्डपीड़ पर आक्रमण कर उसे धराशायी कर देती है और इस प्रकार यदुराय को अपने सच्चे प्रेम का प्रमाण देती है।

सेठ जी के '**शशिगुप्त**' नाटक की गणना हिन्दी के प्रौढ़ नाटकों में की जा सकती है। नाटक का कथानक चन्द्रगुप्त सम्बन्धी डाक्टर हरिश्चन्द्र सेठ की नवीनतम खोजों पर आधारित है जिसके अनुसार सेठ जी ने शशिगुप्त और चन्द्रगुप्त को एक ही व्यक्ति माना है और पर्वतक (पोरस) की सिकन्दर पर विजय दिखलाई है। शशिगुप्त (चन्द्रगुप्त) ने पहले सिकन्दर से मेल कर लिया और बाद में अवसर आने पर उसने सिकन्दर के विरुद्ध पश्चिमोत्तर भारत में विद्रोह किया। सिकन्दर के भारत छोड़ने के बाद शशिगुप्त (चन्द्रगुप्त) और चाणक्य ने पर्वतक के साथ मिलकर मगध के राजा नन्द को परास्त करने के लिये आक्रमण किया। इस युद्ध में नन्द शकटार द्वारा मारा गया। चाणक्य की

योजना के अनुसार पर्वतक की भी हत्या कर दी गई और इस प्रकार चन्द्रगुप्त समस्त उत्तरी भारत का सम्राट् बना। इस प्रकार की सभी बातें सेठ जी के नाटक के आरम्भ में दी गई 'ऐतिहासिक प्रस्तावना' में डाक्टर हरिश्चन्द्र सेठ ने दी है।

सेठ जी के 'शशिगुप्त' नाटक से पूर्व इसी विषय पर बदरीनाथ भट्ट तथा प्रसाद 'चन्द्रगुप्त' नाटक लिख चुके थे। बंगला में द्विजेन्द्रलाल राय का 'चन्द्रगुप्त' नाटक भी पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका था। नाटक के 'निवेदन' से यह स्पष्ट हो जाता है कि सेठ जी ने अपने इस नाटक की रचना करने से पूर्व प्रसाद तथा द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों का अध्ययन भी किया था परन्तु इनके अपने नाटक का आधार मुख्यतः डाक्टर सेठ की चन्द्रगुप्त सम्बन्धी नवीन मान्यताएं ही हैं।

'शशिगुप्त' नाटक में प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' के समान ही चाणक्य तथा शशिगुप्त (चन्द्रगुप्त) का चरित्र अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है। नाटक का उद्देश्य है विदेशी आक्रमणकारियों से देश की स्वाधीनता की रक्षा करना तथा देश में एकच्छत्र अखंड राज्य की स्थापना करना। नाटक के ये दोनों पात्र इसी उद्देश्य-सिद्धि के लिए आरम्भ में प्रयत्नशील दिखलाई पड़ते है और अन्त में इन्हें अपने प्रयासों में सफलता भी मिलती है। नाटक में इसी उद्देश्य की पूर्ति चाणक्य और शशिगुप्त दोनों के ही सामूहिक प्रयासों से ही होती है। दोनों का व्यक्तित्व एक-दूसरे का पूरक है। चाणक्य यदि नाटक की घटनाओं का निर्देशक है तो शशिगुप्त नट के समान आचरण करता है। चाणक्य मस्तिष्क है तो शशिगुप्त उसकी भुजा, उसकी क्रियाशीलता। नाटक में शशिगुप्त का प्रत्येक आचरण, उसकी छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी सभी चेष्टाओं का संचालक चाणक्य है। चाणक्य कूटनीतिज्ञ है। उसके पास मस्तिष्क है। वह परिस्थितियों का अच्छे ढंग से विश्लेषण कर सकता है, चिन्तन कर सकता है और समाधान ढूंढ़ने में सक्षम है और शशिगुप्त उसकी योजनाओं को क्रियान्वित करने की शक्ति है। चाणक्य को उसके शौर्य, पराक्रम, निर्भीकता, साहसशीलता और त्यागशीलता पर विश्वास है। वह इस बात को भली-भांति अनुभव करता है कि उसके स्वप्नों को शशिगुप्त ही साकार बना सकता है। इसीलिए वह शशिगुप्त से कहता है—'वत्स, इस समय आर्यावर्त में तुम से अधिक वीर, तुम से अधिक साहसी, तुमसे अधिक आदर्शवादी, तुमसे अधिक देश-भक्त, तुमसे अधिक शुद्ध अन्तःकरण और आचरण वाला और कोई व्यक्ति नहीं। तुम्हीं यूनानियों को इस देश से निकाल इस देश में एक साम्राज्य की स्थापना कर सकते हो, उसके चक्रवर्ती सम्राट् हो सकते हो। तुम्हारी जीत इस देश को संसार का पुनः

सर्वश्रेष्ठ देश बना सकती है और तुम्हारी हार इसे शताब्दियों के लिए दास।'[1]

अपने इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिये चाणक्य स्वाभिमानी शशिगुप्त को उसकी इच्छा के विरुद्ध सिकन्दर से सन्धि करने के लिये कहता है, अपने हृदय में से सिल्यूकस की कन्या हेलन* के प्रति प्रेम-भावना को निकालने का आदेश देता है और वह एक आदर्श शिष्य होने के नाते उन्हे अस्वीकार नहीं कर पाता। चाणक्य अपनी कूटनीति में सफल होता है। वह पर्वतक को अपने साथ मिलाता है और उसी के अनुरोध एवं सुझाव पर सिकन्दर मगध पर विना आक्रमण किये ही वापस लौट जाता है। चाणक्य के ही परामर्श पर शशिगुप्त पर्वतक के साथ मिलकर नन्द का विनाश करने के लिये मगध पर आक्रमण करता है। इधर पर्वतक शशिगुप्त को मारने की योजना बनाता है ताकि वह समस्त उत्तरी भारत का सम्राट् बन सके परन्तु इसके पूर्व ही चाणक्य की कूटनीति काम कर जाती है। नन्द मारा जाता है और पर्वतक विषकन्या द्वारा मरवा दिया जाता है। इस प्रकार चाणक्य को अपनी योजना में सफलता मिलती है। इतने में उन्हें सिल्यूकस द्वारा भारत पर आक्रमण करने का समाचार मिलता है। इस युद्ध में सिल्यूकस की पराजय होती है। आंभीक भी शशिगुप्त द्वारा मारा जाता है। सिल्यूकस और शशिगुप्त में सन्धि हो जाती है; परन्तु चाणक्य इतने से ही सन्तुष्ट नहीं है। उसके विचार में 'लेखनी द्वारा किये गये हस्ताक्षरों से युक्त सन्धि-पत्र को खड्ग के एक प्रहार से क्षण भर में टुकड़े-टुकड़े किया जा सकता है। गतवर्षो के अनुभव के पश्चात् मैं तो अब इस निर्णय पर पहुंचा हूं, कि स्थायी शांति संधि-पत्रों से नहीं, किन्तु प्रेम से ही हो सकती है।'[2] और इस भावना की पूर्ति के लिये वह सिल्यूकस से हेलन का शशिगुप्त के साथ पाणिग्रहण का प्रस्ताव करता है। उसकी दृष्टि में 'यह विवाह राजकुमारी हेलन और सम्राट् चन्द्रगुप्त का नहीं, किन्तु पूर्व और पश्चिम का होगा, इन दो दिशाओं में सबसे महान् दो राष्ट्रों का होगा। विश्व के इतिहास में आज पर्यन्त इससे महान्, इससे महत्वशाली कोई विवाह नहीं हुआ है।'[3]

सिल्यूकस चाणक्य के इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लेता है। इस प्रकार

---

१. शशिगुप्त, पृ० ३७।

* प्रसाद जी ने इसका नाम कार्नेलिया दिया है।

चाणक्य दोनों देशों में सौहार्द और प्रेम की प्रतिष्ठा करने में सफल होता है। तदनन्तर चाणक्य राजनीति से संन्यास ले लेता है।

यद्यपि चाणक्य शशिगुप्त का भाग्यविधायक है, तथापि नाटक का नायक शशिगुप्त ही है। नाटक के अभीष्ट फल की प्राप्ति भी उसे ही होती है, चाणक्य तो नाटक के अन्त में संन्यास ले लेता है। क्रिया-क्षेत्र में भी शशिगुप्त ही प्रत्यक्ष आता है, चाणक्य तो निर्देशक के समान उसकी समस्त चेष्टाओं एवं क्रियाओं का निर्धारण ही करता है।

शशिगुप्त में धीरोदात्त नायक के अतिरिक्त रोमांटिक नायक की भी विशेषताएं है। वह हेलन का प्रेमी है, देशभक्त, साहसी और वीर सेनानी है। हेलन भी उसके इन्हीं गुणों के कारण उस पर आसक्त होती है। वह अपने पिता से कहती है—'पिता जी, शशिगुप्त क्या सचमुच शशि जैसा नहीं है, उससे अच्छा कभी, कहीं भी, कोई पुरुष आपने देखा? कहिए मेरी परख कैसी है? × × × यवनों में तो मुझे शशिगुप्त के सदृश कोई दीखता ही नहीं (कुछ रुककर)। शशिगुप्त के अतिरिक्त आज पर्यन्त मुझे कोई इस प्रकार आकर्षित ही न कर सका।'[१]

'अशोक' में चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने सम्राट् अशोक के हृदय-परिवर्तन तथा बौद्ध-धर्म के अनुयायी बन जाने की कथा का हृदय-द्रावक चित्रण किया है। जो अशोक अपने आरम्भिक जीवन में एक महान् योद्धा और विजेता था और जिसे बौद्ध-भिक्षुओं से अत्यन्त घृणा थी, वही कलिंग विजय के बाद मानवता का पुजारी तथा बौद्ध-धर्म का अनुयायी बन जाता है। सम्राट् के इस हृदय-परिवर्तन का प्रभाव न केवल उसके अपने देश की जनता पर ही पड़ा, अपितु अन्य देशों के लोग भी इसकी विचारधारा से प्रभावित हुए।

अशोक नाटक का धीरोदात्त नायक है जो साम्राज्य-लिप्सा की महत्वाकांक्षा का प्रतीक है। अपने पिता बिन्दुसार की मृत्यु के बाद वह बड़े भाई युवराज सुमन को बन्दी बना लेता है और बाद में अपने सेनापति चंडगिरि के द्वारा उसकी हत्या करवा देता है। प्रजा अशोक के विरुद्ध विद्रोह करती है परन्तु इसकी विधवा भाभी शीला बौद्धाचार्य उपगुप्त के अनुरोध से इस विद्रोह को शांत करने में सहायक होती है। साम्राज्य-लिप्सा की भावना से प्रेरित होकर ही अशोक कलिंग पर आक्रमण करता है। दो वर्ष तक निरन्तर युद्ध होता रहता है परन्तु जय-पराजय का कोई निर्णय नही हो पाता। इधर कुछ लोग मिलकर अशोक का वध करने का षड्यन्त्र रचते है। शीला को किसी प्रकार

१ शशिगुप्त, पृ० ५३।

अपने एक चर द्वारा यह समाचार मिल जाता है। एक क्षण तो उसके हृदय में अशोक के प्रति प्रतिहिंसा की भावना से प्रसन्नता की लहर दौड़ती है मगर दूसरे ही क्षण वह कर्तव्य-भावना से प्रेरित होकर उसके प्राणों की रक्षा के लिये स्वयं अपने जीवन के बलिदान के लिये तैयार हो जाती है। षड्यन्त्रकारियों का षड्-यन्त्र असफल हो जाता है। शीला के त्याग एवं बलिदान से अशोक की आंखों के सामने से अज्ञान का आवरण हट जाता है। यह एक घटना उसके कठोर हृदय को झकझोर डालती है, जिससे उसके जीवन का पूर्ण दृष्टिकोण ही बदल जाता है। वह प्रायश्चित की भावना से अपने सभी अपराधों और अत्याचारों के लिये प्रजा से क्षमा-याचना ही नहीं करता बल्कि उसे इन गुनाहों के लिये दंड देने के लिये भी कहता है। प्रजा इसे क्षमादान दे देती है। तदनन्तर वह प्रजा को अपने भावी जीवन की योजना इस प्रकार सुनाता है—'पाटलीपुत्र के नाग-रिको, मैं हृदय से तुम्हारा धन्यवाद करता हूं। तुमने अपनी महान् उदारता से मुझे उबार लिया। अब मैं निश्चिन्त होकर अपना जीवन अपने महान् गुरु महात्मा बुद्ध के सन्देश को पूरा करने में व्यय कर सकूंगा। भाइयो, आज महात्मा बुद्ध को साक्षी कर मैं यह घोषणा करता हूं कि भविष्य में मैं इस विशाल मगध-साम्राज्य को अपनी सम्पत्ति नहीं समझूंगा। यह महासाम्राज्य आप सब-की सम्पत्ति है। मैं तो आपका सेवक-मात्र हूं। इस राज्य का उद्देश्य विश्व-भर में धर्म, दया और मनुष्यत्व का प्रचार करना है। इसी उद्देश्य के लिए मैं जीऊंगा और जहां तक बन पड़ेगा अपने जीवन के भयंकर पापों का प्रायश्चित करने का प्रयत्न करूंगा।

'आओ भाइयो, आज हम सब मिलकर संसार को एक नया पाठ पढ़ाना शुरु करें। हम अपने व्यवहार से सिद्ध कर दें कि हमारा यह महासाम्राज्य राज-नीति और शक्ति-संघर्ष के लिए नहीं है, यह धर्म के प्रचार के लिए है और साथ ही साथ हम यह भी सिद्ध कर दें कि हमारा यह धर्म सिद्धान्तों का धर्म नहीं, क्रिया का, आचरण का धर्म है। मैं घोषणा करता हूं कि स्वयं बौद्ध होते हुए भी मैं किसी मनुष्य से इस कारण घृणा नहीं करूंगा, अथवा इस कारण उसे छोटा या अभागा नहीं समझूंगा कि वह बौद्ध नहीं है। आओ भाइयो, आज हम सब मिलकर यह व्रत लें कि हम मनुष्य से घृणा नहीं करेंगे, हम किसी पर अत्याचार नहीं करेंगे। प्राणि-मात्र के लिए सेवा और सहानुभूति या व्यावहारिक प्रदर्शन हमारे इस 'धम्म-साम्राज्य' का एक मात्र ध्येय होगा।'[1]

चन्द्रगुप्त जी के '**रेवा**' नाटक का आधार ऐतिहासिक है परन्तु उसमें लेखक

ने ऐतिहासिकता की अपेक्षा कल्पना से अधिक काम लिया है। इस नाटक में चन्द्रगुप्त जी ने विदेशों में भारतीय संस्कृति के विस्तार की कहानी को बड़े ही सुन्दर एवं मार्मिक ढंग से व्यक्त किया है। वह विस्तार शस्त्र-बल की अपेक्षा भारतीय संस्कृति की आन्तरिक शक्ति एवं श्रेष्ठता के बल पर होता है। 'इस एटम-युग में स्वतन्त्र भारत विश्व भर को शान्ति मार्ग का सन्देश दे रहा है। 'रेवा' नाटक में चोल-राजकुमारी इन्दिरा के प्रयत्न और ऋषि पुण्डरीक के शान्ति-संदेश भारत के इसी प्राचीन उद्देश्य की ओर संकेत करते हैं।'[1]

यशोवर्मा नाटक का धीरोदात्त नायक है। राज्य-संचालन की अपेक्षा वह राज्य का विस्तार कर एक साम्राज्य की स्थापना करना चाहता है। वह अनेक द्वीपों पर विजय प्राप्त कर अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त करता है। ऋषि पुण्डरीक की तो यशोवर्मा के विषय में यही कामना है कि वह साम्राज्य-विजयी के स्थान पर मानव-हृदय-विजयी सम्राट् बने। पुण्डरीक उसे कर्तव्य की पुकार के सम्मुख व्यक्तिगत इच्छा की उसी प्रकार बलि देने के लिए कहता है जिस प्रकार आशादीप की महारानी रेवा सम्राट् यशोवर्मा से विवाह की इच्छा रखते हुए भी प्रजा के हितों के अनुरोध से निजी स्वार्थ की आहुति दे डालती है। पुण्डरीक के इसी अनुरोध पर वह चोलराज की कन्या इन्दिरा से विवाह करने के लिए तैयार हो जाता है।

यशोवर्मा विकट से विकट परिस्थिति में भी अपने धैर्य और साहस को नहीं छोड़ता। भाग्य की अपेक्षा कर्तव्य-पालन में उसकी अधिक आस्था है। वह अपने शील-आचरण, वीरत्व एवं अद्भुत साहस आदि गुणों के कारण प्रजा के हृदय का शृंगार है। अपने राज्य में एक विशाल एवं भव्य शिव-मन्दिर का निर्माण करवा के वह अपनी कला-प्रियता का भी परिचय देता है।

हरिकृष्ण प्रेमी की गणना प्रसाद के समान ही इस युग के प्रौढ़ एवं सशक्त नाटककारों में की जाती है। इनके ऐतिहासिक नाटकों की मूल चेतना है—हिन्दू-मुस्लिम एकता, देश-प्रेम एवं राष्ट्रीय भावना का जागरण। **'रक्षा बन्धन'** में मेवाड़ के स्वर्गीय महाराणा सांगा की पत्नी कर्मवती द्वारा गुजरात के बादशाह बहादुरशाह के आक्रमण से मेवाड़ की रक्षा के लिए हुमायूं को राखी भेजना और हुमायूं का अपने सामन्तों की इच्छा के विरुद्ध एक हिन्दू बहन द्वारा प्रेषित राखी की पवित्र भावना के सम्मानार्थ मेवाड़ की रक्षा का वचन देने की कथा का बड़े ही सुन्दर ढंग से वर्णन किया है। बहादुरशाह की सेना मेवाड़ पर आक्रमण कर देती है। महाराणा विक्रमादित्य प्राण-रक्षा के लिए मेवाड़ त्याग

---

१. रेवा, संस्करण १९५७, भूमिका, पृ० ७

कर भाग जाते हैं। सब ओर से मेवाड़ की रक्षा का बचाव न देखकर महारानी कर्मवती बारह हज़ार क्षत्राणियों के साथ जौहर की ज्वाला में भस्म हो जाती है और राजपूत अपने सर्वस्व में अपने ही हाथों आग लगाकर, केसरिया वस्त्र पहन कर अन्तिम क्षणों तक उन्मत्त होकर युद्ध करते हुए स्वर्ग सिधार जाते हैं। वीर राजपूतों के इस कृत्य को देखकर बहादुर शाह भी आश्चर्य-चकित हो जाता है। उसे अपनी विजय भी पराजय ही नजर आती है। वह मालवा के सूबेदार मुल्लू खां से कहता है—'फतह ! इसी को फतह कहते हैं ? फतह तो उनकी हुई है, जिनकी राख इस किले को आज भी गरम कर रही है। फतह उन राजपूतों की हुई है, जिन्होंने अपने जीते-जी हमें भीतर न घुसने दिया। मेवाड़ को मैंने फतह किया है। क्या यही मेवाड़ है—ये पत्थर की दीवारें, ये सुनसान खण्डहर, यह खून से लथ-पथ ज़मीन। एक चिड़िया भी तो ऐसी नहीं जिससे मैं घमंड के साथ कह सकूं—'मैंने तुम्हें सर किया है।'[१]

इधर हुमांयूं सेना सहित मेवाड़ पहुंचता है। उसे गुजरात की सल्तनत से भी हाथ धोना पड़ता है। हुमायूं विक्रमादित्य को मेवाड़ का फिर से महाराणा बना देता है। उसे केवल एक ही बात का दुख है कि वह समय पर न पहुंचकर अपनी धर्म बहन कर्मवती की रक्षा नहीं कर सका। वह विक्रम से कहता है—'बहन के प्यार की कीमत, इन राखी के धागों की कीमत, दुनिया की बादशाहत और बहिश्त की सल्तनत से भी बढ़कर है महाराणा ! मुझे अफसोस इसी बात का है कि मैं ठीक वक्त पर आकर बहन कर्मवती के कदमों की खाक सर पर न चढ़ा सका। उसकी कमी को उनकी चिता की धूल से पूरा करता हूं। मैंने मेवाड़ आने में जो देरी की उसकी सज़ा मुझे अभी भुगतनी है। चलिये महाराणा आपको बाकायदा मेवाड़ के तख्त पर बैठा कर सर से राखी का कुछ कर्ज़ उतार लूं। पूरा कर्ज़ तो उसी रोज उतरेगा जब सारी मुस्लिम कौम की बहनें हिन्दू भाइयों के हाथों में बेहिचक राखी बांधने की हिम्मत करेंगी और सारी हिन्दू कौम की बहनें मुसलमान भाइयों के हाथों में दिली मुहब्बत के साथ अपनी पाक राखी बांधने की मेहरबानी करेंगी, जब हमारी आंखों से पाप का मैल धुल जायगा।'[२]

हुमायूं के इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि नाटककार जीवन का मूल्यांकन जाति-भेद तथा साम्प्रादायिक आधार पर नहीं करना चाहता, अपितु जाति, धर्म तथा साम्प्रदायिकता की संकीर्ण एवं सांकरी सीमाओं से ऊपर उठ कर

---

१. रक्षा-बन्धन, संस्करण १९५७, पृ० १०६।

२. रक्षा बन्धन, पृ० १११-११२।

मानवता के विशाल धरातल पर करना चाहता है। नाटक का नायक हुमायूं इसी जातीय एवं साम्प्रदायिक भावना की संकीर्णता के प्रति विरोध करता हुआ अपने को केवल मानव समझता है—हिन्दू अथवा मुसलमान आदि संज्ञाएं उनकी दृष्टि में संकीर्णता की प्रतीक हैं। वह कहता है—'हिन्दुस्तानी ही नहीं, इन्सान हैं। हमें अब दुनिया की हर किस्म की तंगदिली के खिलाफ जिहाद करना चाहिए। हमारा काम भाई के गले पर छुरी चलाना नहीं, भाई को गले लगाना है, भाई को ही नहीं, दुश्मन को भी गले लगाना है। दुनिया के हर इन्सान को अपने दिल को मुहब्बत के दरिया में डुबो लेना है। बहन कर्मवती ने इसी दरिया के दो बड़े हिस्सों, हिन्दू और मुसलमानों को जिस मुहब्बत के धागे में बांध दिया हैं वह कभी न टूटे, मैं खुदा से यही चाहता हूं।'[१]

नाटक में नायक हुमायूं का चरित्र समस्त मानवता के लिए आदर्श एवं अनुकरणीय है! वह असाधारण गुणों से युक्त है। वह वीर, साहसी, निर्भीक, दृढ़प्रतिज्ञ, धैर्यशाली, नीतिवान् दयालु एवं उदार है। अपने राज्य को संकट में डालकर भी वह कर्मवती द्वारा भेजे गये पवित्र राखी के सूत्रों को स्वीकार कर उसकी रक्षा के लिए वचन-बद्ध हो जाता है और अपने वचनों का पालन कर मेवाड़ की रक्षा करता है।

अपने ऐतिहासिक नाटकों के लिखने का उद्देश्य बतलाते हुए **'शिवा साधना'** की भूमिका में प्रेम जी लिखते हैं—'पंजाब में ज्ञान की बांसुरी और कर्म का शंख फूंकने वाली बहन कुमारी लज्जावती ने एक बार मुझसे कहा था कि हमारे भारतीय साहित्य में—हिन्दी और उर्दू तथा अन्य प्रांतीय भाषाओं के के साहित्य में—हिन्दुओं और मुसलमानों को अलग करने वाला साहित्य तो वहुत बढ़ रहा है, उन्हें मिलाने का प्रयत्न बहुत थोड़े साहित्यकार कर रहे हैं। तुम्हें इस दिशा में प्रयत्न करना चाहिए। इसी लक्ष्य को सामने रख कर उन्होंने मुझे ऐतिहासिक नाटक लिखने का आदेश दिया। × × × मैंने बहन लज्जावती की आज्ञा मानकर 'रक्षा-बन्धन' नाटक लिखा। 'शिवा-साधना' के रूप में इस दिशा में मेरा यह दूसरा पग है।'[२]

'शिवा-साधना' में प्रेमी जी ने इसी उद्देश्य की पूर्ति शिवा जी के वीरोचित आदर्श चरित्र द्वारा करने की चेष्टा की है जिसमें उन्हें पर्याप्त सफलता मिली है। शिवाजी के चरित्र को प्रेमी जी ने अपने दृष्टिकोण से देखा है और उसे उसी रूप में नाटक के एतिहासिक सांचे में ढालने का प्रयास किया है। नाटक

---

१. रक्षा बन्धन, पृ० ११०-१११।

२. शिवा-साधना, पृ० ६-७।

के शिवाजी न केवल महाराष्ट्र में, वरन् समस्त भारतवर्ष में 'जनता का स्वराज्य' स्थापित करना चाहते हैं। वे अपने बाल सखा ताना जी तथा येसा जी से कहते हैं—'मुझे विश्वास है कि तुम लोगों की सहायता से मैं एक भारत-व्यापी क्रान्ति कर सकूंगा—जिस क्रान्ति की पुकार भग्न मन्दिरों, धराशयी राजमहलों, भस्मसात् पर्ण-कुटियों और रोटियों के लिए हाहाकार करने वाले वस्त्रहीन कृषकों के हृदयों से उठ रही है। × × × मेरी साधना का स्वरूप यही है, जिसका चित्र तुम्हारे अन्तर् का असंतोष रात-दिन तुम्हारी आंखों के सामने खींचता रहता है। मेरे शेष जीवन की एक-मात्र साधना होगी भारतवर्ष को स्वतंत्र करना, दरिद्रता की जड़ खोदना, ऊंच-नीच की भावना और धार्मिक तथा सामाजिक दोनों प्रकार की क्रान्ति करना।'[1]

प्रेमी जी को अपने ऐतिहासिक नाटकों के आदर्श नायकों द्वारा सदैव महान् आदर्श एवं उद्देश्य की सिद्धि ही अभीष्ट रही है। 'रक्षा-बन्धन' का नायक हुमायूं देश, जाति और धर्म की संकीर्णताओं को तोड़ता हुआ मानवतावाद के उच्च आदर्श को प्रस्तुत करता है और 'शिवा-सावना' के शिवाजी जातीयता एवं प्रान्तीयता की भावना से ऊपर उठ कर समस्त भारत की स्वाधीनता के स्वप्न को साकार करने के लिए कर्तव्य-पथ पर अग्रसर होते हैं। नाटक के अन्त में मृत्यु शय्या पर पड़ी हुई मां से वे कहते हैं—'आज भारत भर में औरंगजेब की संदेह-वृत्ति और भेद-नीति ने असंतोष की चिनगारियां बिछा दी हैं, एक छोटी साधना की सफलता के बाद दूसरी महत्तर साधना का श्रीगणेश किया जाय। महाराष्ट्र में जो कुछ सम्भव हुआ है, उस पर सन्तोष करने को अधिक जी नही चाहता, अब तो भारत का नक्शा बदलने की उमंग उठती है। और तुम यों मंझदार में छोड़ जाने की बातें करती हो मां।'[2] और जब वे अपने जीवन की एक मात्र प्रेरणा-शक्ति मां जीजाबाई को खोकर अनाथ हो जाते हैं। तब मानव-सुलभ दुर्बलता एवं माँ के प्रति ममता के कारण उनके हृदय में राज-काज के प्रति विरक्ति आ जाती है और वे भवानी की प्रतिज्ञा के सम्मुख येसा जी से इस प्रकार कहते हैं—'भैया येसा जी, तुम्हें वह दिन याद है जब तुम्हारे साथ इस भवानी के मन्दिर में मैंने स्वराज्य साधना के लिए तलवार पकड़ी थी, आज इसी भवानी के मन्दिर में थके हुए हृदय से उसे वापस जनता के चरणों में अर्पित किये देता हूं।'[3]

---

१. शिवा-साधना, पृ० १८-१९।
२. वही, पृ० १६८।
३. वही, पृ० १७२।

परन्तु गुरु रामदास के अनुग्रह से वे शीघ्र ही अपने हृदय की इस दुर्बलता पर काबू पा कर अपने महान् उद्देश्य की प्राप्ति के लिए तैयार हो जाते हैं।

शिवाजी ने व्यक्ति की अपेक्षा देश को सर्वोपरि मानने की बात अपनी मां जीजाबाई से सीखी है। जब उनके सामने पिता की प्राण-रक्षा और राष्ट्र उद्धार की समस्या सामने आती है तब एक बार तो उनका मन ममता के कारण माता के सुहाग की रक्षा हेतु अपने पिता के प्राणों की रक्षा के लिए आदिलशाह के पैरों पर गिरना भी स्वीकार कर लेता है। परन्तु माता जीजाबाई के यह समझाने पर 'देखो बेटा, यह ठीक है कि हिन्दू स्त्री के लिए पति ही लोक है और पति ही परलोक, किन्तु मनुष्य का सब से उच्च कर्तव्य स्वदेश धर्म का पालन है। मैं अपनी हानि सह सकती हूं, स्वदेश की नहीं। तुम स्वदेश की सम्पत्ति हो जनता के धन हो, तुम्हारा जीवन व्यक्ति के सुख के लिए अर्पित नहीं हो सकता—'[१] वे देश के प्रति कर्तव्य-पालन के लिए तैयार हो जाते हैं।

लेखक ने नाटक के नायक शिवाजी के चरित्र को एक क्रान्तिकारी देशोद्धारक के रूप में चित्रित किया है। वे वीर, पराक्रमी, निर्भीक, साहसी स्वाभिमानी हैं। अनीति और अत्याचार के सामने झुकना तो उन्हें आता ही नहीं है उनमें दूसरे धर्मों के प्रति सहिष्णुता की भावना भी है। उन्होंने किसी व्यक्ति को केवल इसीलिए दण्ड नहीं दिया कि वह मुसलमान है। पर स्त्री को, भले ही वह शत्रुपक्ष की ही क्यों न हो, उन्होने सदा मां की दृष्टि से ही देखा। नाटक में नाटककार ने शिवाजी के चरित्र के इस पहलू को भी समुचित ढंग से उभारा है।

शिवाजी ने महाराष्ट्र को स्वाधीन करके मां जीजाबाई के स्वप्न को साकार किया और छत्रसाल ने बुंदेल खण्ड की खण्डित शक्ति को संगठित कर मां लाल कुंवरि के आदेश का पालन किया। उसका अन्तिम आदेश था—'मां-बाप की मृत्यु का प्रतिशोध शत्रु से लेना, बुंदेलखण्ड की स्वातन्त्र्य-साधना का दीपक बुझने न देना।'[२] इस प्रकार प्रेमी जी के 'प्रतिशोध' नायक का उद्देश्य 'शिवा-साधना' के ही सदृश है।

'प्रतिशोध' का आधार लाल कवि कृत 'छत्र-प्रकाश' है। यद्यपि शिवाजी के समान छत्रसाल भी सम्पूर्ण भारत को स्वाधीन देखना चाहते हैं, परन्तु दिल्ली-पति से बुदेलखण्ड के अपमान का प्रतिशोध लेना वे अपना प्रथम कर्तव्य समझते हैं। छत्रसाल अद्भुत वीर एवं पराक्रमी है। अपने कर्तव्य-पालन के प्रति उन्होंने

---

१. शिवा-साधना, पृ० ३३।

२. प्रतिशोध, संस्करण १९५२, पृ० ५३।

कभी मन में शिथिलता एवं दुर्बलता नहीं आने दी। विपरीत परिस्थितियों की विकरालता में भी धैर्य छोड़ना उन्होंने नहीं सीखा। कर्मशीलता में उनकी आस्था है। माता लाल कुंवरि तथा चम्पतराय के मरने के बाद दाने-दाने को मोहताज अनाथ छत्रसाल ने बुंदेलखण्ड की खण्डित शक्ति को, मुगल-साम्राज्य की सत्ता से लोहा लेने के लिए, जिस प्रकार संगठित किया वह उनके अद्‌भुत शौर्य, साहस, कष्ट-सहन, लगन और धैर्यशीलता का परिचायक है। नाटककार ने नायक छत्रसाल के धीरोदात्त गुणों को परिस्थितियों के परिपार्श्व में सुन्दर ढंग से विकसित किया है।

'रक्षा-बन्धन' के समान प्रेमी जी ने '**स्वप्न भंग**' में हिन्दू-मुस्लिम एकता की समस्या को उठाया है। 'रक्षा-बन्धन' में नाटककार अपने जिस महान् उद्देश्य की सिद्धि में सफल होता है, 'स्वप्न-भंग' में उसका वही स्वप्न अधूरा रह जाता है। नाटक का नायक दारा तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था के खोखले-पन एवं हृदयहीनता के कारण अत्यन्त दुखी है। वह प्रकाश से कहता है—'तुम सच कहते हो बाबा! आज सामाजिक व्यवस्था बड़ी त्रुटिपूर्ण हो गई है। मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद-भाव की दीवारें खड़ी हो गई हैं। हम एक-दूसरे के दुःख में भाग लेने के मानव-धर्म को भूल गये हैं। स्नेह और सहानुभूति के उच्चतम मानवीय गुण आज मूर्खता के लक्ष्य समझे जाते हैं। जिनके पास शक्ति और धन है उसके हृदय से मानों मनुष्यता नष्ट हो गई है। वे अपनी वासना के बन्दी बन गये हैं। × × × मैं सम्राट् नहीं मनुष्य बनना चाहता हूं। मनुष्य रहकर सम्राट् बनना चाहता हूं। सम्राट् बनकर मनुष्यों को मनुष्य बनाना चाहता हूं। मैं धनी-निर्धन, विद्वान्-अविद्वान् और छोटे-बड़े का भेद मिटाना चाहता हूं। मैं चाहता हूं कि संसार एक मज़दूर के पुत्र की मृत्यु का दुःख भी उतना ही अनु-भव करे जितना कि वह शाहजहां की पत्नी की मृत्यु का करता है।"[१] परन्तु जब औरंगज़ेब के कुचक्रों और दुष्टतापूर्ण नीति के समक्ष दारा की बिल्कुल नहीं चलती तब उस उदार-हृदय दारा का महान् स्वप्न टूट जाता है। दारा हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए अपने जीवन की आहुति दे डालता है। उस समय दारा का जो स्वप्न खण्डित हुआ वह आज तक खण्डित ही पड़ा है। भारत का विभा-जन इस बात का साक्षी है।

नाटककार ने दारा के चरित्र को धर्म तथा जातीय धरातल की अपेक्षा मानवता के धरातल पर चित्रित किया है, जिसकी दृष्टि में हिन्दू और मुसलमान, निर्धन और धनी, ऊंच और नीच में कोई भेद नहीं है। उसकी दृष्टि में वे सब मानव है। मानवता के धरातल पर दारा की पराजय सम्पूर्ण मानव-जाति और

१. स्वप्न-भंग, संस्करण १९५२, पृ० २८-२९।

ईश्वरीय शक्ति की पराजय है और औरंगज़ेब की पाप की पुण्य पर, स्नेह की ईर्ष्या और द्वेष पर, अनीति की नीति पर तथा शैतान की खुदा पर विजय है।

गोविन्दवल्लभ पन्त कृत **'राजमुकुट'** का कथानक गोपाल राम गहमरी कृत 'बनवीर नाटक' के सदृश है। धाय पन्ना किस प्रकार अपनी स्वामिभक्ति के कारण युवराज उदयसिंह की रक्षा के लिए अपने पुत्र चन्दन की बलि दे देती है, यही इस नाटक में चित्रित किया गया है। उदयसिंह की चाची शीतलसेनी उदय के बड़े भाई विक्रमसिंह द्वारा अपमानित किये जाने पर अपने अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए सिंहासन को उलट देने की प्रतिज्ञा करती है। नारी की प्रतिहिंसा की ज्वाला स्वरूप बनवीर अपनी माता के हाथों की कठपुतली बनकर पहले विक्रम और बाद में उदय के धोखे मे चन्दन की हत्या कर निष्कण्टक रूप से मेवाड़ के सिंहासन पर बैठता है, परन्तु समय आने पर पन्ना मेवाड़ के अन्य सरदारों की सहायता से उदयसिंह को मेवाड़ का महाराणा बनाने में सफल होती है। वह बनवीर के समस्त अपराधों को भी क्षमा कर देती है। इस प्रकार पन्ना मेवाड़ की वंश-बेलि को बचाकर और उदयसिंह को राजमुकुट पहनाकर अपनी अद्भुत राज-भक्ति, स्वामि-भक्ति एवं देश-भक्ति का परिचय देती है। नाटक के अन्त में राज्याभिमानी बनवीर चितौड़ को त्याग कर मेवाड़ ही नहीं, राजस्थान से भी दूर सदा के लिए चला जाता है।

'बनवीर नाटक' के समान इस नाटक का नायक भी उदयसिंह है। नाटक के कथानक का सारा संघर्ष मेवाड़ के राजमुकुट के लिए होता है जिसमें धाय पन्ना के प्रयासों से उदयसिंह को सफलता मिलती है। वह धीर, वीर, पराक्रमी एवं निर्भीक है। वह धाय मां के कहने पर भाई विक्रम तथा मित्र चन्दन के घातक बनवीर को उसके अपराधों के लिए क्षमा कर देता है। उदयसिंह में धीरोदात्त नायक के गुण हैं।

पन्त जी के **'अन्तःपुर का छिद्र'** का कथानक बौद्धकालीन एक घटना पर अवलम्बित है। नाटक भाव प्रधान है। इसमें नाटककार ने अमिताभ के सात्विक सौन्दर्य पर मुग्ध होने वाली वत्सराज उदयन की दोनों रानियों—पद्मावती तथा मागंधिनी की परस्पर ईर्ष्या, स्पर्धा एवं संघर्ष का तथा उदयन के मन पर उसकी प्रतिक्रिया का बड़े ही भावपूर्ण ढंग से चित्रण किया है। नाटक के अन्त में मागंधिनी की सर्प-दंशन से मृत्यु हो जाती है और उदयन तथा पद्मावती दोनों अमिताभ बोधिसत्व की शरण में चले जाते हैं। नाटक का नायक उदयन धीरललित गुणों से सम्पन्न है। वह निश्चिन्त एवं कलाप्रिय है। संगीत एवं वीणावादन में उसकी अत्यधिक रुचि है। पद्मावती की दृष्टि में वत्सराज ने बाण से नहीं, वीणा से कौशांबी को विजित किया है।

डा० कैलाश नाथ भटनागर के '**कुणाल**' नाटक का कथानक दिव्यावदान के 'कुणालावदान' पर आधारित है। नाटक को सुखान्त बनाने के लिये भटनागर जी ने नाटक के अन्त में अशोका राम विहार के संघ-स्थविर महात्मा यश की कृपा से कुमार कुणाल की नेत्र-दृष्टि लौटा दी है। नाटक की इस घटना का आधार 'शिव-जातक' है। इस नाटक में नाटककार ने कुणाल के प्रति उसकी सौतेली माता तिष्यरक्षिता की ईर्ष्या एवं कठोर व्यवहार का वर्णन किया है। वह किसी न किसी प्रकार कुमार कुणाल से प्रतिशोध लेना चाहती है और एक बार सम्राट् अशोक की रुग्णावस्था में वह तक्षशिला में गये हुए कुमार को राजाज्ञा भिजवाती है—'देवानांप्रिय प्रियदर्शी सम्राट् अशोक की ओरसे प्रधान अमात्य को यह आवश्यक आदेश दिया जाता है कि उपराज कुणाल के दोनों नेत्र निकालकर उसे नगर से तत्काल निर्वासित कर दिया जाय। कुणाल कुल-कलंक है। उसने पिता से विद्रोह करके साम्राज्य को हस्तगत करने का षड्यंत्र रचा है। अतएव न्यायप्रिय सम्राट् यह आज्ञा देते हैं कि पत्र पढ़ते ही उसे बिना विलम्ब के, निर्दिष्ट दण्ड दे दिया जाए…।'[१] इस पत्र को पढ़कर आज्ञाकारी कुणाल स्वयं अपने नेत्रों को निकाल लेते हैं और बौद्ध धर्म सम्बन्धी तीर्थ-स्थानों की यात्रा के लिये चल पड़ते हैं। मार्ग में अनेक प्रकार के कष्टों को सहते हुए एक बार वे पाटलिपुत्र में सम्राट् अशोक के दर्शनार्थ आते हैं। यहीं पर अशोक को तिष्यरक्षिता के षड्यन्त्र का पता चलता है और वे उसे जीवित ही भूखे सिंह के सामने फेंकवा देने का आदेश देते हैं परन्तु कुणाल के आग्रह से वे उसके अपराध को क्षमा कर देते हैं। नाटक के अन्त में महात्मा यश की कृपा से कुमार को नेत्र-दृष्टि मिल जाती है।

कुणाल नाटक के धीरोदात्त नायक हैं। उनका चरित्र उदात्त एवं आदर्श गुणों से युक्त है। वे आज्ञाकारी, विनीत, सहनशील, लोक-हितैषी एवं न्याय प्रिय हैं। संगीत में भी उनकी रुचि है। वीणावादन में तो वे बड़े ही प्रवीण हैं। राजाज्ञा का पालन करना वे अपना परम कर्तव्य समझते हैं। वे सेनापति से कहते हैं—'मैं समझता हूं कि प्रतीक्षा करना राजाज्ञा का स्खलन करना, पितृ-आज्ञा की अवहेलना करना, और पुत्र-कर्तव्य से मुंह मोड़ना है। सेनापति जी! एक भिखारी जब भगवान् के नाम पर कोई वस्तु मांगता है, तो दयालु लोग उसे वह वस्तु दे देते हैं। मैं भगवद्-भक्त हूं और पितृ-भक्त भी। जब पिता जी के नाम पर कोई मेरे नेत्र लेना चाहता है, तो मुझे इसमें कुछ आपत्ति नहीं।'[२]

---

१. कुणाल, चतुर्थ संस्करण, पृ० ७४।

२. कुणाल, पृ० ७६।

कुणाल हृदय से उदार और क्षमाशील भी हैं। सम्राट् अशोक जब तिष्य-रक्षिता को जंतुगृह में क्षुधार्त्त सिंह के सामने डाल देने का आदेश देते है तब वे पिता से माता के अपराध को क्षमा कर देने के लिये कहते हैं—'पिता जी ! मैं यह अपयश सहन नहीं कर सकता कि पुत्र के कारण माता को प्राणदण्ड हुआ। आप यह समझें कि युद्ध में मेरे नेत्र जाते रहे। तीरों ने मेरे नेत्रों को अपना लक्ष्य बना लिया।'[1] इस पर भी जब सम्राट् तिष्यरक्षिता को क्षमा करने के लिये नहीं मानते तब वे स्वयं उसी सिंह के सामने अपने प्राण देने के लिए लपकते हैं, परन्तु सम्राट् उन्हें पकड़ लेते हैं। तब वे सम्राट् से कहते है—'पूज्य पिता जी ! यदि आप माता को क्षमा न करेंगे तो मेरा भी यहीं अन्त हो जाएगा। यदि आप मुझे जीवित रखना चाहते हैं, तो मेरी प्रार्थना स्वीकार कीजिए। माता तिष्यरक्षिता को मुक्त कर दीजिये।'[2]

वास्तव में नाटककार ने कुणाल द्वारा सम्राट् अशोक से तिष्यरक्षिता के अपराध को क्षमा करवा कर उनके चरित्र को और भी महान् बना दिया है। विश्व में स्यात् ही इस प्रकार के उदाहरण उपलब्ध हो सकें।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के **'जय-पराजय'** में मेवाड़ पर बाह्य शत्रुओं के आक्रमण से मेवाड़ियों की वीरता, त्याग, आत्म-बलिदान एवं स्वाधीनता की रक्षा का स्वर नहीं उभारा गया, अपितु इसमें वंश-मर्यादा, राजपूतीशान, हठ-धर्मिता, अन्तःपुर में चलने वाले षड्यन्त्र एवं गृह-कलह के निरूपण द्वारा देश के प्रति कर्तव्य-भावना को जागृत करने का प्रयास किया गया है।

नाटक का नायक चण्ड सामन्त-समाज की सफलताओं एवं दुर्बलताओं का प्रतिनिधित्व करता है। नाटककार ने उसके आदर्शीकरण में अतिरंजना से काम लिया है, जिससे उसके चरित्र में अस्वाभाविकता आ गई है। मंडोवर के अधिपति रावल चूड़ावत एक ब्राह्मण द्वारा मेवाड़ के महाराणा लक्षसिंह के पुत्र युवराज चण्ड के लिये नारियल भेजते है। महाराणा हंसी-मज़ाक में यह कह देते हैं—'युवराज के लिये होगा, हम बूढ़ों के लिए नारियल कौन लायेगा।' चण्ड अपने पिता की हंसी की बात को ही गम्भीर रूप देकर राजकुमारी हंसा को माता मान लेते हैं। सब लोग उन्हें समझाते हैं, परन्तु कोई फल नहीं निकलता है। वे पिता की इस हंसी की बात की रक्षा के लिये मेवाड़ के सिंहासन के अधिकार को त्यागने की भीष्म-प्रतिज्ञा कर लेते हैं। यद्यपि नाटककार ने युवराज की आदर्श पितृ-भक्ति एवं आत्म-त्याग का विश्व में अनुपम उदाहरण दिखाने

१. कुणाल, पृ० ११६।
२. वही, पृ० ११६।

के लिए उससे भीष्म प्रतिज्ञा करवाई है, परन्तु हंसी-मजाक की बात को इतनी गम्भीरता का रूप देना अविवेकपूर्ण ही प्रतीत होता है। वैसे नाटक के आरम्भ में युवराज की यह आदर्शवादिता थोथी और अस्वाभाविक सी प्रतीत होती है परन्तु नाटक की घटनाओं के क्रमिक-विकास में उसके सत्य की चरितार्थता प्रकट हो जाती है और उसका चरित्र अधिक स्वाभाविक प्रतीत होने लगता है। चण्ड जीवन को संघर्ष के रूप में ही ग्रहण करता है। राजपूती मर्यादा की रक्षा एवं कर्तव्य-पालन को वह अपना धर्म समझता है। मंडोवर के निर्वासित राजकुमार रणमल को अपने मन्त्रियों की इच्छा विरुद्ध वह शरण देता है। यद्यपि उसकी यही सनक और अदूरदर्शिता समस्त मेवाड़ के लिए आपत्ति का कारण बनती है फिर भी उसकी दृष्टि में शरणागत को केवल अनिष्ट के भय से शरण न देना राजपूतीशान के विरुद्ध है। वह स्वभाव से हठी, दृढ़ प्रतिज्ञ, साहसी और निर्भीक है। यद्यपि वह हंसाबाई से अपमानित होकर मेवाड़ त्याग कर चला जाता है लेकिन फिर भी वह उसे यह आश्वासन दे जाता है—'एक बात कह जाऊं मां, मुझे राज्य की लालसा नहीं, अधिकार की भी आकांक्षा नहीं, किन्तु भूतपूर्व सेवक के नाते मैं आपकी सेवा को तैयार रहूंगा। मैं जानता हूं अब आपको मेरी आवश्यकता नहीं, परन्तु जब कभी हो निःसंकोच बुला लीजिये। सेवक विलम्ब न करेगा।"[1] और जब हंसा का ही भाई रणमल राज्य की अधिकार-लिप्सा की भावना से उसके ही बेटे महाराणा मोकल को समाप्त कर देना चाहता है, तब वह चण्ड को अपनी सहायता के लिये बुलाती है। वह वीर मेवाड़ के प्रति अपने कर्तव्य को जानकर हंसा द्वारा किये गये अपने अपमान को भूलकर उसकी रक्षा के लिए आता है और अपने प्रयास में सफल होता है। रणमल गायिका भारमली के द्वारा मारा जाता है। नाटक में नाटककार ने जहां सर्वत्र चण्ड के उदात्त एवं आदर्श गुणों की रक्षा की है, साथ ही उसकी चारित्रिक दुर्बलताओं का भी संकेत कर उसके चरित्र को अधिक स्वाभाविक और यथार्थ बना दिया है।

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के नाटक 'अशोक' के नायक अशोक के समान लक्ष्मीनारायण मिश्र के **'अशोक'** नाटक का नायक अशोक साम्राज्य-लिप्सा का महत्वाकांक्षी नहीं है। इस नाटक में अशोक के प्रारम्भिक जीवन की घटनाओं का चित्रण किया गया है। बिन्दुसार किस प्रकार अशोक के बढ़ते हुए प्रभाव को सहन न कर ईर्ष्या के कारण उसके जीवन को समाप्त करने का प्रयास करता है और कलिंग-विजय के पश्चात् अशोक का किस प्रकार हृदय-परिवर्तन हो

---

१. जय-पराजय, संस्करण १९४९, पृ० १४३।

जाता है, यही इस नाटक में दिखाया गया है।

नाटक का नायक अशोक वीर, पराक्रमी और साहसी तो है ही, वह बुद्धि-जीवी भी है। वह हर बात को तर्क की कसौटी पर कसने की चेष्टा करता है। ब्राह्मणों के प्रति उसके हृदय में श्रद्धा और सम्मान की भावना है। नाटक के अन्त में धर्मनाथ के कलिंग-विजय सम्बन्धी दुष्कृत्यों को जानकर भी उसे क्षमा कर अपनी उदारता का परिचय देता है। कलिंग विजय के पश्चात् तो उसका हृदय आत्म-ग्लानि और अनुताप से भर जाता है। वह कहता है—'यही विजय है···मैं मूर्ख समझता था···मैं जीत गया, किन्तु आज मालूम हुआ···जीत नहीं, हार गया था। महाराज आप विजयी है, और मैं···नहीं। यह क्या महाराज, अपना कलिंग आप ले लीजिये। मुझे अपनी तृष्णा का पूरा दण्ड मिला। भूल हुई थी सुधर गई।'[1] वस्तुतः नाटक में लेखक को अशोक का यही हृदय-परिवर्तन दिखाना ही अभीष्ट है।

आचार्य चतुरसेन कृत '**अजित सिंह**' में जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह के पुत्र अजितसिंह द्वारा मुगल शासकों से अपने पिता की हत्या का प्रतिशोध लेने की कथा है। नाटक के आरम्भ में ही वह मेवाड़ के शत्रुओं से प्रतिशोध लेने की इस प्रकार प्रतिज्ञा करता है—'मारवाड़-भूमि उठ, मातृभूमि उठ, उठ, ओ मारवाड़ के भाग्य उठ, मारवाड़ की राज्य-लक्ष्मी उठ, पितरों की वीर आत्माओं उठो, कुल-देवताओ उठो, गिरिवर अगम्य शिखरो उठो, मरुस्थली के रजकणों, पत्थरो, मैदानो उठो! आज मैं, अजितसिंह अपने पिता के विजयी खड्ग को उठाकर देव, गुरुजन और माता के सम्मुख प्रतिज्ञा करता हूं कि मैं शत्रुओं के साम्राज्य को विध्वंस करूंगा। उनके तख्ते-ताऊस को खण्ड-खण्ड करके धूल में मिला दूंगा। मैं उन अत्याचारियों के वंश का आमूल संहार करूंगा। लाओ मेरे पिता की तलवार।'[2]

अजितसिंह अपनी वीरता, कूटनीति तथा अपने वीर सरदारों की सहायता से जोधपुर का राज्य पाने में सफल होता है। वह अपनी शक्ति और कूटनीति के द्वारा तीन बादशाहों को दिल्ली के तख्त पर बैठाने और उतारने में समर्थ होता है, और अन्त में वह अपने ही पुत्रों द्वारा रचे गये एक भयंकर षड्यन्त्र के कारण मर जाता है।

यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि अजितसिंह का आलमगीर की पौत्री तथा शाहज़ादा अकबर की पुत्री रज़िया से प्रेम था। नाटक में नाटककार ने इन

१. अशोक, पृ० १६५।
२. अजितसिंह, संस्करण १९४९, पृ० १७।

दोनों के इसी प्रेम-भाव को भौतिकता की अपेक्षा आध्यात्मिक रूप देने का सफल प्रयास किया हैं। अजित उसके साथ विवाह के लिए वचन-बद्ध हो जाता है। सेनापति दुर्गादास तथा सामन्त-सरदार इसमें मारवाड़ देश और अपनी जाति का अहित समझकर अजित को ऐसा करने से रोकते है, परन्तु वचनबद्ध अजित एक रज़िया के लिये देश एवं जाति के प्रति अपने कर्तव्य को भूलकर राज्य-सुख से वंचित होना भी स्वीकार कर लेता है। उसके जीवन की सबसे बड़ी यही विडम्बना है कि वह जोधपुर का महाराजा है और 'राजा का अर्थ है, प्रजा का अनुरंजन, लोकमत का सम्मान करने वाला। यदि राजा इस गुण से हीन है, तो वह 'राजा' पद का अधिकारी नही। राजा किसी व्यक्ति का नाम नहीं—वह एक सत्व है, जिसकी स्थापना राष्ट्र अपनी स्वीकृति से करता है। राजा का शरीर केवल उसका माध्यम है।'[१] और इसी बन्धन के कारण आज उसका निजी व्यक्तित्व, उसकी आत्मा स्वतन्त्र होने के लिए छटपटा रही हैं। उसे अपने ऐसे पराधीन जीवन से बड़ी ग्लानि होती है। वह सोचता है—'मानव-जीवन क्या केवल संघर्ष और विषमताओं ही का नाम है? क्या मनुष्य सर्वांश में परतंत्र है? उसका निजी कोई अस्तित्व, कोई व्यक्तित्व नहीं। छिः, इससे तो वन-पशुओं का जीवन अधिक सरल, अधिक सुन्दर है।'[२] इसीलिये वह ऐसे पराधीन जीवन से मुक्ति पाने के लिये अपने सरदारों से यहां तक कह देता है—'आप लोग मुझे राज्यच्युत कर दीजिये। मैं राजा नहीं होना चाहता। मैं रज़िया को नहीं छोड़ सकता।'[३] परन्तु शीघ्र ही जोगीदास तथा भगवानदास के अनुरोध पर उसे अपने कर्तव्य का ज्ञान हो जाता है और इसी कर्तव्य-पालन के लिये वह आत्म-बलि दे डालता है।

अजितसिह वीर, पराक्रमी, निर्भीक और साहसी है। शत्रुओं के साथ युद्ध करने में वह कूटनीति से काम लेता है, परन्तु यथार्थ में इस कूटनीति में उसकी प्रेमनीति ही छिपी रहती है, जिसके कारण उसके मन में वीरोचित्त उत्साह की कमी हो जाती है। रज़िया को भी अजित की ऐसी मानसिक एवं चरित्रिक दुर्बलता पर अत्यन्त ही विक्षोभ होता है और वह उसे इस प्रकार धिक्कारती है—'सुना तो यही था, मगर राजा, उस बहादुर बाप की तलवार को म्यान में रखकर, अपनी इज्ज़त और बाप-दादों की गद्दी को ठोकर मारकर तुम, एक औरत के पीछे भाग आये, क्या यही तुम्हारी राजपूती है? लानत है तुम पर

१. अजितसिंह, पृ० ७३।
२. वही, पृ० ६१।
३. वही, पृ० ७८।

राजा ! × × × अपमान ? काश कि तुम में अपनी इज्जत के लिए जूझ मरने का हौसला होता। मैं कितनी शर्मिंदा हूं कि तुम्हें बुजदिल बनाने का मैं ही कारण हूं ? मैं कितनी बदनसीब हूं।'[1] इस प्रकार वह अपने वीर प्रेमी के हृदय की दुर्बलता को झकझोर कर उसमें कर्तव्य-भावना और उत्साह को जगाती है। यद्यपि रज़िया हृदय से अजित को चाहती है परन्तु वह इस बात को सहन नही कर पाती कि वह उसके वंश के किसी भी व्यक्ति का अपमान करे। नाटक के अन्त में जब अजित और पेशवा दिल्ली के शासक फर्रूखसियर को मार देते है, तब रज़िया अजित को शाही खून का दंड देने के लिए युद्ध के लिये चुनौती देती है। अजित तलवार फेंक देता है और वह रज़िया के अनेक बार अनुरोध करने पर भी उससे युद्ध करने के लिए तैयार नहीं होता। इस पर वह क्रोध के कारण तलवार के वार से उसे घायल कर देती है और बाद में उसके घावों को देखकर उससे सहानुभूति भी प्रकट करती है।

नाटक का नायक अजितसिंह है। इसमें रोमांटिक नायक के गुण हैं। नाटककार ने उसकी चारित्रिक सबलताओं एवं दुर्बलताओं का बड़े ही सुन्दर ढंग से चित्रण किया है। उसका चरित्र आदर्श होता हुआ भी यथार्थ की भाव-भूमि के अधिक निकट है। नाटककार ने अजित के मन के रज़िया के प्रति प्रेम और देश एवं जाति के प्रति कर्तव्य-भावना में संघर्ष का चित्रण बड़े ही सुन्दर और यथार्थ ढंग से किया है। इस कारण अजित का चरित्र-चित्रण और भी स्वाभाविक बन गया है।

कंचनलता सब्बरवाल कृत **'आदित्यसेन गुप्त'** में गुप्तवंशी मगध सम्राट् आदित्यसेन गुप्त के वीरतापूर्ण कृत्यों का बड़े सुन्दर ढंग से चित्रण किया है। उसके ही राज्य का महास्थविर बौद्धभिक्षु बुद्धगुप्त सद्धर्म की रक्षा हेतु गुप्त साम्राज्य के एक महानायक की पुत्री कोण देवी को युवराज आदित्यसेन के वध के लिये नियुक्त करता है। परन्तु वह देवी युवराज का वध न कर उस तेजस्वी और वीरत्व की साक्षात् प्रतिमा के प्रति आकृष्ट हो जाती है और इस प्रकार बुद्धगुप्त के स्वप्न को साकार नहीं होने देती।

नाटक का नायक आदित्यसेन गुप्त है। उसका व्यक्तित्व देवप्रिया और कोणदेवी को पाकर ही पूर्णता को प्राप्त होता है। देवप्रिया उसकी बड़ी बहन है और वह युवराज को मातृभूमि का उद्धार करने के लिए प्रेरणा और उत्साह देती है और कोण पुरुष वेश में एक सखा के रूप में सभी युद्धों में उसके साथ रहती है और अपने अद्भुत युद्ध-कौशल से उसके प्राणों की रक्षा करती है।

---

१. अजितसिंह, पृ० १२७।

इस प्रकार इन दोनों का आदित्य के जीवन में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। वह स्वयं भी अपने मन में इसके महत्व के बारे में इस प्रकार सोचता है—'नारी के भिन्न-भिन्न रूप समझने की शक्ति किसमें है ? एक दृढ़ता, तेज और वात्सल्य का विचित्र सम्मिश्रण है, तो दूसरी मूर्तिमती वीरता, शक्ति और प्रणय की प्रतिमा है। इच्छा होती है, कि युग-युग तक इन्हीं स्नेह-मूर्तियों की स्नेह-प्रेरणा और आदर्श-कर्तव्य शिक्षा की छत्र-छाया में विश्रान्ति प्राप्त करता रहूं—कितना अपंग है पुरुष नारी के बिना ?'[१]

वास्तव में ही नारी के बिना पुरुष और पुरुष के बिना नारी का व्यक्तित्व अपंग एवं अधूरा ही रहता है। जीवन की सार्थकता एवं व्यक्तित्व की पूर्णता के लिये नारी और पुरुष दोनों ही एक दूसरे के पूरक हैं। एक-दूसरे का साहचर्य ही नारी को नारी और पुरुष को पुरुष बनाता है।

बाबू दुर्गाप्रसाद गुप्त कृत '**हम्मीर हठ**' वीर रस प्रधान नाटक है। नाटक का नायक हम्मीर देव जन्म-भूमि के उद्धार की प्रतिज्ञा करता है और सफल होता है, परन्तु अपनी छोटी सी भूल के कारण उसे बहुत सी हानि उठानी पड़ती है। हम्मीर देव अलाउद्दीन खिलजी के दो बागियों मीर मंगोल और मरहठी को शरण देता है। इससे अलाउद्दीन नाराज़ होकर चित्तौड़ पर आक्रमण कर देता है, परन्तु अन्त में इन दोनों में संधि हो जाती है और हम्मीर देव उसकी खुशी में दिल्लीपति तथा उसकी सेना को दो दिन तक अतिथि रूप में अपने यहां रहने के लिये आग्रह करता है। अलाउद्दीन मान जाता है और जब अलाउद्दीन को ध्वजासहित हाथी पर बैठे किले की ओर आते हुए को मरहठी तथा हम्मीर देव की पत्नी रम्भा देखती है, तब वे यह समझ कर कि राजपूतों की पराजय हो गई है, अन्य सभी वीर क्षत्राणियों के साथ पतिव्रत धर्म की रक्षा के लिये जौहर की ज्वाला में खेल जाती हैं। इतने में हम्मीर देव आ जाता है और वह इस भयंकर दृश्य को देखकर अपनी भूल का प्रायश्चित इस प्रकार करने के लिये तैयार हो जाता है—'क्षेत्रसिंह ! अब इस राणा के मुकुट को तुम पहनो और जैसे मैंने देश और धर्म की सेवा की है, उसी तरह राणा वंश का मान दीपाओ। भाई मंगोल ! मेरी जगह आज से तुम क्षेत्रसिंह को अपना मित्र समझो। मैं तुम्हें इनका अंगरक्षक बनाता हूं। मेरी ही भूल से सर्वनाश हुआ है। अतः इस पाप का प्रायश्चित मैं अपने हाथ से करूंगा। रावण की भांति अपने सिर को चढ़ा कर चित्तौड़ के मंगल के लिये भगवान् एकलिंग को प्रसन्न करूंगा। उनसे यह वरदान मांगूगा, कि राजस्थान और हिन्दुस्थान का

---

१. आदित्यसेन गुप्त, द्वितीय संस्करण, पृ० ११६।

गौरव स्थायी रहे। बस, अब मैं विदा चाहता हूं।"[1]

नाटक का नायक हम्मीर देव वीर, पराक्रमी, दृढ़-प्रतिज्ञ, हठी एवं शरणागत की रक्षा करने वाला है। वह अकेले ही भील राज मजा को मारकर तथा अलाउद्दीन की कैद से मीर मंगोल तथा मरहठी को मुक्त कर अपने अद्भुत साहस एवं निर्भीकता का परिचय देता है। नाटककार ने यथासम्भव हम्मीर के चारित्रिक गुण-दोषों का चित्रण कर उसके चरित्र को अधिक स्वाभाविक बनाने की चेष्टा की है।

इस युग में युगीन राजनैतिक व्यक्तियों के जीवन-चरित पर आधारित भी कई एक नाटककारों ने नाटक लिखे हैं, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस युग का नाटककार सामयिक राजनैतिक चेतना से पर्याप्त प्रभावित था। इस धारा का उल्लेखनीय नाटक है—जमुनादास मेहरा कृत **'पंजाब केसरी'**।

'पंजाब केसरी' में तो मेहरा जी ने लाला लाजपतराय के जीवनादर्शों का बड़े सुन्दर ढंग से चित्रण किया है। लाला जी अपनी दानवीरता एवं कर्मशीलता के लिये प्रसिद्ध थे। वे सच्चे देशभक्त थे। उन्होंने अपना सर्वस्व इसी देश के लिये बलिदान कर दिया था। वे माता-पिता के भक्त, कर्तव्यपरायण, दृढ़-निश्चयी, स्पष्टवादी, निर्भीक एवं सत्यवादी थे। समाज-सेवा, धर्म एवं विद्या-प्रचार उन्हें बड़ा प्रिय था। शिक्षा-प्रचार के लिये लाहौर में लाला जी ने दयानन्द ऐंगलो वैदिक कालेज की स्थापना की। इन्होंने अंग्रेज़ों के भारतीयों के प्रति अत्याचारों के विरुद्ध आवाज़ उठाई। जनता में देश-प्रेम एवं राष्ट्रीय भावनाओं को जागृत किया और लाहौर में पुलिस द्वारा लाठियों की बौछार से इस लौकिक देह का त्याग किया।

नाटककार ने लाला जी के कर्मयोगी एवं समाज सेवी रूप को बड़े सुन्दर ढंग से उभारा है। निस्सन्देह ऐसे व्यक्तियों का आदर्श चरित्र अपने देश और समाज के लिये अमूल्य धरोहर है।

समस्या-प्रधान सामाजिक नाटकों में नायक की स्थिति

यद्यपि हिन्दी में सामाजिक नाटकों का आविर्भाव भारतेन्दु युग में हुआ तथापि इसको प्रौढ़, परिष्कृत एवं परिमार्जित रूप प्रसाद तथा प्रसादोत्तर काल में ही प्राप्त हुआ। इन सामाजिक नाटकों में समाज, व्यक्ति और जीवन का यथार्थ चित्रण तो रहता ही था, परन्तु सुधारवादी चेतना की प्रमुखता के कारण इनमें आदर्शवादिता की स्पष्ट छाप रहती थी। इन नाटकों में सामयिक

---

१. हम्मीर हठ, संस्करण, १९३१, पृ० १४०।

समस्याओं का चित्रण तो रहता था, परन्तु बौद्धिक तर्क-वितर्क के अभाव में आज के समस्या नाटकों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता, जिसका हिन्दी में आविर्भाव पश्चिम के इब्सन, शॉ, गाल्सवर्दी के नाटकों के प्रभावस्वरूप लक्ष्मीनारायण मिश्र द्वारा हुआ। 'सामाजिक नाटकों और समस्या नाटकों की शैली तथा टैकनीक में महान् अन्तर है। सामाजिक नाटकों में समाज, व्यक्ति तथा जीवन के यथार्थ चित्रण के साथ आदर्श का भी समावेश रहता है। परन्तु समस्या नाटकों में व्यक्ति तथा समाज के संघर्षों का ही केवल चित्रण रहता है। लेखक के लिये यह आवश्यक नहीं कि वह उनमें आदर्शों का समावेश करे। दूसरी बात यह है कि समस्या नाटकों में पात्र व्यक्ति का नहीं, वरन् एक वर्ग का प्रतीक बन कर आता है। अधिकांश में इस प्रकार के नाटकों में विचारों और सिद्धान्तों की प्रधानता रहती है। पात्र, कथानक तथा घटना का स्थान अत्यन्त गौण रहता है। तीसरी विशेषता समस्या नाटकों में शैलीगत होती है। सामाजिक नाटकों में व्यंग्य तथा कटूक्तियों की इतनी तीव्रता नहीं होती जितनी समस्या नाटकों में। इसीलिये समस्या नाटकों की शैली बहुत ही प्रभावशाली होती है। भारतेन्दु कालीन नाटकों में हम किसी सिद्धान्त पर विचारधारा का प्रवर्तन करते हुए लेखक को नहीं पाते हैं, उनमें केवल सामाजिक यथार्थ का चित्रण है। इसलिये हम उन्हें समस्या नाटकों की कोटि में नहीं रख सकते। समस्या नाटको का विकसित तथा प्रौढ़ रूप हिन्दी में इब्सन तथा शॉ के आदर्शो पर लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों में ही पाया गया, अतः हम समस्या नाटकों का आरम्भ उसी समय से मानते हैं।'[१]

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि समस्या नाटकों में विचार एवं सिद्धान्त-प्रतिपादन के कारण बौद्धिकता के प्रति विशेष आग्रह रहता है। पात्र एवं वस्तु-तत्व का महत्व गौण रहता है। नाटक के पात्र भी नाटक में किसी परम्परागत आदर्श का समर्थन न कर सामयिक जीवन की समस्याओं के ऐसे सत्य की खोज करते हैं जिसे मानव की सहज बुद्धि स्वीकार कर सके। इसके लिये नाटककार महान् एवं आदर्श चरित्रों की अवतारणा नहीं करता। पात्र साधारण और घटनाएं हमारी जानी-पहचानी रहती हैं। वैसे ये पात्र परिस्थितियों के अनुरूप आचरण करने एवं स्वतंत्र रूप से सोचने की क्षमता भी रखते हैं। पात्रों के स्वतंत्र व्यक्तित्व के बारे में लक्ष्मीनारायण मिश्र लिखते हैं—'मैंने जान बूझकर मनोरंजन करने के लिये या धोखा देने के लिये किसी को पापी और किसी को पुण्यात्मा नहीं बनाया है मैंने अपने चरित्रों को जिन्दगी की सड़क पर

---

१. डाक्टर श्रीपति शर्मा, हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव, संस्करण १९६१ पृ० ७२-८३।

लाकर छोड़ दिया है। वे अपनी प्रवृत्तियों और परिस्थितियों के चक्करदार घेरे में होकर रुकते हुए, थकते हुए, ठोकर खाते हुए, आगे बढ़ते गये है और मैं बराबर सच्चे जिज्ञासु की तरह उनके पीछे बड़ी सावधानी से चलता रहा हूं। मैंने उन्हें देखा और समझा है उनकी सभी बातों को, उनकी सारी जिंदगी को। मैं किसी के भीतर नहीं हूं और सबके भीतर हूं। उनमें न कोई मुझे प्रिय है, न अप्रिय। वे सभी मेरे हैं—उन सबका मैं हूं। मैं उनका विधाता हूं। उनके प्रति मेरा कर्तव्य है। मुझे मालूम है। वे क्रान्ति लेकर पैदा नहीं हुए। प्रेमचन्द के चरित्रों की तरह उनके मूल में ही क्रांति नहीं है। क्रांति है उनके अन्त मे। यह सच है कि उन्होंने भी क्रांति की है, सामाजिक या राजनैतिक नियमों की अवहेलना की है।'[१] चूंकि समस्या नाटकों में बौद्धिक संघर्ष की प्रधानता रहती है इसलिए इनके पात्र क्रियाशील की अपेक्षा विचारशील अधिक होते हैं। इन नाटकों के पात्रों को सत्-असत् अथवा आदर्श-खल की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता। ये सभी पात्र मानव-सुलभ सबलताओं एवं दुर्बलताओं से युक्त साधारण कोटि के रहते हैं। ऐसे नाटकों में नायक अथवा प्रतिनायक का प्रश्न ही नहीं उठता। जार्ज बर्नाड शॉ के अनुसार 'नाटक में संघर्ष शुद्ध भलाई और बुराई के बीच नहीं होता। प्रतिनायक भी यदि अधिक नहीं तो उतना ही ईमानदार होता है जितना कि नायक। वास्तव में यह प्रश्न ही नाटक को रोचक बनाता है (यदि वह रोचक हो) कि इसमें कौन नायक है और कौन प्रतिनायक, अथवा दूसरे शब्दों में नाटक में कोई नायक नहीं होता और न ही कोई प्रतिनायक।'[२]

हिन्दी के समस्या नाटककारों में लक्ष्मीनारायण मिश्र का मूर्धन्य स्थान है। इन्होंने अपने नाटकों में समाज और व्यक्ति की विभिन्न समस्याओं का चित्रण किया है। **'संन्यासी'** (१९२९) मिश्र जी का प्रथम समस्या-प्रधान नाटक है। इसमें उन्होंने चिरन्तन नारीत्व की समस्या का विवेचन किया है और साथ ही आज की शिक्षा-प्रणाली तथा सहशिक्षा के प्रभाव स्वरूप युवकों और युवतियों में होने वाली चारित्रिक विकृतियों की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। मिश्र जी की आस्था है कि मनुष्य पश्चिमी शिक्षा, पश्चिमी जीवन और पश्चिमी

---

१. संन्यासी (भूमिका भाग), संस्करण १९६१, पृ० १०।

२. G. B. Shaw, Quintessence of Ibsenism, page 139
"The conflict is not between clear right and wrong; the villain is as conscientious as the hero, if not more so, infact the question which make the play interesting (when it is interesting) is which is the villain and which the hero, or to put in another way, there are no villains and no heroes."

आदर्शों के धारण करने से ही सुसंस्कृत, सभ्य एवं शिक्षित नहीं बन पाता, इसके लिये उसमें संस्कार एवं चरित्र बल होना चाहिये। रमाशंकर प्रोफेसर हैं और वे अपनी ही एक छात्रा मालती से प्रेम करते हैं रमाशंकर विश्वकांत को ईर्ष्या और घृणा की दृष्टि से देखते हैं और एक दिन वे अपना मार्ग निष्कंटक बनाने के लिये उसे दो वर्ष के लिये विद्यालय से निकलवाकर उसका विद्यार्थी जीवन नष्ट कर देते हैं। दूसरी ओर एक और अधेड़ उम्र के प्रोफेसर दीनानाथ युवा लड़की किरणमयी से विवाह करते है, परन्तु किरणमयी की उनसे तृप्ति नहीं होती। वह भी मुरलीधर नाम के एक युयक के प्रति आकृष्ट रहती है। इसके साथ इसका प्रेम विवाह से पूर्व का है। नाटककार ने रमाशंकर और दीनानाथ इन दोनों चरित्रों से यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि स्वच्छंद वातावरण और अनमेल विवाह दोनों ही पुरुष और नारी के जीवन में जटिलता, विषमता और विषाक्तता पैदा करने का कारण बनते हैं। किरणमयी के जीवन की विषमता और भीतरी घुटन का अनुमान उसकी इन पंक्तियों से लगाया जा सकता है—'तुम दिन-रात में कोई दो घंटा इसके लिये नियत कर लो।'[१] × × × कोई समय नियत कर लो। मैं अपने शरीर को लेकर तुम्हारी सेवा में ...जो इच्छा हो।'[२] और 'मैं जब तुम्हें देखती हूं, मुझे अपने पिता की याद पड़ती है।'[३] और इसी आन्तरिक घुटन से मुक्ति पाने के लिये वह एक धनी, शिक्षित किन्तु वृद्ध व्यक्ति की अपेक्षा एक युवा मज़दूर व्यक्ति से विवाह करने में ही अपना गौरव समझती है। वह दीनानाथ से कहती है—'जो मज़दूर बुड्ढ़ा नहीं होता तो बिना किसी शान के सुखी रहती है। जहां कुछ नहीं वहां शान भी तो रहे.. जीने के लिये कुछ कारण होना चाहिये। मैं तो इसी शान के लिये जी रही हूं। नहीं तो कब की मर गई होती।'[४] चूंकि अब इन दोनों का परस्पर विवाह हो चुका है, अतः वह स्वयं ही अपने वैवाहिक जीवन की विषमता को दूर करने का यह सुझाव दीनानाथ को देती है—'मैं सोचती तो हूं......लेकिन मैं जेलखाने में नहीं रह सकती। मैं तुम्हारा विश्वास करती हूं......तुम मेरा विश्वास करो। तुम इधर-उधर मिस और मेमों से मिला करते हो। मुझे भी अपने मित्रों से मिलने दो। हम लोगों का नाता विश्वास के बल पर जितना टिक सकता है, उतना सन्देह और ईर्ष्या से नहीं। हम लोगों का नाता स्वाभाविक

---

१. संन्यासी, तृतीय संस्करण, पृ० ५४।
२. वही, पृ० ५५।
३. वही, पृ० ५५।
४. वही, पृ० १०६।

नहीं······बनावटी है। इसे बनावटी रूप में ही निभाना होगा। × × × सब का स्वाभाविक नहीं होता। बेजोड़ चीज़ों का मिलना स्वाभाविक नहीं होता। मैं भी विधवा होती और मेरी अवस्था भी चालीस की होती, तो हम लोगों का विवाह स्वाभाविक होता।'[१]

नाटक में इस समस्या के अतिरिक्त देश की स्वाधीनता, विभिन्न देशों की जातियों में वर्ण-भेद को दूर करने के लिये एशियाई संघ की स्थापना, वर्तमान सहशिक्षा-प्रणाली के दोष आदि समस्याओं की ओर भी नाटक में संकेत किया गया है।

पुरुष पात्रों में विश्वकान्त, मुरलीधर, रमाशंकर तथा दीनानाथ ही नाटक में प्रमुख स्थान रखते हैं, परन्तु इनमें से कोई भी नायक बनने का अधिकारी नहीं है। नाटककार को तो इन सभी पात्रों के द्वारा समस्याओं का चित्रण करना ही अभीष्ट है। नाटक का कथानक भी इनमें से किसी एक पात्र के साथ मुख्य रूप से सम्बद्ध नहीं है।

'संन्यासी' के समान मिश्र जी के अन्य नाटकों—'राक्षस का मन्दिर' मुक्ति का रहस्य' तथा 'सिन्दूर की होली' मे भी चिरन्तन नारीत्व की समस्या है। **'राक्षस का मन्दिर'** (१९३२) मे वेश्या अश्करी के जीवन के उत्थान की कथा के साथ ही समाज-सुधारकों की छली एवं कपटी वृत्तियों के पोल खोलने का सफल प्रयास किया गया है। समाज में ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं है। जो बाहर से बड़े ऊंचे आदर्शों और ज्ञान की बातें करते हैं परन्तु यथार्थ में अपने भीतरी राक्षस की पाशविक वृत्तियों की तृप्ति के लिये ही वे आदर्श का ऐसा ढोंग रचाते है। नाटक में मुनीश्वर ऐसी ही वृत्तियों का प्रतीक है जो अपनी स्वार्थ-लिप्सा की तृप्ति के लिये माता, पिता, पत्नी, मित्र, प्रेमिका तथा समाज के साथ छल करता है। उसे जीवन में स्वच्छन्दता के साथ आचरण करना ही अभीष्ट है। वह रामलाल से कहता है—'जो हो। मैं तो दिल से चाहता हूं··· मनुष्य की वही प्रारम्भिक जिन्दगी फिर लौट आती। न कोई बन्धन, न कोई चिन्ता ? न धर्म, न सदाचार, न कानून, न क्रान्ति। भेद-भाव का नाम नहीं··· सब कुछ एक रस······स्वरूप एक में······जहां न पितृधर्म है, न मातृधर्म, न पत्नीधर्म, न पतिधर्म। जहां न कर्तव्य है न आदर्श।'[२] निस्सन्देह मुनीश्वर का ऐसा दृष्टिकोण उसे मानवता की अपेक्षा पशुता की ओर ले जाता है। सदाचार-अनाचार, पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, स्वर्ग-नरक की तो उसके जीवन में कोई

१. संन्यासी, तृतीय संस्करण, पृ० १०७-१०८।
२. राक्षस का मन्दिर, संस्करण १९५८, पृ० ३२।

परिभाषा नहीं है।

मानव जीवन और प्रकृति का यह सत्य है कि मनुष्य भलाई की अपेक्षा बुराई की ओर शीघ्र आकृष्ट होता है, परन्तु इससे यह अभिप्राय कदापि नहीं ग्रहण करना चाहिये कि उसमें सद्वृत्तियां होती ही नहीं हैं। वस्तुतः मानव के जीवन में ऐसे क्षण भी आते हैं जब ये सद्वृत्तियां अनुकूल वातावरण पाकर हृदय की असत् वृत्तियों पर विजय पा लेती हैं। मानव का देवत्व अपने भीतरी दानवत्व पर विजय पा लेता है। इस नाटक के प्रमुख पात्र मुनीश्वर का देवत्व भी अनुकूल वातावरण को प्राप्त कर अपने आभ्यन्तरिक दानवत्व पर विजय प्राप्त करता है। इस प्रकार नाटक के अन्त में नाटककार ने उनका हृदय-परिवर्तन दिखाकर नाटक की समस्या का समाधान भारतीय ढंग से किया है। मिश्र जी के शब्दों में 'मुनीश्वर उस समुदाय अथवा प्रवृत्ति की उस आधुनिक लहर का प्रतिनिधि है, जिसमें बुद्धि और तर्क के आगे और किसी भी वस्तु को स्थान नहीं × × × मुनीश्वर के भीतर विवेक और प्रवृत्ति का जो द्वन्द्व मुझे देख पड़ता है, आज दिन शिक्षित समुदाय की वही सब से बड़ी समस्या है।'[1]

मिश्र जी ने समाज में वेश्याओं की समस्या का समाधान 'वेश्या सुधार आश्रम' की स्थापना द्वारा किया है। ठीक इसी प्रकार का समाधान प्रेमचन्द जी ने अपने 'सेवा सदन' उपन्यास में किया है। नाटक के आरम्भ में लेखक ने जिस अश्करी को बड़ी पतित और कामुक नारी के रूप में चित्रित किया है वही अन्त में सेवा और त्याग की साक्षात् प्रतिमा बन जाती है। वह स्वयं 'वेश्या सुधार आश्रम' की व्यवस्थापिका बनकर समाज-सेवा का व्रत लेती है। इस प्रकार मिश्र जी ने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि आज की नारी को मानव तथा समाज के राक्षस से अपने बचाव के लिये स्वयं अपने को उसके विरुद्ध सक्रिय करना पड़ेगा।

'मुक्ति का रहस्य' में मिश्र जी ने समाज में व्यक्ति को पापों से मुक्त होने के रहस्य का उद्घाटन बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंग से किया है। समस्या यहां भी नारी की सैक्समूलक वृत्ति की है। आशादेवी स्वयं नारीत्व का गौरव पाने के लिये एक ओर तो उमाशंकर की पत्नी को विष देकर हत्या कर देती है और दूसरी ओर उसे इस बात का भय होता है कि यदि वह डाक्टर त्रिभुवन से शारीरिक सम्बन्ध जोड़ती है तो वह उमाशंकर हाथ से निकल जाता है जिसे पाने के लिये उसने उसकी पत्नी की हत्या की है। वह अपनी सहज नारी बुद्धि के अनुसार उमाशंकर को पाने के लिये इसलिये डाक्टर त्रिभुवन के साथ शारी-

---

१. राक्षस का मन्दिर (मेरा दृष्टिकोण), पृ० ७।

रिक सम्बन्ध जोड़ लेती है क्योंकि उसके पहले पाप का वह भण्डाफोड़ न कर दे, जिसका रहस्य उसके पास है। इस प्रकार उसे एक पाप को छिपाने के लिये दूसरा और पाप भी करना पड़ता है। जिनके कारण उसका हृदय आत्म-ग्लानि एवं विक्षोभ की भावना से भर जाता है। पाप की ग्लानि की यह वेदना उसे असह्य मालूम होती है जिसका समाधान वह आत्महत्या से करना चाहती है। वह विष खा लेती है परन्तु समय पर डाक्टर त्रिभुवन के पहुंच जाने के कारण उसका यह पाप संसार में जीवित रहने के लिये बच जाता है। त्रिभुवन को यह पता चलता है कि उसने इसी के कारण विष खाया था, तब वह उससे अपने अपराध की क्षमा-याचना करता है। इधर आशादेवी अपने उपास्य देवता उमा-शंकर से अपने अपराधों की क्षमा मांगना चाहती है। वह डाक्टर से कहती है—'हम दोनों की मुक्ति हो नहीं सकती जब तक कि हमारा पाप उनके सामने खुल न जाय। डाक्टर साहब ! वे देवता हैं···आपने उन्हें पहचाना नहीं।'[१]

उमाशकर आशादेवी को उसके सभी अपराधों के लिये क्षमा कर देता है और उसे स्वीकार करने के लिये भी तैयार हो जाता है परन्तु वह अपनी असमर्थता प्रकट करती है और अगले जन्म में उसकी पत्नी होने की कामना करती है। विवाह तो वह डाक्टर से ही करती है, क्योंकि उसके पापों की मुक्ति उसी से ही सम्भव है। वह डा० से कहती है—'मैं चाहती हूं कि जिस तरह हमारा पाप एक है······उसी तरह हमारा जीवन भी एक हो जाय। तुमने कभी मुझसे कहा था कि मेरे लिये तुम पहले पुरुष हो। उस समय मैं तुमको घृणा करती थी······आज मैं तुम्हें प्रेम करती हूं। तुम मेरे लिये पहले पुरुष हो······यह सच है। अब तुम मेरे लिये अन्तिम पुरुष भी रहो। मैं तुम से प्रेम करती हूं।'[२]

इस प्रकार नाटककार ने आशादेवी तथा डाक्टर त्रिभुवन के हृदय-परिवर्तन का मनोवैज्ञानिक ढंग से चित्रण कर यह दिखलाने की चेष्टा की है कि व्यक्ति को अपने पापों से मुक्ति उन्हें छिपाकर नहीं वरन् उनकी स्वीकृति एवं उनके प्रकाशन से मिलती है।

'सिन्दूर की होली' (१९४३) में मिश्र जी ने समस्याओं का विवेचन और समाधान तर्कपूर्ण शैली के द्वारा बौद्धिक धरातल पर किया है। मनोरमा मनोजशंकर से कहती है—'संसार की समस्याएं······जिनके लिये आज कल इतना शोर मचा है, तराजू के पलड़े पर नहीं सुलझायी जा सकती······वे पैदा

---

१. मुक्ति का रहस्य, संस्करण १९६२, पृ० १३३।
२ वही, पृ० १३६।

हुई हैं बुद्धि से और उसका उत्तर भी बुद्धि से ही मिलेगा ।'[1]

नाटक की मूल समस्या है चिरन्तन नारीत्व की, जिसमें नाटककार ने नारी-प्रकृति के सच्चे स्वरूप का उद्‌घाटन करने का प्रयास किया है । आज की शिक्षित नारी किस प्रकार समाज द्वारा व्यवस्थित एवं मर्यादित विवाह के बन्धन में न पड़कर वैयक्तिक परितुष्टि एवं स्वच्छन्द आचरण को अपने जीवन में प्राथमिकता देती है, इसका चित्रण नाटककार ने चन्द्रकला की समस्या द्वारा किया है । और दूसरी ओर बाल विधवा मनोरमा जिसने अपने पति का मुख तक नहीं देखा, और उसके रूप और प्रेम को वैयक्तिक अनुभूति की अनुपस्थिति में भी अपने प्रियतम की कल्पना कर शास्त्र एवं समाज द्वारा मर्यादित जीवन को व्यतीत करने में ही सुख का अनुभव करती है । वह विधवा होती हुई भी विधवा-विवाह का विरोध करती है । इसके लिये उसकी अपनी धारणा है, दृढ़ मत है । वह अपने प्रेमी मनोज से कहती है—'विधवा-विवाह हो रहा है ..... लेकिन वैधव्य कहा मिट रहा है ? समाज इस आग को बुझा नहीं सकता, इसलिये उसे अपने छज्जे से उठाकर अपनी नीव में रख रहा है । तुम्हारे सुधारक, राजनीतिज्ञ, कवि, लेखक, उपन्यासकार नाटककार सभी विधवा के आंसुओं मे बहते हुए देख पड़ रहे है । अपनी विशेषता मिटाकर संसार के साथ चलना चाहते है । वैधव्य तो मिटेगा नहीं...तलाक का आगमन होगा अभी तक केवल वैधव्य की समस्या थी...अब तलाक की समस्या भी आ रही है ।'[2]

मनोरमा के समक्ष वैधव्य को बनाये रखने के अतिरिक्त वैधव्य-त्याग की समस्या भी है, लेकिन तब उसके सामने यह प्रश्न उठता है कि वह मुरारी लाल को अपनाये अथवा मनोज को, क्योंकि वे दोनों ही उसके प्रेमी हैं । दूसरी ओर मुरारी लाल अपनी बेटी चन्द्रकला का विवाह मनोज से करना चाहता है, लेकिन वह स्वयं रजनीकांत के प्रति आकृष्ट है । वह मानसिक रूप से उसके साथ विवाह कर लेती है लेकिन शीघ्र ही मुरारीलाल रजतीकांत को मरवाने में भगवन्तसिंह की सहायता करता है । चन्द्रकला रजनीकांत की मृत्यु के पश्चात् मानसिक वैधव्य का अनुभव करती हुई पिता के मनोज के साथ अपने विवाह करने के प्रस्ताव को अस्वीकार ही नहीं कर देती, वरन् वह उसके साथ रहने के लिए तैयार नहीं होती । शिक्षित होने के कारण वह अपना निर्वाह करने में स्वयं को समर्थ अनुभव करती है ।

---

१. सिन्दूर की होली, दसवां संस्करण, पृ० ४७ ।

२. वही, पृ० ६८ ।

'प्रेम करना विशेषतः स्त्री के लिये कभी बुराई नहीं······स्त्री जाति की स्तुति केवल इसीलिए होती है कि वह प्रेम करती है······प्रेम के लिये ही उनका जन्म होता है······स्त्री चरित्र की सबसे बड़ी विभूति, उसका सबसे बड़ा तत्व प्रेम माना गया है।'[1] निस्सन्देह नारी के जीवन में प्रेम का बहुत महत्व है। यदि यह कहा जाये कि प्रेम ही उसके नारीत्व का सत्य है तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी, किन्तु इसके साथ ही व्यावहारिक रूप से हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि यह उसके जीवन का एक पक्ष है। यह प्रेम तो करती ही है, किन्तु साथ ही स्वाभिमानपूर्ण जीवन भी व्यतीत करना चाहती है। नाटककार ने इस पक्ष को उठाने का कोई विशेष प्रयास नहीं किया है।

मिश्र जी ने इस नाटक में 'कर्म-प्रतिफल न्याय' के सिद्धान्त का भी विवेचन किया है। इसके अनुसार व्यक्ति शत्रुपक्ष द्वारा क्षम्य किये जाने पर भी अपने पाप-कर्मों का फल स्वयं भोगता है। मुरारीलाल मनोज के पिता की हत्या करता है। उसका प्रायश्चित करने के लिए वह उसके पुत्र मनोज को अध्ययन के लिए विदेश भेजने के लिए भगवन्तसिंह से दस हज़ार रुपये रिश्वत में लेकर रजनीकांत को मरवाने में सहयोग देता है। उसकी आस्था है कि प्रायश्चित करने से पाप दूर हो जाते हैं। इसलिए वह एक पाप का प्रायश्चित दूसरे पाप-कृत्य से करता है जिसका फल उसकी बेटी चन्द्रकला को भोगना पड़ता है। वह आजीवन अविवाहित रहकर मानसिक वैधव्य को अंगीकार करती है और उसे छोड़कर स्वतंत्र जीवन-निर्वाह करने के लिये तैयार हो जाती है। वस्तुतः नाटककार ने यही दिखलाने की चेष्टा की है कि पाप-कृत्य सदैव मनुष्य को विनाश की ओर ही ले जाते हैं।

नाटक के सभी प्रमुख पात्र—मुरारीलाल, मनोरमा और चन्द्रकला अपने-अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। मुरारीलाल भ्रष्टाचारी अधिकारी वर्ग का प्रतिनिधि है। मनोरमा विवेक, संस्कार, सामाजिक मर्यादा एवं रूढ़िवादिता की तथा चन्द्रकला हृदय, भावना एवं वैयक्तिक परितुष्टि का प्रतिनिधित्व करती हैं। नाटककार ने इन चरित्रों के माध्यम से 'चिरन्तन नारीत्व' सम्बन्धी समस्याओं तथा तथाकथित सम्भ्रान्त वर्ग के चरित्रों की दुर्बलताओं को अनावृत करने का प्रयास किया है।

मिश्र जी का **'राजयोग'** (१९३४) इनके अन्य नाटकों की अपेक्षा अत्यन्त साधारण रचना है। इस नाटक में पिछले नाटकों की अपेक्षा न तो समस्याओं का बुद्धिवादी धरातल पर रूप निखर सका है और न ही पात्रों का मनोवैज्ञानिक

१. सिन्दूर की होली, पृ० ५८।

चित्रण । 'सिन्दूर की होली' के सदृश इस नाटक में भी मिश्र जी ने इसी सिद्धान्त की स्थापना की है कि समाज में अपराध अथवा पाप की स्वीकृति से ही व्यक्ति का जीवन अधिक सुखमय बन सकता है अन्यथा उसका छिपाना मानसिक ग्रन्थियों को जन्म देता है । इस नाटक मे सभी पात्र किसी न किसी अपराध के कारण मानसिक रूप से सन्तप्त एवं विक्षुब्ध हैं । राजकुमार शत्रु-सूदन सिंह अपनी पहली पत्नी के होते हुए राज्य-पद के बल से, जब कि उसे यह मालूम है कि चम्पा नरेन्द्र से प्रेम करती है, उससे विवाह करता है । चम्पा भारतीय नारी के समान शत्रुसूदन के प्रति अपना हृदय समर्पण करती है, परन्तु फिर भी इन दोनों का जीवन सुखी नहीं बन पाता । राज-परिवार का नौकर अविवाहित गजराज इस कारण दुखी है कि उसका चम्पा की मां के साथ अवैध सम्बन्ध था । चम्पा इसी अवैध सम्बन्ध का परिणाम है । इसी का प्रायश्चित करने के लिये वह आजीवन अविवाहित रहता है । चम्पा विवाह से पूर्व नरेन्द्र से प्रेम कर चुकी है । वह अपने वैवाहिक जीवन को सामाजिक एव शास्त्रीय मर्यादा के अनुकूल ढालना चाहती है, लेकिन फिर भी उसे मानसिक सुख नहीं मिल पाता । परन्तु इन सब की समस्याओं का समाधान मिश्र जी नरेन्द्र के द्वारा अपराध स्वीकृति तथा हृदय-परिवर्तन द्वारा करवाते है ।

नाटक की मूल समस्या वैवाहिक जीवन की विषमता है । राजकुमार शत्रुसूदन सिंह अपनी भोगी एवं विलासी प्रकृति के कारण ही पहली पत्नी के जीवित होते हुए चम्पा से शादी कर लेता है । पुरुष ने सदा ही नारी को अपनी धरोहर समझा है । इसीलिये वह सदा ही उसके साथ खिलवाड़ करता है लेकिन आज की शिक्षित नारी के हृदय में पुरुष के ऐसे आचरण के प्रति विद्रोह है । वह आज स्वच्छन्दता से आचरण करना चाहती है । चम्पा इसी वर्ग का प्रति-निधित्व करती है जो पति के द्वारा घृणा की दृष्टि से देखी जाती है और जब नाटक की सभी समस्याओं के समाधान होने पर उसका ही प्रेमी नरेन्द्र उससे राजकुमार के प्रति आत्म-समर्पण करने के लिये कहता है, तब वह स्पष्ट ही इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर देती है और अकेली रहना पसन्द करती है । उसका ऐसा दृष्टिकोण आज का शिक्षित एवं बुद्धिवादी नारी की वैवाहिक स्वतन्त्रता एवं आचरण के नितान्त अनुकुल है ।

मिश्र जी के **'आधी रात'** (१९३७) में नारीत्व की चिरन्तन समस्या के अतिरिक्त देश और समाज के प्रति साहित्यकार के दायित्व की समस्या का उद्घाटन किया गया है । नारीत्व की समस्या के अधीन नाटककार ने नारी के स्वच्छन्द तथा मर्यादित वैवाहिक सम्बन्धों की तुलना की है। मायावती पाश्चात्य शिक्षा एवं संस्कृति से प्रभावित है और दो पुरुषों से प्रेम करती है

परन्तु ईर्ष्यावश उनमें से एक प्रेमी दूसरे की हत्या कर देता है। परिणामतः घातक को काले पानी की सज़ा हो जाती है। इस घटना से दुखी होकर, वह नारी-स्वातंत्र्य के मोह का संवरण कर कवि प्रकाशचन्द्र के साथ रहकर मर्यादित, संयमित एवं सेवामय जीवन व्यतीत करना आरम्भ कर देती है। वह मानसिक रूप से यह अनुभव करती थी कि उसे ऐसा पुरुष साथी के रूप में मिले जो पुरुष होते हुए भी पुरुष न हो। जिसके साथ शारीरिक सुख-भोग और रसमय जीवन की आशंका न हो। वह अपने जीवन में इस प्रकार का नया प्रयोग इसलिये करना चाहती थी कि उसे हत्या की उस घटना के बाद बस पाश्चात्य विवाह-पद्धति से घृणा हो गई थी, 'जिसमें सन्देह है, डाइवोर्स है, पुरुष के प्रति प्रतिहिंसा है। जिसके मूल में ही यह भावना है कि बच्चे पैदा न हों, किसी तरह का बन्धन न हो।'[1] मायावती प्रकाश के साथ रहकर, जिसका व्यक्तित्व पहले से ही अपनी पत्नी की कुरूपता एवं गंवारुपन के कारण कुण्ठित हो चुका है, चिरन्तन नारीत्व के आदर्श को पाने की चेष्टा करती है। वे दोनों एक-दूसरे के साथ कोई पांच वर्ष तक पति-पत्नी के रूप में रहते हुए भी शारीरिक सुखोपभोग से दूर रहते हैं। यहां नाटककार ने यह दिखाने की चेष्टा की है कि स्त्री ही पुरुष के पुरुषत्व के पतन का कारण बनती है। स्वयं मायावती प्रकाशचन्द्र से कहती है— 'पुरुषत्व की रक्षा पुरुष के नहीं स्त्री के अधीन है। हम इसलिये पैदा हुई थीं— हमें पैदा करने में प्रकृति का यही मतलब है। × × × जहां कहीं पुरुषत्व का पतन होगा, उसकी जिम्मेदारी किसी न किसी रूप में स्त्री पर होगी।'[2]

नाटककार ने मायावती और प्रकाशचन्द्र के पति-पत्नी के जिस आध्यात्मिक प्रेम को आदर्श रूप देने का प्रयास किया है, व्यावहारिक रूप से यह आदर्श हृदयग्राही नहीं है।

नाटक की गौण समस्या है—लेखक का देश के प्रति दायित्व। इसके संबंध में नाटककार की आस्था है कि जब तक लेखक वैयक्तिक समस्याओं का त्याग कर [illegible] को अभिव्यक्त नहीं करता तब तक वह साहित्य-सृजन के उद्देश्य में सफल नहीं हो सकता।

मिश्र जी के नाटकों के समान हरिकृष्ण प्रेमी के '**छाया**' (१९४१) नाटक में भी व्यक्ति की सेक्स की समस्या का चित्रण हुआ है। जिस प्रकार समाज में आर्थिक विषमता के कारण पूंजीपति और मज़दूर के पारस्परिक सम्बन्धों में एक बड़ी अन्तर-रेखा स्थापित हो गई है, उसी प्रकार आज के समाज में लेखक

---

१. आधी रात, संस्करण १९५७, पृ० ३७।

२. वही, पृ० ९२-९३।

और प्रकाशक के सम्बन्ध बन गए हैं। इन सम्बन्धों पर प्रकाश डालते हुए कवि प्रकाश कहता है :—

'मैं उनका आश्रित बना रहूं। इतनी रोटियां वे मुझे देते रहें, जिनसे मेरी सांस चलती रहे, लेकिन खून न बढ़े, ताकि वे संसार से कह सकें कि उन्होंने प्रकाश—जैसे महान् कवि और नाटककार को जीवित रखने का उपकार किया है।'[1] वास्तव में प्रकाश की समस्या हमारे आज के साहित्यकार की समस्या है। उसके जीवन में बेबसी और अभावग्रस्तता है इसका ज्ञान प्रकाश के इस कथन से हो जाता है—'संसार को प्रकाश के गीत चाहिएं, प्रकाश नहीं चाहिए। लोग कहते हैं, तुम्हारी कविता साहित्य की अमूल्य सम्पत्ति है, किन्तु कोई यह नहीं देखता कि विश्व-साहित्य को अमूल्य सम्पत्ति देने वाला कवि, अपनी पत्नी की इज़्ज़त ढकने के लिये एक धोती खरीदने में भी समर्थ नहीं है, अपनी बच्ची को दूध पिलाने को भी दाम नहीं पाता। उस दिन जब साहित्य-सभा के मन्त्री मुझे मान-पत्र दे रहे थे, सभा के बाहर कचहरी का प्यादा समन लिये खड़ा था। इस तरह कब तक अपना लोहू पीकर मैं साहित्य का भण्डार भर सकूंगा।'[2]

प्रकाश भावुकता एवं हृदय की आंख से जीवन को देखता है। समाज द्वारा उपेक्षित किये जाने पर भी वह अपनी भावुकता के कारण नारी के प्रति आकृष्ट होता है। उसके व्यक्तित्व पर छाया, माया और ज्योत्स्ना का प्रभाव पड़ता है और ये तीनों ही उसे पतित होने से बचा लेती हैं। उसे जीवित रहने का आधार प्रदान करती हैं। छाया में भारतीय नारी के गुण हैं। वह पति की सभी दुर्बलताओं का मान करती है और उसके प्रति श्रद्धा रखती है। वह उसके विरुद्ध एक भी शब्द सुनने के लिए तैयार नहीं है। माया प्रकाश से प्रेम करती है। मां-बाप के अनुरोध पर वह अनिच्छा से वेश्यावृत्ति करती है परन्तु उसमें नारी की सहज कोमल भावनाएं हैं। ज्योत्स्ना पति के प्रति सर्वस्व समर्पण करने वाली नारी है और उसी की इच्छा से अच्छा-बुरा सब करने के लिए तत्पर रहती है, फिर भी उसमें बहन की ममता और सहायता की आकांक्षा है।

प्रेमी जी का **'बन्धन'** (१९४१) समस्या के प्रति बौद्धिक तर्क-वितर्कपूर्ण विवेचन के अभाव के कारण समस्या नाटक न होकर सामाजिक नाटक है। इस नाटक में उन्होंने पूंजीवादी और मज़दूर वर्ग की सामाजिक एवं आर्थिक विषमता का चित्रण किया है। नाटक की मूल समस्या के प्रति नाटककार का दृष्टिकोण गांधीवादी है वह समाज में सन्तुलित आर्थिक व्यवस्था की प्रतिष्ठा

---

१. छाया, संस्करण १९५८, पृ० १७।

२. वही, पृ० १३।

गांधीवादी अहिंसात्मक ढंग से करना उचित समझता है। नाटक का नायक मोहन प्रगतिवादी है। वह मज़दूर वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। उसके हृदय में समाज के इस उपेक्षित वर्ग के प्रति सहानुभूति एवं कोमल भावना है। वह मिल मालिक रायबहादुर खजांचीराम की मज़दूरों के प्रति शोषक एवं असहानुभूतिपूर्ण नीति के विरुद्ध मज़दूरों की हड़ताल करा देता है लेकिन अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये वह उन्हें शान्ति और अहिंसात्मक ढंग अपनाने को ही कहता है। दूसरी ओर खज़ांचीराम का अपना बेटा प्रकाश मज़दूरों की सहायता तो करता है परन्तु साथ ही उन्हें हिंसात्मक बन जाने के लिये कहता है। परन्तु अन्त में विजय मोहन की ही होती है। वह अपने आचरण, व्यवहार, त्याग, बलिदान, विनम्रता एवं निःस्वार्थ भावना के कारण खजांचीराम के हृदय में उचित परिवर्तन लाने में सफल होता है। नाटक के अन्त में हृदय-परिवर्तन हो जाने के पश्चात् खजांचीराम अनुभव करता है—'आज मुझे नव जीवन और नव प्रकाश प्राप्त हुआ है। मैंने जान पाया है कि जो देने में सुख है वह संचय में नहीं। मैं आज सब कुछ दे डालना चाहता हूं। लक्ष्मण, यह तुम लोगों का ही तो रुपया है जो हमने अपनी तिजोरियों में कैद कर रखा है। लक्ष्मी को हमने कैद करना चाहा, लेकिन वह हमारी कैद में खुश नहीं है। वह मुक्त होना चाहती है। जब तक वह मुक्त न होगी संसार में मार-काट, हिंसा बनी रहेगी। वह बहुत सुन्दर है, उसे सब कैद करना चाहते हैं। लेकिन यह तो पशुता है। मोहन बाबू ने मुझे नया जन्म दिया है।'[1]

राय बहादुर खजांचीराम मोहन के प्रति कृतज्ञता-प्रकाशन केवल शब्दों से ही नहीं करता, बल्कि अपनी बेटी मालती का उसके साथ विवाह कर सच्चे हृदय से उसके प्रति आभार प्रकट करता है।

मोहन विचारों में क्रांतिकारी है परन्तु समस्याओं के समाधान में गांधीवादी। उसके हृदय में पूजीवादी आर्थिक-व्यवस्था के प्रति घृणा है जो समाज में ईर्ष्या, वैमनस्य और विषमता के बीज बोती है परन्तु पूजीवादियों से घृणा नहीं है। वह दूसरे अंक में प्रकाश से कहता है—'सचमुच आपने अनर्थ किया, प्रकाश बाबू। यह तो हमारी सब से बड़ी हार है। इस आन्दोलन का नेता मैं हूं, इसलिये आपका अपराध भी मेरा अपराध है। राय बहादुर साहब से हमारी क्या दुश्मनी है? उन्हें हम सच्चे दिल से प्यार करते है, इसी से उनके दिल से लक्ष्मी का मोह निकाल देना चाहते हैं। लाइये यह पिस्तौल मुझे दीजिये।'[2]

---

१. बन्धन, संस्करण १९५६, पृ० ९४।

२. बन्धन, पृ० ७३।

नाटककार की आस्था है कि यदि समाज में से मालिक और मज़दूर का पारस्परिक भेद-भाव मिट जाये और सब के लिये समान आर्थिक-व्यवस्था हो जाये तो समाज, देश और व्यक्ति सुख और शान्ति को पाकर उन्नति की ओर अग्रसर हो सकते हैं।

'दुबिधा' (१६३८) और **'अपराधी'** (१६३६) पृथ्वीनाथ शर्मा के सामाजिक नाटक हैं। 'दुबिधा' मे आधुनिक शिक्षित नारी की विवाह की समस्या है जो रोमांसयुक्त स्वतन्त्र जीवन का आनन्द भी ले चुकी है और वैवाहिक जीवन की मर्यादाओं एवं बन्धनों के विषय में भी पर्याप्त सुन चुकी है। नाटक की सुधा ऐसे ही शिक्षित नारी वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है जिसके समक्ष विवाह का प्रस्ताव आते ही मन दुबिधा में भटक जाता है। न तो उसे अपने माता-पिता के निर्णय पर विश्वास है और न ही वह स्वय इसके बारे में निर्णय करने में समर्थ है। अन्त में जब परिस्थितियों से विवश होकर सुधा विनय के प्रेम की उपेक्षा कर केशव से विवाह करने के लिए तैयार हो जाती है, तब उसे अपनी गलती का अनुभव होता है। विवाह से केवल एक दिन पूर्व ही उसे इस बात का पता चलता है कि केशव विवाहित है और उसके एक लड़का भी है परन्तु उसने इन दोनों को छोड़ रखा है। यद्यपि विनय सुधा को इस विवाह-सम्बन्ध के विषय मे कई बार चेतावनी दे चुका था, परन्तु सुधा की भोली बुद्धि उसे समझ नहीं पाती और अन्त में जब वह विनय के प्रति आत्म-समर्पण करने के लिए तैयार हो जाती है, तब विनय का आत्माभिमान प्रेम पर विजय पा लेता है। इस प्रकार अन्त में उसका जीवन 'दुबिधा में दोऊ गये माया मिली न राम' का प्रतीक बन जाता है।

कई बार जीवन में ऐसी परिस्थिति आ जाती हैं कि व्यक्ति अपराधी न होते हुए भी समाज और न्याय की दृष्टि से अपराधी माना जाता है। उसका अपराध प्रकृतिजन्य न होकर परिस्थितिजन्य होता है। शर्मा जी के **'अपराधी'** का अशोक ऐसे ही वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है जो कोरी भावुकता और आदर्शवाद के कारण मातादीन की चोरी का अपराध अपने सिर पर लेकर उसका दण्ड भोगने के लिए तैयार हो जाता है परन्तु अन्त में मातादीन मानवीय भावना से प्रेरित होकर कचहरी में आकर अपने अपराध को स्वीकार कर लेता है और इस प्रकार अशोक छूट जाता है।

शर्मा जी ने अशोक को भावुक और आदर्शवादी युवक के रूप में चित्रित किया हैं जो भावुकता के कारण अपने आदर्शों की रक्षा के लिये सभी तरह के कष्टों को सहने के लिए तैयार हो जाता है। लीला उसके जीवन की प्रेरक-शक्ति है। दूसरी ओर मातादीन के हृदय को परिवर्तित करने में आया प्रेरणा

देती है। उसी के आग्रह पर वह कचहरी में जाकर अपराध स्वीकृति करता है। नाटक के ये दोनों ही पुरुष पात्र नारी से ही बल और प्रेरणा प्राप्त करते हैं।

सेठ गोविन्ददास जी के नाटक राष्ट्रीय एवं राजनैतिक चेतना से अनुप्राणित हैं जिनमें उन्होंने व्यावहारिक आदर्शवादी दृष्टिकोण को अपनाया है। सेठ जी के मन ने आरम्भ से ही अपने घर के वैभवमय वातावरण के प्रति विक्षोभ एवं विद्रोह किया है। इनकी बौद्धिक दृष्टि ने इन्हें जीवन में सरलता, सादगी और नैतिक मूल्यों की ओर प्रेरित किया है। सेठ जी को अपने इन आदर्शों को साकार करने की प्रेरणा युग-पुरुष गांधी से भी मिली, जिन्होंने इनके आदर्शों को व्यावहारिक रूप प्रदान किया। सेठ जी के सामाजिक नाटकों में इनका यही व्यावहारिक आदर्शवाद मुखर हुआ है। उनकी यह धारणा है कि समाजगत भौतिक विषमताओं का समाधान सत्य, त्याग और सेवा द्वारा किया जा सकता है। सेठ जी के 'प्रकाश' तथा 'सेवा पथ' इस बात के प्रमाण हैं।

सेठ जी ने **'प्रकाश'** (१९३५) नाटक में समाज के अभिजात वर्ग के तथाकथित समाज सुधारक नेताओं की स्वार्थपरता, धूर्तता, [illegible] तथा ढोंगी वृत्ति का भण्डाफोड़ किया है। नाटक का नायक प्रकाश ज़मीदार राजा अजय सिंह की परित्यक्ता पत्नी इन्दु (तारा) का पुत्र है जो ग्राम के स्वाभाविक वातावरण को छोड़कर नगर के ऐसे अस्वाभाविक वातावरण में अपनी माँ तारा के साथ आ जाता है। नगर के ऐसे कृत्रिम वातावरण को देखकर उसका मन बड़ा दुखी होता है और वह सोचता है कि नगर में जो धनियों और निर्धनों, पठितों और अपठितों तथा ऊंच-नीच का भेद-भाव है, उसे दूर करना चाहिए। वह अपनी ओजपूर्ण वाणी, स्पष्टवादिता एवं निर्भीक प्रकृति के कारण जनता का मनोनीत नेता बन जाता है। जनता उसके विचारों का आदर करती है। अपने विचारों को साकार रूप देने के लिए वह 'सत्य समाज' की स्थापना करता है। उसके शब्दों में—'सत्य को संसार के सम्मुख रखना इस समाज का कार्य है। ग्राम और नगरवासियों के सुख-दुख का एक दूसरे को सत्य अनुभव हो तथा उस सत्य अनुभव के पश्चात् सत्य मार्गों द्वारा ग्राम और नगरवासियों के दुखों का परिमार्जन किया जाय, तभी संसार में सत्य-वस्तु की स्थिति और सत्य-सुख की स्थापना हो सकती है। इस खाई पर पुल बांधने से ही समाज पार लग सकता है।'[१]

राजा अजयसिंह प्रकाश को अपनी ज़मींदारी में शान्ति-भंग करने के अपराध में जेल भिजवा देते हैं। एक ओर जनता की जय-जयकार की हर्ष-ध्वनि में

१. प्रकाश, संस्करण १९५८, पृ० ५५।

प्रकाश जेल जा रहा है, और दूसरी ओर उन्हें रानी कल्याणी से यह सूचना मिलती है कि प्रकाश उनका अपना ही पुत्र है जिसकी मां को उन्होंने असत्य में ही व्यभिचारिणी कहकर त्याग दिया था।

प्रकाश जेल तो चला जाता है परन्तु जेल जाने से पूर्व वह स्वार्थी मिनिस्टरों (धनपाल), कौंसिल के सदस्यों (दामोदरदास गुप्ता) तथा समाज के ऐसे सुधारकों का, जो देश भक्ति एवं समाज-सेवा का ढोंग रचकर प्रभुत्वाकांक्षा और स्वार्थलिप्सा का उल्लू सीधा करते है, भंडाफोड़ कर जाता है।

सेठ जी ने '**सिद्धान्त-स्वातन्त्र्य**' (१६३८) में पिता-पुत्र की दो पारस्परिक विरोधी वृत्तियों में संघर्ष दिखलाकर देश की सामयिक राजनैतिक चेतना का चित्रण किया है। नाटक का नायक त्रिभुवनदास अपने सिद्धान्त-स्वातन्त्र्य की रक्षा के लिए अपने पिता चतुर्भुजदास की अवज्ञा करता है और उनकी इच्छा के विरुद्ध सरकार-विरोधी आन्दोलनों में सक्रिय भाग लेता है, परन्तु जब कुछ वर्षों बाद उसे स्वयं सरकार की ओर से 'सर' की उपाधि मिल जाती है और प्रांतीय होम मेम्बर भी बन जाता है, तब वह गांधी जी के अनुयायी देशभक्त अपने पुत्र मनोहरदास को रुष्ट होकर घर से निकाल देता है। सन् १६३० के सत्याग्रह में पुलिस की गोली से मनोहरदास घायल हो जाता है। मनोहरदास विदेशी वस्तुओं एवं सरकार द्वारा दी गई 'सर', 'राजा' आदि की उपाधियों का विरोधी है। उसके घायल हो जाने पर और उसके विचारों से प्रभावित होकर चतुर्भुजदास अपनी 'राजा' की उपाधि तथा डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट विश्वेश्वर दयाल अपनी नौकरी को त्यागकर मनोहर का साथ देने के लिए तैयार हो जाते हैं परन्तु त्रिभुवन अपने 'सिद्धान्त-स्वातन्त्र्य' के विचार को त्यागने के लिए तैयार नहीं होता।

त्रिभुवन का यह विचार है कि गांधी जी द्वारा संचालित असहयोग एवं सत्याग्रह आन्दोलनों की असफलता का कारण देश की जनता की कायरता, अकर्मण्यता एवं अपने नेताओं की स्वार्थपरता है, परन्तु वह स्वयं अवसरवादी है। एक समय था जब कि वह स्वयं ब्रिटिश सरकार की नीति का कट्टर विरोधी था, परन्तु जब स्वयं उसके पास इसी सरकार द्वारा दी गई सत्ता आ जाती है, तब वही अंग्रेज़ों का समर्थक बन जाता है। नाटककार ने राजा चतुर्भुजदास तथा विश्वेश्वरदयाल के हृदय-परिवर्तन करवा कर यह दिखलाने की चेष्टा की है कि यदि सभी भारतीय इस प्रकार ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध असहयोग का कदम उठाएं तो भारत शीघ्र ही स्वाधीन हो सकता है। मनोहर दास इसी वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है।

'सेवा-पथ' (१९४०) सेठ जी का समस्याप्रधान नाटक है। नाटक की मूल समस्या है—समाज एवं देश-सेवा के लिए कौन सा पथ श्रेष्ठ है ? नाटक में तीन प्रमुख पात्र है और तीनों अपने-अपने विशिष्ट सिद्धान्तों की श्रेष्ठता को तर्क-वितर्क द्वारा प्रतिपादित करते हैं। श्रीनिवास धन से, शक्तिपाल सिद्धान्त रूप से साम्यवादी होने के कारण राजनीति से तथा दीनानाथ गांधीवादी होने के कारण शरीर से ही समाज-सेवा करने को श्रेष्ठ बतलाते हैं। सेठ जी ने दीनानाथ के सेवा-पथ को ही श्रेष्ठ बतलाया है। कार्य-व्यापार की दृष्टि से समस्या नाटक प्रायः शिथिल ही होते है। उसका कारण यह है कि नाटक के सभी प्रमुख पात्र बौद्धिक तर्क-वितर्क द्वारा समस्या के विवेचन तथा उसका समाधान ढूंढ़ने में ही अधिक व्यस्त रहते हैं। सेवा-पथ के प्रमुख पुरुष पात्र इस सिद्धान्त के कोई अपवाद नहीं कहे जा सकते। नाटक में श्रीनिवास, शक्तिपाल तथा दीनानाथ—तीनों का चरित्र एक सा ही महत्वपूर्ण है, अतः इसमें नायक का कोई प्रश्न ही नही उठता।

गोविन्द वल्लभ पन्त के **'अंगूर की बेटी'** (१९३७) की समस्या लक्ष्मी नारायण मिश्र के नाटकों के सदृश गम्भीर नहीं है। इसमें लेखक ने मद्य-पान के दोषों का बड़े सुन्दर ढंग से चित्रण किया है। नाटक का नायक मोहनदास बुरी संगति के कारण माधव आदि मित्रों के अनुरोध पर मदिरा-पान आरम्भ करता है और इसी बुरी आदत के कारण वह अपनी सारी सम्पत्ति, घर-बार और धन मदिरा-पान में लुटा देता हैं। यही नहीं, पत्नी का सिर फोड़कर उसके आभूषणों को भी उतार लेता है। परन्तु बनवारी बाबा की कृपा से वह अपना सर्वनाश होने से बचा लेता है। नाटककार ने इस समस्या का समाधान जिस प्रकार सुधारात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है वह व्यावहारिक है। नाटक के अन्त में मोहन बनवारी बाबा के चरण स्पर्श कर भविष्य में मदिरा न पीने की प्रतिज्ञा करता है और इस प्रकार वह समाज में एक भद्र नागरिक के समान जीवन व्यतीत करने के लिए तैयार हो जाता है।

'स्वर्ग की झलक' (१९३९) उपेन्द्रनाथ अश्क का एक सामाजिक व्यंग्य है। आधुनिक शिक्षित नारी पारिवारिक जीवन को कहां तक सुखी बना सकती है, यही इस नाटक की मूल समस्या है।

रघु एक पत्रकार है। उसकी पहली पत्नी की मृत्यु के बाद उसके भाई और भाभी उसे आग्रहपूर्वक 'भूषण' पास साली रक्षा के साथ विवाह करने के लिए कहते हैं, परन्तु वह समाज में अपने ऊंचे दर्जे को ध्यान में रखते हुए अपने मित्रों—अशोक और राजेन्द्र की पत्नियों के सदृश बी० ए० अथवा एम० ए०

शिक्षा-प्राप्त लड़की चाहता है और इसलिये वह भाई और भाभी के इस विवाह प्रस्ताव को अस्वीकार करता हुआ कहता है—'भूषण ! मैं जानता हूं । पत्र तक वह ठीक तरह से नहीं लिख सकती, बात करने, कपड़ा पहनने की उसे तमीज़ नहीं, चार मित्र आ जाएं तो लज्जा से दुबक कर अपने कमरे में जा बैठे । मै पूछता हूं अब फिर आप किस तरह मुझे चक्की का पाट गले बांधने को कहते है ।'[1]

इस पर रघु की भाभी उसका विवाह एक अप-टू-डेट बी० ए० पास संगीत एवं नृत्यकला में दक्ष प्रोफेसर राजलाल की लड़की उमा के साथ करने का निश्चय कर लेती है । इधर रघु को मिसेज़ अशोक और मिसेज़ राजेन्द्र की पारिवारिक दायित्वहीनता का शीघ्र ही ज्ञान हो जाता है और वह भाभी के उमा के साथ अपने विवाह-प्रस्ताव का विरोध कर रक्षा के साथ ही विवाह करने के लिये तैयार हो जाता है । वह भाई और भाभी से कहता है—'मैं गृहिणी चाहता हूं, तितली नहीं । उमा !—वह स्वर्ग के स्वप्न देखती है । देखिये भाई साहब, इस वातावरण में पत्नी, इतनी पढ़ी-लिखी लड़की से शादी करने के लिये पुराने संस्कारों को सर्वथा त्याग देना पड़ता है और दुर्भाग्य से मैं अभी ऐसा नही कर सका । जिस स्वर्ग की वे झलक देखती हैं, वह हमसे भिन्न है । मैं रक्षा ही से विवाह करूंगा, न होगा घर पर और पढ़ा लूंगा ।'[2]

इस नाटक में अश्क जी ने अशोक-दम्पति तथा राजेन्द्र-दम्पति के वैवाहिक जीवन के वैषम्य के चित्रण द्वारा यह दिखलाने की चेष्टा की है कि पश्चिमी शिक्षा एवं संस्कृति से प्रभावित अतिशिक्षित नारी मध्यवर्गीय पुरुष-समाज के वैवाहिक जीवन को सुखमय नहीं बना सकती । नाटककार की आस्था है कि 'जहां शिक्षा पाकर नारी स्वाभिमान, आत्म-विश्वास, व्यापक ज्ञान, तथा समाज-सेवा की भावनाएं पाये, वहां उसे अपना मानसिक संतुलन भी कायम रखना चाहिये । तभी समाज में स्वस्थता कायम रह सकेगी ।'[3] परन्तु वास्तविकता यह है कि उच्च शिक्षा का प्रभाव नारी के व्यक्तित्व पर कोई बहुत अच्छा नहीं पड़ता । अशोक-दम्पत्ति तथा राजेन्द्र-दम्पत्ति के पारस्परिक सम्बन्धों की विषमता से अश्क जी ने इसी बात को ही सिद्ध करने की चेष्टा की है । उच्च शिक्षा के कारण नारी में जो स्वाभिमान जगा, उसने भले ही उसे समाज के कई क्षेत्रों में दक्षता से काम करने के योग्य बना दिया हो, परन्तु उसकी अधिकार-लिप्सा,

---

१. स्वर्ग की झलक, संस्करण १९४८, पृ० ९ ।

२. वही, पृ० ८३ ।

३. स्वर्ग की झलक (भूमिका), पृ० छ ।

फैशन-परस्ती तथा बाह्य टीप-टाप ने वैवाहिक जीवन को अधिक विषम, उलझनों से युक्त एवं नरकमय बना दिया है। उमा की दृष्टि में पति-पत्नी दो अलग-अलग हस्तियां हैं। वह नारी के स्वतन्त्र अधिकारों की प्रबल समर्थक है और राजेन्द्र समाज की ऐसी नारियों के विषय में अनुभव करता है कि 'इन चमकदार मोतियों का उपयोग कितना है रघु, तुम नहीं जानते—तुम इन्हें दूर ही से प्यार की नजरों से देख सकते हो, चाहो तो इन्हें पास बिठा सपनों के संसार बसा सकते हो, इनकी दमक से अपनी आंखें जला सकते हो, पर जीवन के खरल में पीस, इन्हें किसी काम में ला सकोगे, इसकी आशा नहीं।'[१] राजेन्द्र के इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि उनका वैवाहिक जीवन कितना नरकमय है। उसके एक-एक शब्द से उसके मन की निराशा और आन्तरिक वेदना प्रकट हो रही है।

नाटक का नायक रघु है। वह ऐसे मध्यवर्गीय नवयुवक-समाज का प्रतिनिधित्व करता है जो बाह्य प्रसाधनों से जगमगाती हुई पश्चिमी संस्कृति एवं शिक्षा के प्रभाव से युक्त नारी के केवल बाह्य रूप को देखकर ही आकृष्ट हो जाता है, उसके भीतरी आत्मिक-सौन्दर्य को पहचानने की कोशिश नहीं करता। परन्तु ज्यों ही वह जीवन को यथार्थ धरातल के अधिक निकट से देखने की चेष्टा करता है तब वह अनुभव करता है कि यह सब स्वर्ग नहीं, स्वर्ग की झलक मात्र है, स्वप्न मात्र है।

भगवती प्रसाद वाजपेयी का **'छलना'** (१६३६) पुरुष, नारी, कल्पना, कामना, निद्रा तथा विलास नामक भाव-वृत्तियों का सुन्दर रूपक होते हुए भी समस्या-नाटक है जिसका धरातल सामाजिक है और उसकी प्रधान समस्या चिरन्तन नारीत्व की है। वाजपेयी जी ने नाटक में नारी के तीन विभिन्न रूपों (कल्पना, कामना और चम्पी) का चित्रण किया है जो अपने-अपने दृष्टिकोणों का प्रतिनिधित्व करती हैं। इसीलिये 'ये व्यक्ति नहीं है, जो वर्तमान सभ्यता की समस्या हैं, ये समाज के प्रतिनिधि भी है, जिनकी वर्तमान सभ्यता आशा या निराशा की दृष्टि से देख रही है। ये टाइप हैं जो सदा रहेंगे और समाज और व्यक्ति के सामने सदा किसी न किसी रूप में प्रकट होते रहेंगे।'[२]

कल्पना एक साधारण हिन्दी के प्रोफेसर बलराज की पत्नी है। वह स्वभाव से चंचल, उच्चाकांक्षाओं से युक्त, नारी-स्वातन्त्र्य एवं वैयक्तिक स्वाधीनता

---

१. **स्वर्ग की झलक, पृ० ४२।**

२. छलना, संस्करण, १६५०, प्रस्तावना (आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी) पृ० १३।

का समर्थन करने वाली है। उसके लिये शारीरिक भोग से परे आत्मिक आनन्द नाम की कोई वस्तु संसार में नहीं है। बलराज यथाशक्ति उसकी उच्चाकांक्षाओं को पूर्ण करने का प्रयास करता है लेकिन फिर भी वह सन्तुष्ट नहीं हो पाती। बलराज उसकी अनन्त आकांक्षाओं के समक्ष अपनी पराजय स्वीकार करता हुआ कहता है—'जिस नारी की इच्छाओं का अन्त नहीं है, प्राप्य से सन्तुष्ट न रहकर जो अप्राप्य के लिये झगड़ती और रोती है, बाह्याडम्बर के मोहावरण को त्याग नहीं सकती, उसके आगे मैं हार मानता हूं।'[1]

कल्पना परिस्थितियों के साथ समझौता नहीं कर पाती, इसीलिये उसके मन में विक्षोभ, आक्रोश एवं असन्तोष की भावना है और इसी कारण ही उसके हृदय में बलराज के प्रति आकर्षण नहीं है। यह सब कुछ होते हुए भी कल्पना के हृदय में बलराज के पुरुषत्व के प्रति श्रद्धा है।

कल्पना विलास के बाहरी आकर्षक व्यक्तित्व के प्रति आकृष्ट हो जाती है लेकिन वह उसकी भीतरी आत्मा को नहीं समझ पाती। विलास कल्पना को अपने वर्तमान जीवन से असन्तुष्ट पाता है, अतः वह उसे पाने के लिये प्रयत्नशील होता है। आकर्षण-शक्ति के रहते हुए भी अभीसिप्त पुरुषत्व के अभाव में वह कल्पना के नारीत्व पर विजय पाने में असमर्थ रहता है। इसीलिए वह आत्मघात कर लेता है, फिर भी वह उसे इस लोक में तो नहीं दूसरे लोक में पाने की आशा रखता है। मरने से पूर्व वह पत्र में लिखता है—'मैं सोचता था, मास्टर साहब कल्पना को नहीं पा सके, मैं पा लूंगा। किन्तु मैं भी उसे पा नहीं सका। कोई उसे सदा के लिए प्राप्त करने का अभिमान कर नहीं सकता। सोचता हूं, जीवन के उस पार शायद वह मिल जाय।'[2]

कल्पना के जीवन की सबसे बड़ी छलना यही है कि वह बलराज और विलास इन दो पुरुष शक्तियों के बीच भटक जाती है। इनमें से पहले में आत्मशक्ति, दृढ़ता, संयम और चारित्रिक बल है और दूसरे में आकर्षक व्यक्तित्व, छल और कपट। डाक्टर नगेन्द्र के शब्दों में 'जब कभी नारी प्रकृत पुरुषत्व से असन्तुष्ट होकर आकर्षक (विलासमय) पुरुषत्व की ओर आकृष्ट हुई है तभी उसके जीवन में ट्रेजेडी घटित हुई है।'[3] कल्पना के साथ भी यही होता है।

कल्पना नारी के बाह्य रूप की अधूरी तस्वीर है। वह विलास के समान

---

१. छलना, संस्करण, १९५०, प्रस्तावना (आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी) पृ० ५१।
२. छलना, पृ० १३२।
३. आधुनिक हिन्दी नाटक, द्वितीय संस्करण, पृ० ९४।

चंचल, मोहक और छली है। यद्यपि वह बलराज के प्रति आकृष्ट होती है परन्तु बलराज चारित्रिक दृढ़ता के कारण सर्वथा उससे अनंतृक्त रहता है।

नारी का तीसरा रूप लंगड़ी, आंख में फूली तथा अन्धे और कोढ़ी साथियों के साथ भीख मांगने वाली चम्पी का है जो भाग्य की मारी हुई तथा पति द्वारा परित्यक्ता होने पर भी उसकी मधुर स्मृतियों को हृदय में संजोए हुए है। वह अपने वर्तमान जीवन से इसलिए सन्तुष्ट है क्योंकि वह नारी-स्वातन्त्र्य एवं वैयक्तिक स्वाधीनता की भावना से परिचित नहीं है और न ही उसका जीवन कल्पना और कामना की तरह उच्छृंखल है। इसलिये वह कल्पना और कामना की अपेक्षा अधिक सुखी है।

वृन्दावनलाल वर्मा कृत **'धीरे-धीरे'** (१९३९) नाटक में धीरे-धीरे चलने वाली गांधीवादी नीति पर व्यंग्य किया गया है। सामयिक राजनैतिक चेतना पर प्रकाश डालना ही इस नाटक का उद्देश्य है। नाट्य-कला की दृष्टि से वर्मा जी की यह अत्यन्त ही साधारण रचना है।

उपसंहार

इस युग के नाटकों के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि समस्या-प्रधान एवं भौतिक चेतना-प्रधान युग में भी भारतेन्दु तथा द्विवेदी युग के सदृश इस युग में पौराणिक एवं ऐतिहासिक नाटकों की रचना पर्याप्त हुई। अधिकांश नाटककारों ने अपने ऐसे नाटकों में अतीत की गौरव-गाथा के साथ जहां देश-प्रेम एवं राष्ट्रीय चेतना के स्वर को उभारा, साथ ही युग-चेतना के अनुरूप सामयिक परिस्थितियों का चित्रण भी किया। पूर्व-प्रसाद युग के पौराणिक नाटकों की अपेक्षा इस युग के पौराणिक नाटकों की अलौकिक एवं चमत्कारपूर्ण घटनाओं को स्वाभाविकता एवं सम्भाव्यता का रूप दिया गया। यही कारण है कि कई नाटककार सामयिक चित्रण के प्रति आग्रह के कारण अपने पौराणिक नाटकों में पौराणिकता की रक्षा नहीं कर पाये। बुद्धिवाद के प्रभाव-स्वरूप एवं यथार्थ के प्रति अनुरोध के कारण ऐसे नाटकों के अनेक चरित्र अवतारी न रहकर असाधारण मानवी स्तर पर उतर आये। सेठ गोविन्ददास के 'कर्तव्य' (पूर्वार्द्ध) के राम तथा 'कर्तव्य' (उत्तरार्द्ध) के कृष्ण अवतार न होकर असाधारण गुणों से युक्त आदर्श मानव हैं। मर्यादा पुरुषोत्तम राम में सेठ जी ने द्वन्द्वात्मक भावनाओं का चित्रण किया है जो आज के बुद्धिजीवी समाज के पर्याप्त अनुकूल है। इसी प्रकार उन्होंने कृष्ण के लोक-रंजक रूप की अपेक्षा लोक-रक्षक रूप को अधिक उभारा है। माता बदल गिरि कृत 'राम रहस्य नाटक' तथा दुर्गाप्रसाद गुप्त कृत **'रामलीला नाटक'** के नायक राम अवतारी हैं, परन्तु ये दोनों नाटक-

कार अपने नाटकों में पौराणिकता की रक्षा नहीं कर पाये। चतुरसेन कृत 'मेघनाद' नाटक में राम और लक्ष्मण को मायावी मानव के रूप मे चित्रित किया गया है और उसका नायक मेघनाद भी राक्षस न होकर मानव है।

कृष्णचरित सम्बन्धी नाटकों में कृष्ण को धीरोदात्त एवं धीरललित दोनों ही रूपों में चित्रित किया गया है। केवल राधेश्याम कथावाचक का 'श्रीकृष्णावतार' ही एक ऐसा नाटक है जिसमें कृष्ण के चरित्र में अलौकिकता का समावेश किया गया है और उसे अवतारी रूप में चित्रित किया है।

यद्यपि कन्हैयालाल के 'अंजना सुन्दरी' नाटक के नायक पवन में धीरोदात्त और धीरललित नायक के गुण विद्यमान है, फिर भी वह पूर्णतः सर्वगुण-संपन्न नहीं है। नाटककार ने उसकी मानव-सुलभ दुर्बलताओं का परिस्थितियों के अनुरूप चित्रण कर उसके चरित्र को स्वाभाविक और यथार्थ बना दिया है। उदयशंकर भट्ट के 'सगर-विजय' का सगर धीरोदात्त नायक है। वह अराजकता एवं अनीतिपूर्ण शासन-व्यवस्था के प्रति जनता के विद्रोह का नेतृत्व करता है। 'विद्रोहिणी अम्बा' का भीष्म अभिमानी पुरुषत्व का प्रतीक है। काशिराज की कन्याओं का अपहरण उसके अपराध को अक्षम्य बना देना है, इसीलिए उसके हृदय में प्रायश्चित की भावना आती है। बदरीनाथ भट्ट ने 'बेन-चरित्र' में बेन को तथा राधेश्याम ने 'ऊषा-अनिरुद्ध' में बाणासुर को नायक बनाकर नायक सम्बन्धी शास्त्रीय परम्परा का विरोध किया है।

डाक्टर लक्ष्मण स्वरूप के 'नल-दमयन्ती' का नल तथा डा० कैलाशनाथ भटनागर के 'श्री वत्स' का श्रीवत्स शास्त्रीय परम्परा के अनुकूल धीरोदात्त नायक है। इसी प्रकार दुर्गाप्रसाद गुप्त के 'गौतम अहिल्या' के गौतम मुनि, बदरीनाथ भट्ट तथा कृष्णकुमार मुखोपाध्याय के तुलसीदास सम्बन्धी नाटकों के नायक तुलसीदास तथा वियोगी हरि के 'प्रबुद्ध यामुन' के यामुनाचार्य धीरशांत नायक है।

बलदेव प्रसाद खरे के 'सत्याग्रही प्रह्लाद' का प्रह्लाद का पिता हिरण्यकशिपु के अन्यायपूर्ण शासन के प्रति विद्रोह करता है। उग्र का 'महात्मा ईसा' का नायक ईसा धार्मिक सुधारक की अपेक्षा राजनैतिक सुधारक अधिक है और उसमें प्रगतिशील नायक के गुण है। गोविन्द वल्लभ पन्त के 'वरमाला' का अवीक्षित रोमांटिक नायक है।

भारतेन्दु के पश्चात् जयशंकर प्रसाद का हिन्दी नाटक क्षेत्र में युग-प्रवर्तक एवं प्रतिभाशाली कलाकार के रूप में आविर्भाव हुआ। उन्होंने अपने नाटकों में भारतीय एवं पाश्चात्य नाट्य-प्रवृत्तियों का समन्वय किया। शेक्सपियर के सदृश उन्होंने भी चरित्र-सम्बन्धी नाटकीय आदर्श परम्परा का पालन न कर

नाट्य-साहित्य को नयी दिशा प्रदान की और साथ ही उन्होंने हिन्दी नाटक-साहित्य को संस्कृत नाटकों के जटिल विधान से मुक्त करने का प्रयास किया। यही कारण है कि उनके नाटकों के नायक प्राचीन शास्त्रीय वर्गीकरण की कसौटी पर पूर्णरूपेण खरे नहीं उतरते। वे धीरोदात्त होते हुए भी सर्वथा निर्दोष, सर्वगुण सम्पन्न एवं आदर्श चरित्र नहीं माने जा सकते। शेक्सपियर के नाटकों के नायकों के समान उनके नायक भी मानसिक ग्रन्थियों में उलझे रहते हैं। नाटक में उनका स्वतन्त्र व्यक्तित्व विद्यमान रहता है। डाक्टर दशरथ सिंह के अनुसार 'प्रसाद के अधिकांश स्त्री और पुरुष पात्र देश-प्रेम, संस्कृति-प्रेम, सौन्दर्य-प्रेम, प्रकृति-प्रेम आदि की भावनाओं से अनुप्राणित हैं। पात्रों की सूक्ष्मतम भंगिमाओं को व्यक्त करने में उनके नाटक सक्षम हैं। अतः हमें उनके चरित्रों का मूल्यांकन करते समय नाना प्रकार की परिस्थितियों तथा मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाओं को ध्यान में रखना होगा, न कि स्थूल शास्त्रीय नाप-धीरोदात्त, धीरप्रशान्त, धीरललित आदि की अति सीमित परिधि में बांधना होगा।'[1]

संस्कृत नाटकों में नायक को आदर्श एवं सर्वगुण-सम्पन्न रूप में ही चित्रित किया जाता था। उसमें उसके मानसिक घात-प्रतिघात एवं दुर्बलताओं का चित्रण नहीं रहता था, परन्तु प्रसाद के नायक न तो पूर्णतः सर्वगुण-सम्पन्न ही हैं और न ही सर्वथा निर्दोष। उन्होंने तो उनके मानसिक संघर्ष एवं घात-प्रतिघात, सबलताओं-दुर्बलताओं तथा विचारों के ऊहापोह का चित्रण किया है। शेक्सपियर के नाटकों के समान चरित्रगत शील-वैचित्र्य उनकी विशेषता है। इसीलिये उनके चरित्र देवत्व की सीमा का स्पर्श न कर यथार्थ मानवी धरातल के अधिक निकट हैं। अजातशत्रु मैकबेथ की तरह महत्वाकांक्षी है और स्कन्दगुप्त हेमलेट की तरह दार्शनिक और अपने अधिकारों के प्रति उदासीन है, परन्तु दूसरी ओर वही विदेशियों को अपने देश से निष्कासित करने के लिये एक सच्चे सैनिक के नाते कर्तव्य को पहचानता है। इस प्रकार वह व्यक्तिगत सुख और स्वार्थ की अपेक्षा देश-रक्षा की भावना को अधिक महत्व देता है। नाटक में सर्वत्र उसके मानसिक संघर्ष का प्रसाद जी ने बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया है। विशाल की तरह उसमें भी रोमांटिक नायक की विशेषताएं हैं। यद्यपि चन्द्रगुप्त के शौर्य एवं पराक्रम के बारे में कोई सन्देह नहीं है फिर भी उसका व्यक्तित्व मैकबेथ या हेमलेट के समान दुर्बल है। वह चाणक्य के हाथों की कठपुतली है। वैसे नाटककार ने कई स्थलों पर उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व को भी उभारने की चेष्टा की है। वातावरण की सृष्टि में प्रसाद का 'ध्रुवस्वामिनी'

---

१. हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी नाटक, संस्करण १९६२, पृ० १०३-१०४।

शेक्सपियर के मैकबेथ तथा जूलियस सीज़र से पर्याप्त प्रभावित है। प्रसाद जी स्यात् हिन्दी के प्रथम ऐसे नाटककार हैं जिन्होंने अपने नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' में विवाह-विच्छेद का समर्थन कर नारी की समस्या का चित्रण किया है।

पौराणिक नाटकों के समान इस युग के ऐतिहासिक नाटकों में ऐतिहासिक इतिवृत्त का प्रयोग अतीत के गौरव के साथ-साथ वर्तमान जीवन की समस्याओं के चित्रण के लिये भी किया गया है। प्रेमी जी के नाटकों में देश-प्रेम, हिन्दू-मुस्लिम एकता तथा राष्ट्रीय जागरण की भावना को चित्रित किया गया है। 'रक्षाबन्धन' का हुमायूं असाधारण गुणों से युक्त आदर्श मानव है। वह देश, जाति, धर्म एवं साम्प्रदायिकता की संकीर्ण भावनाओं का विरोधी और मानवतावादी भावना का पोषक है। 'शिवा-साधना' के शिवाजी तथा 'प्रतिशोध' के छत्रसाल भी आदर्श चरित हैं। वे अपने महान् आदर्शों की सिद्धि के लिये प्रयत्नशील होते हैं और विजयी बनते हैं। वस्तुतः प्रेमी जी के नाटकों के सभी नायक मानवीय धरातल के अधिक निकट हैं। वे सभी सामाजिक एवं धार्मिक विषमता और संकीर्णता की प्रवृत्तियों का विरोध करते हैं। भट्ट जी के 'दाहर अथवा सिन्ध-पतन' का दाहर भी इसी कोटि का नायक है। शिवाजी तथा छत्रसाल के समान वह भी स्वाधीन देश की आकांक्षाओं का प्रतीक है। मिलिन्द के 'प्रताप प्रतिज्ञा' का प्रताप तथा गोविन्ददास के 'शशिगुप्त' का शशिगुप्त (चन्द्रगुप्त) भी विदेशी आक्रान्ताओं से देश की स्वाधीनता की रक्षा के लिये प्रयत्नशील होते हैं। शशिगुप्त में धीरोदात्त नायक के गुण तो हैं ही, वह रोमांटिक नायक की विशेषताओं से भी युक्त है। सेठ जी के 'कुलीनता' का यदुराज तथा चतुरसेन के 'अजीतसिंह' का अजितसिंह भी रोमांटिक नायक हैं। भट्ट जी के 'विक्रमादित्य' का विक्रमादित्य तथा लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'अशोक' का अशोक प्रसाद के 'स्कन्दगुप्त' के समान राज्य-लिप्सा के प्रति उदासीन है परन्तु चन्द्रगुप्त विद्यालंकार का अशोक साम्राज्य-विस्तार के लिए महत्वाकांक्षी है। सेठ गोविन्ददास के 'हर्ष' का हर्ष, कैलाशनाथ भटनागर के 'कुणाल' का कुणाल तथा जमुनादास मेहरा के 'पंजाब केसरी' के लाला लाजपत राय असाधारण मानवी गुणों से युक्त हैं और आदर्श चरित्र हैं।

इस युग के समस्या-प्रधान सामाजिक नाटकों में एक नयी प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। इब्सन, शॉ तथा गाल्सवर्दी के प्रभाव-स्वरूप हिन्दी में लक्ष्मीनारायण मिश्र द्वारा समस्या-नाटकों का आविर्भाव हुआ। ऐसे नाटकों में चरित्र तथा घटना-तत्व का महत्व कम हो गया और उनमें व्यक्ति और समाज के संघर्षों को प्रधानता दी गई। ऐसे नाटकों में पात्रों का किसी आदर्श-विशेष की अपेक्षा सामयिक जीवन की समस्याओं के ऐसे सत्य की खोज करने का आग्रह रहता है

जो मानव की सहज बुद्धि द्वारा स्वीकार किया जा सके। यही कारण है कि इन नाटकों के पात्र व्यक्ति की अपेक्षा किसी वर्ग या विशिष्ट विचारधारा का प्रतीक बनकर आते हैं। विचार एव सिद्धान्त-प्रतिपादन के कारण ऐसे नाटकों के पात्रों का बौद्धिकता के प्रति विशेष आग्रह रहता है। ये पात्र अपने अपने विचारों एवं सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने के लिए तर्क-वितर्क का आश्रय लेते हैं। चूंकि ऐसे नाटकों में सामयिक जीवन की समस्याओं का चित्रण रहता है, इसलिये इनमें साधारण अथवा सामान्य पात्रों का ही प्रयोग किया जाता है। विशिष्ट से सामान्य की यह प्रवृत्ति नायक के स्वरूप-विकास की दृष्टि से अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है। पहले नाटकों में कोई राजा, राजकुमार, मन्त्री, मन्त्री-पुत्र अथवा कोई अन्य कुलीन ही नायक बनने का अधिकारी होता था परन्तु आज नायक-सम्बन्धी इस विशिष्ट प्रवृत्ति का प्रयोग केवल पौराणिक या ऐतिहासिक नाटकों तक ही सीमित रह गया है। वैसे इस युग के पौराणिक एवं ऐतिहासिक नाटकों के नायक भी प्राचीन शास्त्रीय कसौटी पर पूर्णतः खरे नही उतरते। युग के नाटककार का प्रयास उनके चरित्र को देवत्व के आदर्श की अपेक्षा मानव के यथार्थ धरातल पर लाने का ही अधिक रहा है। सेठ गोविन्ददास के 'कर्तव्य' पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध में राम और कृष्ण के चरित्र-चित्रण में युग के नाटककार की इसी मनोवृत्ति का परिचय मिलता है।

समस्या-नाटकों के पात्रों में विचारधारा अधिक रहने के कारण क्रियाशीलता का प्रायः अभाव रहता है। चूंकि ऐसे नाटकों के पात्र तर्क-वितर्क के द्वारा समस्या का विवेचन करते हैं, इसलिए नाटक में आये हुए सभी पात्रों का एक जैसा ही महत्व रहता है। नाटक में ये सभी पात्र प्रायः समस्या के किसी न किसी एक पक्ष का प्रतिनिधित्व करते हुए देखे जाते हैं। अतः जिन नाटकों में नाटककार का पात्रों के चरित्र-चित्रण तथा घटना-तत्व की अपेक्षा समस्या-विवेचन के प्रति ही बौद्धिकता का विशेष आग्रह रहता है उनमें नायकत्व का प्रश्न ही नहीं उठता। लक्ष्मीनारायण मिश्र, पृथ्वीनाथ शर्मा आदि के नाटक इसी प्रकार के हैं। इनके नाटकों में व्यक्ति की सेक्स की समस्या, चिरन्तन नारीत्व की समस्या तथा आधुनिक शिक्षित नारी की समस्याओं का चित्रण हुआ है।

इस युग के अन्य समस्या-प्रधान सामाजिक नाटकों में प्रेमी का 'बन्धन' सेठ गोविन्ददास का 'प्रकाश' तथा अश्क का 'स्वर्ग की झलक' उल्लेखनीय हैं। 'बन्धन' का नायक मोहन विचारों में प्रगतिवादी और व्यावहारिकता में गांधीवादी नीति का पोषक है। सेठ जी के 'प्रकाश' का प्रकाश प्रगतिशील और समाज-सुधारक है तथा 'स्वर्ग की झलक' का पत्रकार रघु मध्यवर्गीय नवयुवक

समाज का प्रतिनिधित्व करता है।

भारतेन्दु तथा द्विवेदी युग के पौराणिक तथा ऐतिहासिक नाटकों के नायक-विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि युग का नाटककार नायक-सम्बन्धी शास्त्रीय वर्गीकरण के बन्धन से मुक्त होने के लिए प्रयत्नशील है। इन नाटककारों ने जहां-कहीं भी धीरोदात्त, धीरललितादि गुणों से युक्त पात्रों को नायक बनाया है, वहां उन्होंने उनके गुणों का निरूपण शास्त्र-सम्मत नहीं किया। उनके चित्रण में नाटककार ने कहीं-कहीं स्वच्छन्दता से भी काम लेने की चेष्टा की है। यही कारण है कि ऐसे नाटकों के अधिकांश धीरोदात्त तथा धीरललित नायक सर्वथा निर्दोष, सर्वगुण सम्पन्न एवं आदर्श चरित्र न होकर सहज मानवी सबलताओं एवं दुर्बलताओं से युक्त हैं। प्रसाद युग के नाटकों में नायक-सम्बन्धी इसी प्रवृत्ति का विकास हुआ है। अतः इस युग के पौराणिक एवं ऐतिहासिक नाटकों के नायक का प्राचीन शास्त्रीय कसौटी पर मूल्यांकन करना न्यायसंगत नहीं माना जा सकता। उनका सही मूल्यांकन युग-परिस्थितियों एवं परिवर्तनशील जीवन की मान्यताओं के परिवेश में ही करना उचित कहा जा सकता है।

सहायक ग्रन्थों की सूची

परिशिष्ट

नाटक

अंगूर की बेटी	गोविन्दवल्लभ पन्त
अंजना	सुदर्शन
अंजना सुन्दरी	कन्हैयालाल
अन्तःपुर का छिद्र	गोविन्दवल्लभ पन्त
अन्धेर नगरी	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
अजातशत्रु	जयशंकर प्रसाद
अजितसिंह	चतुरसेन
आदित्यसेन गुप्त	कंचनलता सब्बरवाल
आधी रात	लक्ष्मीनारायण मिश्र
अपराधी	पृथ्वीनाथ शर्मा
अभिमन्यु नाटक	शालिग्राम वैश्य
अमरसिंह राठौर	राधाचरण गोस्वामी
अशोक	चन्द्रगुप्त विद्यालंकार
अशोक	लक्ष्मीनारायण मिश्र
आनन्द रघुनन्दन	महाराज विश्वनाथसिंह
इन्दर सभा	आगा हसन अमानत
ऊषा-अनिरुद्ध	राधेश्याम कथावाचक
ऊषानिरुद्ध नाटक	कुंवर हरिपालसिंह
ऊषाहरण	कार्त्तिक प्रसाद खत्री
गोस्वामी तुलसीदास	बदरीनाथ भट्ट
गौतम अहिल्या नाटक	दुर्गाप्रसाद गुप्त

कुंदकली नाटक	जगन्नाथ प्रसाद शर्मा
कर्तव्य (पूर्वार्द्ध)	सेठ गोविन्ददास
कर्तव्य (उत्तरार्द्ध)	सेठ गोविन्ददास
कलिकौतुक रूपक	प्रतापनारायण मिश्र
कलियुग नाटक	आनन्द प्रसाद खत्री
कामिनी कुसुम	हरिनारायण चतुर्वेदी
कामिनी मदन	हरिहर प्रसाद जिंजल
करुणाभरण	कृष्णजीवन लछीराम
कुणाल	कैलाशनाथ भटनागर
कुरुवन दहन	बदरीनाथ भट्ट
कुलीनता	सेठ गोविन्ददास
कृष्णार्जुन युद्ध	माखनलाल चतुर्वेदी
कृष्ण सुदामा	जमुनादास मेहरा
चन्द्रगुप्त	जयशंकर प्रसाद
चुंगी की उम्मीदवारी	बदरीनाथ भट्ट
चौपट चपेट	किशोरीलाल गोस्वामी
छद्मयोगिनी	वियोगी हरि
छलना	भगवतीप्रसाद वाजपेयी
छाया	हरिकृष्ण प्रेमी
जनक बाड़ा	राम नारायण मिश्र
जनमेजय का नागयज्ञ	जयशंकर प्रसाद
जय-पराजय	उपेन्द्रनाथ 'अश्क'
जानकी मंगल नाटक	शीतलाप्रसाद त्रिपाठी
तप्ता संवरण	श्रीनिवास दास
तिलोत्तमा	मैथिलीशरण गुप्त
तुलसीदास नाटक	कृष्णकुमार मुखोपाध्याय
दमयन्ती स्वयंवर	बालकृष्ण भट्ट
दयानन्द नाटक	सुदर्शन
दाहर अथवा सिन्ध पतन	उदयशंकर भट्ट
दुःखिनी बाला रूपक अथवा विधवा विवाह नाटक	राधाकृष्ण दास
दुबिधा	पृथ्वीनाथ शर्मा
देवमाया प्रपंच	देव

धनुष यज्ञ लीला	राम गुलाम
धर्मालाप	राधाकृष्ण दास
धीरे-धीरे	वृन्दावनलाल वर्मा
ध्रुवस्वामिनी	जयशंकर प्रसाद
नरसी मेहता का नाटक	मथुरादास
नल दमयन्ती	दुर्गाप्रसाद गुप्त
नल दमयन्ती	लक्ष्मण स्वरूप
नहुष	गोपालचन्द्र
नीलदेवी	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
नेत्रोन्मीलन	श्याम बिहारी मिश्र तथा शुकदेव बिहारी मिश्र
पंजाब केसरी	जमुनादास मेहरा
परम भक्त प्रह्लाद	राधेश्याम कथावाचक
परीक्षित	आनन्द प्रसाद कपूर
पुरु विक्रम नाटक	शालिग्राम वैश्य
प्रकाश	सेठ गोविन्ददास
प्रताप प्रतिज्ञा	जगन्नाथ प्रसाद मिलिंद
प्रतिशोध	हरिकृष्ण प्रेमी
प्रद्युम्न विजय	गणेश
प्रबुद्ध यामुन	वियोगी हरि
प्रबोध चन्द्रोदय	जसवन्तसिंह
प्रभास मिलन	दुर्गाप्रसाद मिश्र
प्रभास मिलन	बलदेवप्रसाद मिश्र
प्रयाग रामागमन	बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'
प्रह्लाद चरित्र	श्रीनिवास दास
प्रह्लाद चरित्रामृत	जगन्नाथ शरण
प्रह्लाद नाटक	महाराजदीन दीक्षित
प्रह्लाद नाटक	मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या
प्रह्लाद नाटक	रामगया प्रसाद दीन
प्रेम बेल नाटक	ब्रज जीवन दास

बन्धन	हरिकृष्ण प्रेमी
बृहन्नला	बालकृष्ण भट्ट
भारत दुर्दशा	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
भारत सौभाग्य	अम्बिकादत्त व्यास
भारत सौभाग्य	बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन'
भीम प्रतिज्ञा	कैलाश नाथ भटनागर
भीष्म	विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'
मनोरंजिनी नाटक	कुंवर रघुवीरसिंह वर्मा
महात्मा ईसा	पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'
महाराणा प्रतापसिंह	राधाकृष्णदास
महारानी पद्मावती	राधाकृष्णदास
माधव विनोद	सोमनाथ माथुर
मुक्ति का रहस्य	लक्ष्मीनारायण मिश्र
मेघनाद	चतुरसेन
युगल विहार नाटक	द्विज कृष्ण दत्त
योबने योगिनी	गोपाल राम गहमरी
रक्षा बन्धन	हरिकृष्ण प्रेमी
रणधीर और प्रेममोहिनी	श्रीनिवास दास
रत्नसरोज नाटक	कन्हैया लाल
राक्षस का मन्दिर	लक्ष्मीनारायण मिश्र
राज मुकुट	गोविन्दवल्लभ पन्त
राजयोग	लक्ष्मीनारायण मिश्र
राम करुणाकर	उदय
रामचरितावली	[illegible]
राम जानकी चरित्र नाटक	चन्दनलाल
राम नाटक	दुर्गादत्त पांडे
रामाभिषेक नाटक	गंगा प्रसाद
रामाभिषेक नाटक	रामगोपाल विद्यांत
रामायण महानाटक	प्राण चन्द चौहान
राम रहस्य नाटक	माता बदलगिरि
रामलीला	देवकीनन्दन त्रिपाठी
रामलीला	ब्रजचन्द वल्लभ
रामलीला नाटक	दामोदर शास्त्री

रामलीला नाटक	नारायण सहाय
रामलीला नाटक	कुंदनलाल शाह
राम-वन-यात्रा नाटक	गिरिधर लाल
रुक्मिणी कृष्ण (रुक्मिणी मंगल)	राधेश्याम कथावाचक
रुक्मणी परिणय	अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध
रुक्मणी हरण	देवकीनन्दन त्रिपाठी
रुक्मिणी हरण	मथुरादास
रुक्मिणी हरण	[illegible]
रूपवती	परमेश्वर
रेवा	चन्द्रगुप्त विद्यालंकार
ललिता नाटक	अम्बिकादत्त व्यास
लावण्यवती सुदर्शन	शालिग्राम वैश्य
लीला-विज्ञान विनोद नाटक	केशवानन्द
बनवीर नाटक	गोपालराम गहमरी
वरमाला	गोविन्दवल्लभ पन्त
विक्रमादित्य	उदयशंकर भट्ट
विद्रोहिणी अम्बा	उदयशंकर भट्ट
विद्या विनोद नाटक	गोपालराम गहमरी
विद्यासुन्दर	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
विवाहिता विलाप	निद्धिलाल
विशाख	जयशंकर प्रसाद
विश्वामित्र	जमुनादास मेहरा
वीर अभिमन्यु	राधेश्याम कथावाचक
वेणु संहार	बालकृष्ण भट्ट
वेनचरित्र अथवा राज परिवर्तन	बदरीनाथ भट्ट
वेश्या नाटक	ईश्वरीप्रसाद शर्मा
वेश्या विलास	देवकीनन्दन त्रिपाठी
वैदिक हिंसा हिंसा न भवति	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
शकुन्तला नाटक	धोंकल मिश्र
शकुन्तला नाटक	नेवाज
शकुन्तला नाटक	राजा लक्ष्मणसिंह
शशिगुप्त	सेठ गोविन्ददास
शिक्षादान अर्थात् जैसा काम	

वैसा परिणाम	बालकृष्ण भट्ट
शिवा साधना	हरिकृष्ण प्रेमी
शील सावित्री नाटक	कन्हैयालाल कपूर
श्रवण कुमार	राधेश्याम कथावाचक
श्रीकृष्णावतार	राधेश्याम कथावाचक
श्रीचन्द्रावली नाटिका	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
श्रीदामा नाटक	राधाचरण गोस्वामी
श्रीनारद गर्व प्रहार नाटक	नन्दकिशोर त्रिवेदी
श्री रामलीला नाटक	दुर्गादास गुप्त
श्रीवत्स	कैलाशनाथ भटनागर
संग्राम	प्रेमचन्द
संन्यासी	लक्ष्मीनारायण मिश्र
संयोगता स्वयंवर	श्रीनिवास दास
सगर विजय	उदयशंकर भट्ट
सज्जाद सुम्बुल	केशव राम भट्ट
सती प्रताप	राधाकृष्ण दास
सत्य हरिश्चन्द्र	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
सत्याग्रही प्रह्लाद	बलदेवप्रसाद खरे
सभा सार	रघुराम नागर
समयसार नाटक	बनारसीदास जैन
सम्राट अशोक	चन्द्रराज भण्डारी 'विशारद'
सावित्री नाटक	देवराज
सिन्दूर की होली	लक्ष्मीनारायण मिश्र
सिद्धान्त स्वातन्त्र्य	सेठ गोविन्ददास
सीता बनवास	ज्वाला प्रसाद मिश्र
सीता स्वयंवर	बन्दीदीन दीक्षित
सीता स्वयंवर	मुंशी गोनागम
सीता हरण	देवकीनन्दन त्रिपाठी
सीता हरण	बन्दीदीन दीक्षित
स्कन्दगुप्त	जयशंकर प्रसाद
स्वर्ग की झलक	उपेन्द्रनाथ 'अश्क'
स्वप्न भंग	हरिकृष्ण प्रेमी
हनुमन्नाटक भाषा	हृदयराम भल्ला

हम्मीर हठ — दुर्गाप्रसाद गुप्त
हर्ष — सेठ गोविन्ददास

समीक्षात्मक ग्रंथ

अंग्रेजी साहित्य की रूपरेखा — भगवतशरण उपाध्याय
अग्नि पुराण का काव्यशास्त्रीय भाग— — अनु० रामलाल वर्मा
अभिनव नाट्यशास्त्र — सीताराम चतुर्वेदी
आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका — डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
उर्दू साहित्य का इतिहास — ब्रजरत्नदास
उर्दू साहित्य का इतिहास — डा० रामबाबू सक्सेना, अनु० शालिग्राम श्रीवास्तव
कांग्रेस का इतिहास — पट्टाभि सीतारमैया
कामसूत्र — अनु० आर० एन० उपाध्याय
कुछ विचार — प्रेमचन्द
काव्य में उदात्तत्व — सं० डा० नगेन्द्र
ताबीर, तशरीह, तनकीद — सैयद मसऊद हसन रिज़वी
नंददास ग्रन्थावली (रसमंजरी) — सं० ब्रजरत्नदास
नाटक की परख — एस० पी० खत्री
पूर्व भारतेन्दु नाटक साहित्य — डा० सोमनाथ गुप्त
बृहत् हिन्दी कोश
ब्रजभाषा साहित्य का नायिका भेद — प्रभुदयाल मीतल
भट्ट नाटकावली — सं० धनंजय भट्ट 'सरल'
भारत का वैधानिक एवं राष्ट्रीय विकास (१६००-१९००) — गुरुमुख निहालसिंह
भारतीय काव्यांग — डा० सत्यदेव चौधरी
भारतीय दर्शन का परिचय — रामानन्द तिवारी
भारतीय शिक्षा का इतिहास — रमणीकान्त सूर तथा श्याम चरण दुबे
भारतेन्दु साहित्य — रामगोपालसिंह चौहान
भारतेन्दु कालीन नाटक साहित्य — डा० गोपीनाथ तिवारी
भारतेन्दु नाटकावली (दोनों भाग) — सं० ब्रजरत्नदास
मतिराम ग्रन्थावली

महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग	डा० उदयभानुसिंह
रस सारांश	भिखारीदास
रसिक प्रिया	केशव
राधाकृष्णदास ग्रंथावली	
रामचरित मानस	गोस्वामी तुलसीदास
रूपक रहस्य	डा० श्याम सुन्दरदास
वैदिक संस्कृति का विकास	लक्ष्मण शास्त्री जोशी
श्रृंगार निर्णय	भिखारीदास
श्रृंगार मंजरी	अकबरसाह, सं० डा० भगीरथ मिश्र
हमारी नाट्य परम्परा	श्रीकृष्ण दास
हिन्दी उपन्यास	शिवनारायण श्रीवास्तव
हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास	डा० सोमनाथ गुप्त
हिन्दी नाटक साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन	डा० वेदपाल खन्ना
हिन्दी नाटक उद्भव और विकास	डा० दशरथ ओझा
हिन्दी नाटककार	डा० जयनाथ नलिन
हिन्दी नाट्य विमर्श	डा० गुलाबराय
हिन्दी नाट्य साहित्य	ब्रजरत्न दास
हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव	डा० श्रीपति शर्मा
हिन्दी के पौराणिक नाटक	डा० देवर्षि सनाढ्य
हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी नाटक	डा० दशरथसिंह
हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास	अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'
हिन्दी साहित्य कोश	सं० डा० धीरेन्द्र वर्मा
हिन्दी साहित्य का इतिहास	रामचन्द्र शुक्ल
हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास	डा० भगीरथ मिश्र
हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास	जार्ज ग्रियर्सन
हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (प्रथम भाग)	सं० राजबली पांडेय
हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष	शिवदानसिंह चौहान

संस्कृत ग्रन्थ

उज्ज्वल नीलमणि	रूपगोस्वामी
उत्तररामचरितम्	भवभूति

कामसूत्र	वात्स्यायन
काव्यालंकार	रुद्रक
दशरूपक	धनंजय (हिन्दी टीका डा० भोलाशंकर व्यास)
नाट्य दर्पण	रामचन्द्र गुणचन्द्र
नाट्य शास्त्र	भरत
नैषध महाकाव्य	श्री हर्ष (टीकाकार—हरगोविन्द शास्त्री)
भाव प्रकाश	शारदातनय
मत्स्य पुराण	
मार्कण्डेय पुराण	
महाभारत	
रामायण	वाल्मीकि
विष्णु पुराण	
श्रीमद्भागवत	
श्रृंगार प्रकाश	भोजराज
संस्कृत नाटककार	कांति किशोर भरतिया
संस्कृत साहित्य की रूपरेखा	चन्द्रशेखर पांडेय
संस्कृत साहित्य का इतिहास	बलदेव उपाध्याय
सत्यार्थ प्रकाश	स्वामी दयानन्द
सरस्वती कंठाभरण	भोजराज
साहित्य सार	अच्युत राय
हिन्दी साहित्य दर्पण	विश्वनाथ (टीकाकार—डा० सत्यव्रत सिंह)

पत्रिकाएं

आलोचना : नाटक विशेषांक (जुलाई १९५६)

नई धारा : रंगमंच विशेषांक (अप्रैल-मई १९५२)

नया पथ : (मई १९५६)

ENGLISH BOOKS

Aristotle's Poetry and Fine Art ... John Gassner.
The Art of Drama ... Ronald Peacock.
An Advanced History of India ... R. C. Majumdar.
British Drama ... Allardyce Nicoll.
Dictionary of world Literary Terms ... J. T. Shipley.
Encyclopedia Britanica.
History of Hindi Literature ... F. E. Keay.
History of English Literature ... Louis Cazamian.
History of Indian Literature ... Winter Nitz.
History of Sanskrit Poetics ... Sushil Kumar De.
An Introduction to the Study of Literature ... W. H. Hudson.
Indian Theatre. Part I. ... Das Gupta.
Kalidasa's Abhijana Sakuntalam ... Ramendra Mohan Basu.
The Making of Literature ... R. A. Scott James.
Political Character of Shakespeare .... John Palmer.
Political History of India ... Hem Chandra Roy Chaudhry.
Quintessence of Ibsenism ... G. B. Shaw.
Reading Drama ... Fred B. Millet.
Shakespearean Tragedy ... A. C. Bradley.
Sanskrit Drama ... A. B. Keith.
The Theory of Drama. ... Allardyce Nicoll.
Tragedy in Relation to Aristotle's Poetics. .... F. L. Lucas.
Tragedy ... William G. Mccollam.
Trends in 20th Century Drama ... Frenerick Lumley.
Types of Tragic Drama ... C. E. Vaughan.
The Uses of Drama ... Philip A. Coggin.
Webster's New International Dictionary.
World Drama. ... Allardyce Nicoll.

शुद्धि पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५	२७	हितोपदशजननं	हितोपदेशजननं
१०	४	सम्बन्ध	सम्बद्ध
११	३१	बुद्धयुत्साह	बुद्धच् ुत्साह
१५	१६	शरीरिक	शारीरिक
२७	२५	स्वाधीरललितस्तथा	स्याधीरललितस्तथा
२८	१८	मौर	और
३०	२७	प्रवृतितः	प्रवर्तितः
३२	१४	द्रुर्बलता	दुर्बलता
३६	२१	सुमहत्यापि	सुमहत्यपि
३७	२३	धैर्ययुक्त	धैर्य्युक्त
३६	३३	सामान्यगुणय्रुक्ततस्तु	[illegible]
४४	२४	२-५	२-४५
४५	२१	तद्वयापारात्मिका	तद्वचापारात्मिका
४५	३०	स्यान्संफेटो	स्यात्संफेटो
४७	१३	धीरोद्धत्य	धीरौद्धत्य
४८	३३	भो	भीं
५०	१५	स्तौन्दर्य	सौन्दर्य
५०	३०	पनाकेत्यभीधीग्रते	पताकेत्यभिधीयते
५१	१८	चोभयं-वापि	चोभयं-चापि
५२	१	चार्थाचिन्तने	चार्थचिन्तने
५६	१२	गूढ़गर्वों	गूढ़गर्वो
५७	३२	प्रगलभधी:	प्रगलभधीः

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६४	१२	मब	सब
६६	२७	कामसत्र	कामसूत्र
६८	१-२	ववयहार	व्यवहार
७०	२५	लीम	लीन
७३	२२	नायक	नाटक
७४	२६	अनुबन्धविहींनत्वात्	अनुबन्धविहीनत्वात्
७५	२६	६६/७	६/६७
९०	२१	particulry	particularly
९१	२२	temptep	tempted
९३	२०	समथ हो	समर्थ हो सके, जब कि
१०२	५	भिन्न प्रकार के	भिन्न प्रकार से
१०४	२३	त्रासयुक्त पात्रों	त्रासयुक्त पात्रों की रचना की है। यद्यपि पात्रों
१०६	८	सम्बन्धित	संवर्धित
१०६	२६	इनमें	इनमें से
१०७	१९	घर	घरों
११०	२१	उलंघन	उल्लंघन
११२	१०	पहुंची	पहुंच
११२	२६	परिवतन	परिवर्तन
१२०	१-२	ललित है	ललित हैं
१४०	१९	किसा	किसी
१४२	५	प्रद्युम्नभ्युदय	प्रद्युम्नाभ्युदय
१४४	२०	देवी	दैवी
१५९	१५	शेक्षिक	शैक्षिक
१७९	२५	भवित	भक्ति
१८४	१३	अतीत	अतीव
१८५	७	औ	और
१८८	२४	एकाहाचरितैकांङ्क्षो	एकाहाचरितैकाङ्क्षो
१९२	२३	यस्यान्हं	यस्याहं
१९२	२४	कथयध्व	कथयध्वं
१९३	२८	कयं	कथं
१९३	२९	वचने	वंचेन

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१९४	२०	एकार्थ	एकार्थं
२००	६	सवरण	संवरण
२०२	६	पूण	पूर्ण
२०५	२	विष्णु पण्डया	विष्णु लाल पण्ड्या
२०५	१६	अनुपभ	अनुपम
२१२	२७	द्वारा	दारा
२१३	१	अपना	अपनी
२१३	१३	क्षत्रियाधर्म	क्षत्रियाधम
२२०	१	विद्युन्प्रभु	विद्युत्प्रभु
२२१	१४	भारन्तेदु	भारतेन्दु
२२३	१८	भारतेन्दु जी के हिन्दी में	हिन्दी में
२२८	३१	संयोगिया	संयोगिता
२२९	१६	में	मैं
२३२	१७	कहतो	कहती
२३२	३३	उसके वक्ष	उसके वक्ष से
२३५	२६	वे	वह
२४०	१	उपर्युक्त	उपयुक्त
२४६	१८	संकेत	संकेत
२४७	१२	यहां	जहां
२५२	३	जानते	जनाते
२५४	४	पूर्ण	इसी से पूर्ण
२५४	१९	सुलोचना	सुलोचन
२६५	२७	लर्जजित	लज्जित
२६९	१६	ने	न
२७३	२०	दूखों	दुखों
२८०	६	दर्शनगण	दर्शकगण
२८०	१३-१४	university	universities
२८०	२९	ब्रह्म	ब्राह्म
२८३	५	unian	union
२८४	२७	पुर्ननिमाण	पुनर्निर्माण
३०५	१९	चरित्रिक	चारित्रिक
३०७	४	चरित्रिक	चारित्रिक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३११	२	नवाकुंर	नवांकुर
३१२	७	भू-विलास	भ्रू-विलास
३१३	२	तदन्तर	तदनन्तर
३१८	३	नाटक-निर्धारण	नायक-निर्धारण
३१८	११	चरित्रिक	चारित्रिक
३२३	१३	पिंता	पिता
३३२	१२	निर्भकता	निर्भीकता
३३५	८	देता कि	देता है कि
३३६	३०	अभ्युत्थानधर्मस्य	अभ्युत्थानमधर्मस्य
३४७	१७	निष्क्रय	निष्क्रिय
३५२	११	पनता	जनता
३५३	९	पटेल की	पटेल के
३६०	२५	कलान्ति	क्लान्ति
३६४	२	यह तो मुद्रा	यह लो मुद्रा
३७०	७	आलौकिक	अलौकिक
३७९	१६	जब	अब
३८६	११	चिंचित	चिंतित
३८६	१३	नहीं करते	नहीं करती
३९१	१२	बगला	बंगला
३९७	२४	मनाने	बनाने
४११	११	चिढ़िया	चिड़िया
४१७	६	ईर्षा	ईर्ष्या
४२३	२८	अनुकुल	अनुकूल
४४५	२५	प्रह्लाद का पिता	प्रह्लाद पिता